मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य

मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य

(सागर विश्वविद्यालय की पी० एच-डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

डॉ० शिवसहाय पाठक

बी० ए०, (आनर्स), एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

रामबाग, कानपुर

ग्रन्थम, कानपुर

मूल्य : अठारह रुपए

प्रकाशक :
ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर

प्रकाशन तिथि :
नवम्बर, १९६४

मुद्रक :
विवेक प्रिन्टर्स,
ब्रह्मनगर, कानपुर

प्रारम्भिक वक्तव्य

सागर विश्वविद्यालय हिन्दी-विभाग के अन्तर्गत पी-एच०डी० का शोध-कार्य पिछले बारह वर्षों से नियमित रूप से चल रहा है और इस समय तक प्राय: पांच दर्जन शोध-कर्ता उपाधियाँ प्राप्त कर चुके हैं। आरम्भ में कतिपय विशिष्ट कवियों और साहित्य पुरस्कर्ताओं पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने का क्रम चला था। इस विषय में एक प्रमुख कठिनाई प्रामाणिक जीवनी के अभाव की उपस्थित हुई। स्वत: जीवनी लेखन का कार्य अब तक हिन्दी में गम्भीरतापूर्वक नहीं अपनाया गया, जिसका मुख्य कारण उपजीव्य सामग्री की विरलता ही कहा जायगा। यद्यपि हमारा शोध-कार्य कवि-कृतित्व पर ही केन्द्रित रहकर सम्पन्न हो सकता था, परन्तु प्रामाणिक जीवनियों के अभाव में वह यथेष्ट फलप्रद नहीं हो सकता था। अतएव हमें आंशिक रूप से अपनी शोध-दिशा बदलनी पड़ी। कुछ प्रबन्धयुगीन भूमिकाओं पर भी लिखे गये हैं, जिनमें युग विशेष के साहित्य सृष्टाओं की कृतियों का विवेचन किया गया है और उनके साहित्यिक और कलात्मक प्रदेय प्रकाश में लाए गए हैं। यद्यपि यह काम हिन्दी के आरम्भिक साहित्यिक आकलन के लिए आवश्यक और उपयोगी रहा है, पर इतने से ही संतोष करना हमारे लिए उचित और सम्भव न था। तब हमने आधुनिक युग के विविध साहित्यिक आन्दोलनों और उनसे नि:सृत कला-शैलियों में से प्रत्येक को इकाई मानकर शोध-कार्य का तृतीय अध्याय आरम्भ किया। इस संदर्भ में स्वच्छन्दतावादी साहित्यिक विकास पर प्राय: आधे दर्जन शोध-विषय दिए गये, जिनमें से अधिकांश कार्य सम्पन्न हो गया है और कुछ शेष है। स्वच्छन्दतावादी काव्य, कथा साहित्य, नाट्यकृतियाँ, समीक्षा तथा स्वच्छन्दतावाद के सैद्धान्तिक आधारों पर हमारे विभाग द्वारा अनेक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं और अब भी उनके कुछ पक्षों पर कार्य किया जा रहा है। विशुद्ध वैचारिक, सैद्धान्तिक और कला-शास्त्रीय तथ्यों के अनुशीलन के लिए भी हमारी शोध-योजना में स्थान रहा है और कुछ विशिष्ट शोध-कर्ता इस कार्य में भी संलग्न हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र और कला विवेचन के सिद्धान्तों पर स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग शोध-कृतियाँ प्रस्तुत करने की दिशा में भी हम अग्रसर हो रहे हैं, क्योंकि हमें ज्ञात है कि भारतीय कला या साहित्यशास्त्र का अनुशीलन अब भी परम्परागत प्रणालियों से ही हो रहा है। इसमें नवीन चिन्तन और आधुनिक, वैज्ञानिक उद्भावनाओं का सम्यक् योग नहीं हो पाया है। हमारी पारिभाषिक शब्दावली

इस क्षेत्र में अद्यतन नहीं है। प्राचीन साहित्य चिन्तन को नया स्वरूप और नयी शब्दावली देने की आवश्यकता है। इन सबके अतिरिक्त कतिपय साम्प्रतिक साहित्यिक समस्याओं और प्रश्नों पर भी संतुलित विचारणा की आवश्यकता है, जिन पर पी-एच०डी० के शोध-कार्य लाभप्रद हो सकते हैं। उनकी ओर भी हमारी दृष्टि गई है और कुछ कार्य आरम्भ किया गया है।

सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में डी० लिट्० के शोध सम्बन्धी विषय भी निर्धारित किए गए हैं। इनमें स्वभावत: अधिक व्यापकता और अधिक प्रशस्त विवेचन और आकलन की आवश्यकता प्रतीत हुई है। डी०लिट् सम्बन्धी यह शोधकार्य कुछ ही समय में एक स्पष्ट रूपरेखा ग्रहण करेगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्फुट और सहसा प्रत्यागत विषयों पर आनुषंगिक कार्य करने की अपेक्षा विशिष्ट योजना के अनुसार, सुसम्बद्ध और समग्र भूमिकाओं पर शोध-कार्य करने में हमारी अधिक रुचि है और इस रुचि को साकार रूप देने और फलप्रद बनाने में हम पिछले कुछ समय से संलग्न हैं।

डा० शिवसहाय पाठक का प्रस्तुत प्रबंध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी के काव्य के समग्र विवेचन से संबंधित है। यद्यपि इसमें अधिकांश सामग्री जायसी के काव्यपक्ष को आधार बनाकर चली है, परन्तु शोधकर्ता ने जायसी के व्यक्तित्व, परंपरा मसनवी शैली तथा कवि की भारतीय भूमिका और परिवेश का भी विस्तृत विचार किया है। जायसी की काव्य-भाषा, उनके रहस्यवाद तथा उनकी प्रेमसाधना पर भी स्वतंत्र अध्याय दिए गए हैं। प्रेमाख्यान काव्य की समस्त परम्परा का उल्लेख भी किया गया है। इस प्रकार शोध प्रबंध में जायसी के काव्य को केन्द्र में रख कर उसके पार्श्ववर्ती पक्षों का भी अच्छा अनुशीलन किया जा सका है।

लेखक की विशेषता यह है कि उसने जायसी और सूफी काव्य पर लिखे गये समस्त विद्वानों के विचारों का संग्रह और आकलन किया है तथा उन पर विचार करने के पश्चात् अपने निर्देश दिये हैं। इस पद्धति का प्रयोग उसके शोध-प्रबन्ध को विशद बनाने में सहायक हुआ है। इस एक ग्रंथ के अवलोकन से जायसी काव्य के अध्येताओं को पूर्ववर्ती समस्त विवेचकों की विवेचना का सार ज्ञात हो सकेगा। इस प्रबंध के लेखन में शोधकर्ता ने स्पष्टता और निर्भीकता से भी काम लिया है और पूर्ववर्ती विचारकों पर अपनी खरी सम्मतियाँ भी दी हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उसके सभी निर्णय या निर्देश स्वीकार किये जायें, परंतु जो कुछ भी उसने लिखा है, उसमें मताग्रह की अपेक्षा तटस्थ विचारणा का प्राधान्य है।

शोधकर्ता को अपने शोधकाल में ही जायसी की कुछ अप्रकाशित कृतियाँ प्राप्त हुई थीं, जिनका स्वतंत्र रूप से संपादन भी उसने किया है। इन नवीन कृतियों के मिल जाने से उसके शोध-प्रबंध में कई अस्फुट धारणाओं की पुष्टि और स्पष्टीकरण भी हो सका है। विशेषकर जायसी की भाषा-संबंधी विशेषताओं पर इस प्रबंध से अच्छा प्रकाश पड़ा है।

जहां तक कवि के काव्य के कलापक्ष का संबंध है; वस्तु-संगठन, चरित्र योजना, वस्तुवर्णन, भावों और रसों की योजना आदि विषयों पर लेखक ने संतुलित दृष्टि से विचार किया है। प्रस्तुत पुस्तक लेखक के शोध-प्रबंध का किंचित संशोधित स्वरूप है। इसे हम जायसी-काव्य-समीक्षा का सर्वांगीण और अद्यतन स्वरूप कह सकते हैं। इस दृष्टि से पुस्तक विद्वानों और विद्यार्थियों द्वारा स्वीकृत और समादृत होगी, इसी आशा और विश्वास के साथ यह प्रकाशित की जा रही है। इसके प्रकाशन से मुझे विशेष संतोष और प्रसन्नता है।

—नन्ददुलारे वाजपेयी
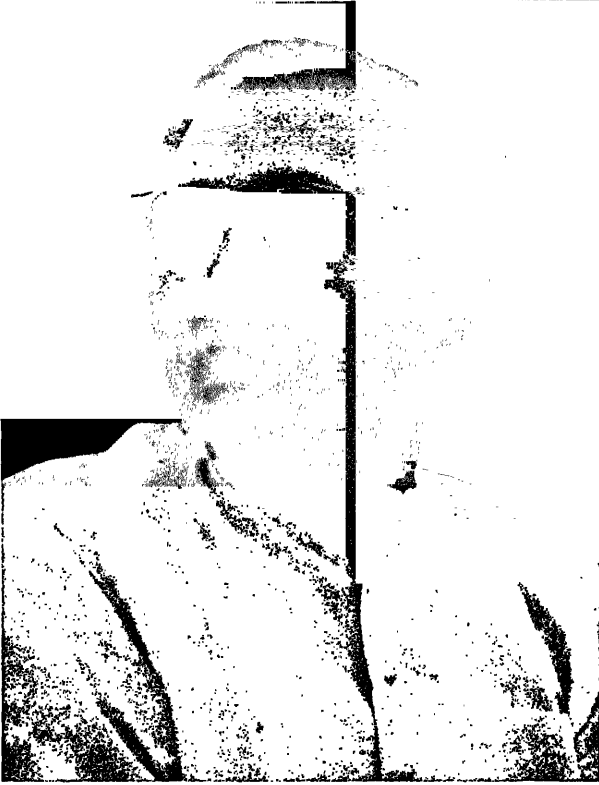
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

पूज्य गुरुवर आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी

'पंथ लाइ जेहिं दीन्ह गिआनू ।'

को

प्रणतिपूर्वक
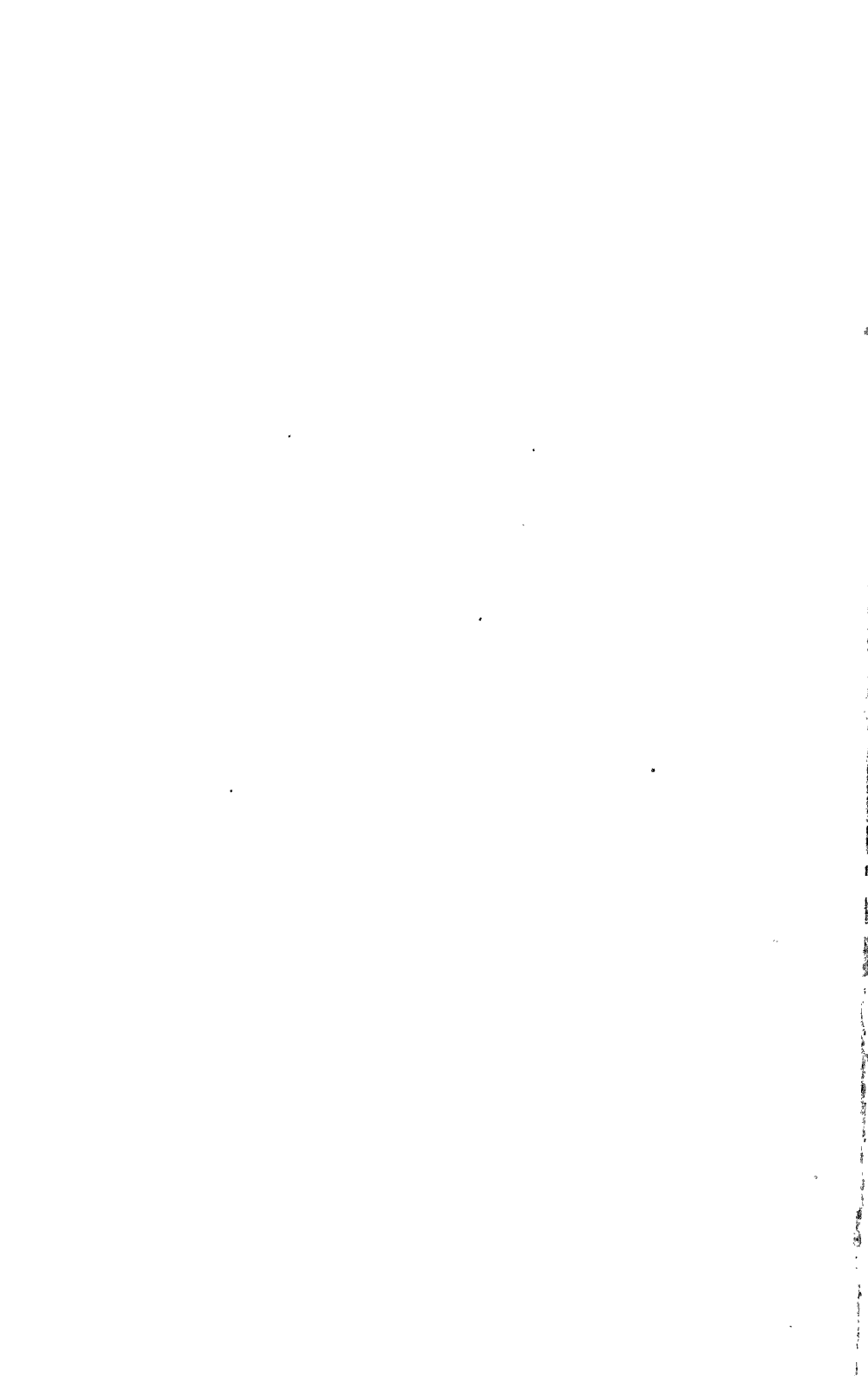
निवेदन

प्रस्तुत प्रबन्ध में मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के अन्यतम महाकवि 'मलिक मुहम्मद जायसी और उनके काव्य' का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

हिन्दी साहित्य में जायसी को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय सर जार्ज ग्रियर्सन और पं० सुधाकर द्विवेदी को है। ग्रियर्सन ने द्विवेदी जी की सहायता से पदमावत का संपादन किया था। द्विवेदी जी की टीका रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल से प्रकाशित हुई थी। उनके असामयिक निधन के कारण यह कार्य पूरा न हो सका। १९२४ ई० में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने पदमावत और अखरावट का संपादन किया। इस ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने विद्वतापूर्ण शैली में जायसी के वास्तविक मूल्यांकन का प्रयत्न किया। १९३५ ई० में शुक्लजी ने जायसी-ग्रन्थावली के अन्तर्गत 'आखिरी कलाम' नामक ग्रन्थ को भी प्रकाशित किया। १९५१ ई० में डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'जायसी–ग्रंथावली' के अन्तर्गत 'महरी बाईसी' नामक ग्रंथ को भी प्रकाशित किया। जायसी और पदमावत-विषयक और भी ग्रन्थ समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। शुक्लजी के पश्चात् जायसी के वास्तविक मूल्यांकन का प्रयत्न कम हुआ है। इस कार्य में जो व्यक्ति प्रवृत्त हुए हैं, उनकी कृतियों में प्रायः शुक्लजी का ही अनुकरण द्रष्टव्य है। उनकी मौलिकता इस बात में अवश्य है कि वे शुक्लजी के ही मतों को घटा-बढ़ाकर और काट-छाँटकर गृहीत करते हैं।

शुक्लजी ने भी जायसी के जीवन, व्यक्तित्व, गुरु-परम्परा, पदमावत का ऐतिहासिक आधार, पदमावत की लिपि, पदमावत का रचना-काल प्रभृति विषयों पर सामग्री के अभाव में बहुत कम विचार किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी के कृतित्व और व्यक्तित्व का अभी तक सम्यक् अध्ययन-अनुशीलन नहीं हो सका था। प्रस्तुत प्रबन्ध में इस अभाव की पूर्ति का विनम्र प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के विशिष्ट प्रयत्न संक्षेप में निम्नलिखित हैं :–

'प्रस्तावना' के अन्तर्गत जायसी-विषयक अद्यावधि शोधों और अध्ययनों का आलोचनात्मक परिचय दिया गया है। 'जायसी : व्यक्तित्व : जीवनी और गुरु-परम्परा के अन्तर्गत प्राचीन–नवीन उपलब्ध कृतियों के प्रकाश में एतदविषयक शोधपूर्ण नए तथ्य और विचार प्रस्तुत किए गये हैं। अभी तक यह माना जाता रहा है कि जायसी के दो गुरु थे, किन्तु प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यहां स्पष्ट कर दिया गया है कि वस्तुतः जायसी के एक ही गुरु थे–महदीं शेख बुरहान।

'जायसी के काव्य की सामान्य रूपरेखा' के अन्तर्गत जायसी की स्फुट कृतियों का आलोचनात्मक-शोधात्मक परिचय दिया गया है। हिन्दी-साहित्य में

सवप्रथम 'चित्ररेखा' 'मसला' (मसलानामा) और 'कहरानामा' नामक ग्रन्थों का विवेचन इसी प्रबन्ध के अन्तर्गत किया गया है। जायसी की लिखी गई लगभग दो दर्जन कृतियाँ हैं। 'फारसी लिपि' के कारण ये लुप्तप्राय हैं। शोध के आलोक में ये कृतियां मिलती जा रही हैं और मेरा विश्वास है कि शीघ्र ही जायसी की सम्पूर्ण रचनायें प्रकाश में आ जायेंगी। 'चित्ररेखा' हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी है। 'मसलानामा' की भी चार प्रतियां उपलब्ध हो चुकी हैं और इसे परिशिष्ट में संकलित कर दिया गया है। चित्ररेखा एक प्रेम-कथा है और 'मसला' लोकोक्तियों का संकलन।

द्वितीय खण्ड में 'पदमावत' का विस्तृत अनुशीलन करने का प्रयत्न किया गया है। इसके अन्तर्गत पांच अध्याय हैं। 'कथावस्तु : मूल स्रोत तथा अन्य उप-करण, शीर्षक अध्याय में एतद्विषयक सर्वांगीण अध्ययन, प्रामाणिक एवं शोधपूर्ण नये तथ्य और विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

इस प्रबन्ध में पदमावत की लगभग तीन दर्जन हस्तलिखित प्रतियों का विव-रण दिया गया है। लिपि के सम्बन्धमें विचार करते हुए स्पष्ट किया गया है कि पदमावत फारसी लिपि में ही लिखा गया था। पदमावत के रचनाकाल की समस्या पर भी विचार किया गया है और मेरा मत है कि इसकी रचना ९४७ हि० (१५४० ई०) में हुई थी।

अभी तक पदमावत में ऐतिहासिकता की खोज की जाती रही है और इसकी उत्तरार्द्ध कथा को ऐतिहासिक कहा जाता रहा है। इस प्रबन्ध में ऐतिहासिकता का संगोपांग विवेचन करते हुए स्पष्ट कर दिया गया है कि इसमें रत्नसेन, चित्तौर, अलाउद्दीन, दिल्ली प्रभृति कतिपय नाम ही नाममात्र के लिए ऐतिहासिक हैं, वस्तुतः उस समय पद्मिनी नाम की कोई रानी ही नहीं थी। पदमावती रानी की कहानी भारतीय लोक और साहित्य की बड़ी प्राचीन कथा है। इन सबमें जायसी की तूलिका के कल्पना-विलासों और सम्भावनाओं का ही प्राधान्य है। कथावस्तु को निश्चित दिशा, गति, आधार और मोड़ देने के लिए पदमावत में अनेक कथानक रूढ़ियों की योजना की गई है। इस प्रबन्ध में कथानक रूढ़ियों का सविस्तार विवेचन किया गया है।

प्रबन्ध काव्य के रूप में पदमावत एक श्रेष्ठ महाकाव्य हैं। इसमें भारतीय प्रबन्ध काव्य—चरितकाव्य की शैली और फारसी की मसनवी शैली का सुन्दर समन्वय द्रष्टव्य है। चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, और शैलीगत विवेचन के अन्तर्गत पदमा-वत के काव्य-सौष्ठव के सम्बन्ध में नवीन तथ्य एवं विचार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पदमावत की सांकेतिकता, मसनवी शैली, रूपवर्णन और अप्रस्तुत विधान आदि का विशद विवेचन भी किया गया है और शोधपूर्ण नए तथ्य भी उपस्थित किये गये हैं।

तृतीय खण्ड के अन्तर्गत 'ज़ायसी का रहस्यवाद', 'जायसी की काव्यभाषा' के अतिरिक्त 'सूफीमत' का विशद एवं शोधपूर्ण विवेचन करते हुए जायसी की प्रेम–साधना का परिचय दिया गया है। 'प्रेमाख्यानक परम्परा और जायसी' के अंतर्गत शुद्ध भारतीय और सूफी प्रेमाख्यानों के उद्भव एवं विकास का शोधपूर्ण परिचय दिया गया है। साथ ही सूफियों की देन और जायसी के महत्व का मूल्यांकन भी किया गया है।

जायसी ने एक विराट समन्वय की चेष्टा की है। यह समन्वय है सूफी प्रेम-पंथ और भारतीय योगपंथ का, अध्यात्म और काव्य का, हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति का, इतिहास की संभावनाओं और कल्पना-विलासों का, भारतीय और फारसी शैलियों का, लोक-तत्वों और काव्यतत्वों का, परम्परावाद और स्वछंदतावाद का। इस विराट समवन्य की चेष्टा ने जायसी को भारतीय साहित्य के शीर्षस्थ कवियों में प्रमुख स्थान दिया है। वस्तुतः मध्ययुगीन हिन्दी कविता में महात्मा तुलसीदास और जायसी ही सर्वश्रेष्ठ प्रबन्धकार हैं।

मेरी प्रस्तुत साधना गुरुवर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के चरण–कमलों में सम्पन्न हुई है। उन्होंने अत्यन्त प्रेम, उत्साह और वत्सलता के साथ इस प्रबन्ध के लिये विषय दिया-निर्देश किया और अत्यन्त व्यस्त रहने पर भी इस विस्तृत प्रबन्ध का एक-एक अध्याय देखा, सुना और सुधारा है। यह उन्हीं के आशीष और सुयोग्य निर्देशन का परिणाम है कि 'चित्ररेखा' 'कहरानामा, और 'मसला' (या मसलानामा) नामक जायसी की विलुप्त कृतियां प्रकाश में आ सकी हैं। उन्हीं का आश्रय पाकर मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ—वस्तुतः इस प्रबन्ध की अच्छाइयों का सम्पूर्ण श्रेय पूज्य आचार्य जी को है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने की धृष्टता कैसे करूँ? प्रस्तुत कृति के साथ उनके चरण-कमलों में करबद्ध श्रद्धावनत हूं, वस्तुतः उनके 'अनंत 'उपकार और अनुग्रह' से उऋण होना असम्भव है।

आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, स्व० पं० नाथूराम प्रेमी, प्रो० शशिशेखर नैथानी, भाई चन्द्रबलीसिंह, प्रो० रामलषण शुक्ल, डा० राकेश गुप्त, आदि विद्वानों से मुझे प्रेरणाएं-सहायताएं मिली हैं। मैं इनके प्रति विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

बम्बई विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री मार्शल जी ने पुस्तक-पत्र–पत्रिकाओं तथा अलभ्य हस्तलिखित प्रतियों से मेरी सहायता की है, मैं उनका आभारी हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध लिखने में जिन पुस्तकालयों से, जिन भांडारों से, जिन हस्तलिखित प्रतियों से तथा जिन विद्वानों से और जिनकी कृतियों से मुझे किंचित भी सहायता मिली है, उन्हें मेरा धन्यवाद। जिनके मतों का मैंने खंडन–मंडन किया है, उन सबके प्रति मेरी श्रद्धा है। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि भाई डा० प्रेमशंकर

जी के स्नेह के प्रति किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ ? उनकी बहुमूल्य सहायता के लिये औपचारिक धन्यवाद का कोई महत्व नहीं हैं ।

अन्त में, मैं गुरुवर आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के चरणों की वन्दना करता हूँ । मूलतः उन्होंने ही मुझे १९५३-५४ ई० में जायसी के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया था । उनका आशीष साहाय्य मुझे सदा मिलता रहा है ।

यदि प्रेम-पीर के अमर गायक जायसी और उनके काव्य का यह अध्ययन हिन्दी के साहित्य-देवता द्वारा स्वीकृत हुआ, तो यह मेरा सौभाग्य होगा—

'फूल सोइ जो महेसहिं चढ़ै ।'

विनम्र,
शिवसहाय पाठक

दीपावली, २०२१

विषय निर्देशिका

१—प्रस्तावना १७–३६

२—जायसी विषयक अध्ययन-अनुसंधान-पदमावत के संस्करण

मलिक मुहम्मद जायसी— जीवन-व्यक्तित्व एवं गुरु-परंपरा ३७–६८

नाम-जीवन : व्यक्तित्व, जन्म-स्थान मित्र, मृत्यु, अन्त:साक्ष्यों एवं वहि: साक्ष्यों के आधार पर जायसी का जीवन, जन्मतिथि-विभिन्नमत, निष्कर्ष, जायसी की गुरु-परंपरा, पीर परंपरा, निष्कर्ष

३—जायसी के काव्य की रूपरेखा (और स्फुट कृतियाँ) ६९–१२६

जायसी के काव्य की सामान्य रूपरेखा, जायसी की कृतियाँ

अखरावट

अखरावट का रचनाकाल, कथावस्तु, अखरावट के दार्शनिक आध्यात्मिक बिन्दु, जीव, ब्रह्म, गुरु, शून्यवाद, चारि वसेरे, नैतिक मतवाद एवं आध्यात्मिक वैशिष्ट्य घी-रूपक, दीपक-रूपक, जौलाहा-रूपक, अखरावट के आधार पर जायसी के आध्यात्मिक विचार।

आखिरी कलाम

हस्तलिखित प्रतियाँ और संपादन, निर्माण—काल, आखिरी कलाम की कथा, नाम, पीर, महिमा, शिया विचार धारा, इस्लामी धर्म, दर्शन, ब्रह्म-जीव-सृष्टि।

चित्ररेखा

हस्तलिखित प्रतियां, प्रतिलिपिकाल, चित्ररेखा की कथा, चित्ररेखा के विशिष्ट आकर्षण, सृष्टि का उद्भव, प्रेम की सर्वोच्चता, चित्ररेखा का मार्मिक संदेश, मुहम्मद और उनके चार मीत, पीर परंपरा, गुरु परंपरा, कवि का अपने विषय में कथन, दोहा—चौपाई।

कहरानामा

हस्तलिखित प्रतियां-महरी बाईसी का प्रकाशन, कहरानामा की कथा, विशेष।

मसला (मसलानामा)

हस्तलिखित प्रतियाँ, वर्ण्य और उसका वैशिष्ट्य।

४—कथावस्तु का संघटन : मूलस्रोत और अन्य उपकरण १२७–१९२

(हस्तलिखित प्रतियाँ, रचनाकाल और लिपि)

पदमावत की प्राप्त हस्तलिखित प्रतियां, उनका विवरण-पदमावत का रचना-काल, पदमावत की लिपि : एक सर्वेक्षण, कथानक का मूल स्रोत, प्रेमगाथाओं की कथा-वस्तु के मूल तन्तु और पदमावत, जायसी द्वारा गृहीत पदमावती की कथा, पदमावत की कथा, पदमावत की ऐतिहासिकता, टाड का राजस्थान, तारीखे–फिरिश्ता, पदमावत और तारीखे फिरिश्ता, अमीर खुसरो, जियाउद्दीन बर्नी, आईने अकबरी का पद्मिनीवृत्त, हज्जी उद्बीर का पद्मिनी वृत्त, अन्य इतिहासकारों के उल्लेख, सर्वेक्षण और निष्कर्ष, ओझाजी के मत की समीक्षा, विशेष फिरिश्ता-अबुलफजल, टाड आदि की पद्मिनी सम्बन्धी बातें और जायसी द्वारा गृहीत कथा, कथानक रूढ़ि, पदमावत में कथानक रूढ़ियों का प्रयोग, पदमावत में प्रयुक्त कुछ विशिष्ट कथानक रूढ़ियां, पदमावती रानी की कहानी की भारतीय लोक और साहित्य की एक कथानक रूढ़ि है, पदमावत के कतिपय विशिष्ट कथानक रूढ़ियों (अभिप्रायों) का सर्वेक्षण, सिंहल द्वीप, हीरामन शुक

५—प्रबन्ध काव्य के रूप में पदमावत का संघटन १९३–२१०

महाकाव्य के भारतीय लक्षण, महाकाव्य-विषयक पाश्चात्य आदर्श, पदमावत का महाकाव्यत्व— (१) सुसंगठित और जीवंत कथावस्तु (२) नायक (३) रसात्मकता और प्रभावान्विति, वस्तु वर्णन, महत्कार्य, उदात्त भाषाशैली, महान उद्देश्य, महती प्रतिभा,मार्मिक प्रसंगों की सृष्टि एवं तज्जन्य गांभीर्य ।

६—चरित्र रचना २११–२२५

पदमावत का चरित्र-विधान, रत्नसेन, पदमावती नागमती, अलाउद्दीन, राघव चेतन, गोरा बादल ।

७—प्रकृति–चित्रण २२६–२५३

प्रकृति का अर्थ और काव्य, जायसी कृत प्रकृति-वर्णन के विविध रूप (१) उपमानों के रूप में किया गया प्रकृति-चित्रण, परंपरा प्रचलित और रूढ़िबद्ध उपमान (क्ष) नखशिख वर्णन में प्रकृति के उपमान (त्र) मानवीय भावनाओं के वर्णन में प्रयुक्त उपमान (ज्ञ) अन्य वस्तुओं और कार्यों के प्रकृति क्षेत्र से गृहीत उपमान (२) वातावरण की विनिर्मित और घटना वर्णन के लिए किया गया प्रकृति वर्णन (३) आध्यात्मिक अभिव्यक्ति और ईश्वरीय वैभव के स्पष्टीकरण के लिये

किया गया प्रकृति-चित्रण (४) उपदेश और नीति के माध्यम के रूप में प्रकृति-चित्रण (५) मानवीय हर्ष-विषाद की अभिव्यंजना के रूप में किया गया प्रकृति-चित्रण (६) उद्दीपन रूप एवं विप्रलंभ शृंगार, षट् ऋतुवर्णन, बारहमासा और उसका सौन्दर्य, बारहमासे का रेखांकन, वैशिष्ट्य, जग जलबूड़ि जहाँ लगि ताकी का औचित्य।

८—शैलीगत विवेचन २५४–३४०

पदमावत की सांकेतिकता, रूप, सौंदर्य वर्णन एवं अप्रस्तुत विधान, रूप-सौंदर्य वर्णन–(१) रूप का मुख्य प्रतीक पारस और उसकी व्याख्या (२) रूप की सार्वभौमिकता (सृष्टिव्यापी प्रभाव एवं लोकोत्तर कल्पना) (३) रूप-वर्णन की अत्युक्तियां और उनका औचित्य (४) अप्रस्तुत विधान (उपमान रूप) नखशिख वर्णन और तन्निहित अप्रस्तुत सौंदर्य (५) यौवन भार-भरिता पदमावती का नखशिख (६) रूप-सौंदर्य के उपमान–केश, मस्तक, ललाट, भौंह, नेत्र, बरुनी, नासिका, अधर, दांत, रसना, कपोल, तिल, श्रवण, मुख, ग्रीवा, भुजा, हथेली, स्तनद्वय, पेट, रोमावलि, कटि, नाभि, पीठ, उरु-चरण, (७) उपमान रूपों का सौंदर्य : एक सर्वेक्षण, (८) अन्य विषयों के वर्णनों से सम्बन्धित उपमानों का सौंदर्य, (९) प्रकृति क्षेत्र से गृहीत उपमानों का सौंदर्य, (१०) लोकजीवन से गृहीत उपमानों का सौंदर्य, (११) वस्तु वर्णन एवं कार्यो के उपमानों का सौंदर्य।

रस

भावाभिव्यंजना, शृंगार, संभोग, चित्रण, करुण, वात्सल्य, अन्य रस : भाव, विशेष।

अलंकार

पदमावत में अलंकार-विधान–(१) शब्दालंकार (२) अर्थालंकार–उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति, तदगुण, व्यतिरेक, प्रतीप, संदेहालंकार, दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना, विरोध, प्रत्यनीक, भ्रम, विभावना, परिकरांकुर विनोक्ति, लोकोक्ति, दीपक, उत्तर, अनन्वय, परिणाम, श्लेष-मुद्रा, विषादन और अंगांगिभाव संकर, अप्रस्तुत प्रशंसा, संसृष्टि, संकर, विशेष।

छन्द विधान

दोहा-चौपाई, दोहा-छौपाई की परम्परा और जायसी-चौपाई और अरिल्ल छन्द, दोहे की व्युत्पत्ति और पदमावत-मसनवी शैली, परिभाषा, रूप, मसनवी के चार वर्ग और पदमावत-निष्कर्ष।

९—जायसी का रहस्यवाद ३४१–३६८

रहस्यवाद, अद्वैतवाद : अद्वैतभावना पर आश्रित रहस्यवाद, अन्योक्ति :

समासोक्ति, जायसी का प्रकृतिमूलक रहस्यवाद, प्रेममूलक रहस्यवाद, जायसी की देन, प्रतीक योजना, साधना के साम्प्रदायिक प्रतीक, सहज सुन्दरी : सिद्धयोगी : युगनद्ध : महासुख रसेश्वर मत : सामरस्य सिद्धान्त और जायसी का रहस्यवाद।

१०—जायसी की काव्य-भाषा ३६९–३९४

ठेठ अवधी : जनता की बोली : जायसी की भाषा, अवधी भाषा और पदमावत, सूक्तियाँ : लोकोक्तियाँ : कहावतें, मुहावरे और जायसी, सूक्तियों से भाषा की व्यंजकता, मुहावरों से चुस्त और अर्थपूर्ण बनी भाषा, कहावतों से संजीव बनी भाषा, भाषा-शक्ति, भाषा की एकरूपता और उसकी कतिपय अन्य विशेषतायें, जायसी और तुलसीदास की भाषा, शब्दों में चित्र प्रस्तुत करने के धनी कलाकार जायसी, जायसी की अवधी और उसके प्रयोग का औचित्य, भाषा, भावाभिव्यक्ति और जायसी, जायसी की भाषा (एक संक्षिप्त सिंहावलोकन), निष्कर्ष।

११—सूफीमत : जायसी की प्रेम–साधना ३९५–४२८

सूफी : व्युत्पत्तिमूलक अर्थ, सूफीमत का आविर्भाव, भारतवर्ष में सूफीमत का प्रवेश, विकास, चौदह सूफी संप्रदायों का उल्लेख, चिश्ती संप्रदाय, सुहरावर्दी संप्रदाय, कादरी संप्रदाय, नख्शबन्दी-संप्रदाय, सत्तारी संप्रदाय, मदारी संप्रदाय, विशेष, जायसी की प्रेम-भक्ति-साधना, सूफीमत में प्रेम का महत्व और जायसी की प्रेम-साधना, परमसत्ता की प्रेममय कल्पना : विश्लेषण, निष्कर्ष।

१२—प्रेमाख्यानक परम्परा ४२९–५१९

प्रेमाख्यानकों का महत्व और जायसी

प्रेमाख्यान का अर्थ-भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा, रयणसेहरी कहा, अपभ्रंश के प्रेमाख्यान, हिन्दी साहित्य में प्रेमाख्यान, शुद्ध प्रेमाख्यान : सूची, नरपति नाल्ह कृत बीसलदेव रास, सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य-अप्राप्त प्रेमगाथाएं, हिन्दी के कतिपय उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानों की सूची, चन्दायन, साधन कृत मैनासत, मृगावती, पदमावत, जायसी द्वारा प्रेमाख्यानों का उल्लेख, मनोहर और मधुमालती, शेख (मियां) गुफ्तार मंझन कृत 'मधुमालती', उसमान कृत 'चित्रावली', शेखनवी कृत 'ज्ञानदीप' कासिमशाह कृत 'हंस जवाहिर', नूर मुहम्मद कृत 'इन्द्रावती', **दक्खिनी हिन्दी के प्रेमाख्यान : अनुशीलन :** (१) निजामी (२) मुल्लावजही (३) गवासी (४) मुकीमी (५) नुसरती अरबी–फारसी–सामी परम्परा की अनुवर्तन। सूफी गाथाकारों के दो मुख्य केन्द्र। परवर्ती सूफी कवियों पर जायसी का प्रभाव, सूफी कवियों

का वैशिष्ट्य देन, तुलसीदास को जायसी की देन, जायसी और कबीरदास, जायसी और मीराबाई, सृष्टि, जीव, हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य की चिन्त्य आलोचना और उसका उत्तर, नारी, सूफी प्रेमाख्यानों का महत्व एवं उनका हिन्दी साहित्य में स्थान, निष्कर्ष।

परिशिष्ट ५२०–५४९

(क) मसला (मसलानामा) कहरानामा–(ख) कतिपय सूक्तियां : लोकोक्तियां-मुहावरे (सूची)–(ग) अलाउद्दीन सम्बन्धी प्रबन्ध और फुटकल काव्यों की सूची (घ) सहायक ग्रंथ सूची–हिन्दी-ग्रंथ-संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-ग्रन्थ–उर्दू-फारसी-अंग्रेजी (ङ) हस्तलिखित प्रतियां (च) पत्र-पत्रिकाएं–खोज–विवरण।

१

प्रस्तावना

जायसी विषयक अध्ययन : अनुसन्धान

जायसी हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों के हैं। हिन्दी भाषा के प्रबन्ध काव्यों में पद्मावत शब्द, अर्थ और अलंकृति तीनों दृष्टियों से अनूठा काव्य है। इस कृति में श्रेष्ठतम प्रबन्धकाव्यों के गुण एकत्र प्राप्त हैं। मार्मिक स्थलों की बहुलता, उदात्त लौकिक और ऐतिहासिक कथावस्तु, भाषा की अत्यन्त विलक्षण शक्ति, जीवन के गम्भीर सर्वाङ्गीण अनुभव, सशक्त दार्शनिक चिन्तन आदि इसकी अनेक विशेषताएं हैं। सचमुच 'पद्मावत' हिन्दी साहित्य का एक जगमगाता हुआ हीरा है। इसके बहुविध पहल और घाटों पर ज्यों-ज्यों साहित्य-मनीषियों की ध्यान-रश्मियाँ केन्द्रित होंगी, त्यों-त्यों इस लक्षण-सम्पन्न काव्य-रत्न का स्वरूप और भी उज्ज्वल दिखाई देगा। अवधी भाषा के इस उत्तम काव्य में मानव-जीवन के चिरंतन सत्य प्रेम-तत्व की उत्कृष्ट कल्पना है। पद्मावत की प्रेमात्मक निर्मल ज्योति कितनी भास्वर है, उसमें कितना आकर्षण है, इसे शब्दों में प्रकट करना कठिन है। महाकवि ने एक ओर अनुत्तम रूप-ज्योति का निर्माण किया है और दूसरी ओर उस ज्योति को मानव के भाग्य में लिखी हुई अनिवार्य करुणा की सौभाग्य-विलोपी छाया के सम्मुख ला रखा है, किन्तु इस निर्मम कसौटी पर कसे जाने से वह आभा और अधिक प्रकाशित हो उठी। कवि के शब्दों में इस प्रेम-कथा का मर्म है–'गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई।' (६५२।२) रत्नसेन और पद्मावती दोनों के जीवन का अन्तर्यामी सूत्र है–प्रेम में जीवन का पूर्ण विकास और नेत्र-जल में उसकी समाप्ति। प्रेम-तत्व की दृष्टि से पद्मावत का जितना अध्ययन किया जाय कम है। संसार के उत्कृष्ट महाकाव्यों में इसकी गिनती होने योग्य है। इसे अभी तक जो पद मिला है, भविष्य में उसके और उच्चतर होने की सम्भावना है।

इस ग्रन्थ-रत्न को हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध काव्यों में महत्वपूर्ण स्थान देने के विषय में दो मत नहीं हो सकते। हिन्दी साहित्य की प्रेमकाव्य-परंपरा के अन्तर्गत लिखे गए प्रबन्ध काव्यों में यह ग्रन्थ सर्वोत्तम है। पद्मावत की रचना के

लगभग ३५ वर्ष पश्चात् अवधी भाषा की दूसरी सर्वश्रेष्ठ कृति का प्रणयन हुआ। यह गोस्वामी तुलसीदास का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरितमानस' है। अवधी के ये दोनों ग्रन्थ-रत्न दो भिन्न चिन्ता-धाराओं के प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ हैं। रामचरितमानस में 'नानापुराणनिगमागम सम्मत' निर्गुण-निराकार ब्रह्म को सगुण-साकार रूप में उपस्थित किया गया है। पद्मावत में लोक और साहित्य समादृत पद्मावती की कथा द्वारा अलौकिक ईश्वरीय प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति करते हुए निर्गुण-निराकार प्रेम-प्रभु की आरती उतारी गई है। पद्मावत में सूफी और भारतीय सिद्धान्तों के समन्वय का सहारा लेकर प्रेम-पीर की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति की गई है, तो 'रामचरितमानस' में भारतीय सगुण भक्ति की धारा शत-सहस्र शाखाओं में फूटकर प्रस्रवित हुई है और मर्यादा, लोकमंगल एवं आदर्श की अमर गाथा का आकर बन गई है। इन्हीं मूलभूत सैद्धान्तिक अन्तरों के कारण दोनों रचनाएं दो भिन्न प्रकार की रचनाकोटि में आती हैं। रामचरितमानस शास्त्रोन्मुख (क्लैसिकल) अधिक है। प्रबंध-संघटन, रचना-कौशल, भाषा, छन्द, शैली इत्यादि सभी दृष्टिकोणों से तुलसीदास ने भारतीय काव्य-पद्धति का अनुसरण किया है। इसके ठीक विपरीत 'पद्मावत' लोकोन्मुख है। जायसी ने अपनी समर्थ तूलिका और लोक-जीवन के प्रगाढ़ अनुभव से 'पद्मावत' की काव्यभूमि पर लोक और काव्य के अनेक उपादानों और प्रसाधनों के द्वारा उत्कृष्ट और गाढ़ अभिव्यंजना का विधान किया है। क्या भाषा और क्या भाव, क्या रचना-शिल्प और क्या छन्द, क्या कथा-वस्तु का संघटन और क्या रूप-सौन्दर्य वर्णन इत्यादि सभी दृष्टिकोणों से जायसी ने लौकिक और शास्त्रीय पद्धतियों का सुन्दर समन्वय किया है, परिणामस्वरूप 'पद्मावत' में सहज ही एक अनूठा सौंदर्य आ गया है।

पद्मावत के अतिरिक्त जायसी के और भी अनेक ग्रन्थ हैं इनमें 'अखरावट', 'आखिरी कलाम', 'कहरानामा', 'चित्ररेखा' और 'मसलानामा' अभी तक उपलब्ध हो सके हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में इन सब उपलब्ध ग्रन्थों के सर्वाङ्गीण विवेचन का प्रयत्न किया गया है।

मध्ययुग में जायसी की कृतियों का बड़ा व्यापक प्रचार था। अराकान के मगन ठाकुर के राजकवि 'अलाओल' ने बंगाल में इसका अनुवाद किया था। फारसी में बज्मी आदि के अनेक अनुवाद ग्रन्थ मिलते हैं। पद्मावत तथा जायसी की अन्य कृतियों की प्रतियों के आधिक्य से भी यह बात स्पष्ट है। यद्यपि मध्ययुग में जायसी की प्रसिद्धि व्यापक थी, तथापि बीसवीं शताब्दी के पहले हिन्दी में जायसी को पुराने लोगों ने स्थान नहीं दिया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक भी इनके मूल्यांकन का प्रयत्न नहीं हुआ। इस उपेक्षा का प्रधान कारण धार्मिक पूर्वाग्रह रहा है। पद्मावत की भाषा का (ठेठ अवधी का) पुरानापन, गूढ़ता, एवं शुद्ध संस्करण का अभाव भी जायसी की उपेक्षा के गौण कारण हो सकते हैं। और यही कारण है कि उनका

अध्ययन न हो सका था। बीसवीं शताब्दी में जायसी को हिन्दी-साहित्य के समक्ष उपस्थित करने का प्रथम श्रेय सर जार्ज ग्रियर्सन एवं पंडित सुधाकर द्विवेदी को है। उन्होंने पद्मावत को प्रकाशित-संपादित किया था। इसके पश्चात् जायसी की कीर्ति को हिन्दी संसार में फैलाने और उनका वास्तविक मूल्यांकन करने का श्रेय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल को है।

जायसी पर अब तक हुए अनुसन्धान : अध्ययन का परिचय

फ्रेन्च विद्वान् गार्सान्दतासी[1] ने अपने ग्रन्थ 'इस्त्वार द ला लितरैत्यूर ऍंदुई ऐ ऐन्दूस्तानी' के दूसरे भाग में जायसी के विषय में एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में जायसी के विषय में परिचयात्मक और शोधात्मक उल्लेख किए गए हैं। इसमें जायसी की कई संग्रहालओं में (और व्यक्तियों के पास) मिलने वाली हस्तलिखित प्रतियों का भी विवरण दिया गया है।

"जायसी जिन्हें जायसीदास भी कहा जाता है जो उनके हिन्दू से इस्लाम धर्मानुयायी बनने की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। ······ इसी लेखक की परमार्थ जपजी, सोरठ और पद्मावत नामक पुस्तकें भी हैं। उन्होंने १५४०–४१ ई० में 'पद्मावती' काव्य की रचना की।"[2]

शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज'[3] (१८७७ ई०) में जायसी का उपस्थिति–काल दिया हुआ है कि जायसी १६८० वि० में विद्यमान थे, किन्तु जायसी की मृत्यु १५९९ वि० में हो चुकी थी, अतः यह कथन विश्वासयोग्य नहीं है।

सर जार्ज ग्रियर्सन[4] ने 'द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' (१८८९ ई०) में पदमावत को हिंदी साहित्य का सबसे अधिक अध्ययन के योग्य ग्रन्थ

१—गार्सान्दतासी : इस्त्वार द ला लितरैत्यूर ऍंदुई ऐ ऐन्दूस्तानी। (इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण दो भागों में क्रमशः १८३९ और १८४७ ई० में पेरिस से प्रकाशित हुआ था। द्वितीय परिवर्धित संस्करण तीन भागों में पेरिस से ही १८७०–७१ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ के हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित अंशों का हिंदी अनुवाद डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने किया है (हिन्दुस्तानी एकेडेमी से प्रकाशित, "हिन्दुई साहित्य का इतिहास" १९५३) इसमें हिन्दी के अनेक ग्रंथों के नाम-विवरण आदि जो तासी ने दिए थे, छोड़ दिए गए हैं, जैसे अखरावट की प्रति का विशेष उल्लेख भी छूट गया है।

२—वही, पृ० ८३–८६।

३—शिवसिंह सेंगर : शिवसिंह सरोज, सं० १९४० (एशियाटिक सोसायटी, बंगाल)।

४—सर जार्ज ग्रियर्सन : द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान, १८८९ ई०। (हिंदी अनुवाद : किशोरीलाल गुप्त –हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास, (१९५७)

बतलाया है। उनका कथन है कि जायसी ने शेरशाह के समय १५४० ई० में पदमावत लिखा था। जायसी ने कहानी का कुछ भाग उदयन की पद्मावती और रत्नावली से भी लिया है।'[१]

१९१३ ई० में मिश्रबंधुओं का प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ 'मिश्रबंधु विनोद'[२] प्रकाशित हुआ। मिश्रबंधुओं ने अपने 'नवरत्न' में जायसी को स्थान नहीं दिया। उन्होंने अपने 'विनोद' में जायसी का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है। उन्होंने जायसी के पदमावत को इतिहास कहना ठीक माना है। सिवा एक दो छोटी-छोटी बातों के अतिरिक्त पद्मावती की अन्य सभी घटनाएं इतिहास से मिलती हैं। इनकी कविता से तत्कालीन रहन-सहन का पता चलता है। इनकी कविता में उद्दण्डता का अभाव नहीं है। इन्होंने कभी हिन्दू धर्म पर श्रद्धा नहीं दिखलाई। मिश्रबंधुओं के विवरण से स्पष्ट है कि जायसी विषयक उनका ज्ञान अत्यंत सीमित था।

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद्र ओझा[३] ने 'उदयपुर राज्य का इतिहास' के प्रथम भाग में पदमावत की कथा और उसके ऐतिहासिक पक्ष पर विचार किया है। ओझाजी ने प्रथम बार साहसपूर्वक प्रतिपादित किया है कि 'पदमावत ऐतिहासिक उपन्यासों की-सी कविताबद्ध कथा है जिसका कलेवर इन ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर रचा गया है कि रत्नसेन चित्तौड़ का राजा, पद्मिनी उसकी रानी और अलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान था जिसने उससे लड़कर चितौड़ का किला जीता था। उसमें अनेक इतिहास विरुद्ध बातें भी हैं। सिंहलद्वीप में गन्धर्वसेन नाम का कोई राजा नहीं हुआ। उस समय तक कुम्भलनेर आबाद तक नहीं हुआ था।'

१९२४ई० में पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित होकर 'जायसी ग्रन्थावली', नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुई इसमें जायसीकृत 'पदमावत' और 'अखरावट' दो ग्रन्थ थे। वस्तुत: जायसी-विषयक आज तक की समालोचनाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य आचार्य शुक्ल जी का ही है। १९३५ ई० में 'जायसी ग्रन्थावली' का परिवर्द्धित और संशोधित द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। इसमें जायसी की एक और नवीन प्राप्त पुस्तक 'आखिरी कलाम' को भी संपादित करके प्रकाशित किया गया है। उनकी २१० पृष्ठों की विशद भूमिका के विषय में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों को हम दुहरा सकते हैं—"पदमावत की प्रस्तावना में आपने जैसी काव्य-मर्मज्ञता दिखाई है, वैसी हिन्दी तो क्या, अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी कम ही मिलेगी। यह प्रस्तावना अपने आप में एक अत्यधिक महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति

१—सर जार्ज ग्रियर्सन : द मार्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान १८८९ ई०।
२—मिश्रबंधुविनोद : हिन्दी ग्रन्थ प्रसारक मण्डली, खंडवा और प्रयाग।
३—म०म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास।

है ।"[1] जायसी के अध्ययन की गहराई के दृष्टिकोण से शुक्ल जी की 'भूमिका' आज तक हुए जायसी-विषयक अध्ययनों में मूर्धन्य है । शुक्ल जी कृत 'पदमावत' की प्रेम-पद्धति, वियोग-पक्ष, संभोग-शृंगार, वस्तु-वर्णन, भाव-व्यंजना, अलंकार, स्वभाव-चित्रण और जायसी की भाषा' आदि की महत्ता आज भी ज्यों की त्यों है । आज तक के जायसी के आलोचक और हिन्दी के इतिहासकार शुक्ल जी के ही वाक्यों को हेर-फेर कर के प्रस्तुत कर देने में अपनी इतिकर्तव्यता समझते हैं । यह अत्यन्त सुस्पष्ट तथ्य है कि शुक्ल जी के पश्चात् उपर्युक्त विषयों पर विद्वानों ने जो कुछ भी लिखा है वह या तो शुक्ल जी के मतों का पिष्टपेषण है या मात्र अनावश्यक विस्तार।

यह अवश्य सत्य है कि विशिष्ट सामग्री के अभाव में प्रेमगाथा की परंपरा जायसी का जीवनवृत्त, पदमावत का ऐतिहासिक आधार, जायसी का रहस्यवाद आदि विषयक शुक्लजी के मत पूर्ण नहीं कहे जा सकते । शुक्लजी के परवर्ती विद्वानों ने इसी ओर प्रवेश करने का साहस भी किया है । १९२५ ई० में बाबू सत्यजीवन वर्मा का 'आख्यानक काव्य'[2] शीर्षक एक ६० पृष्ठों का लेख प्रकाशित हुआ । इस लेख में उन्होंने उस समय तक के प्राप्त हुये बीस प्रेमाख्यानक काव्यों का उल्लेख करते हुए जायसी, कुतबन और मंझन का परिचय भी दिया था ।

डा० श्यामसुन्दरदास जी ने १९३० ई० में 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया । इसमें उन्होंने 'प्रेममार्गी भक्तिशाखा' शीर्षक के अन्तर्गत जायसी और उनके तीन ग्रंथों का लगभग एक पृष्ठ में परिचय दिया है ।[3] ऐतिहासिक दृष्टि से यह परिचय महत्वपूर्ण है ।

पं० चंद्रबली पाण्डेय ने १९३० ई० में 'सरस्वती'[4] में 'अखरावट' का रचना-काल 'शीर्षक निबन्ध प्रकाशित कराया था । उन्होंने विद्वतापूर्ण तर्कों और अन्त: साक्ष्यों के आधार पर अखरावट के निर्माणकाल की विवेचना की है । सं० १९८८ (१९३१ ई०) में 'ना० प्र० पत्रिका' में पं० चन्द्रबली पाण्डेय का 'पदमावत की लिपि और रचना काल'[5] शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ । पांडेयजी का प्रस्ताव है कि "रचनाकाल विषयक मतभेद दो और चार का ही है । कवि ने पदमावत कैथी लिपि में ही लिखा था । हमारी समझ में उसका आरम्भ ९२७ हिजरी में हो गया था । पदमावत का रचनाकाल ९२७ हि० से ९४७ हि० तक ठहरता है ।"[6] "वे १५४०

१- पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ६५-६६ ।
२- नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, भाग ६ ।
३- डा० श्यामसुन्दरदास : हिन्दी भाषा और साहित्य,पृ०२९४ (द्वि०सं० १९९४) ।
४- सरस्वती, प्रयाग, १९३० ई० ।
५- ना०प्र० पत्रिका, काशी भाग १२,सं० १९८८ (लेख३), पृ० १०१-१४५ ।
६- वही, पृ० १४१-४२ ।

ई० तक पदमावत की रचना करते रहे, और ग्रंथ के समाप्त हो जाने पर शेरशाह को उचित शाहेवक्त पाकर उसकी बंदना भी उसमें जोड़ दी । हमको अपने कथन पर इतना बिश्वास है कि हम इसको अधिक बढ़ाना उचित नहीं समझते ।"[१] "पं० चंद्र-बली पांडेय कृत" इस निबन्ध में विषयांतर भी है जो शोध-निबंध का एक अवगुण है और लेखक के तर्कों में कहीं--कहीं औद्धत्य और आधारहीनता भी दीख पड़ती हैं, साथ ही उसके निष्कर्ष हमें भ्रामक प्रतीत हो सकते हैं, पर इसमें कहीं भी गंभीरता का अभाव नहीं है ।"[२] सं० १९९० वि० (१९३३ ई०) में पं० चन्द्रबली पांडेय का 'जायसी का जीवनवृत्त'[३] शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ । ना० प्र० पत्रिका में जायसी विषयक प्रकाशित होनेवाले अन्य लेखों में म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत 'पदमावत का सिंहल द्वीप'[४] शीर्षक लेख उल्लेखनीय है । ओझा जी का मत है कि रत्नसेन इतने कम समय तक राजगद्दी पर रहा कि वह सिंहल (लंका) नहीं जा सकता था । पदमावत का सिंहल द्वीप समुद्र-स्थित लंका न होकर चित्तौड़ से चालीस मील पूर्व में स्थित 'सिंगोली' नामक प्राचीन स्थान है । कवि सिंगोली को सिंहल लिखा गया है । ओझा जी ने 'सिंहल' को 'सिंगोली' तो सिद्ध कर दिया, पर मार्ग के वन—कान्तार, कलिंग, सातसागर आदि के विषय में कोई भी तर्क-वितर्क नहीं प्रस्तुत किया ।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने १९३३ ई० में 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ"[५] में एक लेख दिया था । इसमें उन्होंने पदमावत की कथा और जायसी के अध्ययन पर विचार किया था ।

डा० सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित 'पदुमावति[६]" में टेकचन्द ने 'जायसी' और उनके 'पदमावत' का एक संक्षिप्त परिचय दिया है। चार पृष्ठों के 'फोरवर्ड' में उन्होंने पदमावत की कहानी, रचना-काल (१५४०ई०) और जायसी की कुछ विशेषताओं का परिचयात्मक विवरण देते हुए 'विद्वान् सम्पादक सूर्यकान्त शास्त्री के प्रस्तुत बड़े दार्शनिक मूल्य वाले 'संम्पादन कार्य' की प्रशंसा की है । 'हिन्दू' धर्म और लोकतत्वों का उनका सुन्दर ज्ञान था। हिन्दू संस्कृति और धर्म के ज्ञान के लिए हिन्दू पंडितों से वे वर्षों तक संस्कृत पढ़े थे । उनका

१– वही, पृ० १४५ ।

२– ना० प्र० पत्रिका, काशी, वर्ष ६४, सं० २०१६, पृ० १९१ ।

३– वही, भाग १४, वर्ष सं० १९९० ।

४– वही, भाग १३, वर्ष सं० १९८९ ।

५–'पदमावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद, 'पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ' ना० प्र० सभा, काशी, सं०१९९० ।

६--पदुमावति : सूर्यकान्त शास्त्री, प्राक्कथनलेखक : आनरेबुल जस्टिस टेकचन्द, प्रथम भाग, खं० १-२५, पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर, १९३४ ई० ।

काव्य-शास्त्र और छंदशास्त्र पर पूरा अधिकार था।'[१]

'पदुमावति' की दस पृष्ठों की भूमिका (प्रीफेस) में श्री सूर्यकान्त शास्त्री ने जायसी और पदमावत पर एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। इसमें 'पदमावत की संक्षिप्त कथा' जायसी की रहस्यवादिता, लौकिक और अलौकिक प्रेम का समन्वय, प्रेम का उन्नत रूप, जीवन-दर्शन, पद्मावत अन्योक्ति है' आदि बातों का उल्लेख किया गया है! 'इस सन्त के व्यक्तित्व के विषय में हमें बहुत कम बातें ज्ञात हैं। मोहम्मद उनका नाम था, मलिक कौटुम्बिक उपाधि थी। वे जायस के रहने वाले थे। वे ८३० हि० में 'कंचाना मुहल्ला' में पैदा हुए थे। ११६ वर्ष तक जीवित रहे। उनकी चौदह रचनायें कही जाती हैं—पोस्तीनामा, कहारनामा, मोराईनामा, मेखरावट, चम्पावती, अखरावट, पदुमावति, और आखिरी कलाम।,[२] 'पदमावत की भाषा ठेठ अवधी है। यह ग्रन्थ परिशियन लिपि में लिखा गया था। देवनागरी के अनुलिपि कर्ताओं ने प्रतिलिपि करते हुए अनेक भूलें की हैं।[३]

१९३४ ई० में ही 'जायसी और प्रेम तत्व'[४] विषय पर पं० परशुराम चतुर्वेदी ने एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखा था। डा० रामकुमार वर्मा[५] ने १९३७ ई० में पदमावत पर एक आलोचनात्मक लेख लिख कर उसके संक्षिप्त मूल्याँकन का प्रयत्न किया था। डा० वर्मा ने १९३८ ई० में अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'[६] में प्रेमकाव्य और जायसी के विषय में विस्तारपूर्वक लिखा है। जायसी का जीवन, काव्य-रचना, अध्यात्मवाद, हिन्दू संस्कृति आदि विषयों का उन्होंने विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। सैयद आले मोहम्मद केहर[७] जायसी ने १९४० ई० में मलिक मुहम्मद जायसी का जीवन चरित विषय पर एक सुन्दर और खोजपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किथा था। पं० गणेशप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी में प्रेमगाथा साहित्य और मलिक मुहम्मद जायसी'[८] नामक एक लेख लिखा था। थोड़े से परिवर्तन के साथ निबन्ध 'हिन्दी के कवि और काव्य' भाग ३ में प्रकाशित किया गया है। १९४१

१--वही, 'फोरवर्ड' पृ० २।

२--वही, पृ०४।

३--वही, पृ० ६।

४—हिन्दुस्तानी, भाग ४, अंक ३, जुलाई १९३४ ई०।

५--सम्मेलन पत्रिका, पौष-माघ, १९९४ वि०।

६-डा०रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (सं०७५०-१७५०)

७--ना० प्रा० पत्रिका, वर्ष ४५, सं० १९९७।

८--ना०प्र० पत्रिका में प्रकाशित 'हिन्दी में प्रेमगाथा साहित्य और मलिक मोहम्मद जायसी।

ई०में सैयद कल्बे मुस्तफा जायसी[1] ने 'मलिक मुहम्मद जायसी' नामक एक पुस्तक उर्दू में लिखी है। इन्होंने लिखा है कि 'पदमावत' फारसी लिपि में लिखा गया था। जायसी का जन्म ९०० हि० १४९५ ई० में जायस में हुआ था। ये सच्चे मुसलमान थे। महान् सूफी सन्त थे। इनका सिंहल बम्बई के पास अरब सागर में था। पद्मावती की कहानी में पद्मावती की कथा काल्पनिक है। इनमें रत्नसेन भी काल्पनिक है। 'गोरा-बादल दो व्यक्ति नहीं थे—यह एक व्यक्ति था।' 'पद्मावत' में वर्णित प्रेम में भारतीय और फारसी दोनों के प्रेम-तत्वों का मिश्रण है। सन् १९४४ ई० में ए० जी० शिरेफ ने सर[2] जार्ज ग्रियर्सन कृत 'पद्मावती' के अनुवाद को पूरा करके बंगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित करवाया। १८९६ ई० में ग्रियर्सन और महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने 'पदमावती'का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। 'पदुमावती' की भूमिका में सर्व प्रथम ग्रियर्सन ने जायसी के महत्व की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। १९११ में पदमावती का (१ से २५ खण्ड तक) पाठ और भाष्य विस्तृत आलोचनात्मक टिप्पणियों के साथ प्रकाशित हुआ था। पं० सुधाकर द्विवेदी का स्वर्गवास हो जाने के कारण कार्य आगे न बढ़ सका। १९३८ ई० में शिरेफ ने ग्रियर्सन की अनुमति से इस अधूरे कार्य को हाथ में लिया। उन्होंने इस कार्य को १९४० ई० में पूर्ण किया।[3] शिरेफ ने इस ग्रन्थ की भूमिका में जायसी का संक्षिप्त परिचय दिया है। शिरेफ के 'पदमावती' का पाठ प्रायः ग्रियर्सन और शुक्ल जी द्वारा स्वीकृत पाठ ही है। मूलतः यह एक अनुवाद ग्रन्थ है। यह अनुवाद आज भी महत्वपूर्ण है। शिरेफ की टिप्पणियाँ तो जायसी के अध्ययन के लिये सदा पथ-निर्देशन का काम करेंगी।

डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने १९४७ में 'मलिक मुहम्मद जायसी भाग १'[4] नामक पुस्तक प्रकाशित की। (आज तक इस भाग १ का पूरक भाग २ नहीं ही प्रकाशित हुआ)। १९५३ ई० में डा० कमल कुलश्रेष्ठ का 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य'[5] प्रकाशित हुआ। डा० श्रेष्ठ के इस ग्रन्थ के विषय में श्री गोपालराय[6] का मत उल्लेखनीय है—"डाक्टरेट के लिए प्रस्तुत किए गए शोध ग्रंथों में जिस त्वरा से काम लिया जाता है, और उसके जो दुष्परिणाम होते हैं, यह ग्रंथ उसका सजीव

१--सैयद कल्बे मुस्तफा जायसी मलिक मुहम्मद जायसी, १९४१ ई०।

२--ए० जी० शिरेफ : पदमावती।

३-- ए० जी० शिरेफ ; पदमावती अंग्रेजी अनुवाद—भूमिका।

४-- डा० कमल कुलश्रेष्ठ : म० मु० जायसी भाग १, १९४७।

५-- डा० कमल कुलश्रेष्ठ : हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, चौधरी मानसिंह, प्रकाशन, कचहरी रोड, अजमेर, १९५३।

६-- गोपाल राय ; ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ६४, सं० २०१६, पृ० १९६--९७--९८।

उदाहरण है। इस पुस्तक में दोषों की मात्रा इतनी अधिक है कि उनको समुचित रूप से दिखाने के लिए एक स्वतंत्र निबंध की आवश्यकता होगी। समूचा ग्रंथ भ्रान्त आधारों, दुर्बल तर्कों और अशुद्ध निष्कर्षों से पूर्ण है। गम्भीर अध्ययन का अभाव पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है। किसी तरह पृष्ठ पूरा करने का प्रयास इतना स्पष्ट है कि लेखक पर दया आती है। — 'फारसी मसनवी का विकास और उसका हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य पर प्रभाव', 'कहानी कला', आदि परिच्छेद भी नितान्त हल्के हैं। पदमावत की रचना-तिथि के सम्बन्ध में लेखक का मत और भी हास्यास्पद है। आखिरी कलाम का अर्थ लेखक की अन्तिम रचना मानना निराधार और भ्रमपूर्ण है। लेखक के प्रायः सभी निष्कर्ष दोषपूर्ण हैं। डा० श्रेष्ठ के निष्कर्षों के दोषपूर्ण होने का कारण यह है कि उन्होंने केवल सात ग्रन्थों के आधार पर अपना शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है और उन्होंने सूफी और सूफीतर प्रेमकाव्यों का वर्गीकरण करके उन पर अलग-अलग विचार भी नहीं किया है। इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा दोष संश्लेषण का अभाव है। प्रेमकाव्य के किसी पक्ष का स्पष्ट विवेचन इस ग्रन्थ में नहीं हो सका है। भाषा सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रचुर मात्रा में दिखाई देती हैं।[१] 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य' के विषय में श्री गोपाल राय का यह कथन ठीक ही है।

१९४९ ई० में डा० लक्ष्मीधर का 'पदुमावती' दी लिंग्विस्टिक स्टडी आफ दी सिक्स्टीन्थ सेंचुरी हिन्दी [अवधी][२] नामक प्रबन्ध प्रकाशित हुआ। लेखक ने प्रारम्भ में २९ पृष्ठों में पदमावत की भाषा पर व्याकरणिक दृष्टिकोण से विचार किया है। दूसरे भाग में पदमावत के १०६ छन्दों का पाठ-संपादन है और तीसरे भाग में संपादित पाठ का अंग्रेजी अर्थ दिया गया है। चौथे भाग में पदमावत की शब्द-सूची दी गई है [इस ग्रंथ की आलोचना आगे दी गई है]। पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'सूफी काव्य संग्रह'[३] [१९५० ई०] नामक ग्रंथ में हिन्दी के सूफी कवियों का [जायसी का भी] संक्षिप्त पर शोधपूर्ण परिचय प्रस्तुत किया गया है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने १९५१ ई० में 'जायसी ग्रन्थावली'[४] का संपादन किया है [इसकी चर्चा आगे की गई है]। १९५२ में चार्ल्स नेपियर का 'नई जायसी ग्रन्थावली तथा पदमावत की लिपि और रचनाकाल'[५] शीर्षक निबन्ध

१— ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ६४, सं० २०१६, पृ० १९६-९७-९८।

२— डा० लक्ष्मीधर, पदुमावती दी लिंग्विस्टिक स्टडी आफ दी सिक्स्टीन्थ सेंचुरी हिन्दी [अवधी], ल्यूजक एण्ड कम्पनी, लन्दन से प्रकाशित।

३— परशुराम चतुर्वेदी : सूफी काव्य संग्रह, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९५०।

४— डा० माताप्रसाद गुप्त, जायसी ग्रन्थावली, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९५१ ई०।

५— ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७, सं० २००९, पृ० ३३१-४२।

प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध में लेखक ने प्रमाणित किया है कि पदमावत मूलत: 'फारसी लिपि में लिखा गया था।[1]' इस निबन्ध में लेखक ने डा० गुप्त की 'जायसी ग्रन्थावली' का विशद गुण दोष विवेचन भी किया है।

१९५५ ई० में डा०विमलकुमार जैन का प्रबन्ध 'सूफीमत और हिन्दी साहित्य' हिन्दी अनुसंधान, परिषद्, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसी विषय पर बहुत पहले ही पं० चन्द्रबली पाण्येय ने [१९४५ ई०] 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' नामक ग्रन्थ लिखा था। १९५६ ई० में श्री रामपूजन तिवारीकृत 'सूफीमत : साधना और साहित्य' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इन तीनों ग्रन्थों का मूल प्रतिपाद्य सूफीमत का उद्भव और विकास ही है। १९५५ ई० में श्री हरिकान्त श्रीवास्तव का 'भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य' नामक शोधप्रबन्ध प्रकाशित हुआ। इस प्रबंध में हिन्दू कवियों द्वारा लिखित प्रेमकाव्यों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। १९५६ ई० में डा० सरला शुक्ल का प्रबन्ध 'जायसी के परवर्ती कवि और काव्य' लखनऊ विश्व-विद्यालय से प्रकाशित हुआ। इसमें जायसी के पश्चात् के सूफी प्रेमाख्यानों का विवे-चन किया गया है। १९५६ ई० में प्रस्तुत विद्यार्थीकृत 'पदमावत का काव्य-सौंदर्य' प्रकाशित हुआ।"इसमें पदमावत के काव्यगत सौन्दर्य को नये सिरे से देखने का प्रयास है और मेरे विचार में यह प्रयास बहुत अच्छा हुआ है"।[2] १९५७ ई० में डा० जयदेव का शोध प्रबन्ध 'सूफी महाकवि जायसी' नाम से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ का रचनाकाल १९४९ ई० है और इसका प्रकाशन १९५७ ई० में हुआ है। इस ग्रंथ में १९४९ ई० के पश्चात् शोध में प्राप्त किसी भी सामग्री का उपयोग नहीं किया गया है।" इस अध्ययन में ऐसी कोई भी बात नहीं दीख पड़ती, जिसके बल पर इस ग्रन्थ को अनुसंधान ग्रन्थ कहा जाय। इसमें न तो लेखक ने किसी नवीन तथ्य का उद्घाटन किया है और न उसे ज्ञात तथ्यों की मौलिक व्याख्या और उनके बीच नवीन सम्बन्ध-स्थापन में ही सफलता मिल सकी है। यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि प्रस्तुत ग्रन्थ से जायसी विषयक हमारी जानकारी में कोई वृद्धि नहीं हुई। सारा ग्रन्थ अनावश्यक विस्तार, उथले विचारों और दुर्बल तर्कों से भरा हुआ है। मौलिकता का इसमें सर्वथा अभाव है। शुक्ल जी के ही कथनों को प्राय: हेरफेर के साथ दुहरा भर दिया गया है। जायसी के जीवन-वृत्त-विषयक किसी नवीन तथ्य का उद्घाटन नहीं हुआ है, उसके तर्क भी सुचिन्तित नहीं हैं। इसके दूसरे अध्याय से जायसी के जीवन-वृत्त से सम्बद्ध हमारी जानकारी में कोई वृद्धि नहीं होती। अना-वश्यक विस्तार करके पुस्तक का कलेवर बढ़ाया गया है। अनावश्यक विस्तार, पिष्टपेषण और छिछलेपन का इससे बढ़कर कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता।

१—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७, संख्या २००९, पृ० ३४१।

२—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : पदमावत का काव्य-सौंदर्य—'शुभकामना' से उद्धृत।

चरित्र-चित्रण में लेखक ने अपनी दयनीय विवेकशून्यता का परिचय दिया है। इस ग्रन्थ के सभी अंश जिनके सम्बन्ध में मौलिकता का दावा किया गया है, भ्रामक और आधारहीन हैं। लेखक मंझन को जायसी का पूर्ववर्ती कवि मानता है जो गलत है। ...किसी भी दशा में इसे शोधग्रंथ कहना तो उचित नहीं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन से हिन्दी आलोचना-साहित्य के विकास में लेशमात्र भी योग नहीं मिला है।"[1] श्रीगोपालराय का उपर्युक्त कथन यथार्थ है। यदि श्री जयदेव जी थोड़ा श्रम और अध्ययन किये होते तो संभवत: उनकी कृति मूल्यवान होती, पर अध्ययन और श्रम के अभाव में "शुक्ल जी के मतों का पिष्टपेषण और शुक्ल जी की ही निन्दा करके और कहीं-कहीं शुक्ल जी के प्रमाणिक मत को काट कर उन्होंने भारी भूल की है। आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने कई ग्रन्थों में जायसी-विषयक-विवेचन एवं अध्ययन के लिए नई दिशाओं का निर्देशन भी किया है। उन्होंने हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हिन्दी साहित्य, नाथ-सम्प्रदाय, मध्यकालीन धर्म-साधना प्रभृत्ति ग्रन्थों में जायसी और उनके अध्ययन के नवीन आयामों का उद्घाटन किया है। उनके मतानुसार 'पदमावत' में ऐतिहासिकता के लिए मूड़ मारना बेकार है। उसका सम्पूर्ण सौंदर्य काव्य का है। उसमें भारतीय काव्यों की कथानक रूढ़ियों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। पदमावत की कथा भारत की प्राचीन कथाओं में है।'

हिन्दी साहित्य के कतिपय अन्य इतिहास–ग्रन्थों में भी जायसी विषयक चर्चाएं की गई हैं, किन्तु प्राय: शुक्ल जी की [जायसी–ग्रन्थावली की] भूमिका का ही सार-रूप सर्वत्र देखने को मिलता है।

कुछ लोगों ने जायसी पर अलग से भी ग्रन्थ लिखे हैं, डा० रामरतन भट–नागर का 'जायसी' डा० सुधीन्द्र का 'कविवर जायसी और उनका पदमावत,' श्री इन्द्रचन्द्र नारङ्गकृत 'पदमावत का ऐतिहासिक आधार और 'पदमावत-सार' प्रो० दान बहादुर पाठक कृत 'जायसी की काव्य-साधना,' श्री यज्ञदत्त शर्माकृत 'जायसी साहित्य और सिद्धान्त, श्री पुरुषोत्तमचन्द्र वाजपेयीकृत 'कबीर और जायसी का मूल्यांकन' आदि ग्रन्थ हिन्दी के बी० ए०, एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए लिखे गये हैं। इन ग्रंथों में श्री नारंग जी कृत पदमावत सार की भूमिका और 'पदमावत का ऐतिहासिक आधार' शोध एवं चिन्तनपूर्ण ग्रंथ हैं। पटना विश्वविद्यालय के प्रो० सयद हसन अस्करी के कई लेख सूफीमत, हिन्दी साहित्य और जायसी से सम्बद्ध प्रकाशित हुए हैं। 'कान्ट्रीब्यूशन आफ दी सूफीज आफ दी नार्थ टू हिन्दी लिटरेचर'[2] [१९५३ ई०], 'ए न्यूली डिस्कवर्ड वाल्यूम आफ अवधी वर्क्स एन्क्लूडिंग पदमावत

१—गोपालराय : ना० प्र० पत्रिका, २०१६, अंक ३-४, पृ० २०९-१२।

२—करेन्ट स्टडीज : पटना कालेज, पटना, १९५३, अंक २।

एण्ड अखरावट आफ मलिक मुहम्मद जायसी'[१] 'रेयर फ्रेगमेंट्स आफ चन्द्रायन एण्ड मृगावती'[२] [१९५५ ई०] आदि लेख हिन्दी शोध के क्षेत्र में महत्वपूर्ण हैं। प्रो० अस्करी ने चन्दायन के रचनाकाल का प्रामाणिक विवरण दिया है, मनेर शरीफ खानकाह से पदमावत, अखरावट, महरीनामा, अरिल्ल, वियोगसार प्रभृति ग्रंथों को खोज निकाला है और सूफी सम्प्रदायों और कतिपय सूफी सन्तों का प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार पदमावत का रचनाकाल ९४७ हि० है। सन् १९५६ ई० में उन्होंने पटना विश्वविद्यालय पत्रिका, वर्ष १० में एक निबन्ध 'दि बिहार शरीफ मेनस्क्रिप्ट आफ पदमावत' प्रकाशित कराया। इस लेख में उन्होंने ग्रियर्सन, शुक्ल और माताप्रसाद गुप्त आदि द्वारा संपादित पदमावत के विभिन्न संस्करणों तथा मनेरशरीफ की हस्तलिखित प्रति से बिहार शरीफ से प्राप्त 'पदमावत' की हस्तलिखित प्रति के पाठान्तरों का सविस्तार विवेचन किया है।

पं० मुन्शीराम शर्मा कृत 'पदमावत' [पूर्वार्द्ध, सटीक[३]] में शुक्लजी के ही पाठ को प्रधानता दी गई है।[४] यह एक सुन्दर और उपयोगी टीका है, कहीं-कहीं तो शर्मा जी ने अत्यन्त सुन्दर अर्थ किए हैं, जैसे "किछु कहि चला तबल देइ डगा।" का अत्यन्त उपयुक्त अर्थ।[५] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पदमावत मूल्य और संजीवनी व्याख्या'[६] में अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण ढंग से पदमावत के अर्थानुसंधान का प्रयत्न किया है। इस संजीवन भाष्य द्वारा कोई भी हिन्दी जानकार पदमावत के सौंदर्य का रसास्वादन कर सकता है। इसके प्रारम्भ में डा० अग्रवाल ने ५५ पृष्ठों के विशद 'प्राक्कथन' में 'पदमावत का पाठ', 'रचनाकाल', 'गुरुपरम्परा', 'अध्यात्म पक्ष' आदि पर गम्भीरता पूर्वक और विद्वतापूर्ण ढंग से विचार किया है। श्री गोपालराय कृत 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य में आलोचना तथा अनुसंधान'[७] और 'जायसी से सम्बद्ध तिथियों का पुनः परीक्षण'[८] शीर्षक लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी अनुशीलन के धीरेन्द्र वर्मा विशेषाँक में प्रकाशित 'जायसी : तिथिक्रम और गुरुपरम्परा' [लेखक पं० रामखेलावन

१—जे० बी० आर० एस०, वर्ष ३९, अंक १-२ (मार्च-जून)।
२—करेन्ट स्टडीज, पटना कालेज, पटना १९५५, पृ० ३३।
३—पं० मुन्शीराम शर्मा : पदमावत, संशोधित संस्करण, १९५८ ई०।
४—वही, प्राक्कथन (च)।
५—वही (टीका भाग) पृ० ११ (दोहा २३ का अर्थ)।
६—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत (मूल और संजीवनी व्याख्या) १९५५ ई०, चिरगाँव झाँसी से प्रकाशित।
७—ना० प्र० पत्रिका, २०१६, अंक ३-४, वर्ष ६४।
८—हिन्दी अनुशीलन, जुलाई-सितम्बर १९५८, वर्ष ११, अंक ३।

पाण्डेय]और 'जायसी की विरहानुभूति का आध्यात्मिक पक्ष'[डा० मुन्शीराम शर्मा] भी जायसी से सम्बद्ध अध्ययनों में अद्यावधि श्रृंखला के रूप में समादृत हैं। १९५८-१९५९ ई० में प्रस्तुत लेखक ने 'चित्ररेखा' को प्रकाशित किया। उसकी भूमिका में 'मसलानामा' या 'मसला' की प्राप्त प्रति का भी उल्लेख किया गया है। ('चित्ररेखा' के लिए देखिये-'एक बोल' : आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चित्ररेखा)।

अब तक जायसी के ग्रंथों (मुख्यत: पदमावत) के कई संस्करण-संपादन हुये हैं—

(१) नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित, १८८१ ई० (सम्पादक अज्ञात)।

(२) रामजसन मिश्र द्वारा सम्पादित, चन्द्रप्रभा प्रेस, काशी से प्रकाशित, १८८४ ई०।

(३) बंगवासी फर्म द्वारा १८९६ ई० में प्रकाशित।

(४) मौलवी अली हसन द्वारा सम्पादित, मुन्शी नवलकिशोर द्वारा प्रकाशित।

(५) शेख अहमद अली द्वारा सम्पादित, शेख मुहम्मद अजीमुल्लाह द्वारा कानपुर से प्रकाशित।

(विशेष—मौलवी अली हसन और शेख अहमद अली द्वारा सम्पादित पदमावत के पाठ अत्यन्त उपयोगी हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त[१] ने भी अपने पदमावत के संस्करण में इन प्रतियों का उपयोग किया है। इन दोनों प्रतियों के पाठ शुक्ल जी और ग्रियर्सन के पाठ का व्यापक समर्थन करते हैं)।

(६) दी पदुमावति आफ मलिक मुहम्मद जायसी, १९११-१२ ई०, जी० ए० ग्रियर्सन और महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी द्वारा सम्पादित, १ से २५ खण्डों तक, रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बेंगाल, कलकत्ता से प्रकाशित। इन दोनों विद्वान् संपादकों ने ग्यारह[२] हस्तलिखित प्रतियों (तृ० १, ३, द्वि० २, ३, द्वि० ४, ५, प्र० १, तीन कैथी लिपि की तथा एक उदयपुर की नागरी लिपि की प्रतियाँ) की सहायता से पाठ-निर्धारण का प्रयत्न किया था।[३]

(७) जायसी-ग्रंथावली—(१९२४ ई० प्रथम संस्करण, १९३५ द्वि० सं०) नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित, पं० रामचन्द्र शुक्ल

१—डा० माता प्रसाद गुप्त, जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० १०६।

२—वही, पृ० १०६।

३—सूर्यकान्त शास्त्री : पदुमावती, प्रीफेस, पृ० ६ (ग्रियर्सन और द्विवेदी ने सात हस्तलिखित प्रतियों-चार फारसी, दो देवनागरी, एक कैथी-की सहायता से पाठ-निर्धारण किया था)।

द्वारा सम्पादित, इसके प्रथम संस्करण में पदमावत और अखरावट दो ही ग्रंथ थे। द्वितीय संस्करण में 'आखिरी कलाम' को भी संपादित करके प्रकाशित किया गया।

(८) पदमावत पूर्वार्द्ध-१८२५ ई०, लाला भगवानदीन द्वारा सम्पादित, १ से ३३ खण्डों तक हिन्दी साहित्य–सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित।

(९) संक्षिप्त पदमावत–१९२६ ई०, श्री श्यामसुन्दर दास और सत्यजीवन वर्मा द्वारा सम्पादित, इण्डियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित।

(१०) पदुमावति १९३४ ई०, १ से २५ खण्ड तक, पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर द्वारा प्रकाशित और सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित।

(११) पं० भगवती प्रसाद द्वारा संपादित, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा प्रकाशित।

(१२) 'पदुमावती : दी लिंग्विस्टिक स्टडी आफ दी सिक्स्टीन्थ सेन्चुरी हिन्दी (अवधी) डा० लक्ष्मीधर (द्वारा सम्पादित केवल १०६ छन्दों का पाठ-सम्पादन) । और ल्यूजक एण्ड कम्पनी लन्दन से १९४९ ई० में प्रकाशित।

(१३) जायसी ग्रंथावली (डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी ऐकेडमी १९५१ ई०।

(१४) जायसीकृत 'पदमावत' संजीवनी व्याख्यायुक्त, संपादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, १९५५।

(१५) चित्ररेखा–१९५८–५९ ई०, पं० शिवसहायक पाठक द्वारा सम्पादित, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी से प्रकाशित।

डा० ग्रियर्सन और सुधाकर का संस्करण–सर जार्ज ग्रियर्सन ने पदमावत का संपादन और पाठ-निर्धारण करते समय दस प्रतियों का उपयोग किया था। सात प्रतियों (जिनका उल्लेख पहिले हो चुका है) के अतिरिक्त तीन कैथी लिपि की तथा एक उदयपुर राज्य वाली नागरी लिपि की प्रतियां उनके समक्ष थीं। तीनों कैथी प्रतियों के पाठ एक जैसे थे, अतः कैथी की तीन प्रतियों में से केवल एक के पाठांतर उन्होंने अपने संस्करण में दिए हैं। उदयपुर की नागरी प्रति के पाठान्तर उन्होंने दिए हैं। प्रतियों का बहुमत और 'द्वितीय प्रति ३' के पाठ को उन्होंने सामान्यतः ग्रहण किया है।[1]

पं० रामचन्द्र शुक्ल का संस्करण–शुक्ल जी के समक्ष पदमावत के चार संस्करण प्रस्तुत थे—१. नवलकिशोर प्रेस का, २. पं० रामजसन मिश्र का, ३.

१—डा० माताप्रसाद गुप्त : जायसी ग्रंथावली, पृ० १०६।

कानपुर के किसी प्रेस का, और ४. म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी और ग्रियर्सन का[1] इनके अतिरिक्त शुक्ल जी के पास "कैथी लिपि में लिखी एक हस्तलिखित प्रति भी थी, जिससे पाठ के निश्चय करने में कुछ सहायता मिली है।[2]"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) शुक्ल जी के समक्ष प्रत्यक्षत:-अप्रत्यक्षत: कुल मिलाकर लगभग १६ प्रतियाँ थीं —(क) नवलकिशोर प्रेस की प्रति, (ख) रामजसन मिश्र का संस्करण, (ग) कानपुर के किसी प्रेस का संस्करण, (घ) ११ प्रतियों के आधार पर पाठ-निर्धारित और प्रकाशित ग्रियर्सन और सुधाकर द्विवेदी वाला संस्करण जिसमें संपादकों ने विभिन्न प्रतियों के पाठान्तर भी दिए हैं, (ङ) एक हस्तलिखित कैथी अक्षरों वाली प्रति अर्थात् शुक्ल जी के समक्ष ग्रियर्सन आदि के संस्करण की हस्तलिखित प्रतियों का रूप भी विद्यमान था। डा० माताप्रसाद गुप्त का आक्षेप है कि "हस्तलिखित प्रति के नाम पर केवल एक प्रति का उपयोग उन्होंने किया था। प्रतिलिपि-परम्परा, प्रक्षेप-परम्परा, पाठान्तर-परम्परा आदि के आधार पर ग्रंथ के पाठ-निर्धारण की बात ही शुक्लजी के संस्करण के विषय में नहीं सोचनी चाहिए, क्योंकि प्रति के नाम पर केवल एक हस्तलिखित प्रति का उन्होंने उपयोग किया। ग्रियर्सन की भांति ही शुक्ल जी का ध्यान भी इस बात की ओर नहीं गया कि वास्तव में पदमावत की आदि प्रति उर्दू नहीं, नागरी लिपि में थी इसलिए वे भी उसी प्रकार मार्ग के बीच में रह गए जैसे ग्रियर्सन। जायसी की भाषा और छन्दयोजना के स्वरूपों का भी ठीक-ठीक परिज्ञान उनके संस्करण में नहीं दिखाई पड़ता है।[3] जिनका (ग्रियर्सन और कानपुर वाले संस्करण का) इतना ऋण शुक्ल जी पर है, उनकी जिन शब्दों में खबर शुक्ल जी ने ली है, वह शुक्ल जी जैसे समालोचक के लिए ही संभव था"।[4]

यह-कथन उपयुक्त नहीं है कि शुक्ल जी के सामने केवल एक हस्तलिखित प्रति थी। डा० ग्रियर्सन और पं० सुधाकर द्विवेदी की ग्यारह हस्तलिखित प्रतियों की चर्चा स्वयं डा० गुप्त ने की है, यह भी स्पष्ट है कि ग्रियर्सन ने अपने संस्करण में प्रतियों के पाठान्तर भी दिए हैं और इस प्रकार शुक्ल जी के समक्ष ये पाठान्तर और निर्धा-

---

१—पद्मावती, सर जार्ज ग्रियर्सन और सुधाकर द्विवेदी।

२—रामचन्द्र शुक्ल—वक्तव्य, प्र० सं०, पृ० ५।

३—माताप्रसाद गुप्त—ज० ग्रं०, भूमिका, पृ० ११५।

४—डा० माताप्रसाद गुप्त : जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ११४।

रित पाठ भी विद्यमान थे।

शुक्ल जी ने ग्रियर्सन और सुधाकर जी की 'लम्बी-चौड़ी टीका-टिप्पणी' की आलोचना की है। शब्दार्थ टीका और टिप्पणियों की अशुद्धता और भ्रमपूर्णता का उन्होंने अवश्य उल्लेख किया है। शब्दों की गलत व्युत्पत्ति[१] पर वे अवश्य झुंझलाए हुए थे—जो एक आचार्य के लिए स्वाभाविक भी था। ग्रियर्सन वाले संस्करण के पाठ-निर्धारण से शुक्ल जी सहमत थे—"कहीं-कहीं अर्थ ठीक बैठाने के लिए पाठ भी विकृत कर दिया गया है"।[२] कुछ ऐसे स्थल अवश्य थे, जिनका उल्लेख शुक्ल जी ने किया है।

जहां तक पाठ–निर्धारण का प्रश्न है शुक्ल जी ने लिखा है, "कैथी प्रति से पाठ–निर्धारण में कुछ सहायता मिली। पाठ अवधी व्याकरण और उच्चारण तथा भाषा–विकास के अनुसार रखा गया है। कभी–कभी किसी चौपाई का पाठ और अर्थ निश्चित करने में कई दिनों का समय लग गया है। काव्य-भाषा के प्राचीन स्वरूप पर भी पूरा ध्यान रखना पड़ा है।"[३] इसलिए यह कथन कि "शुक्ल जी के संस्करण में पाठ–निर्धारण की बात ही न सोचनी चाहिए" समीचीन नहीं प्रतीत होता। यह अवश्य है कि शुक्लजी के समक्ष इतनी हस्तलिखित प्रतियाँ नहीं थीं और कहीं–कहीं डा० गुप्त के पाठ अच्छे हैं, पर सब स्थानों पर ऐसी बात नहीं है। आदि प्रति नागरी अक्षरों में थी या फारसी लिपि में या कैथी लिपि में यह एक जटिल प्रश्न है। जब तक कोई अत्यन्त सुदृढ़ प्रमाण न हो या जब तक आदि प्रति न मिले, तब तक तीन नागरी प्रतियों के आधार पर (और वे भी क्रमशः सं० १८१८ नागरी लिपि, सं० १८४२ कैथी अक्षरों में लिखी हुई, तीसरी का लिपिकाल नहीं दिया गया है, यह नागरी अक्षरों में है सं० १८१८ वि० के पश्चात् की प्रतिलिपि की हुई है) बिना पर्याप्त कारण के आदि प्रति को नागरी अक्षरों में लिखी हुई कहना और 'शुक्ल–ग्रियर्सन को मार्ग में ही लटकते रह गए' कहना ठीक नहीं जँचता।[४] जहाँ तक जायसी की भाषा और छंद–योजना के स्वरूपों के ठीक–ठीक परिज्ञान और शुक्ल जी के संस्करण में उनके अभाव का आक्षेप है, यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि डा० गुप्त ने 'आदि प्रति की भाषा–छंद–योजना'[५] पर जो कुछ लिखा है, वह शुक्ल और गुप्त दोनों के संस्करणों में एक जैसा है। शुक्ल जी अवधी भाषा और छंद-योजना के मर्मज्ञ थे—इसमें दो मत नहीं हैं।

इस विषय में आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का मत विशेष रूप से उल्ले-

---

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल : जा० ग्रं०, प्र० सं०, वक्तव्य, पृ० १ से ५ तक।

२—वही, पृ० ३।

३—वही, पृ० ५, ७, ८,।

४—द्रष्टव्य, इसी प्रबन्ध में 'पदमावत की लिपि' शीर्षक।

५—डा० माताप्रसाद गुप्त, जा० ग्रं०, भूमिका, पृ० २९–४४।

खनीय है— "आचार्य शुक्ल ने पद्मावत का जो पाठ दिया है वह वैज्ञानिक कसौटी पर बहुत खरा न उतरे, पर मेरी धारणा है कि डा० गुप्त के पाठ की अपेक्षा उनके पाठ अधिक सुसंगत हैं। कहीं--कहीं गुप्त के पाठ भी अच्छे हैं। रह गई मूल के निकट होने की बात। छान--बीन करने से मेरी अब भी निश्चित धारणा यही है कि अवधी के स्वरूप के निकट शुक्लजी के पाठ अधिक हैं। अवधी का नैकट्य जायसी के मूल पाठ का नैकट्य भी हो सकता है।"[१]

डा० सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा संपादित पदुमावति - शास्त्रीजी ने 'प्रीफेस' के अंतर्गत लिखा है कि इस संस्करण का पाठ सावधानी के साथ ग्रियर्सन के संस्करण पर आधारित है। उन्होंने ग्रियर्सन के पाठ को प्रामाणिक माना है, क्योंकि वह पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर के पुस्तकालय में सुरक्षित एक हस्तलिखित प्रति के पाठ से मिलता है। उन्होंने पदुमावति के अन्त में एक महत्वपूर्ण 'इन्डेक्स' (शब्द-सूची) भी दी है।

पं० भगवतीप्रसाद पांडेय का पदमावत—पांडेय जी ने 'दी बाचे' में चार (नवल किशोर प्रेस का, कानपुर का, ग्रियर्सन का और शुक्लजी का) संस्करणों का उल्लेख किया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के संस्करण के विषय में उनका मत उल्लेखनीय है—"इसमें कोई शक नहीं कि पण्डितजी (पं० रामचन्द्र शुक्ल) मौसूफ ने तसनीफात जायसी की तालीफ फरमा कर जो एहसान अदबी दुनिया पर फरमाया है, उसकी तारीफ करना आफताब को चिराग दिखाना है।" पांडे जी के संस्करण का मूल आधार शुक्लजी का संस्करण है।

पं० लक्ष्मीधर का संस्करण—पं० लक्ष्मीधर ने कुल ६ हस्तलिखित प्रतियों का एवं शुक्लजी के संस्करण का उपयोग किया है। "इस संस्करण के लिए उन्होंने इण्डिया आफिस, लन्दन के बाहर की ही नहीं, इण्डिया आफिस लन्दन की भी कुल प्रतियों को देखने की आवश्यकता नहीं समझी। आश्चर्य यह है कि इसी को समालोचनात्मक सम्पादन कहा गया है और इसी पर सम्पादक को लन्दन यूनिवर्सिटी की पी-एच०डी० की उपाधि मिली है।"[२] लेखक को इस ग्रन्थ पर १९४० ई० में लन्दन विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की उपाधि मिली थी। उसने २९ पृष्ठों में जायसी की भाषा के व्याकरणिक रूपों का परिचय दिया है। पाँच-छः हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पदमावत के १०६ छन्दों का संपादन किया है। इन छन्दों के अर्थ भी दिए गए हैं। चौथे खण्ड में १३२ पृष्ठों में लेखक ने 'ग्लौसरी' (शब्द-सूची) दी है। यह परिश्रमपूर्वक प्रस्तुत किया गया महत्वपूर्ण कार्य है। स्पष्ट है कि लक्ष्मीधर जी ने अपने विषय का सम्यक् प्रतिपादन और अनुशीलन किया है।

१—आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, ७। १२। ६० ई० का पत्र, पृ० १।

२—डा० माताप्रसाद गुप्त : जा० ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ११७-१८

जायसी ग्रन्थावली, डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९५१ ई०––डा० गुप्त के संस्करण में जायसीकृत चार ग्रन्थ संपादित हैं––पदमावत अखरावट, आखिरी कलाम और महरी बाईसी। इस सम्बन्ध में डा० गुप्त ने लिखा है कि "इस ग्रन्थावली के अखरावट का पाठ अन्य प्रतियों के अभाव में पं० रामचन्द्र शुक्ल के संस्करण के अनुसार रखा गया है, पश्चात् गोपालसिंह जी से एक प्रति मिली, किन्तु छपाई आरम्भ हो जाने के कारण उसका इससे अधिक उपयोग नहीं किया जा सका कि ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट जोड़कर इस प्रति का पाठान्तर मात्र दे दिया जाय।"[१] किन्तु शुक्लजी के अखरावट और डा० गुप्त के अखरावट (जो मूलतः शुक्लजी का ही है) के पाठों का मिलान करने पर स्पष्ट हो जाता है कि डा० गुप्त ने अनेक स्थलों पर अपनी ओर से परिवर्तन कर दिये हैं। उन्होंने ऐसा क्यों किया है, कारण अज्ञात है। कम से कम डा० गुप्त नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की अखरावट वाली प्रति का तो उपयोग कर ही सकते थे। इसी प्रकार उन्होंने 'आखिरी कलाम' का भी पाठ शुक्लजी का ही रखा है।[२] (पर अनेक परिवर्तनों के साथ)। इस ग्रन्थावली में सर्वप्रथम 'महरी बाईसी नामक जायसी की एक अप्रकाशित रचना का प्रकाशन किया गया है। स्पष्ट नामोल्लेख के अभाव में संपादक ने 'महरी बाईसी' नाम दे दिया है और लिखा है 'इस कृति में कुल बाईस गीत हैं।[३] इस ग्रन्थ की प्रस्तुत विद्यार्थी के पास तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतियाँ हैं। एक अन्य प्रति आनन्द भवन पुस्तकालय, विसवां, सीतापुर[४] में है। गुप्तजी द्वारा प्रकाशित महरी बाईसी के पाठ असन्तोषजनक हैं।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि डा० गुप्त ने 'इस संस्करण को तैयार करने में बहुत ही परिश्रम किया है। पदमावत के मूल पाठ पर जमी हुई काई को पाठ-संशोधन की वैज्ञानिक युक्ति से हटाकर श्री गुप्त ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। जब भी कोई विद्वान पदमावत या अन्य किसी ग्रन्थ के पाठ-निर्णय का कार्य हाथ में लेगा, उसे इसी युक्ति का आश्रय लेना पड़ेगा। गुप्तजी ने सोलह प्रतियों के आधार पर पाठ-संशोधन का कार्य किया था, जिनमें से पाँच प्रतियां बहुत ही अच्छी थीं। उनमें से चार प्रतियाँ लन्दन के कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस में हैं। पाँचवीं प्रति श्री गोपालचन्द्र जी के पास थी।"[५] "हो सकता है कि भविष्य में और भी अच्छी प्रतियों के प्राप्त होने पर कहीं-कहीं पाठों

१–डा० माताप्रसाद गुप्त : जा० ग्रं०, वक्तव्य, पृ० ३।

२–वही, पृ० १०४। ३–वही पृ० १०४।

४–ना० प्र० सभा, त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण (सन् १९२६ से २७ तक), पृ० ४३१

५–डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, प्राक्कथन, पृ० ९–१०।

में सुधार की आवश्यकता जान पड़े।"[1]

इतना लिखने के बावजूद डा० अग्रवाल जी ने गुप्त जी के अनेक पाठों के स्थान पर दूसरे पाठ दिए हैं (जैसे डांड़ के स्थान पर दुआलि[2] इसी प्रकार के बहुत से पाठ हैं) और इंगित किया है कि—"पदमावत के मूल पाठ और अर्थ के विषय में श्री माताप्रसादजी और मेरे इस प्रयत्न के बाद भी खोज के लिए अभी अवकाश बना हुआ है।"[3] इस बात के स्पष्टीकरण के लिए अग्रवालजी ने कई उदाहरण भी दिये हैं। अन्त में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "जायसी के पाठ-संशोधन और अर्थ-विचार के सम्बन्ध में जो कार्य अब तक हुआ है; उसे अभी और बढ़ाने की आवश्यकता है। इसी प्रकार जायसी की भाषा के व्याकरण का गहराई से निर्णय आवश्यक होगा, जो पाठ-निर्णय में सहायक हो सकेगा।"[4] स्पष्ट है कि विद्वान् लेखक की दृष्टि में डा० गुप्त के पाठ-संशोधन-कार्य को अभी और आगे बढ़ाने तथा जायसी के मूल पाठों तक पहुँचने का पूर्ण अवकाश है। गुप्तजी ने बिना कारण दिये लिख दिया है कि "इन तीनों कृतियों (अखरावट, आखिरी कलाम और महरी बाईसी) की प्रामाणिकता के बारे में मुझे सन्देह है।"[5] इन कृतियों में से अखरावट और आखिरी कलाम में जायसी का अपने जन्म, जीवन आदि के विषय में उल्लेख, जायसी की भाषा, जायसी की छाप और जायसी के ही प्रत्येक शब्द आदि से स्पष्ट है कि ये कृतियाँ जायसी की ही हैं—इसमें दो मत नहीं। परम्परा और प्रामाणिकता भी यही है।

डा० माताप्रसाद गुप्त के पाठों के विषय में चार्ल्स नेपियर[6] का आक्षेप है कि "वह सब पाठ नागरी अक्षरों में लिखता है, फलस्वरूप उन शब्दों के रूप फारसी अक्षरों में लिखे गये शब्दों से भिन्न हो गये हैं और पाठकों को मूल सामग्री नहीं मिलती। रचना का अध्यायों में विभाजन नहीं हुआ है। ऐसा विभाजन उपयुक्त भी था, चाहे जायसी ने न भी किया हो। गुप्तजी का कोई छन्द किसी दूसरे संस्करण में पाना कठिन है, विशेषकर जब वे कोई अनुक्रमणिका या समन्वय-सूची नहीं देते। गुप्तजी पदमावत के पहले संस्करणों का वर्णन करते हैं, पर लाला भगवानदीन के अध्याय ३३ तक के संस्करण की कोई चर्चा यहां नहीं है। डा० ग्रियर्सन और शुक्ल ऐसे महानुभावों के श्रम की विनयपूर्वक चर्चा असंगत न होती। मुद्रण की भूलों की यथेष्ट लम्बी सूची दी गई है, किन्तु खेद है कि फिर भी कई भूलें रह गई हैं,

---

१—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, प्राक्कथन, पृ० २५।
२—वही, पृ० २६।
३—वही, पृ० २७।
४—वही, पृ० २८।
५—वही, पृ० १०४।
६—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७, सं० २००९, पृ० ३३२।

वैसे जो उस सूची में नहीं हैं, जैसे पृ० ४३०, 'स्वामिहि' के स्थान 'स्यामिहि'।[१] '''लिपि के विषय में डा० गुप्त का पहला उद्देश्य इस बात को प्रमाणित करना है कि नागरी और कैथी प्रतियाँ सबकी सब फारसी प्रतियों की प्रतिलिपियाँ हैं। इसके बाद उनका प्रस्ताव है कि सब वर्तमान प्रतियाँ, फारसी तथा नागरी भी नागरी की एक मूल प्रति की प्रतिलिपियाँ हैं। परन्तु वे 'प्रस्ताव करके बात को छोड़ जाते हैं।''[२]

"डा० गुप्त के पाठ भी कहीं-कहीं अच्छे हैं। अवधी के निकट शुक्ल जी के पाठ अधिक हैं, अवधी का नैकट्य जायसी के पाठ का भी नैकट्य हो सकता है।"[३]

डा० गुप्त ने इस संस्करण में वैज्ञानिक प्रणाली से पाठ-निर्धारित किया है। उनके पास प्राचीनतम प्रति ११०७ हिजरी की थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह प्रति पदमावत की रचना के १६० वर्ष बाद की है। निश्चित है कि इस प्रति में भी मूल प्रति का रूप अनेक स्थलों पर विकृत कर दिया गया है। अब प्रश्न यह है कि पदमावत के संपादन में वैज्ञानिक प्रणाली का क्या महत्व है? इसका उत्तर है कि केवल वैज्ञानिक प्रणाली ही सब कुछ नहीं है, भाषा और साहित्य की प्रणालियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। जब तक कोई संपादक मूल ग्रन्थ के विषय का मर्मज्ञ न हो, तब तक वैज्ञानिक प्रणाली के पाठशोध के जड़ तत्व के साथ चेतन प्रकिया का योग नहीं होता। वैज्ञानिक छलनी से छान लेने पर ही कोई पाठ मूल के निकट हो जाय, ऐसा नहीं होता। गुप्तजी ने चेतन प्रक्रिया से कम काम लिया है। इसलिये उनके संस्करण में अनेक भद्दी भूलें हो गई हैं। इन समस्त भूलों और त्रुटियों के होने पर भी डा० गुप्त की जायसी ग्रन्थावली का स्वागत प्राचीन हिन्दी के सब प्रेमी करेंगे। संपादक अपने श्रम के लिये धन्यवाद का पात्र है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि जायसी के जीवन और कृतित्व पर पर्याप्त कार्य हुआ है, तथापि कुछ ही कार्य ऐसे हैं जिन्हें प्रमाण्य और उपादेय माना जा सकता है। इस क्षेत्र में सर जार्ज ग्रियर्सन, पं० सुधाकर द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल, डा० माताप्रसाद गुप्त, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के ग्रन्थ जायसी के खोजियों के लिये पथ-निर्देशन का काम करते हैं। इन विद्वानों की कृतियों का स्थायी महत्व है। इनमें अनेक महत्वपूर्ण सूत्र ऐसे हैं जिनके आधार पर खोज की जा सकती है।

१—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७ पृ० ३३२—३३।

२—वही, पृ० ३३९।

३—आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (का पत्र ७।१२।६०)।

२

मलिक मुहम्मद जायसी : जीवन--व्यक्तित्व एवं गुरु--परम्परा

नाम, जीवन, व्यक्तित्व

"मलिक मुहम्मद जायसी मलिक वंश से थे। मिश्र में मलिक सेनापति और प्रधान मंत्री को कहते थे। खिलजी राज्यकाल में अलाउद्दीन ने बहुत से मलिकों को अपने चचा को मारने के लिए नियत किया था। इससे इस काल में यह शब्द प्रचलित हो गया। ईरान में मलिक जमीनदार को कहते हैं। मलिकजी के पूर्वज निगलाम देश ईरान से आये थे और वहीं से इनके पूर्वजों की पदवी मलिक थी। "हजिनतुल असफिया" के लेखक ने मलिकजी के 'मुहक्किक तहिंदी' की उपाधि से विभूषित किया है। मलिक जी के वंशज भी अशरफी खानदान के चेले थे और मलिक कहलाते थे। 'तारीख फीरोज शाही' में है कि बारह हजार के रिसालादार को मलिक कहते थे। मलिकजी के हकीकी वारिस मलिक थे। इसलिए खानदान भर मलिक कहलाता था। मलिक जी स्वयं चन्द बीघे मौरूसी जमीन पर अपना निर्वाह करते थे।"[१]

मूलत: मलिक अरबी भाषा का शब्द है। अरबी में इसके अर्थ स्वामी, राजा, सरदार आदि होते हैं। 'मलिक' (म० ल० क०) धातु से व्युत्पन्न बताया जाता है। इससे बने अनेक शब्द हैं, जैसे– मलक = परिश्ता, मुल्क, = देश, मिल्क = सम्पत्ति, मलिक = बादशाह, सुल्तान। फारसी भाषा में 'मलिक' का अर्थ है अमीर और बड़ा व्यापारी।[२]

१–सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी, बी० ए० : मलिक मुहम्मद जायसी का जीवन चरित, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५ अंक १ वैशाख १९९७, पृ० ४८–४९।
२–नूरुल्लुगात, भाग ४, पृ० ४९७।

विद्वानों का विचार है कि जायसी का पूरा नाम मलिक मुहम्मद जायसी था। मलिक इनका पूर्वजों से चला आया 'सरनामा' (सरनेम) है। इससे प्रकट है इनके पूर्वज अरब थे। इनके पिता-माता के विषय में कहा जाता है कि वे जायस के 'कंचाने'[१] मुहल्ले में रहते थे। इनके पिता का नाम मलिक शेख ममरेज था। इन्हें लोग मलिक राजे अशरफ भी कहा करते थे। इनकी मां मानिकपुर के शेख अलहदाद की पुत्री थी। इनकी माता[२] का नाम ज्ञात् नहीं है। मलिक इनके वंश की उपाधि–परम्परा है और 'जायस'नामक स्थान से सम्बद्ध होने के कारण इन्हें जायसी कहा जाता है। इस प्रकार इनका पूरा नाम है मलिक मुहम्मद जायसी।

जायसी को कुरूप और काना भी कहा जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि वे जन्म से ही ऐसे थे, पर अधिकांश विद्वानों का विचार है शीतला या अर्द्धांग रोग के कारण उनका शरीर विकृत हो गया था। जनश्रुति है कि बालक मुहम्मद पर शीलता का भयंकर प्रकोप हुआ। माता-पिता को निराशा हुई। मां ने पाक-साफ दिल से शाहमदार की मनौती की। पीर की दुआ, बालक बच गया, किन्तु इस बीमारी के कारण उनकी एक आंख जाती रही। उसी ओर का बांया कान भी जाता रहा। अपने काने होने का उल्लेख उन्होंने स्वयं ही किया है –

'एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। सोइ बिमोहा जेइ कवि सुनी॥[३]
चांद जइस जग विधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा।
जग सूझा एकह नैनाहां। उवा सूक अस नखतन्ह माहां॥
जौं लहिं अंबहिं डाभ न होई। तौं लहि सुगंध बसाइ न सोई॥
कीन्ह समुद्र पानि जौं खारा। तौं अति भएउ असूझ अपारा।
जौं सुमेरु तिरसूल बिनासा। भा कंचनगिरि लाग अकासा।
जौं लहि घरी कलंक न परा। कांच होइ नहिं कंचन करा।
एक नैन जस दरपन, औ तेहि निरमल भाउ।
सब रुपवंत पांव गहि, मुख जौवहिं कै चाउ॥[४]

— — —

मुहम्मद कवि जो प्रेम भा, ना तन रकत न मांसु।
जेइं मुख देखा तेइं हंसा, सुना तो आये आंसु॥[५]

१–ना० प्र० पत्रिका, भाग २१ पृ ४६।
२–म० मु० जायसी सैयद : कल्बे मुस्तफा, पृ० २०।
३–जा० ग्रं०; मा० प्र० गुप्त, पृ० १३३।
४–जा० ग्रं० मा० : प्र० गुप्त, पृ० १३३–३४।
५–वही, पृ० १३५।

जायसी वाममार्ग को स्वीकार नहीं करते और यही मूलभूत कारण है कि उन्होंने बाईं दिशा ही त्याग दी। जब से उनका प्रियतम उनके अनुकूल हुआ, तब से उन्होंने एक श्रवण – एक दृष्टि वाली वृत्ति अपना ली अर्थात् उन्होंने एक का ही देखना शुरू किया और एक का ही सुनना भी शुरू किया –

'मुहम्मद बाईं दिसि तजी, एक सरवन एक आंखि।
जब ते दाहिन होई मिला, बोलु पपीहा पांखि ॥[१]

'एक नैन कवि मुहम्मद गुनी – – –।' इत्यादि से स्पष्ट है कि – 'एक आंखवाले मुहम्मद का काव्य जिसने सुना, वही मोहित हो गया। उन्होंने मानो अपने इस एकांगी रूप की समीक्षा की – अवश्य ही विधाता ने एक कान और एक आंख हरण करके मुझे कुरूप बना दिया, किन्तु विधाता जिसे कलंक देता है उसे कोई न कोई महान् वस्तु भी देता है। उसने चांद को कलंक दिया है, किन्तु इस कलंक के साथ उसे उज्ज्वल भी बनाया है। मुझे कुरूप बनाया और साथ ही काव्य-गुण भी तो प्रदान किया। इस एक आंख से मुझे सारा संसार दिखाई देता है। इस एक आंखवाले का तेज नक्षत्रों में शुक्र के सदृश भास्वर है। आम की जिस सुगन्धि से सारा आम्र-कानन महंमहं हो उठता है उससे पहले आम में नुकीली डाभ का जन्म आवश्यक माना जाता है। मीठे पानी के सरोवर तो छोटे होते हैं, किन्तु विधाता ने समुद्र में खारा जल भर दिया है, इसी से तो उनका अन्त नहीं दिखाई देता, अर्थात् खारे जल के कारण विधाता ने उसे अनंत–असीम बना दिया है। सुमेरु गिरि पर त्रिशूल (बज्र) का प्रहार हुआ, इसी से तो वह सोने का पहाड़ बन कर आकाश से संलग्न हो गया। यह तो प्रकृति का नियम है कि दोष के साथ गुण और गुण के साथ दोष मिला ही रहता है। जब तक रासायनिक प्रक्रिया में घरिया में कलंक नहीं पड़ता, जब तक कांच शुद्ध कांचन की कला को नहीं प्राप्त करता। विधाता ने विकृत शरीर बनाकर मेरे ऊपर बड़ी कृपा की है, क्योंकि इसी एक नेत्र से मैंने सारा संसार देखा है। यह दर्पण जैसा है इसका भाव बड़ा ही निर्मल है। बड़े-बड़े रूपवन्त इस एक आंख वाले के चरणों को स्पर्श करते हैं और उमंगित होकर अत्यन्त मुग्ध भाव से मुख की ओर निहारा करते हैं।"

'जेइ मुख देखा तेइ हंसा, सुना तो आए आंसु।' जो जायसी की कुरूपता को देखकर हँसे थे वे ही उनके काव्य को सुनकर आंसू भर लाते हैं।' शोध में नवोपलब्ध काव्य 'चित्ररेखा' में भी जायसी ने अपने 'शुक्राचार्यत्व' की बात कही है :

'मुहम्मद सायर दीन दुनि, मुख अंब्रित बैनान।
बदन जइस जग चन्द सूपरन, सूक जइस नैनान ॥[२]

स्पष्ट है कि जायसी का वदन पूनम के चांद जैसा था (भले ही उनमें थोड़ा

१–वही, पृ० २–चित्ररेखा : सं० शिवसहाय पाठक पृ० ७७।

कलंक रहा हो) और वे शुक्राचार्य की तरह एक चक्षुवाले थे – शुक्राचार्य की तरह इसलिए कि विद्वता में शुक्राचार्य अन्यतम हैं और अन्यतारों की अपेक्षा उनकी भास्वरता भी अधिक है। सैयद कल्बे मुस्तफा के अनुसार जायसी लूले और कुबड़े भी थे – 'मलिक लले लंगड़े कुब्जापुश्त भी थे।'[१] किन्तु अभी तक प्राप्त हुए प्रमाणों और जायसी के चित्रों से यह बात प्रमाणित नहीं होती। उनके पिता का स्वर्गवास पहले ही हो चुका था। कछ दिनों के पश्चात् माता का भी स्वर्गवास हो गया। इस प्रकार बाल्यावस्था में ही वे अनाथ हो गये। फिर ये फकीरों और साधुओं के साथ रहने लगे थे।[२] किसी-किसी जनश्रुति में उनके वैवाहिक जीवन और सात पुत्रों का भी उल्लेख है।[३]

जायसी बाल्यावस्था में ही अनाथ हो गये और साधु-फकीरों के साथ दर-दर भटकते फिरे। कुछ दिनों तक अपने ननिहाल में मानिकपुर अपने नाना अलह-दाद के साथ रहे। एक तो अनाथ, दीन-हीन अवस्था, दूसरे साधु-फकीरों का संग, तीसरे उनकी तीव्र बुद्धि और सर्वोपरि सहजात ईश्वरीय प्रेम – सब ने मिलकर उन्हें अन्तर्मुखी और चिन्तनशील बना दिया।[४] 'सारांश यह कि परम सत्ता की ओर आकृष्ट करने वाली परिस्थिति मिलने पर उन्होंने अपनी सारी शक्ति उस ओर लगा दी।' संयोगवश उन्हें सुयोग्य गुरु भी मिल गये।

जायसी मृत्यु के समय अत्यन्त वृद्ध और संतानहीन थे।[५] उनके संतान थी या नहीं इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। कहा जाता है कि उनके साथ पुत्र थे। खाना खाते समय मकान की छत गिर जाने से दबकर वे सब एक साथ ही मर गए।[६] इस दुर्घटना से जायसी और भी विरक्त हो गये। इसी विरक्ति, पीर और प्रेम-पीर ने धीरे-धीरे जायसी को अपने समय का एक सिद्ध–प्रसिद्ध फकीर बना दिया।

जायसी की प्रसिद्ध जनश्रुति है कि जायसी एक बार शेरशाह के दरबार में गये थे। शेरशाह उनके भद्दे चेहरे को देखकर हंस पड़ा। सुल्तान का हंसना दर-बारियों के अट्टहास्य का साधन था। सारा दरबार ठहाकों में गूंज उठा, किन्तु जायसी ने अत्यन्त संयत विनम्र स्वर में पूंछा– 'मोंहि का हंसति कि कोहरहिं ?' अर्थात् 'तू मुझपर हँसा या उस कुम्हार (गढ़नेवाले – ईश्वर) पर ?' इस पर

१–म० मु० जायसी : सैयद कल्बे मुस्तफा, पृ० २१

२–ना० प्र० पत्रिका, भाग २१।　　　३–वह, पृ० ४३।

४–वही, पृ० ५०।

५–पदमावत : मा० प्र० पृ० ५५५–५६, चित्ररेखा, पृ० ७५।

६–ना० प्र० पत्रिका, भाग २१।

शेरशाह अत्यन्त लज्जित हुआ। उसने जायसी के चरणों में सिर गिराकर क्षमा की प्रार्थना की। कुछ लोगों का विचार है कि वे शेरशाह के दरबार में नहीं गए थे, शेरशाह ही उनकी ख्याति सुनकर उनके पास आया था। सम्भवतः इसी घटना को थोड़े परिवर्तन के साथ मीर हसन देहलवी ने अपनी मसनवी रिमुजुल आरिज (रमुजे-उल-आरफीन) ने लिखा है –

'थे मलिक नाम मुहम्मद जायसी ।
वह कि पदमावत जिन्होंने है लिखी ।।
मर्दे आरिफ थे वह और साहब कमाल ।
उनका अकबर ने किया दयाफ्त हाल ।।
होके मुश्ताक बुलवाया सिताब ।
ताकि हो सोहबत से उनकी फैजयाब ।।
साफ बातिन थे वह और मस्त-अलमस्त ।
लेकिन दुनिया तो है जाहिर परस्त ।।
थे बहुत बदशक्ल और वह बदकवी ।
देखते ही उनको अकबर हंस पड़ा ।।
जो हंसा वह तो उनको देखकर ।
यों कहा अकबर को होकर चश्मेतर ।।
हंस पड़े माटी पर ऐ तुम शहरयार ।
या कि मेरे पर हँसे बे अख्तियार ।।
कुछ गुनह मेरा नहीं ऐ बादशाह ।
सुर्ख बासन तू हुआ औ मैं सियाह ।।
असल में माटी तो है सब एक जात ।
अख्तियार उसका है जो है उसके हाथ ।।
सुनते ही यह हर्फ रोया दादगर ।
गिर पड़ा उनके कदम पर आनकर ।।
अलगरज उनको ब एजाजे तमाम ।
उनके घर भिजवा दिया फिर वस्ललाम ।।
साहबे तासीर हैं जो ऐ हसन ।
दिल पै करता है असर उनका सुखन ।।'[1]

अट्ठारहवीं शती के इस शायर का कथन है कि जायसी 'बादशाह अकबर' के दरबार में गए थे। कुछ लोगों का अनुनान है कि 'यह राजा मुगल सम्राट् अकबर

१–ना० प्र० पत्रिका, भाग २१, पृ० ४४-४५।

नहीं हो सकता, क्योंकि जायसी अकबर के जन्म के समय ही १५४२ ई० में संसार से चल बसे थे। शायद यह अवध का कोई छोटा-सा राजा था, जिसका नाम अकबर रहा होगा।'[१]

मीरहसन देलहवी ने सुनी-सुनाई बातों के आधार पर 'जायसी के दरबार में जानेवाली बात का' सम्बन्ध अकबर बादशाह से जोड़ दिया है। चाहे यह दिल्ली का बादशाह अकबर हो, चाहे अवध का कोई छोटा राजा अकबर और चाहे शेरशाह, पर इतना अवश्य स्पष्ट है कि जायसी का बाह्य-रूप आकर्षक न था। 'पदमावत' के प्रारम्भ में ही कतिपय पंक्तियां इसी कथा के मूल की ओर संकेत करती हुई जान पड़ती हैं। उदाहरणार्थ –

'दीन्ह असीस मुहम्मद, करहु जुगहिं जुग राज।
पातसाहि तुम जगत के, जग तुम्हार मुहताज।।'[२]
'बरनों सूर पुहुमिपति राजा। पुहुमि न भार सहइ सो साजा।।'[३]
'जौ गढ़ नए न काऊ, चलत होहिं सतचूर।
जबहिं चढ़इ पुहुमीपति सेरसाहि जगसूर।।'[४]
'सब पिरथिमी असीसइ, जोरि जोरि कै हाथ।
गांग जउँन जौ लहि जल, तौ लहि अम्मर माथ।।'[५]
'पुनि रूपवन्त बखानौ काहा। जावत जगत सबइ मुख चाहा।।
सौंह दिस्टि कइ हेरि न जाई। जेइ देखा सो रहा सिर नाई।।'[६]
'सेरसाह सरि पूजि न कोऊ।'[७]
'अइस दानि जग उपना सेरसाहि सुलतान।
ना अस भयउ न होइहि ना कोइ देइ अस दान।।'[८]

इन पंक्तियों में जायसी ने शेरशाह की प्रशंसा करते हुये लिखा है 'कि मुहम्मद ने उसे आशीर्वाद दिया 'तुम युग-युग तक राज करो। तुम जग के बादशाह हो जग तुम्हारा मुहताज है।' जब तक गंगा यमुना में जल है, तब तक तुम्हारा मस्तक अमर रहे।' इससे स्पष्ट लगता है कि जायसी शेरशाह के दरबार में गए

१–सूफी महाकवि जायसी : डा० जयदेव, पृ० ५४।
२–जा० ग्रं० (हिं० ए०) (१३।दो० १) पृ० १२८।
३–वही, १४।१ पृ १२६।
४–वही, दो० १४।
५–जा० ग्रं (हिं० ए०) दो० १५, पृ० १३०।
६–वही, दो० १६।५-६
७–वही, दो० १७।३, पृ० १३१।
८–वही, दो० १७।

थे। उन्होंने हाथ उठाकर आशीर्वाद भी दिया था।

महात्मा तुलसीदास की ही भाँति इनकी भी बाल्यावस्था अनाथावस्था रही। इन्हीं कारणों से इनकी प्रवृत्ति अन्त:मुखी हो गयी। इनके हृदय की नम्रता अपार थी। वे अपने विषय में गर्वोक्ति नहीं लिखते। वे स्पष्ट कहते हैं–

'हौं सब कविन केर पछिलगा। किछु कहि चला तबल देइ डगा[1]।।

उनका कहना है कि 'मैं सभी कवियों के पीछे चलने वाला हूँ। नक्कारे की ध्वनि हो जाने पर मैं भी आगे वालों के साथ पैर बढ़ाकर कुछ कहने चल पड़ा हूँ।

सचमुच उनके समस्त काव्य में एक उक्ति भी निज के विषय में गर्व की नहीं है।

जायसी इस्लाम धर्म और पैगम्बर पर पूरी आस्था रखते थे। उन्होंने ईश्वर तक पहुँचने के अनेक मार्गों को तत्वत: स्वीकार किया है, इन असंख्य मार्गों में वे मुहम्मद साहब के मार्ग को सुगम और सरल कहते थे।

विधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत, तन रोवां जेते।।
तिन्ह मंह पन्थ कहौं भल भाई। जेहि दूनों जग छाज बड़ाई।।
से बड़ पन्थ मुहम्मद केरा। है निरमल कविलास बसेरा।।'[2]

जायसी बड़े भावुक भगवद्भक्त थे और अपने समय में बड़े ही सिद्ध और पहुँचे हुए फकीर माने जाते थे। वे विधि पर आस्था रखने वाले थे। सच्चे भक्त का प्रधान गुण दैन्य उनमें पूरा पूरा था। उनकी वह उदारता थी जिससे कट्टरपन को भी चोट नहीं पहुँच सकती थी। प्रत्येक प्रकार का महत्व स्वीकार करने की उनमें क्षमता थी। वीरता, धीरता, ऐश्वर्य, रूप, गुण, शील सबके उत्कर्ष पर मुग्ध होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त था, तभी 'पद्मावत' ऐसा चरित्र-काव्य लिखने की उत्कंठा उन्हें हुई। वे जो कुछ जानते थे उसे नम्रतापूर्वक पण्डितों का प्रसाद मानते थे।

वे बड़े ही सच्चरित्र, कर्तव्य-निष्ठ और गुरुभक्त थे। ईश्वर के प्रति उनकी आस्था अपार थी। उनका विश्वास था कि परम ज्योति-स्वरूप उस जगत के करतार

१–डा० मुन्शीराम शर्मा ने एक बार इस विनम्रोक्ति के विषय में मेरा ध्यान आकृष्ट किया था। उन्होंने कहा था कि मैंने इसका अर्थ सहज ढंग से किया है। उनके अर्थ से जायसी की नम्रता और अधिक स्पष्ट हो जाती है। "मैं पण्डितों से अपनी त्रुटियाँ संवारने तथा उन्हें सजाकर ठीक करने के लिए विनती करता हूँ। जैसे तबल की सम के पीछे डगा का ठेका चलता है वैसे ही मैं पण्डितों का अनुचर हूँ। अत: जो कुछ मैं कहता हूँ वह उन्हीं से सीखा हुआ है, उन्हीं की कृपा से मैं कुछ कहने में समर्थ हुआ हूँ।" पद्मावत : डा० मुशीराम शर्मा, पृ० ११

२–जा० ग्रं० : मा० गु०, आखिरी कलाम २५।२–५, ६६३–६४।

के नियंत्रण में ही समस्त सृष्टि वर्तमान है–गतिमान है। वे महान् संत थे। सहजता, सहृदता, सारग्राहिता, अनुभव-गम्भीरता, लोक और काव्य का गहन अध्ययन, आडम्बरहीनता, संयम और पवित्र भक्ति उनके चरित्र के विशेष आकर्षण हैं।

जन्म स्थान

जायसी ने 'पदमावत' की रचना जायस नामक स्थान में की–

'जाएस नगर धरम अस्थानू। तहवां यह कबि कीन्ह बखानू ॥'[१]

जायसी के जन्म स्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है कि जायस ही उनका जन्म-स्थान था या वे कहीं अन्यत्र से आकर वहाँ रहने लगे थे। जायसी ने अन्यत्र भी लिखा है–

'जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नावं आदि उदयानू ॥
तहाँ देवस दस पहुँने आएउं। भा वैराग बहुत सुख पायउं ॥'[२]

पं० रामचन्द्र शुक्ल[३] का अनुभव है कि 'पदमावत' की कथा को लेकर थोड़े से पद्य जायसी ने रचे थे। उसके पीछे वे जायस छोड़ कर रहने लगे, तब उन्होंने इस ग्रन्थ को उठाया और पूरा किया।' शुक्ल जी को इस बात का संकेत 'तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू।' में मिला था। डा० माता प्रसाद गुप्त[४] और बासुदेव शरण अग्रवाल[५] ने 'तहवां यह कवि कीन्ह बखानू।' पाठ को शुद्ध माना है। 'पं० सुधाकर द्विवेदी[६] और डा० ग्रियर्सन[७] ने यह अनुमान किया था कि मलिक मुहम्मद किसी और जगह से आकर जायस में बसे थे। पर यह ठीक नहीं। जायस वाले ऐसा नहीं कहते। उनके कथनानुसार मलिक मुहम्मद जायस ही के रहने वाले थे।'

पं० सूर्यकान्त शास्त्री[८] ने भी लिखा है कि 'इनका जन्म जायस शहर के 'कंचाना मुहल्ला' में हुआ था।' डा० मुन्शीराम शर्मा का मत है कि 'जायस का पूर्व नाम उद्यान था। यहाँ पर वे थोड़े दिनों के लिये पाहुन के रूप में आए थे– बाद में वैरागी हो गए थे।[९] अतः जायस उनका धर्म-स्थान है। कहा जाता है कि

१–पदमावत (हिं० ए०, २३।१,) पृ० १३४।
२–आखिरी कलाम, १०।१–२।
३–जा० ग्रं० (भूमिका); पं० राम चन्द्र शुक्ल, पृ० ६।
४–जा० ग्रं० : डा० मा० प्र० गुप्त, (२३।१) पृ० १३४।
५–पदमावत : डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, (२३।१) पृ० २२।
६–पदमावत : डा० ग्रियर्सन और पण्डित सुधाकर द्विवेदी, (१९११)। ७–वही
८–पदुमावति : प्रो० सूर्यकान्त शास्त्री, प्रोफेस, पृ० ५।
९–पदमावत : डा० मुन्शी राम शर्मा, प्राक्कथन, 'उ'

मलिक मुहम्मद गाजीपुर के एक दरिद्र मुसलमान के पुत्र थे। कई विद्वानों ने जायसी के विषय में कहा है कि 'ये गाजीपुर में पैदा हुए थे[1]।' मानिकपुर (जिला प्रतापगढ़) में अपने ननिहाल में जाकर कुछ दिनों तक रहे थे[2]।

इस प्रसंग में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल[3] का मत विशेष रूप से उल्लेख्य है।

'जायसी ने लिखा है–'जायस नगर में मेरा स्थान है। मैं वहाँ दस दिन के लिए पाहुने के रूप में आया था, पर वहीं मुझे वैराग्य हो गया और सुख मिला। 'दिन दस' का अर्थ पदमावत 'में थोड़े समय के लिये' है। (६९।१) पाहुने आयउ'' का संकेत कुछ विद्वानों ने ऐसा माना है कि कवि ने जायस में जन्म लिया था। किन्तु इन शब्दों का सीधा अर्थ भी लिया जा सकता है कि सचमुच मलिक मुहम्मद जायसी किसी दूसरी जगह से जायस में कुछ दिनों के लिए पाहुने के रूप में आये थे, किन्तु वहाँ आकर उनके जीवन में एक ऐसी घटना घटी जिसने जीवन के प्रवाह को ही बदल डाला और उन्हें अनुभव ने एक नए लोक में पहुँचा दिया।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी का जन्म जायस में नहीं हुआ था, बल्कि वह उनका धर्म-स्थान था और वहाँ कहीं से आकर वे रहने लगे थे।

गार्हस्थ्य : वैराग्य

जायसी एक किसान गृहस्थ के रूप में जायस में रहते थे। वे आरम्भ से बड़े ईश्वर-भक्त और साधु-प्रकृति के थे। उनका नियम था कि जब वे अपने खेतों में होते, तब अपना खाना वहीं मंगा लिया करते थे। खाना वे अकेले कभी न खाते थे, जो आसपास दिखाई पड़ता उसके साथ बैठकर खाते थे। एक दिन उन्हें इधर उधर कोई नहीं दिखाई पड़ा। बहुत देर तक आसरा देखते-देखते अन्त में एक कोढ़ी दिखाई पड़ा। जायसी ने बड़े आग्रह से उसे खाने को अपने पास बिठाया और एक ही बरतन में उसके साथ भोजन करने लगे। उसके शरीर से कोढ़ चू रहा था। कुछ थोड़ा सा मवाद भोजन में भी चू पड़ा। जायसी ने उस अंश को खाने के लिए उठाया, पर उस कोढ़ी ने हाथ थाम लिया और कहा—'इसे मैं खाऊँगा, आप साफ हिस्सा खाइए।' पर जायसी झट से उसे खा गए। इसके पीछे वह कोढ़ी अदृश्य हो गया। इस घटना के उपरान्त उसकी मनोवृत्ति ईश्वर की ओर और भी अधिक बलवती हो गई। उक्त घटना की ओर संकेत लोग अखरावट के इस दोहे में बताते हैं—

१–ना० प्र० पत्रिका, १४, ३९१।

२–वही भाग २१, पृ० ४३।

३–डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : पद्मावत, प्रा० पृ०३५।

'बुन्दहि समुद समान, यह अचरज कासौं कहौं।
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आपु महं।'[१]

"कहते हैं कि जायसी के सात पुत्र थे, पर वे मकान के नीचे दब कर या ऐसी किसी और दुर्घटना से मर गए। तब वे जायसी संसार से और भी विरक्त हो गए और कुछ दिनों में घर-बार छोड़ कर इधर उधर फकीर होकर घूमने लगे।'[२]

जायसी के विराग का जो भी कारण रहा हो, पर इतना निश्चित है कि 'जायसी में उनके' जीवन में एक ऐसी घटना घटी जिसने उन्हें प्रेमानुभव के एक नवीन लोक में पहुँचा दिया, उनके हृदय में वैराग्य का एक प्रबल स्रोत फूट निकला। हृदय किसी अपूर्व ज्योति से उद्भासित हो उठा। उसी का रूप नयनों में समा गया। सर्वत्र उसी सौन्दर्य और प्रेम-सत्ता के दर्शन होने लगे। संसार के मानदंड बदल गए। विषयों से मन हट गया। हृदय में एक ही आकुलता छा गई कि किस प्रकार उस परम ज्योति या रूप की साक्षात प्राप्ति हो। जायसी ने अपनी उस वैराग्य-अवस्था का सच्चा वर्णन किया है।

'तहां देवस दस पहुने आएउँ। भा बैराग बहुत सुख पाएउ।
सुख भा सोच एक दुख मानों। ओहि बिनु जिवन मरन कै जानों॥
नैन रूप सो गएउ समाई। रहा पूरि भरि हिरदै छाई॥
जहवैं देखौं तहवैं सोई। और न आव दिस्ट तर कोई॥
आपुन देखि देखि मन राखौं। दूसर नाहिं सो कासौं भाखौं॥
सबै जगत दरपन कर लेखा। आपुन दरसन आपुहि देखा॥'[४]

स्पष्ट है कि वैराग्य की तीव्र धारा के स्पर्श से एक बार ही उनका मन आनन्दप्लावित हो गया। प्रियतम का जो रूप नयनों में समा गया था वही भीतर और बाहर का आनन्द था और वही मिलन की वेदना का कारण बना। 'रत्नसेन का वैराग्य मानों कवि का अपना ही अनुभव है जिसमें संसार का मोह छूट जाता है और परमात्म ज्योति रूपी प्रेमिका से मिलने के लिए हृदय में आकुलता भर जाती है।'[५]

सचमुच वैराग्य के अनन्तर जायसी को महान् आत्मिक सुख हुआ होगा। उन्होंने परमात्म-तत्व के दर्शन अवश्य किए थे। उसे उन्होंने विश्व के कण-कण में

१—जा० गं० : पं० रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ० ७।
२—वही।
३—पदमावत : डा० वासुदेवशरण अग्रवाव, प्राक्कथन, पृ० ३५।
४—जा०ग्रं० : डा० माताप्रसाद गुप्त (आखिरी कलाम १०। २—७), पृ० ६६०।
५—पदमावत : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राक्कथन, पृ० ३५—३६।

देखा और अनुभव किया था।

मित्र

जायसी ने बड़े ही उल्लसित कंठ से अपने चार मित्रों का उल्लेख किया है– मलिक यूसुफ, सालार कादिम, सलोने मियां और बड़े शेख।

पदमावत के प्रारम्भ में ही जायसी ने अपने इन चारो मित्रों की प्रशस्ति की है–

'चारि मीत कवि मुहमद पाए। जोरि मिताई सरि पहुँचाए॥
यूसुख मलिक पंडित औ ज्ञानी। पहिलैं भेद बात उन्ह जानी॥
पुनि सलार कांदन मतिमाहां। खांडै दान उभै निति बाहां॥
मियां सलोने सिंघ अपारू। बीर खेत रन खरग जुझारू॥
सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाने। कइ अदेस सिद्धन बड़ माने॥
चारिउ चतुर दसौ गुन पढ़े। औ संग जोग गोसाई गढ़े॥
बिरिख जो आछहिं चन्दन पासां। चन्दन होहिं बेधि तेहि बासां॥
मुहमद चारिउ मीत मिलि, भए जो एकइ चित्त।
एहि जग साथ निबाहा, ओहि जग बिछुरन कित्त॥'[1]

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि यूसुफ मलिक पट्टी 'कंचाना' के रहने वाले थे। अब उनके वंश में कोई नहीं है। सालार कानिम 'सालार पट्टी' के रहने वाले थे और वे शाहजहां के वक्त तक जीवित रहे। वे पुत्रहीन थे। उनकी लड़की के वंशज आज भी 'कंचाना कला' मुहल्ले में बसे हुए हैं। ये अत्यन्त बुद्धिमान, तलवार के धनी, जमींदार और दानी भी थे। सलोने मियां नाम के तीन व्यक्ति जायसी के समय में जायस में थे। जनश्रुति है कि जायसी से इन तीनों का स्नेह-सम्बन्ध था, तीनों सज्जनता, वीरता और धन-भैभव से सम्पन्न थे। बड़े शेख नाम के पांच व्यक्ति कहे जाते हैं।[2] जिस बड़े शेख से जायसी की मैत्री थी वे बड़े सिद्ध पुरुष थे।

मृत्यु

सैयद कल्बे मुस्तफा ने[3] लिखा है कि जब मुरीदी करते बहुत दिन बीत गए, तो जायसी और उनके साथी हजरत निजामुद्दीन बन्दगी की उत्कट अभिलाषा

१–जा० ग्रं : डा० माताप्रसाद गुप्त, (पदमावत २२।१) पृ० १३४।
२–ना०प्र० पत्रिका, भाग २१, पृ० ५३–५६।
३–म०मु० जायसी : सैयद कल्बे मुस्तफा, पृ० ३८।

हुईं कि हम भी अपनी गद्दी स्थापित करके शिष्य बनाएं। इस इच्छा को इन लोगों ने गुरु के चरणों में उपस्थित होकर कहा। इनके गुरू ने आज्ञा दी कि 'अमेठी चले जाओ, यह सुनकर दोनों शिष्य मौन हो गए। प्रश्न था कि एक ही स्थान पर दो गुरू किस प्रकार रहेंगे? गुरु की आज्ञा में मीन-मेख निकालना अनुचित है, अतः जायसी ने विवेक से काम लिया। गुरु के उस आवास में दो द्वार थे एक पूर्व की ओर और दूसरा पश्चिम की ओर। उन्होंने पश्चिम वाले द्वार से बन्दगी मियां को भेजा और वे लखनऊ वाली अमेठी की ओर गए। आज भी उस अमेठी को लोग लखनऊ मियां की अमेठी कहते हैं। जायसी पूर्वी द्वार से गढ़ अमेठी की ओर गए। गढ़ अमेठी के पास के जंगल में उन्होंने अपना स्थान बनाया।

दूसरी जनश्रुति है कि जायसी अपने समय के एक महान् फकीर माने जाते थे। चारो ओर उनकी ख्याति-प्रख्याति थी। उनके शिष्य उनके मान-सम्मान को और वर्द्धित-संवर्द्धित कर रहे थे। ये शिष्य 'पदमावत' के अंशों को गा-गाकर भिक्षा मांगा करते थे। एक दिन जायसी के एक शिष्य ने अमेठी-नरेश रामसिंह को नागमती का 'बारहमासा' सुनाया—

'कंवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गयेउ सुखाइ।
सूखि बेलि पुनि पलुहै, जो पिउ साचै आइ॥' आदि

उस भीख मांगने वाले से राजा ने पूछा कि यह किस कवि की रचना है, तो उसने जायसी का नाम बताया। रामसिंह बड़े सम्मान के साथ जायसी को अमेठी गढ़ में लिवा आये[1]। अपने जीवन के अन्तिम समय तक वे अमेठी में ही रहे। अमेठी के राजा रामसिंह उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे।[2]

सैयद कल्बे मुस्तफा ने एक बहेलिया के द्वारा जायसी के मारे जाने की घटना का अत्यन्त मनोरंजक वर्णन किया है। इस घटना का उल्लेख पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी किया है।[3]

अमेठी नरेश जब जायसी की सेवा में उपस्थित होते थे, तो उनका एक तुफंगचबी (बहेलिया) भी उनके साथ जाता था। जायसी बहेलिया का विशेष सत्कार करते थे। लोगों के कारण पूछने पर उन्होंने कहा कि 'यह मेरा कातिल है।' यह सुनकर सभी लोग आश्चर्य-चकित हो गये। बहेलिये ने निवेदन किया कि इस पाप-कर्म के पहले ही मुझे कत्ल कर दिया जाए। राजा रामसिंह ने भी यह उचित समझा, परन्तु जायसी ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक अपने कातिल को कत्ल होने से बचा लिया। राजा ने उस दिन से उस बहेलिए को बन्दूक, तलवार आदि न रखने की

१—जा०ग्र० (भूमिका) : पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११।
२—वही, पृ०८। ३—वही, पृ० ८—११।

आज्ञा दी, किन्तु विधाता का लेख कौन मिटा सकता है ? एक अंधेरी रात में जब वह बहेलिया अमेठी गढ़ से अपने घर जाने लगा, तो उसने दरोगा से कहा—समय तंग हो गया है और मेरी राह जंगल में होकर है इसलिए रात भर के लिए एक बन्दूक दे दो, प्रातःकाल में ही लौटा दूंगा। दारोगा ने भी इस पर कोई आपत्ति न की और एक बन्दूक उस बहेलिया को दे दी। जब बहेलिया जंगल में होकर जाने लगा, तो उसे शेर के गुर्राने का-सा शब्द सुनाई पड़ा। शेर को पास जानकर उसने शब्द पर गोली छोड़ दी। गोली के साथ गर्जन का शब्द भी बन्द हो गया। बहेलिए ने शेर को मरा जानकर घर की राह ली। उसी समय अमेठी नरेश ने स्वप्न देखा कि कोई कह रहा है कि आप सो रहे हैं और आपके बहेलिए ने मलिक साहब को मार डाला। राजा घबड़ा उठा। वह दौड़ा-दौड़ा जायसी के आश्रम के पास गया। उसने देखा—मलिक साहब को गोली लगी है और उनका शरीर निर्जीव हो चुका है। इस दुर्घटना के कारण सारे राज्य में शोक छा गया। बाद में गढ़ के समीप ही उन्हें दफना दिया गया और उनकी समाधि बनवा दी गई।[1]

जायस में यह कहानी आज भी थोड़े से हेरफेर के साथ सुनी जा सकती है।[2]

इस कथा से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि जायसी का अमेठी से बड़ा गहरा सम्बन्ध था। अमेठी के राजा की उनके ऊपर बड़ी श्रद्धा थी। ये अमेठी के पास के ही जंगल में रहते थे और किसी दुर्घटना के शिकार हुए।[3]

"मलिक जी की कब्र मंगरा के बन में, रामनगर (रियासत अमेठी, जिला सुलतानपुर अवध) के उत्तर की ओर एक फर्लांग पर है। इसकी पक्की चहार दीवारी अभी मौजूद है। इस पर अब तक चिराग जलाए जाते हैं। राजा ने एक कुरान पढ़ने वाला भी नियुक्त किया था, जिसका सिलसिला १३१३ हि० (१९१५ ई०) में बन्द हो गया।"[4]

जायसी की कब्र अमेठी नरेश के वर्तमान कोट से पौन मील की दूरी पर है। यह वर्तमान कोट जायसी की मृत्यु के काफी बाद में बना हुआ है। अमेठी के राजाओं का पुराना कोट जायसी की कब्र से डेढ़ कोस की दूरी पर था। पं० रामचद्र शुक्ल का कथन है कि 'यह प्रवाद कि अमेठी के राजा को जायसी की दुआ से पुत्र उत्पन्न हुआ और उन्होंने अपने कोट के पास उनकी कब्र बनवाई, निराधार है।"[5]

१—चित्ररेखा : सं० शिवसहाय पाठक, भूमिका, पृ० २९—३०।

२—वही पृ० ३०। ३—वही

४—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४५, अंक १, वैशाख १९९७, पृ० ५९।

५—जायसी ग्रंथावली : पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ८।

'कोट के समीप' का अर्थ 'कोट के निकट या अत्यन्त निकट' ही नहीं होता—कोट से कुछ दूर भी होता है—अनतिदूर भी होता है। जायसी की कब्र देखने पर लगता है कि कब्र से कुछ ही दूरी पर अमेठी का कोट रहा होगा। जायसी की कब्र से पुराने कोट की ओर चलते समय लगता है कि थोड़ी ही दूरी के बाद कोट के ढूहे शुरू हो जाते हैं और ढूहों की परम्परा कुछ दूर तक चली गई है और यदि 'वैज्ञानिक चश्मे' को उतार कर भारतीय परम्परा और सिद्धत्व की दृष्टि से विचार करें, तो 'जायसी की दुआ से अमेठी नरेश को पुत्र-प्राप्त' होने वाली बात भी ठीक मानी जा सकती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जायसी की मृत्यु अमेठी के समीपवर्ती जंगल में किसी दुर्घटनावश ९४९ हिजरी में हुई।

मलिक मुहम्मद जायसी : अन्तःसाक्ष्यों एवं बहिःसाक्ष्यों के आधार पर जायसी का जीवन

मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने जन्म के सम्बन्ध में लिखा है —

भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिख ऊपर कबि बदी।
आवत उधत चार बड़ ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना ॥[१]

पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि "इन पक्तियों का ठीक तात्पर्य नहीं खुलता। नवसदी ही पाठ मानें, तो जन्मकाल ९०० हिजरी (सन् १४९२ के लग-भग) ठहरता है। दूसरी पंक्ति का अर्थ यही निकलेगा कि जन्म से ३० वर्ष पीछे जायसी अच्छी कविता करने लगे।"[२]

पं० चन्द्रबली पांडेय[३] जायसी की उपर्युक्त पंक्तियों का अर्थ "नवीं सदी हिजरी में ३० वर्ष बीतने पर 'अर्थात् ८३० हिजरी मानते हुए जायसी की जन्म तिथि ८३० हिजरी (१४२७ ई०) सिद्ध करते हैं।

डा० कमलकुल श्रेष्ठ ने लिखा है—"जायसी का जन्म ९०६ हिजरी में हुआ था। जायसी ने यह बात स्पष्ट बतला दी है। वे कहते हैं —

"नौ सै बरस छतिस जब भए। तब एहि कथा के आखर कहे।"

अर्थात् ९३६ हिजरी में उन्होंने आखिरी कलाम की रचना की। "भा अवतार...... कवि बदी।" अर्थात् तीस वर्ष की आयु में उन्होंने यह रचना की और वे नव सदी में पैदा हुए थे। ९३६ हिजरी में से तीस वर्ष निकाल देने पर ९०६ हिजरी

१—जायसी ग्रंथावली : डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ६८८।४—१—२
२—जायसी ग्रंथावली : पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५।
३—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, सं० १९९०, पृ० ३९७।

आता है। ६११ हिजरी में एक बहुत कड़ा भूकम्प आया था और सूर्यग्रहण भी ६०८ हिजरी में पड़ा था। जायसी इन घटनाओं को वयस्क होने पर कह सकते थे कि वे उनके जन्म के समय में हुई थीं। नव सदी का अर्थ या तो कवि को ठीक-ठीक न मालूम था या नई सदी से ही उसका तात्पर्य था। 'नव' शब्द का प्रयोग 'नये' के अर्थ में कवि ने अनेक स्थलों पर किया है। ६०६ हिजरी के लिये कवि यह कह सकता था कि उसका जन्म एक नई सदी में हुआ था और यह भी हो सकता है कि कवि 'नव सदी' का अर्थ ६०० के बाद का समय समझता हो। "आखिरी कलाम" के साक्ष्य से यह ६०६ हिजरा जन्म सन् इतना स्पष्ट निकलता है कि सहसा उस पर बिना किसी अति प्रबल प्रमाण के अविश्वास नहीं किया जा सकता।"[1]

सैयद कल्बे मुस्तफा ने लिखा है—"कस्बा जायस में मुहम्मद जहीरुद्दीन बाबर शाह के अहद में सन् ६०० हिजरी (१४६५ ई०) में पैदा हुए।"[2]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने जायसी की "भा अवतार मोर नव सदी" आदि पंक्तियों को उद्धृत करते हुए लिखा है "नवीं सदी हिजरी (१३६८-१४६४ ई०) के बीच में किसी समय जायसी का जन्म हुआ। नव सदी से यह अर्थ लेना कि ठीक ६०० हिजरी में जायसी का जन्म हुआ था कवि के जीवन की अन्य तिथियों से संगत नहीं ठहरता। पदमावत की रचना सन् १५२७ से १५४० ई० के बीच में किसी समय हुई। उस समय वे अत्यन्त वृद्ध हो गये थे। अतएव १४६४ ई० को उनका जन्म संवत् मानना कठिन है।"[3] डा० जयदेव की जायसी की जन्म-तिथि से सम्बद्ध मान्यता है कि "जायसी का जन्म ६०० हिजरी (सन् १४६५ ई०) में हुआ था जिसका वर्णन उन्होंने अपने काव्य आखिरी कलाम में किया है—'भा अवतार मोर नव सदी।"[4]

जायसी के जन्म सन् से सम्बद्ध विवेचना की तालिका इस प्रकार है —

८३० हिजरी : नवीं सदी हिजरी में तीस वर्ष बीतने पर—१४२७ ई०	:	पं० चन्द्रवली पाण्डेय[5]
६०० हिजरी : १४६२ ई० के लगभग	:	पं० रामचन्द्र शुक्ल
९०० हिजरी : १४६५ ई०	:	डा० जयदेव

१—म० मु० जायसी : डा० कमलकुल श्रेष्ठ, पृ० १६।
२—म० मु० जायसी : सैयद कल्बे मुस्तफा।
३—पदमावत, : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राक्कथन, पृ० ३२।
४—सूफी महाकवि जायसी : डा० जयदेव, पृ० ३१।
५—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, पृ० ३६७।

९०६ हिजरा	:	डा० कमलकुल श्रेष्ठ
९०० हिजरी : १४९५ ई०	:	सैयद कल्बे मुस्तफा
नवीं सदी हिजरी : १३९८–१४९४ ई० के बीच किसी समय	:	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
९०६ हिजरी : १४९९ ई०	:	डा० विमलकुमार जैन[1]
८३० हिजरी : (मृत्यु ९४९ हि०)	:	पं० सूर्यकान्त शास्त्री[2]

आखिरी कलाम में जायसी ने अपने सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—

"भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिख ऊपर कबि बदी ॥
आवत उधत चार बड़ ठाना। भा भूकम्प जगत अकुलाना ॥
धरती दीन्हिं चक्र विधि भाई। फिरै अकास रहट कै नाई ॥
गिरि पहार मेदिनि तस हाला। जस चाला चलनी भल चाला ॥
मिरित लोक जेहिं रचा हिंडोला। सरग पताल पवन घट (खट?) डोला ॥
गिरि पहार परबत ढहि गये। सात समुंद्र कहच (कीच?) मिल भये ॥
धरती छात फाटि भहरानी। पुनि भइ मया जौ सिस्टि हठानी (दिठानी) ॥
जो अस खंभहि पाइकै, सहस जीब (जीभ ?) गहिराइं।
सो अस कीन्ह मुहम्मद, तो अस बपुरे काइं ॥[3]

वस्तुतः जायसी की इन्हीं पंक्तियों के आधार पर नौ सदी से ९०० हिजरी अर्थात् १४९२ ई० या १४९४ ई० को जायसी की जन्म-तिथि मानने में कवि के जीवन की अन्य तिथियों से संगति नहीं बैठती।

डा० कमलकुल श्रेष्ठ का यह कथन कि 'नौ सदी' का 'अर्थ या तो कवि को ठीक ठीक नहीं मालूम था या नई सदी से ही उसका तात्पर्य था' स्वयं में अशक्त है। एक तो जायसी जैसे समर्थ भाषाविद् और महाकवि के लिये इस प्रकार के कथन समीचीन नहीं हैं और दूसरे 'नौ सदी' 'नई सदी' अर्थ लगाने की बात भी समझ में नहीं आती, क्योंकि उन्होंने जायसी का जन्म-काल ९०६ हिजरी माना है। ऐसा मानने पर तो नई सदी के अनुसार नव (९) सदी नहीं, बल्कि दस सदी होना चाहिए। उनके ९०६ हि० की संगति है कि जायसी ने पदमावत की रचना २१ वर्ष की आयु में की या प्रारम्भ की, किन्तु यह बात संभव नहीं प्रतीत होती।

१–सूफीमत और हिन्दी साहित्य : डा० विमलकुमार जैन, पृ० ११६।
२–"ही वाज बार्न इन ८३० (एच०) इन द कंचन मुहल्ला आफ द टाउन (जायस) पदुमावति : प्रो० सूर्यकान्त शास्त्री, प्रीफेस, पृ० ५।
३–जा० ग्रं० : डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ६८८।४

'पदमावत' हिन्दी के सर्वोत्तम प्रबंध काव्यों में है।[१] 'और इस श्रेष्ठ काव्य की रचना' इक्कीस वर्षीय युवक के हाथों संभव नहीं है। पदमावत में ही कुछ पंक्तियां ऐसी हैं जिनके साक्ष्य पर पदमावत की रचना के समय जायसी वृद्ध हो चले थे या वृद्ध थे।

'मुहमद बिरिध बएस अब भई। जोबन हुत सो अवस्था गई॥
बल जो गएउ कै खीन सरीरू। दिस्टि गई नैनन दै नीरू॥
दसन गए कै तुचा कपोला। बैन गए दै अनरुचि बोला॥
बुद्धि गई हिरदै बौराई। गरब गएउ तरहुंण सिर नाई॥
सरवन गए ऊंच दै सुना। गारौ गएउ सीस भा धुना॥
भंवर गएउ केसन्ह दै मुवा। जोबन गएउ जियत जनु मुवा॥
तब लगि जीवन जोबन साथां। पुनि सो मींचु पराए हाथां॥
बिरिध जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़े आढ़े होहु तुम्ह, केइं यह दीन्ह असीस॥''[२]

स्पष्ट है कि पदमावत की रचना के समय 'वे अत्यंत वृद्ध हो गए थे।'[३] यह एक प्रकार से अन्तर्विरोध है और इसी कारण ९०० हिजरी या ९०६ हिजरी को जायसी की जन्म-तिथि मानना युक्ति संगत नहीं जंचता।

इस प्रसंग में एक बात और द्रष्टव्य है कि जायसी की मृत्यु-तिथि के विषय में भी अनेक सन् दिए गए हैं:—

कई विद्वान् जायसी की मृत्यु-तिथि १६५९ ई० मानते हैं।[४] श्री गुलाम सरवर लाहौरी इनकी मृत्यु तिथि १६३९ ई० मानते हैं।[५] 'श्री काजी नसरुद्दीन हुसेन जायसी ने जिन्हें अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सनद मिली थी, अपनी याददाश्त में इनका मृत्युकाल ५ रजब ९४९ हिजरी (१५४२ ई०) दिया है।[६]

यह काल कहां तक ठीक है नहीं कहा जा सकता। इसे ठीक मानने पर जायसी दीर्घायु व्यक्ति नहीं ठहरते। उनका परलोकवास ४९ वर्ष से भी कम की अवस्था में सिद्ध होता है, पर जायसी ने पदमावत के उपसंहार में वृद्धावस्था का जो वर्णन किया है वह स्वतः अनुभूत-सा जान पड़ता है।[७]

१—जा० ग्रं० : पं० रामचन्द्र शुक्ल, वक्तव्य, पृ० १।
२—पदमावत : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल पृ० ७१४—७१५।
३—वही, प्राक्कथन, पृ० ३२।
४—ना० प्र० पत्रिका, भाग २१, पृ० ५८।
५—खजीनतुल असफिया, सरवर, पृ० ४७३।
६—जा० ग्रं० : पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ८। ७—वही, पृ० ८।

पं० चन्द्रबली पांडेय[1] का मत है कि काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने जो मृत्यु-तिथि (५ रजब ६४६ हिजरी, सन् १५४२ ई०) दी है वह ठीक और प्रामाणिक है ।

यहां पर विशेष द्रष्टव्य है कि जायसी ने 'पदमावत' की सर्जना १५४० ई० के आसपास की थी । अतः १६३६ ई० या १६५६ ई० को जायसी का मृत्युकाल मानना समीचीन नहीं है । पूर्वांकित पंक्तियों में लिखा जा चुका है कि पदमावत की रचना के समय कवि अत्यंत वृद्ध हो चला था । और अत्यंत वृद्ध होने के पश्चात् वह "६६ वर्ष या ११६ वर्ष तक और जीवित रहा"—यह बात गले के नीचे नहीं उतरती ।

सैयद कल्बे मुस्तफा साहब ने लिखा है कि 'जिस वर्ष वे दरबार में बुलाए गए थे, उसी वर्ष उनकी मृत्यु हुई ।'[2]

मुस्तफा साहब ने गुलाम सरवर लाहौरी और अब्दुल कादिर के साक्ष्य पर जायसी की मृत्यु-तिथि सन् १०४६ हिजरी को ही स्वीकार किया है । मुस्तफा साहब की दी हुई तिथि को भी स्वीकार करने में अनेक आपत्तियां हैं । उनके मत के अनुसार जायसी का जीवनकाल १४६ वर्ष का ठहरता है । यदि यह असंभव नहीं, तो असाधारण बात अवश्य है, किन्तु अन्तः या बहिः किसी साक्ष्य से आजतक यह बात ज्ञात नहीं हुई कि वे लगभग डेढ़ सौ वर्ष के होकर मरे, और यदि १०४६ हिजरी तक वर्तमान थे और ६४७ हिजरी (१५४० ई० के आसपास) पदमावत की रचना कर चुके थे, तो शेष १०० वर्ष से अधिक लंबे अवकाश में अखरावट के अतिरिक्त अन्य पुस्तक का न लिखना उन जैसे क्रियाशील सूफी के लिए असंभव ही प्रतीत होता है । इस विवेचन के पश्चात् यह निश्चय ठीक प्रतीत होता है कि मलिक मुहम्मद जायसी ६४८ हिजरी में राज्य की ओर से अमेठी में आमंत्रित किए गए और ६४६ हिजरी में उनका शरीरांत हो गया ।

पुनः यदि ६०० हिजरी या ६०६ हिजरी (क्रमशः पं० रामचन्द्र शुक्ल और श्री कमलकुल श्रेष्ठ के मतानुसार) को जयसी की जन्म-तिथि माने, तो मानना पड़ेगा कि उनकी मृत्यु ४३ या ४६ वर्ष की आयु में हुई । इस मत के विरोध में (पदमावत के उपसंहार में वर्णित वृद्धावस्था के वर्णन के अतिरिक्त) एक और प्रबल तर्क है । पदमावत के 'स्तुति-खन्ड' में कवि ने शाहे-तख्त-शेरशाह को आशीर्वाद देने का उल्लेख किया है—

१—ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, पृ० ४१७ ।

२—म० मु० जायसी : सैयद कल्बे मुस्तफा, पृ० ७५ ।

दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहिं जुग राज।
पातसाहि तुम जगत के, जग तुम्हार मुहताज ॥[1]

'दिल्ली की गद्दी पर बैठने के समय शेरशाह की अवस्था ५३-५४ वर्ष की हो चुकी थी। शेरशाह बादशाह को आशीर्वाद देनेवाला कवि अवश्य वृद्ध रहा होगा। अतः पदमावत के अंतिम छन्द में कवि का स्वतः अनुभूत वृद्धावस्था का वर्णन मानना ही ठीक है। पदमावत लिखते समय जायसी वृद्ध हो चुके होंगे। उन्हें अपने जन्म संवत् का स्वयं ठीक पता न रहा होगा, इसलिए उन्होंने 'भा औतार मोर नौ सदीं' लिखा होगा। उनका जन्म नौवीं शताब्दी हिजरी में अर्थात् १३९८ और १४९४ ई० के बीच कभी हुआ।'[2] इसलिए ९०० हिजरी या ९०६ हिजरी को जायसी का जन्म-काल नहीं माना जा सकता।

सन् १९५२-५३ ई० में प्रोफेसर सैयद हसन अस्करी को मनेर शरीफ से कई ग्रन्थों के साथ पदमावत और अखरावट की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुईं[4]। ये प्रतियां शाहजहां-कालीन बताई गई हैं। 'अखरावट' की प्रति की पुष्पिका में जम्मा ८ जुल्काद, ९११ हिजरी का उल्लेख है। "तमाम सुदद पोथी अखरौती बजुबाने मलिक मुहम्द जायसी किताबे हिंदवी किताबुल मिल्क व कातिबे हुरूफ फकीर हकीर मोहम्मद मोकीन साकिन टप्पा नदानू उर्फ बकामू खास अमला परगना निजामाबाद व सरकारे जौनपुर सूबे इलाहाबाद बवक्ते जोहर जुमा जकी शहरे मुल्काद सन् ९११। दर मौजे खास दीया मुकाम कनौरा अमला परगना नेहू खसरा मस्तूर अस्त तहरीर याफ्त ज्यिदः गुफ्तार नविस्तन इजहार नीस्त।' डा० रामखेलावन पांडेय[3] का कथन है कि 'इलाहाबाद की प्रतिष्ठा ९८१ हि० में होती है। अतः यह प्रति ९८१ हि० के पूर्व की नहीं हो सकती।' उन्होंने इसके लिए और भी तर्क दिए हैं। यह सन् मूलतः मूल प्रति या उसकी किसी प्रतिलिपि का है जिसे लिपिकार ने ज्यों का त्यों स्वीकार करके उतार दिया है। अतः यह प्रति ९११ हि० की है, प्रतिलिपि कब की है यह ज्ञातव्य है। प्रो० अस्करी,[4] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल[5] और श्री गोपाल राय[6] इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'संभवतः' जिस मूल प्रति से यह प्रति लिखी गई थी, उसकी पुष्पिका में यह तिथि लिखी हुई थी, जिसे प्रतिलिपिकार ने ज्यों का त्यों उतार दिया

१-जा० ग्र० : डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १२८।१३
२-पदमावत-सार : इन्द्रचन्द्र नारंग, पृ० ३।
३-हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ० ३५९।
४-दी जर्नल आफ दी बिहार-रिसर्च सौसाइटी, भाग ३९, पृ० १९।
५-पदमावत : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राक्कथन, पृ० ३२।
६-ना० प्र० पत्रिका, अंक ३-४, सं० २०१६।

है। इन विद्वानों का विचार है कि मनेर शरीफ की इस प्रति के साक्ष्य पर 'अखरावट' का रचनाकाल ९११ हिजरी माना जा सकता है। अखरावट जायसी की प्रारम्भिक रचना है जिस भूकंप का जीवंत चित्र जायसी ने आखिरी कलाम में दिया है, और जिसे डा० कमलकुल श्रेष्ठ,[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी[2] आदि विद्वानों ने जायसी के जन्म के समय घटित मान लिया है—उससे भी स्पष्टत: सिद्ध हो जाता है कि जायसी कृत अखरावट का रचनाकाल ९११ हिजरी है।

'भा भूकंप जगत अकुलाना।' वाले भूकंप को इन विद्वानों ने जायसी के जन्म के समय में घटित कहा है। 'तारीखे–दाऊदी (अब्दुल्लाह) मखजनै–अफागिना (नियमतुल्लाह) और मुन्तखबुत्तवारीख[3] (बदायूनी) के अनुसार ९१०–११ हि० में उत्तर भारत में एक भयानक भूकंप हुआ था और कदाचित इससे इतनी हानि पहुंची थी कि इतिहासकारों ने भी जो इस प्रकार की घटनाओं पर विशेष ध्यान नहीं देते, इसका वर्णन किया है।'[4]

९११ हिजरी (सन् १५०५) में एक भंयकर भूकंप आगरे में आया था।[5] बाबरनामा[6] और अलबदायूनी[7] के 'मुन्तखबुत्तवारीख' से भी स्पष्ट है कि ९११ हिजरी में एक भूकंप आया था। यदि 'अखरावट' के भूकम्प-वर्णन को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय, तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे जायसी ने इसे स्वयं देखा हो। भूचाल का विस्तृत वर्णन इस बात का संकेत है कि जायसी ने उसे देखा और उसकी विकरालता का अनुभव किया था।[8] जायसी के जन्म के समय भूकम्प हुआ था या नहीं किन्तु यह स्पष्ट है कि अखरावट में जिस भूकम्प का उल्लेख है उसमें और ९१० हिजरी के आसपास आए हुए भूकम्प के उल्लेख में साम्य है। 'इससे यह बात प्रमाणित होती है कि

१–म० मु० जायसी : डा० कमलकुल श्रेष्ठ, पृ० ७।

२–सूफी काव्य सग्रह : पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०४।

३–दी जर्नल आफ दी बिहार रिसर्च सोसाइटी, भाग ३९, पृ० १९।

४–३ सफर सन् ९११ (६ जुलाई १५०५ ई०) को भूकंप आया था, आइने अकबरी, पृ० ४२१।

५–"दूसरे वर्ष १५०५ ई० में आगरा में एक भयंकर भूकंप आया था। इससे धरती कांप उठी थी और अनेकानेक सुन्दर इमारतें और मकान धराशायी हो गए थे।" डा० ईश्वरी प्रसाद : ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, पृ० २३२।

६–बाबर ने लिखा है–"तीसरी सफर को तैंतीस धक्के लगे और प्राय: एक मास तक दो तीन धक्के लगते रहे।" इलियट भाग ४, पृ० २१८।

७–मुंतखवुत्तवारीख (अल्बदायूनी) अंग्रेजी अनुवाद : रैंकिंग कृत, भाग १ पृ० ४२१।

८–हिन्दी अनुशीलन : गोपाल राय, पृ० ९।

'अखरावट' ९११ हिजरी में लिखा गया। अतः जायसी का जन्मकाल ९०० या ९०६ हिजरी मानना असंगत हो जाता है, क्योंकि ५ या ११ वर्ष की अवस्था में अखरावट जैसे सिद्धान्त-प्रधान ग्रंथ की रचना संभव नहीं है।"[1]

पूर्वांकित पंक्तियों में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रो० अस्करी, इन्द्रचन्द्र नारंग आदि के मतों का उल्लेख किया गया है कि ये विद्वान् 'नौ सदी' का अर्थ ८०१ हिजरी से ९०० हिजरी तक का समय लेते हैं अर्थात् इसी सदी (सौ वर्ष) के बीच किसी समय जायसी का 'अवतार' हुआ था।

पं० चन्द्रबली पांडेय[2] ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका में एक लेख लिखकर इसी दृष्टिकोण के अनुसार अपने मत की पुष्टि की थी। वे मानते हैं कि जायसी की जन्मतिथि ९वीं सदी में तीस वर्ष बीतने पर मानी जानी चाहिए अर्थात् ८३० हि० को जायसी का जन्मकाल मान लिया जाय तो उनकी उम्र ११९ वर्षों की ठहरती है। जायसी जैसे महान् संत के लिए यह अवस्था असम्भव नहीं है।

उक्त मत को मान लेने में एक भारी आपत्ति है। पदमावत का रचनाकाल १५४० ई० निःसंदिग्ध है। यदि पं० चन्द्रबला पांडेय के मतानुसार ८३० हिजरी को जायसी का जन्मकाल स्वीकार करें, तो इसका अर्थ हुआ कि पदमावत की रचना (९४७ हि०) के समय उनकी अवस्था ११७ वर्षों की थी अर्थात् जायसी ने ११७ वर्ष की अवस्था में इस ग्रंथ की रचना प्रारम्भ की। जायसी ने पदमावत में जिस स्वानुभूत वृद्धावस्था का वर्णन किया है वह सम्भवतः इसी अवस्था की वृद्धावस्था है (?) स्पष्ट ही यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। मनेर शरीफवाली प्रति के साक्ष्य पर विद्वानों का विचार है कि 'अखरावट' का रचनाकाल ९११ हिजरी है। ९११ हि० में से तीस हिजरी वर्ष घटाने पर ८८१ हिजरी आता है और अखरावट में कवि कहता है :—

'भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कबि बदी॥

तो स्पष्ट हो जाता है कि ८८१ हि० के लगभग ही जायसी का 'अवतार' हुआ था। इस गणना के अनुसार मृत्यु के समय जायसी की अवस्था लगभग ६८–७० वर्ष की थी। इस प्रकार ८८१ हि० (सन् १४७६ ई०) को जायसी की जन्म-तिथि मान लेने पर उनके जीवन की अन्य तिथियों की संगति आसानी से बैठ जाती है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि जायसी का जन्म ८८१ हिजरी (१४७६ ई०) में और मृत्यु लगभग ७० वर्ष की अवस्था में ४ रजब ९४९ हिजरी (१५४२ ई०) हुई थी।

१—वही। २—ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, पृ० ४१७।

जायसी गुरु–परम्परा

'मलिक मुहम्मद जायसी निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में थे। इस परम्परा की दो शाखाएं हुईं–एक मानिकपुर–कालपी की और दूसरी जायसी की। जायसी ने पहली शाखा के पीरों की परम्परा का उल्लेख करते हुए उनका स्तवन किया है। सूफी लोग निजामुद्दीन औलिया की मानिकपुर कालपी वाली परम्परा इस प्रकार बतलाते हैं :

शेख निजामुद्दीन औलिया (मृत्यु सन् १३२५ ई०, ७२५ हि०)
।
शेख सिराजुद्दीन
।
शेख अलाउल हक
।
(मानिकपुर–कालपी शाखा)
शेख कुतुब आलम (पंडोई के सन् १४१५)
।
शेख हसमुद्दीन (मानिकपुर)
।
सैयद राजे हामिदशाह
।
शेख दानियाल
।
शेख मुहम्मद
।
शेख अलहदाद
।
शेख बुरहान (कालपी)[1]
।
शेख महदी
।
मलिक मुहम्मद जायसी

(जायस शाखा)
जायस
।
सैयद अशरफ जहांगीर
।
शेख हाजी
।
शेख मुहम्मद या मुबारक — शेख कमाल

1–चित्ररेखा : सं० शिवसहाय पाठक, पृ० ७४।

'पदमावत और अखरावट दोनों में जायसी ने मानिकपुर–कालपी वाली गुरु परम्परा का उल्लेख विस्तार से किया है, इससे डा० ग्रियर्सन ने शेख मोहिदी को ही उनका दीक्षा-गुरु माना है।

रामचन्द्र शुक्ल[1] ने अनुमान लगाते हुए कहा था–'गुरुबन्दना से इस बात का ठीक-ठीक निश्चय नहीं होता कि वे मानिकपुर के मुहीउद्दीन के मुरीद थे अथवा जायस के सैयद अशरफ के। 'पदमावत में दोनों पीरों का उल्लेख इस प्रकार है—

'सैयद अशरफ पीर पियारा। जेहि मोहि पंथ दीन्ह उजियारा॥
गुरु मोहिदी खेवक मैं सेवा। चले उताइल जेहिकर खेवा॥

निजामुद्दीन औलिया की पूर्ववर्ती गुरु-परम्परा इस प्रकार है–

मुहम्मद
।
अली
।
इमाम हसन बसरी
।
अब्दुल वाहिद
।
ख्वाजा फुजैल बिन् अयाज
।
सुलतान इब्राहीम बिन अधम बख्शी
।
ख्वाजा आफिज अलमरशी
।
ख्वाजा हवेर अल् बसरी
।
ख्वाजा अलुव (अबू ?) ममशद
।
ख्वाजा बु-अम-इशाक शामी
।
ख्वाजा अबू अहमद अब्दाल चिश्ती
।
ख्वाजा मुहम्मद जाहिद मकबूल चिश्ती
।
ख्वाजा यूसुफ नासिरुद्दीन चिश्ती
।
ख्वाजा कुतुबुद्दीन मौदूद चिश्ती
।

१–जा० ग्र० : रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ० ९।

ख्वाजी हाज शरीफ जिन्दनी
|
ख्वाजा उसमान हरवनी
|
ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती
|
ख्वाजा कुतुबुद्दीन
|
शेख फरीदुद्दीन शकरगंज
|
हजरत निजामुद्दीन औलिया

'आखिरी कलाम' में केवल सैयद अशरफ जहांगीर का ही उल्लेख है। 'पीर' शब्द का प्रयोग भी सैयद अशरफ के नाम के पहले किया है और अपने को उनके घर का बन्दा कहा है, इससे हमारा (पं० रामचन्द्र शुक्ल का) अनुमान है कि उनके दीक्षा गुरु तो थे सैयद अशरफ, पर पीछे से उन्होंने मुहीउद्दीन की सेवा करके उनसे बहुत कुछ ज्ञानोपदेश और शिक्षा प्राप्त की। जायस वाले तो सैयद अशरफ के पोते मुबारक शाह बोदले को उनका गुरु बताते हैं, पर यह ठीक नहीं जंचता।[1]

शुक्ल जी ने जायसवाली गुरु-परम्परा में केवल चार नाम दिये हैं। जायस वाली परम्परा इस प्रकार है–

सैयद अशरफ जहांगीर
|
शाह अब्दुर्रज्जाक
|
शाह सैयद अहमद
|
शाह अब्दुर्रज्जाक
|
शाह सैयद हाजी
|
शाह जलाल (प्रथम)
|
शाह सैयद कमाल   शाह मुबारक बोदले

१–जा० ग्र० : पं० रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ० ९–१०।

यहां पर विद्वानों का ध्यान एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य की ओर आकृष्ट करना अपेक्षित है। शुक्लजी ने जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में उपर्युक्त बातें लिख दीं, तब से लेकर आजतक इस विषय के (प्राय: सभी) शोधकों ने शुक्लजी के ही वाक्यों को घुमाफिरा करके शोध के नाम पर प्रस्तुत किया है। क्या सचमुच सैयद अशरफ और मुहीउद्दीन दोनों जायसी के गुरु थे ? क्या मुबारक शाह बोदले भी जायसी के गुरु थे ? जायसी ने गुरु–विषयक क्या-क्या बातें लिखी हैं ?

ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि सैयद अशरफ एक महान् सूफी संत थे और उनकी मृत्यु ८०८ हिजरी में हुई थी।[1] जायसी का उनकी मृत्यु के काफी बाद में 'अवतार' हुआ था। जायसी ने उन्हें पूज्य 'पीर' माना है। उन्होंने पदमावत में ही अपनी गुरु-पम्परा और अपने गुरु की बात स्पष्ट रूप से लिख दी है–

'सैयद असरफ पीर पियारा। तिन्ह मोहिं पंथ दीन्ह उजियारा।'

'जहांगीर ओइ चिस्ती, निहकलंक जस चांद।
ओइ मखदूम जगत के हौं उन्हके घर बांद॥

वे सैयद अशरफ जहांगीर चिश्ती वंश के थे और चांद जैसे निष्कलंक थे। वे जगत् के मखदूम (स्वामी) थे और मैं उनके घर का सेवक हूं।

इससे स्पष्ट है कि जायसी स्वयं को उनके 'घर का सेवक' के रूप में मानते थे। वे आगे और लिखते हैं –

'उन्ह घर रतन एक निरमरा। हाजी सेख सभागइ भरा॥
तिन्ह घर दुइ दीपक उजियारे। पंथ देइ कहं दइअ संवारे॥
सेख मुबारक पूनिउं करा। सेख कमाल जगत निरमरा॥'[2]

मुहम्मद तहां निचिन्त पथ जेहि संग मुरसिद पीर।
जेहि रे नाव करिआ औ खेवक बेग पाव सो तीर॥[3]

उस सैयद अशरफ जहांगीर के घर में एक निर्मल रत्न 'हाजी शेख' हुआ जो सौभाग्य सम्पन्न था। उनके घर में मार्ग दिखलाने के लिए दो उज्ज्वल दीपक संवारे। एक शेख मुबारक जो पूनम की कला के समान था और दूसरा शेख कमाल जो संसार भर में निर्मल था। मलिक मुहम्मद का कथन है कि विश्व में जिसके संग में मुरशिद (गुरु) और पीर (संत) हों, वह मार्ग में निश्चिन्त रहता है। जिसकी नाव में पतवरिया और खिवैया दोनों हों वह शीघ्र तीर पर पहुँच जाता है।'

१–अखाबर उल अख्यार के अनुसार इनकी मृत्यु ८४० हि० में हुई।
दे० हिन्दी अनुशीलन : धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ० ३६८।
२–जा० ग्रं० : डा० माताप्रसाद गुप्त पृ० १३२
३–जायसी ग्रन्थावली : डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १३२, दो० १९

इतना लिखने के पश्चात् उन्होंने तुरन्त लिखा –

'गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिन्ह कर खेवा ।।
अगुआ भएउ सेख बुरहानू । पंथ लाइ जेहिं दीन्ह गियानू ।।
अलहदाद भल तिन्हकर गुरू। दीन दुनिअ रोसन सुरखुरू ।।
सैयद अहमद के ओइ चेला। सिद्ध पुरुष संग जेहिं खेला ।।
दानिआल गुरु पंथ लखाऐ। हजरति ख्वाज खिजिर तिन्ह पाए ।।
भए परसन ओहि हजरत ख्वाजे। लइ मेरए जंह सैयद राजे ।।
उन्ह सौ मैं पाई जब करनी। उघरी जीभ प्रेम कबि बरनी ।।
ओइ सौ गुरु हौं चेला निति बिनवौं भा चेर।
उन्ह हुति देखइ पावौं दरस गोसाई केर ।।'

गुरु 'मोहदी' खेनेवाले हैं। मैं उनका सेवक (शिष्य) हूं। उनका डांड़ शीघ्रता से चलता है। शेख बुरहान अगुआ (मार्ग दर्शक) हैं। उन्होंने मार्ग पर लाकर ज्ञान दिया। बुरहान् के गुरु अलहदाद थे, जो दीन-दुनियां में सुविदित तेजस्वी थे। वे सैयद मुहम्मद के शिष्य थे, जिनकी संगति में पहुंचे हुए लोग रहते थे। उन्हें गुरु दानियाल ने मार्ग दिखाया था। हजरत ख्वाजा खिज्र से कहीं उनकी भेंट हो गई थी। वे हजरत ख्याजा उनपर प्रसन्न हो गये और जहां सैयद राजे थे वहां ले जाकर मिला दिया। उन गुरु मुहीउद्दीन से जब मैंने कर्म की योग्यता पाई, तो मेरी जीभ खुल गई (वाणी फूट निकली) और वह प्रेम काव्य का वर्णन करने लगी।

'वे हमारे गुरु हैं, मैं उनका चेला हूं, मैं नित्य उनका सेवक बनकर उनकी बन्दना करता हूं। उनकी ही कृपा से मैं भगवान् के दर्शन पा सकूंगा।'

पदमावत के अनुसार जायसी द्वारा दी गई पीर-परम्परा और गुरु-परम्परा इस प्रकार है –

(१) पीर–पम्परा
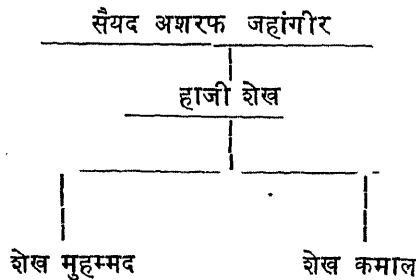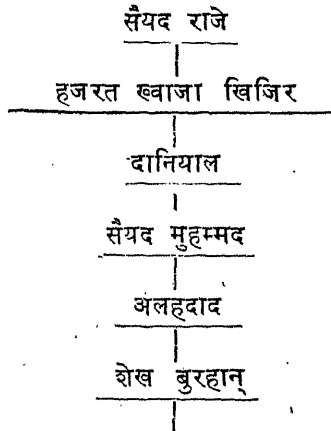
(२) गुरु—परम्परा

[मोहदी (मुहीउद्दीन 'मेहदी') ?]

'अखरावट' में वर्णित परम्परायें भी लगभग इसी प्रकार की हैं। अन्तर यह है कि प्रथम परम्परा में निजामुद्दीन चिश्ती और अशरफ जहांगीर को ही स्मरण किया है और गुरु महदी वाली दूसरी परम्परा हजरत ख्वाजा खिजिर तक ही है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी के दो तीन गुरु नहीं थे एक ही गुरु थे — गुरु मोहदी। यह कहना उन्होंने एक गुरु से दीक्षा ली और तत्पश्चात् दूसरे 'दूसरे 'गुरु से भी दीक्षा लेकर लाभ उठाया — निराधार है। जायसी ने अन्यत्र भी स्पष्ट लिखा है —

'महदी गुरू शेख बुरहानू। कालपि नगर तेहिंक अस्थानू।
सो मोरा गुरु, हौं तिन्ह चेला। धोवा पाप पानि सिर मेला॥"[1]

अतः स्पष्ट है कि इनके गुरु प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहदी थे।[2]

गुरु—परम्परा (निष्कर्ष)

भारतवर्ष में सूफी धर्म का प्रवेश ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुआ।[3] यह मूलतः चार सम्प्रदायों के रूप में आया जो समय-समय पर देश में प्रचारित हुए। उनके नाम और समय निम्नलिखित हैं —

(१) चिश्ती सम्प्रदाय — सन् बाहरवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध।
(२) सुहरावर्दी संम्प्रदाय — सन् तेरहवीं शताब्दी का पूर्वाद्ध।

१—चित्ररेखा : सं० शिवसहाय पाठक, पृ० ७४।
२—हिन्दी-साहित्य : डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० २६४।
३—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३०४।

(३) कादरी सम्प्रदाय – सन् पंद्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध।

(४) नक्शबंदी सम्प्रदाय – सन् सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध।

'आइने-अकबरी' में अबुल फजल[1] ने अपने समय में चौदह सूफी सम्प्रदायों का उल्लेख किया है – चिश्ती, सुहरावर्दी, हबीजी, तूफूरी करर्वी, सकती, जुनेदी, काजरूनी, तूसी, फिरदौसी, जैदी, इयादी, अधमी और हुबेरी। इनकी भी अनेक शाखायें फैलीं। भारतीय सूफी सम्प्रदायों में चिश्ती सम्प्रदायों को बड़ी ख्याति मिली है। 'इसके पश्चात् कादरी, सुहरावर्दी, सत्तारी और नक्शबंदी सम्प्रदाय भी अत्यन्त प्रसिद्ध सम्प्रदाय रहे हैं।'[2]

चिश्तिया[3] सम्प्रदाय के मूल संस्थापक अदब अब्दुल्ला चिश्ती बारहवीं शती के अन्त में भारत आए और अजमेर में रहने लगे। इन्हीं की शिष्य परम्परा में निजामुद्दीन औलिया हुए। निजामुद्दीन की शिष्य-परम्परा में शेख अलाउल हक हुए। उन्हीं से अलाई चिश्तियों की एक शाखा मानिकपुर में स्थापित हुई। इसके आरम्भ-कर्ता शेख हिशामुद्दीन थे, जिनकी मृत्यु १४४९ ई० (८५३ हिजरी) में हुई। उनके शिष्य सैयद राजे हामिदशाह अपने पीर की आज्ञा से जौनपुर में आ बसे थे, किन्तु फिर मानिकपुर लौट गये। वहीं १४९५ ई० (९०१ हि०) में उनका देहान्त हुआ। इनके शिष्य शेख दानियाल हुए जो 'खिज्री' विरुद से प्रसिद्ध थे। कहा जाता है कि हजरत ख्वाजा खिज्र से उनकी भेंट हो गई थी जिनसे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। दानियाल सुलतान हुसैन शर्की (८६२-८४ हि०) के राज्यकाल में जौनपुर में बसे थे। उनके अनेक शिष्यों में एक सैयद मुहम्मद हुए, जिन्होंने 'महदी' होने का दावा किया और वे अपने शिष्यों में महदी नाम से ही विख्यात हो गए। बदायूनी ने भी जौनपुर के सैयद मोहम्मद महदी का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है इनकी मृत्यु १५०४ ई० में हुई। इनके शिष्य शेख अलहदाद हुए और अलहदाद के शेख बुरहान उद्दीन अन्सारी हुए, जिन्हें जायसी ने 'शेख बुरहानू' कहा है। शुक्लजी ने बुरहान के शिष्य-रूप में शेख मोहिदी या मुहीउद्दीन का उल्लेख किया है। श्री हसन असकरी ने सिद्ध किया है कि मोहदी या मुहीउद्दीन कोई अलग व्यक्ति न थे, बल्कि सैयद मोहम्मद की ही संज्ञा महदी थी।

'अखरावट' और मनेर शरीफ की प्रतियों का पाठ महदी ही है–

"गुरु महदी खेवक में सेवा।" २०।१

"चले उताइल महदी खेवा" अखरावट २७।५

१–ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री आफ सूफीज्म : आर्थर जे० आरबेरी (इन्ट्रोडक्शन) पृ० ७-८।

२–आउटलाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर, वाल्यूम २; ए० एम० ए० शुस्तरी, पृ० ५४६

३–पदमावत; डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राक्कथन, पृ० ३७।

"चित्ररेखा" में भी जायसी ने महदी या महदीं गुरु का उल्लेख किया है—

महदी गुरू शेख बुरहान् ।" चित्ररेखा, पृ० ७४।१

"पा पाएउ महदी गुरु मीठा। मिला पंथमहं दरसन दीठा ॥" (छं० २७)

चित्ररेखा की नवोपलब्धि से जायसी-विषयक नवीन तथ्यों की उपलब्धि होता है। "जायसी के गुरु कौन थे ?" इस विषय को लेकर हिन्दी के अनेक विद्वानों ने बड़ी दूर की कौड़ी लाने के प्रयत्न किये हैं। चित्ररेखा से यह निःसंदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाता है कि जायसी के वास्तविक गुरु निःसंदिग्ध रूप से कालपी वाले मुहीउद्दीन-महदीं थे ।[1]

महदी गुरू सेख बुरहानू । कालपि नगर तेहिंक अस्थानू ॥
मक्कइ चौथहि कहि जस लागा। जिन्ह वै हुए पाप तिन्ह भागा ॥
सो मोरा गुरू तिन्ह हौं चेला। धोवा पाप पानि सिर मेला ॥
पेम पियाला पंथ लखावा । आपु चाखि मोहिं बूंद चखावा ॥[2]

हमें चित्ररेखा के प्रस्तुत उद्धरण से अत्यन्त स्पष्ट रूप से जायसी के गुरु के सम्बन्ध में प्रचलित विवाद का पूर्ण समाधान मिल जाता है ।

"यह अवश्य सत्य है कि जायसी ने सैयद अशरफ, जहाँगीर की पीर-परम्परा का भी उल्लेख किया है। यह फैजाबाद जिले में कछोछा के चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी महात्मा थे। ये आठवीं शती हिजरी के अन्त और नवमी शती के आरम्भ में जायसी से बहुत पहिले हुए थे।[3] जायसी उनके घराने के बड़े श्रद्धालु भक्त थे।"

जायसी के ग्रन्थों से स्पष्ट है कि उनके हृदय में सैयद अशरफ जहाँगार के प्रति अपार श्रद्धा थी। पदमावत,[4] अखरावट,[5] आखिरी कलाम[6] और चित्ररेखा[7] चारो ग्रंथों में उन्होंने उनका उल्लेख किया है।

ए० जी० शिरेफ[8] ने अशरफ जहाँगीर चिश्ती को शेख निजामुद्दीन औलिया

१—चित्ररेखा-:एक बोल, आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १०।

२—चित्ररेखा : सं० शिवसहाय पाठक, पृ० ७४।

३—"सैयद अशरफ की मृत्यु के विषय में दो सन् दिये गये हें। एक ८४० हि० अखब्रार उल अख्यार। राजपूताना गजेटियर के अनुसार उनकी मृत्यु ८०८ हि० में हुई।

४—सैयद असरफ पीर पियारा। पदमावत, स्तुति खंड, १।१८।

५—'उधरित असरफ औ जहंगीरू ।' अखरावट, दो० २६।

६—आखिरी कलाम, ६।१०२ ७—चित्ररेखा ।

८—पदमावत का अंग्रेजी अनुवाद : ए० जी० शिरेफ, पृ० १७।

की चौथी पीढ़ी में और शेख अलाउल हक का शिष्य कहा है। राजपूताना गजेटियर के अनुसार सैयद अशरफ की मृत्यु कछोछा नामक स्थान पर हुई थी, जहाँ उनकी समाधि है। कहा जाता है कि उन्होंने जौनपुर को ही अपना स्थान बनाया था।

डा० कमलकुल श्रेष्ठ ने एक और भ्रम की उद्भावना की है। उनका कथन है कि जायसी के गुरु शेख मुबारक थे। उन्होंने प्रमाण दिया है कि अन्त:साक्ष्य में 'हौं उन्हके घरबाँद' कहा गया है। शेख मुबारक के पश्चात् शेख कमाल का उल्लेख है। इस प्रकार यदि ऐसा ही अर्थ लेना हो, तो शेख कमाल जायसी के गुरु हुए, मुबारक नहीं।

कहा जा चुका है कि सैयद अशरफ जायसी के प्यारे पीर थे। जायसी ने गुरु को खेवक और पीर को पतवरिया या 'करिया' कहा है।

अपने गुरु के विषय में उन्होंने लिखा है–

'पा पाएउं महदी गुरु मीठा। मिला पंथ महं दरसन दीठा॥' अखरावट।

'गुरु मोहदी खेवक में सेवा। चलै उताइल जिन्हकर खेवा॥
अगुआ भएउ सेख बुरहानू। पंथ लाइ जेहिं दीन्ह गियानू॥

पदमावत, १।२०

'अखरावट' वाले पाठ का सीधा अर्थ है कि गुरु महदी अर्थात् ईश्वर का संदेश-वाहक है और उस खेवक जीवन-नैया के खेने वाले का मैं सेवक हूँ। उस सेवक का नाम 'शेख बुरहान' है और मैंने कालपी को गुरुस्थान बनाया है (अर्थात् कालपी नगर मेरा गुरु-स्थान है)। डा० रामखेलावन जी का कथन है कि यहाँ गुरु को महदीं कहा गया है और इसमें न तो मोहिउद्दीन चिश्ती के संकेत हैं और न पीर सैयद मुहम्मद से तात्पर्य। जायसी के अगुआ अर्थात् पथ-प्रदर्शक हैं शेख बुरहान।[1] 'अखरावट' और 'चित्ररेखा' में यह कथन स्पष्ट है–

'नांव पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरु थानू॥ अखरावट।
महदी गुरू सेख बुरहानू। कालपि नगर तेहिक अस्थानू॥ चित्ररेखा।

''बदाऊनी के अनुसार बुरहान बारी के मियाँ अलहदाद के सम्पर्क में रहे, जो मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी थे। प्रो० अस्करी को फुलवारी शरीफ,के खानकाह में अरिल्ल छन्द में कुछ रचनायें मिली हैं। बदाऊनी को इनकी रचनाओं में ईश्वर-प्रेम, उपदेशादेश, वैराग्य, सूफीमत-प्रतिपादन और ईश्वर-प्राप्ति के लिए आत्मा की व्याकुलता का वर्णन मिला था।[2] सन् ९६७ हिजरी में बदाऊनी ने इनका साक्षात्कार किया था और उसके साक्ष्यानुसार उनकी

१–डा० रामखेलावन पाण्डेय, हिन्दी अनुशीलन, पृ० ३७२।
२–बदाऊनी, भाग ३, पृ० १२, हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक पृ०३७२।

मृत्यु सन् ९७० हि० में (१५६२–६३ ई० में) प्राय: सौ वर्षों की आयु में हुई।[1] इस प्रकार उनका जन्म ८७० हिजरी के आसपास ठहरता है। उन्होंने कालपी में अपना निवास-स्थान बनवाया था। मृत्यु के अनन्तर वहीं इन्हें समाधि दे दी गई। आइने-अकबरी में भी इन्हें कालपी-निवासी कहा गया है।[2] 'तबकाते अकबरी में इन्हें 'काली वाल' कहा गया है जो लिपिकार का प्रमाद है। इनका पूरा नाम था शेख इब्राहीम दरवेश बुरहान। डा० रामखेलावन पांडेय ने ग्रेंड कार्ड लाइन पर 'सैयदराजे' नामक स्टेशन के समीपवर्ती ग्राम में किसी सैयद रजा की छोटी-सी दरगाह का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि सैयद रजा या राजू से जायसी सम्बद्ध थे। डाक्टर साहब को कोई ऐसी जनश्रुति भी उस ग्राम में मिली है उनका कथन है कि 'जायसी का जन्मस्थान जायस नहीं है। सासाराम में उनका जन्म हुआ था और वे शेरशाह के बाल सहचर थे। इनका वास्तविक नाम था मियां मुहम्मद। पीछे चलकर शेख की उपाधि से विभूषित हुए। हाजी शेख के एक शिष्य का नाम था शेख मियां मुहम्मद। 'वह हुसेनशाह जौनपुरी का प्रियपात्र था, शेख हाजी की इस व्यक्ति पर पुत्रवत् ममता थी। शेख हाजी की मृत्यु ९७९ हिजरी में हुई। बदाऊनी और मियां मुहम्मद का साक्षात्कार बारी में ९७४ हिजरी में हुआ था। बदाऊनी ने शेख मुहम्मद की कवित्व शक्ति, प्रतिभा और धार्मिक प्रवृत्ति का सविस्तार उल्लेख किया है। शेख हाजी के परिवार में इनके विवाह होने की संभावना है और 'तहां दिवस दस पहुने आएउ'' में इसके संकेत देखे जा सकते हैं। शेख मुबारक के पाठान्तर रूप में मुहम्मद भी मिला है। इस प्रकार शेख मुहम्मद और मलिक मुहम्मद में अभिन्नता मिलती है। जायसी की मृत्यु ९४९ हिजरी में नहीं हुई। सन् ९७४ हिजरी तक उनका जीवित रहना संभव है। जायसी ने दीर्घायु प्राप्त की थी और अत्यन्त वृद्धावस्था में उनकी मृत्यु हुई।[4]

शेख मुहम्मद और मलिक मुहम्मद जायसी की अभिन्नता यदि ठीक होती तो बहुत ही उत्तम होता, पर यह बादरायण सम्बन्ध ठीक नहीं है। पहली बात तो यह कि पांडेय जी के ही शब्दों में बदाऊनी के बहुत से लेख प्रामाणिक नहीं है दूसरे जायसी ने ९४० हि० में पदमावत लिखकर ख्याति प्राप्त की थी। यदि अल्बदायूनी ९७४ हि० में शेखमियां मुहम्मद से मिला था और वह भी 'बारी' में तो उसने पदमावत, अखरावट, आखिरी कलाम आदि ग्रंथों का नाम क्यों नहीं लिखा? यदि मियां मुहम्मद ही मलिक मुहम्मद जायसी होते तो अल्बदायूनी अवश्य ही उनके 'पदमावत' का उल्लेख करता, शेरशाह द्वारा प्राप्त उनकी प्रतिष्ठा का भी उल्लेख करता। वास्तविकता यह है कि ये कोई दूसरे शेख मियां हैं जायसी नहीं। वे शेर-

---

१–हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक   २–वही,
३–वही, पृ० ३७७   ४–वही, पृ० ३७७-७८

शाह के 'बाल-सहचर' थे, यह बात भी ठीक नहीं प्रतीत होती जो कवि शेरशाह को बुजुर्ग की तरह आशीर्वाद दे (दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहिं जुग राज, बादशाह तुम जगत के जग तुम्हार मुहताज) सकता हो, जो शेरशाह की प्रशंसा के पुल बांध सकता हो, और यदि वह उसका बाल-सहचर होता, तो इस बात का उल्लेख कवि ने अवश्यमेव किया होता। जहाँ तक 'शेख हाजी के परिवार में जायसी के विवाह होने की बात है, उसका कोई भी प्रमाण नहीं है। वे सासाराम से ही जायस में दस दिन के लिए पाहुन बनकर आए यह बात भी निराधार है। इस प्रकार स्पष्ट है कि बिना सुदृढ़ प्रमाणों के शेख मियां और मलिक मियां की अभिन्नता ठीक नहीं है। जायसी सासाराम से आए थे और शेरशाह के बाल्य-सहचर थे वाली बातें प्रमाणों और आधारों के अभाव में स्वीकार्य नहीं हैं। जायसी की शादी की 'शेख हाजी' के परिवार में संभावना वाली बात भी संभावना ही है। और जब अलबदायूनी से मिलने वाले शेख मियां और मलिक मुहम्मद दो व्यक्ति थे, दोनों में अभिन्नता नहीं है, तो ९७४ हि० में जायसी के वर्तमान होने की बात भी आधारहीन हो जाती है।[1]

इस प्रकार डा० रामखेलावन पांडेय जी के मत तर्कहीन, संभावनाओं पर आधारित होने के कारण स्वीकार्य नहीं हैं।

१—हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ० ३७३।

३

जायसी के काव्य की सामान्य रूपरेखा

गार्सां द तासी,[१] पं० रामचन्द्र शुक्ल,[२] पं० चन्द्रबली पाण्डेय,[३] सैयद आले मोहम्मद,[४] सैयद कल्बे मुस्तफा,[५] प्रो० हसन अस्करी[६] प्रभृति विद्वानों की शोधों, अन्यान्य शोधकों,[७] खोज रिपोर्टों[८] एवं सूचनाओं के साक्ष्य पर हमें जायसी की निम्न-लिखित कृतियों के नाम मिलते हैं—

१—पदमावत	२—अखरावट
३—सखरावत	४—चंपावत
५—इतरावत	६—मटकावत
७—चित्रावत	८—खुर्वानामा
९—मोराईनामा	१०—मुकहरानामा
११—मुखरानामा	१२—पोस्तीनामा
१३—होलीनामा	१४—आखिरी कलाम[९]

१—इस्त्वार दी ल लितौरैत्यूर ऐंदूई ऐं ऐंदुस्तानी—गार्सां द तासी, भाग २, पृ० ६८, १८७० ।

२—जायसी ग्रन्थावली, ना० प्र० सभा, द्वि० सं० १९३५ ।

३—ना० प्र० पत्रिका (पं० चन्द्रबली पाण्डेय का लेख) भाग १४ ।

४—ना० प्र० पत्रिका (श्री सैयद आले मोहम्मद), वर्ष ४५, १९९७, पृ० ५७ ।

५—मलिक मुहम्मद जायसी : सैयद कल्बे मुस्तफा, पृ० ८३ और १६४–६५–६६ ।

६—जर्नल आफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी, भाग ३९, पृ० १२ ।

७—ना० प्र० (सभा) पत्रिका, भाग १४, पृ० ४१८ ।

८—ना० प्र० सभा, खोज रिपोर्ट, १९४७ ।

९—ग्रन्थ संख्या १ 'पदमावत' से लेकर संख्या १४ आखिरी कलाम तक चौदह ग्रन्थों के नाम श्री सैयद आले मोहम्मद ने गिनाए हैं । उनके अनुसार 'जायसीकृत यही १४ ग्रन्थ हैं । देखिए, ना० प्र० प०, वर्ष १९९७, पृ० ५७ ।

१५—घनावत[1]　　१६—सोरठ[2]
१७—जपजी[3]　　१८—मैनावत[4]
१९—मेखरावटनामा[5]　　२०—कहारनामा[6]
२१—स्फुट कवितायें[7]　　२२—लहतावत[8]
२३—सकरानामा[9]　　२४—मसला[10] या मसलानामा

पदमावत के आज अनेक प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल की जायसी ग्रन्थावली (१९३५ ई०) के अन्तर्गत पदमावत, 'अखरावट' और आखिरी कलाम मुद्रित हुए हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त को जायसी का नया ग्रन्थ मिला था, जिसे बाईस छन्दों में होने के कारण 'महरी बाईसी' नाम से उन्होंने अपने (जा० ग्र० के) संस्करण में प्रकाशित किया है। वस्तुतः इस ग्रन्थ का नाम कहरानामा या 'कहरानामा है, जैसा कि इसकी कई हस्तलिखित प्रतियों से अब ज्ञात हो गया है। रामपुर राजकीय पुस्तकालय की पदमावत की प्रति के अन्त में 'कहारानामा' की भी अति सुलिखित प्रति उपलब्ध हुई है। १९५९ ई० में प्रस्तुत विद्यार्थी ने दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'चित्ररेखा' का सम्पादन प्रकाशन किया था। प्रस्तुत विद्यार्थी को 'मसला' की भा एक खण्डित प्रति मिली है, प्रस्तुत प्रबन्ध के 'परिशिष्ट' में 'मसला' को टंकित रूप में दिया गया है। कहरानामा या 'कहारनामा' ही आले मुहम्मद की सूची का 'मुकहरानामा' और 'मुखरानामा' ज्ञात होता है। 'पोस्तीनामा' के विषय में जनश्रुति है कि जायसी के गुरु स्वयं अमल करते थे। जायसी ने उन्हें ही दृष्टि में रखकर यह ग्रन्थ लिखा था। इसमें उन्होंने अफीमचियों पर व्यंग किया था। जब जायसी ने इसे अपने गुरु को सुनाया, तो वे क्रोधित हो गए। उन्होंने शाप दिया कि तुम्हारे सातो बच्चे छत गिरने से मर जायेंगे। पश्चात् पीर ने इतना और कहा कि लड़के तो नहीं बच सकते, पर

१—इस्त्वार दी ल लितौरैत्यूर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी, गार्सां द तासी, पृ० ६८।
२—वही, पृ० ६८।　　३—वही, पृ० ६९।
४—जा० ग्र०, ना० प्र० सभा पं० रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ० १६।
५—ना० प्र० प०, भाग १४, पृ० ४१८।　　६—वही, पृ० ४१८।
७—द्रष्टव्य 'मलिक मुहम्मद जायसी' : सैयद कल्बे मुस्तफा, पृ० १६४।
८—जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसाइटी, भाग ३९, पृ० १२।
९—वही।
१०—ना० प्र० सभा, खोज-रिपोर्ट १९४७ तथा ना० प्र० सभा, हस्तलिपि ग्रन्थों की सूची में म० मु० जायसी कृत 'अखरावट' और 'मसला' पृ० २५–२६ (हस्तलिखित प्रति)

तुम्हारा नाम तुम्हारे १४ ग्रन्थों से चलेगा ।[1] अंत में ऐसा ही हुआ । ये चौदह ग्रन्थ ऊपर दी हुई सूची के प्रथम चौदह ग्रन्थ हैं । 'पोस्तीनामा' की कुछ पंक्तियाँ मिलती हैं, जैसे–

'जब पुस्ती मां लागै पात । पुस्ती बूदे नौ-नौ हात ।।
जब पुस्ती मां लामै फूल । तब पुस्ती मटकावै कूल ।।'[2]

पं० रामचन्द्र शुक्ल[3] ने जायस में प्राप्त जनश्रुति के आधार पर लिखा है कि जायसी ने 'नैनावत' नाम की एक प्रेम कहानी भी लिखी थी । सम्भव है 'नैनावत' में रानी नैनावती की प्रेम कहानी लिखी गई है ।

जायसी के पदमावत में दोहा १८३–१८६ तक का वर्णन अलग कर दिया जाय, तो वह 'होलीनामा' के ढंग की कृति हो जाती है । गार्साँद तासी ने लिखा है कि सोरठ और जपजी की प्रतियाँ बंगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी में हैं और घनावत की प्रति डा० स्प्रेंगर के पास है । जायसी की रचनाओं के विषय में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल[5] का कथन उल्लेखनीय है । सम्भव है आगे की खोज में इन ग्रन्थों पर कुछ प्रकाश पड़े । वस्तुतः उस युग की यह पद्धति थी कि महाकवि मुख्य ग्रन्थ के अतिरिक्त लोक में प्रचलित विविध काव्य-रूपों पर भी प्रायः कुछ लिखा करते थे । कबीर कृत कहरानामा और वसंत एवं चांचर पर फुटकर कविता बीजक में संगृहीत हैं । तुलसी के बरवै रामायण, नहछू और मंगल काव्य साहित्य के लोक रूपों की पूर्ति के रूप में लिखे गये थे । 'मुसलमानी धर्म के विविध अंगों पर काव्य लिखने की परम्परा जायसी से शुरू होकर बाद तक चलती रही । आखिरी कलाम में जायसी ने कयामत के दिन का चित्र स्वधर्मानुयायियों के लिये प्रस्तुत किया था । रीवां के जहूर अलीशाह ने तवल्लुदनामा नामक अवधी काव्य में मुहम्मद साहब का जीवन चरित्र लिखा । अब्दुल समद के किसी भागलपुरी शिष्य ने सं० १८१० में मेराजनामा नामक अवधी काव्य में स्वर्ग का पूरा वर्णन किया है । किन्तु काव्य-गुणों की दृष्टि से इन रचनाओं का विशेष महत्व नहीं है ।

अखरावट

अभी तक मुख्य रूप से 'अखरावट' के दो सम्पादित रूप हिन्दी-जगत के समक्ष आए हैं–

१–ना० प्र० पत्रिका, भाग २१, वर्ष ४५ पृ० ४७ ।
२–म० मु० जायसी : सैयद कल्बे मुस्तफा, पृ० १६४ ।
३–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, भूमिका, पृ० १६ ।
४–इस्त्वार दी ल लितरैत्यूर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी, गार्साँदतासी, पृ० ६८–६९ ।
५–डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पदमावत, प्राक्कथन, पृ० ३२ ।

(१) 'जायसी ग्रन्थावली' के अन्तर्गत संपादित (पं रामचन्द्र शुक्ल द्वारा) अखरावट : सं० १९८१ वि० ।

(२) जायसी ग्रन्थावली के अन्तर्गत सम्पादित-प्रकाशित (डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा) सं २००८ वि ।

इन दोनों सँपादकों के विषय में डा० माताप्रसाद गुप्त[1] ने लिखा है— "इस ग्रन्थावली में सम्मिलित 'अखरावट' का पाठ अन्य प्रतियों के अभाव में पहिले पं० रामचन्द्र शुक्ल के संस्करण के अनुसार रखा गया था, किन्तु संयोग से 'अखरावट' की छपाई प्रारम्भ हो जाने पर उसकी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति प्रान्तीय सेक्रेटरियट के अनुवाद- विभाग के विशेष कार्याधिकारी श्री गोपालचन्द्र सिंह जी से मिल गई। इस प्रति का पाठ शुक्लजी द्वारा दिये गये पाठ की अपेक्षा अधिक संतोषजनक प्रतीत हुआ। किन्तु छपाई आरम्भ हो जाने के कारण उसका इससे अधिक उपयोग नहीं किया जा सका कि ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट जोड़कर इस प्रति का पाठांतर मात्र दे दिया जाय।"

शुक्लजी ने यह नहीं लिखा है कि किस मूल प्रति के आधार पर उन्होंने 'अखरावट' का संपादन किया। डा० माताप्रसाद गुप्त ने भी शुक्ल जा द्वारा दिये गये पाठ को ही अपने संपादन में स्थान दिया है। उन्होंने श्री गोपाल चन्द्र सिंह द्वारा प्रदत्त 'अखरावट' की एक प्राचीन प्रति के पाठान्तर भी आठ पृष्ठों में दिये हैं।

प्रो० श्री हसन अस्करी[2] के प्रयत्न से विहार में मनेर शरीफ के खानकाह पुस्तकालय की फारसी लिपि में लिखित अखरावट की एक प्रति मिली है। उनके मत से यह प्रति सत्रहवीं शती में शाहजहां के समय में लिखी गई थी।

१९५९ ई० में प्रस्तुत विद्यार्थी को नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में 'अखरावट' की एक प्रति नागरी लिपि में लिखी हुई मिली। यह प्रति प्राचीन है और किसी 'शीतलदास' जी द्वारा नागरी लिपि में लिखित है। अखरावट का नाम उन्होंने 'अखरावती' दिया है और इसकी पुष्पिका में लिखा है– "लिषा है सीतलदास महम्मद कृत अखरावती ग्रन्थ केर एह नाम।"[3]

१–जायसी ग्रन्थावली : डा० माताप्रसाद गुप्त, वक्तव्य, पृ० १।

२–द्रष्टव्य–जर्नल आफ विहार रिसर्च सोसाइटी, भाग ३९, १९५३ (प्रो० अस्करी ए न्युली डिसकवर्ड वाल्यूम आफ अवधी वर्क्स इनक्लूडिंग पदमावत एण्ड अखरावट आफ म० मु० जायसी)।

३–ना०प्र० सभा, काशी, हस्तलेख–विभाग, अखरावट और मसला की प्रति, पृ० २५।

जायस क्षेत्र के सेमरौता जू० हाई स्कूल के प्रधान अध्यापक श्री त्रिभुवन प्रसाद त्रिपाठी के पास एक हस्तलिखित 'जायसी ग्रन्थावली' है। इसमें नागराक्षरों में लिखित 'अखरावट' की भी एक प्रति है। जायस के ही मौलवी 'वसी नकवी' के पास भी एक 'जा० ग्र०' है। इसमें भी 'अखरावट' की नागराक्षरों में लिखित एक प्रति है।

डा० कमल कुल श्रेष्ठ की निराधार कल्पना

अखरावट जायसी कृत एक सिद्धान्त प्रधान ग्रन्थ है। पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० माताप्रसाद गुप्त के सम्पादनों के अनुसार इस काव्य में कुल ५४ दोहें, ५४ सोरठे और ३७१ अर्द्धालिया हैं। इसमें दोहा, चौपाई और सोरठा छन्दों का प्रयोग हुआ है। एक दोहा पुन: एक सोरठा और पुन: ७ अर्द्धालियों के क्रम का निर्वाह आदि से लेकर अन्त तक किया गया है। विषय की दृष्टि से इस काव्य को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों में बांटा जा सकता है–(१) पूर्वार्द्ध-प्रारम्भ से लेकर अन्तिमाक्षर 'न' (ञ) के पश्चात् और (२) उत्तरार्द्ध–गुरु-चेला संवाद–जो ४४वें सोरठे के पश्चात् प्रारम्भ होता है और अंत तक चलता है। गुरु-चेला संवाद के विषय में डा० कमलकुलश्रेष्ठ,[1] का अनुमान है कि 'संभव है कि यह जायसी की कहीं पर अलग स्फुट रचना किसी को मिली हो, उसने बाद में इसे पद्मावत या 'आखिरी' कलाम' में न जम सकने के कारण इसमें जोड़ दिया हो। "कई अन्य लोग[2] भी इस मत का समर्थन करते हैं। परन्तु अभी तक अखरावट की जो भी हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हुई हैं, उनसे स्पष्ट है कि यह बात निराधार एवं कोरी कल्पना मात्र है।

अखरावट का रचनाकाल

जायसी ने इस ग्रन्थ में रचना से सम्बद्ध तिथि-निर्देश नहीं किया है। सैयद कल्बे मुस्तफा का कथन है कि यह जायसी की अन्तिम रचना है–अल्फाज का इन्तिखाव" जुबान की खानिगी, वन्दिश की चुस्ती पता देती है कि यह नजम शायर जायसी के दौर आखिर का नतीजा है। इसके यह करायन हैं कि अखरावट पदमावत के बाद तशनीफ हुई है।"[3] कुछ लोग इन्हीं के मत का समर्थन करते हुए तर्क उपस्थित करते हैं कि 'इस काव्य में छन्दगत दोष न्यूनतम हैं। दोहे चौपाइयों में माधुर्य भी अधिक है और भाषा भी अधिक सुस्थिर और व्यवस्थित है। कवि ने

१–म०मु० जायसी : डा० कमल कुल श्रेष्ठ, पृ० ४९।

२–सूफी महाकवि जायसी : डा० जयदेव, पृ० १३८।

३–मलिक मुहम्मद जायसी : सैयद कल्बे मुस्तफा, पृ० १६०।

एक नवीन छन्द सोरठे का भी सफल प्रयोग किया है। कुछ सोरठों के चारो चरणों 'की' तुकों में साम्य है, जिससे यह छन्द विशेष श्रुतिमधुर बन गए हैं। "प्रायः यह भी देखा जाता है कि कवि अपनी वैयक्तिक भावनाओं का स्पष्टीकरण अन्त में ही करते हैं, यद्यपि उनका यत्र-तत्र समावेश तो उनकी समस्त रचनाओं में व्याप्त रहता है। इसी प्रकार की रचना 'अखरावट' है। जनश्रुति के आधार पर शैली की प्रौढ़ता एवं विशदता के समर्थन से तथा अध्यात्मिकता के विशेष झुकाव के कारण हम[1] (डा० जयदेव) इस काव्य को पदमावत के बाद की ही रचना मानते हैं। ए० जी० शिरेफ[2] ने लिखा है कि अखरावट की रचना अमेठी के राजा के कहने पर हुई थी। राजा का जायसी से परिचय पदमावत के द्वारा हुआ था। अतः अखरावट पदमावत के बाद की ही रचना ठहरती है।"

ध्यानपूर्वक विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अखरावट की रचना-तिथि से सम्बद्ध ऊपर दी हुई समस्त बातें पुष्ट प्रमाणों से रहित एवं अनुमानमात्र हैं। 'जनश्रुति' का कोई प्रमाण नहीं मिलता। "शैली की प्रौढ़ता एवं विशदता" की दृष्टि से पदमावत को अखरावट से हीन कोटि का मानना समीचीन नहीं है। 'वैयक्तिक भावनाओं का स्पष्टीकरण कवि, अन्त में ही 'नहीं, अपितु कभी भी कर सकते हैं। इस सिलसिले में अखरावट की निम्नलिखित चौपाई भी उद्धृत की जाती है—"कहा मुहम्मद पेम कहानी। सुनि सो ज्ञानी भए धियानी॥"[3] और अर्थ लगाया गया है कि "वह कौन सी कहानी है जिसको सुन कर ज्ञानी लोग भी परम प्रिय के प्रेम में ध्यानावस्थित हो जाते हैं। निश्चय ही जायसी की वह प्रेम कहानी 'पदमावत' है। इस प्रकार 'अखरावट' पदमावत के पीछे की रचना है।[4] "जायसी की प्रस्तुत चौपाई के 'प्रेम कहानी' का पदमावत से संबन्ध जोड़ना बादरायण सम्बन्ध से भी महान् आकाश कुसुमत्व की बात है। वस्तुतः 'कहा मुहम्मद पेम कहानी' का सम्बन्ध और अर्थ इन्हीं पंक्तियों के पूर्व और पश्चात् मिल जाता है। यह 'प्रेम कहानी' तो वहीं पर दी गई है—

तसमा दुइ एक साथ, मुहम्मद एको जानिए॥
कहा मुहम्मद पेम कहानी। सुनि सो ज्ञानी भए धियानी॥
चेलैं समुझि गुरू सो पूछा। देखहु निरखि भरा औ छूंछा॥
कैसे आपु बीच सो मेटे। कैसे आप हेराइ सो भेटैं॥

१—सूफी महाकवि जायसी : डा० जयदेव, १३५—१३६।
२—पदुमावती, भूमिका, पृ० ५।
३— जा०ग्र०, ना० प्र० सभा, ।
४—सूफी महाकवि जायसी, डा० जयदेव, पृ० १३६।

जौ लहि आपु न जीयत मरई। हंसै दूरि सौं बात न करई॥
सो तौ आपु हेरान है, तन मन जीवन खोइ।
चेला पूछै गुरू कहं तेहि कस अगरे होइ॥"
नव रस गुरु पहं भीज, गुरु परसाद सो पिउ मिलै ॥४६॥

वस्तुत: 'कहा मुहम्मद पेम कहानी' की बात वहीं पर और स्पष्ट कर दी गई है–

कहा न अहै अकथ भा रहई। बिना विचार समुझि का परई॥
सो हं सो हं बसि जो करई। जो बूझै सो धीरज धरई॥
कहै प्रेम कै बरनि कहानी। जो बूझै को सिद्ध गियानी॥[१]

स्पष्ट है कि 'कहा मुहम्मद पेम कहानी' का अर्थ 'सोहं' वाली कहानी से है, जीव और ब्रह्म के प्रेम-विरह की कहानी से है जिसे ऊपर उद्धृत पंक्तियों में जायसी ने स्पष्ट रूप से लिख दिया है।

प्रो० सैयद हसन अस्करी[२] को मनेर शरीफ से कई ग्रन्थों के साथ पदमावत और अखरावट की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। इन प्रतियों के विषय में लिखते हुए उन्होंने अखरावट के रचनाकाल का भी उल्लेख किया है। 'अखरावट' की हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका में 'जुम्मा ८ जुल्काद, ९११ हिजरी' का उल्लेख है। विद्वानों का विचार है कि सम्भवत: जिस मूल प्रति से इस प्रति की नकल की गई थी, उसकी पुष्पिका में यह तिथि लिखी हुई थी और जिसे प्रतिलिपिकार ने ज्यों का त्यों उतार दिया है। इससे अखरावट का रचनाकाल ९११ हिजरी या इसके आसपास प्रमाणित होता है।[३] अखरावट जायसी की प्रारम्भिक या प्रथम रचना है। "जिस भूकम्प का उल्लेख जायसी ने 'आखिरी कलाम' में किया है और जिसे अनेक विद्वानों ने जायसी के जन्म-समय-घटित मान लिया है। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय जायसी का कवि–जीवन प्रारम्भ हुआ था, उसी समय वह भूचाल आया होगा। अखरावट की पुष्पिका में लिखित ९११ हि० और ९१०–११ में घटित भूकम्प के उल्लेख में अद्भुत साम्य है और यह आकस्मिक नहीं प्रतीत होता। जायसी के इस वर्णन से यह बात प्रमाणित होती है कि अखरावट ९११ हिजरी में लिखा गया।[४]

१–जा० ग्र०, ना० प्र० सभा, अखरावट, पृ० ३३८, ५३।५-६-७।
२–जे० बी० आर० एस०, भाग ३९। ३–वही।
४–क–'जायसी की जन्म-तिथि, अध्याय १।
ख–मुतखबुत्तवारीख (अल्बदायूनी) रेंकिग कृत अनुवाद, भा० १, पृ० ४२१ (३ सफर ९११ हिजरी को भूकम्प हुआ था)।
ग–बाबरनामा–इलियट, भा० ४, पृ० २१८।

कथावस्तु

अखरावट का प्रारम्भ जायसी ने सृष्टि की आदि शून्यावस्था से किया है, जब न गगन था और न धरती, न सूर्य था और न चन्द्र। ऐसे अन्धकूप में करतार ने सर्वप्रथम मुहम्मद पैगम्बर की ज्योति उत्पन्न की।[१] उसी आदि गोसाईं ने ही समस्त संसार की सृष्टि लीलार्थ की है।[२] इस लीला-ज्ञान की कथा को कवि ने 'ककहरा' रूप में कहा है। कवि ने अपनी अपार नम्रता भी प्रदर्शित की है—"पंडित पढ़ अखरावटी, टूटा जोरेहु देखि।।" जब सर्वत्र शून्य-शून्य था, नाम, स्थान, सुर, शब्द, पाप, पुण्यादि कुछ नहीं था, ईश्वर की कलाएं उसमें ही लीन थीं, सृष्टि रूप में उनका विस्तार नहीं हुआ था—एक अल्लाह तत्व स्वयं में समाया हुआ था—इस संसार रूपी वृक्ष का वज्र के समान स्थिर बीज मात्र था, परन्तु उस बीज का न रंग था और न रूप।[३] तब ईश्वर में मुहम्मद साहब की प्रीति के कारण सृष्टि की सर्जना की। स्वर्ग पिता हुआ, धरती माता हुई। आरम्भ में ही दो विभाग (द्वन्द्व) हुए और सृष्टि का क्रम आगे बढ़ चला। पुन: उसने इबलीस (शैतान) को बनाया। एक आत्मतत्व या परमात्म तत्व अठारह सहस्र योनियों में प्रकट हुआ। पहिले ही उसने चार फिरिश्ते रचे। इन चारो ने चार तत्वों को ईश्वर की आज्ञानुसार मिलाकर शरीर बनाया। उसमें पंच भूतात्मक इन्द्रियां रख दीं। उस शरीर में नव द्वार बनाया और दशम द्वार को मूँद कर कपाट दे दिया। अभी तक आदम और करतार में अभिन्नता थी जैसे माता के गर्भ में बच्चा रहता है, किन्तु उसे जग में मृत्यु ने ला दिया। इसी से तो प्रियतम से बिछुड़ते ही, इस संसार में आते ही, बच्चा रोने लगता है। स्वर्ग में ही आदम की उत्पत्ति हुई। आज्ञा हुई कि सब लोग मिलकर प्रणाम करो, पूजा भी करो। नारद (शैतान) के अतिरिक्त सबों ने नमन किया। ईश्वर ने नारद को अनन्य भक्त समझ कर दशम द्वार का रक्षक नियत किया। पश्चात् आदम-हौवा की सर्जना हुई। उन्हें स्वर्ग में भेजा गया। शैतान के बहकावे में आकर आदम ने गेहूँ खा लिया—ईश्वर ने इसे खाने का निषेध किया था, अत: वे स्वर्ग से निकाल दिये गए। वे दोनों बिछोह में तड़पते रहे। अन्तत: ईश्वर की कृपा से दोनों मिले। उनसे सन्तानों की उत्पत्ति हुई। अपने-अपने धर्म वाले हिन्दू और तुरुक दोनों हुए।

दो पक्षों से युक्त शरीर की रचना, शरीर में ही 'पुले सरात', स्वर्ग-नरक,

---

१—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३०२, दोहा १।

२—जा०, ग्रं० ना० प्र० सभा, पृ० ३०२, १।१ चौपाई।

३—वही, अखरावट।

सूर्य-चन्द्र आदि की रचना, 'जो कछु पिंडे सोइ ब्रह्मण्डे' की बात, मन की चंचलता का वर्णन, 'देखहु परम हंस परछाहीं' की बात, 'काया-नगरी' के अगम पंथों और चारि बसरे' का भेद, उसी के सात खण्डों में सात ग्रहों की परिकल्पना, अपनी ही भाँति सृष्टि की सर्जना करने वाले बड़े ठाकुर की प्रशस्ति, संसार की असारता और तप-साधना की बात, 'हम कहाँ से आये हैं और हमें कहाँ जाना है ?'' के बाद गुरु की महत्ता की बात, इस्लाम की श्रेष्ठता, अपने गुरु मोहदी और उनकी परम्परा का गुणगान, हंस रूपक, शून्य निरूपण, घृत-रूपक एवं दीपक-रूपक के वर्णन, कबीर की प्रशंसा, 'गुरु-शिष्य संवाद–'रूप में अहंकार–विनाश, प्रेम-घृणा, तत्वों की स्थिति के प्रश्न एवं गुरु द्वारा स्पष्टीकरण, गुरु द्वारा ईश्वर के गौरव का गान इत्यादि के पश्चात् कवि कहता है कि यह गूढ़ बात बिना चिन्तन के समझ में नहीं आ सकती। जीव को चाहिये कि इस मिट्टी के शरीर को लेकर प्रेम का खेल खेल डाले, क्योंकि प्रेम-प्रभु प्रेम से ही प्राप्त होता है।

अखरावट के दार्शनिक : आध्यात्मिक विन्दु

१–सृष्टि–जायसी ने अखरावट के प्रारम्भ में सृष्टि के उद्भव और विकास की जो कथा दी है वह मूलत: इसलामी धर्मग्रन्थों और विश्वासों के आधार पर आधारित है। सृष्टि के आदि में जो महाशून्य था उसी से वर्तमान सृष्टि की रचना हुई। सर्वत्र शून्य-शून्य था, नाम, स्थान, सुर, शब्द, पाप-पुण्य आदि कुछ भी नहीं था। ईश्वर की भी कलायें ईश्वर में ही लीन थीं।[१] उस समय गगन, धरती, सुर्य, चन्द्र आदि कुछ भी नहीं था। ऐसे शून्य अन्धकार में ईश्वर ने सबसे पहले मुहम्मद पैगम्बर की ज्योति उत्पन्न की—

> ''गगन हुता नहिं महि हुती, हुते चंद नहिं सूर।
> ऐसइ अंधकूप महं रचत मुहम्मद नूर ॥''[२]

कुरान शरीफ एवं इस्लामी रवायतों (कथाओं) में यह कथा है कि जब कुछ नहीं था, तो केवल 'अल्लाह' था। सर्वत्र घोर अन्धकार था। उसने कहा— 'कुन्' (प्रकाश हो) और कहने के साथ ही प्रकाश हो गया। इस सृष्टि के मूल में आदि गोसाईं की क्रीड़ा[३] (खेल) है। पुन: उसने ही अठारह सहस्र योनियों की रचना की। इस प्रकार उस आदि गोसाईं की सत्ता इन अठारह सहस्र जीवकोटियों में प्रकट हुई है।[४] भारतीय साहित्य में भी इस संसार की कल्पना 'अश्वत्थ' के रूप

१–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, अखरावट), पृ० ३०४।१।

२–वही, पृ० ३०३।

३–जा० ग्रं० ना० प्र० सभा० पृ० ३०३, १।१।

४–वही–''रहा जो एक जल गुपुत समुन्दा। बरसा सहस अठारह बुन्दा ॥''

से की गई है। 'श्रीमद्भगवद्गीता'[1] और 'रामचरितमानस'[2] में भी सृष्टि-प्रसंग इसी रूप में वर्णित है। सो उस 'ठाकुर' ने एक बार ऐसा किया, पहले उसने नाम-रूप में मोहम्मद को रचा। उनकी ही प्रीति के कारण दुनिया पैदा की गई। उसी प्रेम-बीज से दो अंकुर निकले, एक श्वेत और दूसरा श्याम। श्वेत अंकुर से निकला पात धरती बना और श्यामांकुर वाला पात आकाश बन गया। पश्चात् इसी द्वैत के आधार पर सूरज-चांद, दिन-रात, पाप-पुण्य, सुख-दुख, आनन्द-संताप, नरक-बैकुण्ठ अच्छे-बुरे, झूठ-सत्य आदि की सृष्टि हुई[3]।

इबलीस : आदम : हौवा : फिरिश्ते : हिन्दू : तुर्क – इसके बाद उसने इबलीस[4] की रचना की, आदम[5] का निर्माण किया। चार फरिश्तों को बनाया, चार तत्व और पंचभूतात्मक इन्द्रियों से 'काया' की रचना की, उसमें नव द्वारों को बनाया, दसवें द्वार को मूंद करके कपाट दे दिया और फरिश्तों से कहा कि इसका सिजदा (नमन) करो। फरिश्तों ने नमन किये, किन्तु इबलीस ने नमन नहीं किया। अतः वह स्वर्ग से निकाल दिया गया। करतार ने इबलीस को दशम-द्वार का रक्षक बनाया[6]। इस प्रकार जिस इबलीस ने धर्म मार्ग से हटाकर पापी कर दिया, उसका और आदम का साथ हो गया। इसके बाद हौवा की रचना की गई और आदम-हौवा को स्वर्ग में विहार करने के लिये भेज दिया गया। इबलीस के बहकावे में आकर आदम ने गेहूँ खा लिया, जिसके खाने का निषेध ईश्वर ने कर रखा था और इस अपराध के कारण उन्हें स्वर्ग से निकाल दिया गया[7]। वे बहुत पछताए, रोए और अन्त में उन्होंने मिलकर सृष्टि चलाई। हिन्दू-तुर्क उन्हीं से उत्पन्न हुए हैं।[8] जो

१–श्रीमद्भगवद्गीता, बालगंगाधर तिलक, अध्याय १५ –

"उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेदस वेदवित ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतस्तस्य शाखा गुण प्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्चमूला संततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्य लोके।

२– अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षटकंध शाखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन घने ॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे ॥ – रामचरितमानस।

३–जा० ग्र० ना० प्र० सभा, पृ० ३०४–५।

४–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३०५ (पुनि इबलीस संचारेउ)।

५–वही, पृ० ३०६। ६–वही, पृ० ३०७।

७–वही, पृ० ३०८। ८–वही पृ० ३०८

ब्रह्माण्ड सो पिण्ड है' – उपनिषदों में ब्रह्म और जीव, आत्मा और परमात्मा की एकता को बार-बार समझाया गया है। अर्थात् जो 'पिण्ड' में है वही ब्रह्माण्ड में हैं। वस्तुतः पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता का अर्थ है, अनंत और अंत की परस्पर अन्योन्नाश्रितता। इस तथ्य को लेकर साधना के क्षेत्र में एक विलक्षण रहस्यवाद की उत्पत्ति हुई, जिसकी प्रेरणा से योग में पिण्ड या घट के भीतर ही ब्रह्म का एक विशिष्ट स्थान निर्दिष्ट हुआ और उसके पास तक पहुँचने की कल्पना की गई। जायसी ने स्पष्ट कहा है –

"सातौ दीप नवौ खंड आठौ दिसा जों आहिं।
जो बरह्मण्ड सो पिंड है, हेरत अंत न जाहिं॥[1]

एक पूरा रूपक बांधकर जायसी ने 'जो कछु पिंडे ब्रह्मण्डे' का प्रतिपादन किया है –

टा टुक झांकहु सातौ खंडा। खंड खंड लखहु बरह्मण्डा॥

— — — — — —

सातवं सोम कपार महं कहा जो दसवं दुवार।
जो वह पवंरि उघारै, सो बड़ सिद्ध अपार॥[2]

इन पंक्तियों में कवि ने मनुष्य शरीर के पैर, गुह्येन्द्रिय, नाभि, स्तन, कंठ, भौहों के बीच के स्थान और कपाल प्रदेशों में क्रमशः शनि, बृहस्पति, मंगल, आदित्य, शुक्र, बुध और सोम की स्थिति का निरूपण किया है। यहाँ यह विशेष द्रष्टव्य है कि कवि द्वारा दी गई यह ग्रह-स्थिति सूर्य-सिद्धांत प्रभृति ग्रन्थों के ही अनुकूल है। ब्रह्म अपने व्यापक रूप में मानव देह में भी समाया हुआ है–

माथ सरग धर धरती भयऊ। मिलि तिन्ह जग दूसर होइ गयऊ॥
माटी मांसु, रकत भा नीरू। नसैं नदी, हिय समुद गंभीरू॥

— — — — — —

सातौं दीप, नवौ खंड आठौ दिशा जो आहिं।
जो बरह्मण्ड सो पिंड है हेरत अंत न जाहिं॥
आगि, बाउ, जल, धूरि चारि मेरइ भांड़ा गढ़ा।
आपु रहा भरि पूरि, मुहमद आपुहिं आपु महं॥[3]

इस्लामी धर्म के तीर्थ आदि को भी कवि ने शरीर में ही प्रदर्शित किया है।

१–वही, पृ० ३०९।
२–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३१५–३१६।
३–वही, पृ० ३०९।

इस शरीर को ही जगत मानना चाहिए। धरती और आकाश इसी में अनुस्यूत हैं। मस्तक मक्का है, हृदय मदीना है जिसमें नवी या पैगम्बर का नाम सदा रहता है, श्रवण आंख, नाक और मुख को क्रमशः जिबराईल, मैकाईल, इसराफील और इजराईल समझना चाहिए। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं को शरीर में ही गिनाते हुए कवि ने कहा है—

"नाभि कंवल तर नारद लिए पांच कोतवार।
नवौ दुवारि फिरै निति दसई कर रखवार॥"

अर्थात् नाभि-कमल (कुंडलनी) के पास कोतवाल के रूप में शैतान का पहरा है। वह नबो द्वार पर नित प्रति घूमता है और दशम द्वार (ब्रह्म-रन्ध्र) की रक्षा बड़ी मुस्तैदी से करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि ने विश्वव्यापी ईश्वर तत्व को घट-घट में समाया हुआ माना है। उसकी मान्यता है कि वाह्य सृष्टि मानव शरीर में भी विनिर्मित है। ब्रह्म की साधना के लिए तीर्थादि में जाने की आवश्यकता नहीं है, सब कुछ 'काया-नगरी' में ही स्थित है 'जो कछु पिंडे सो ब्रह्मंडे।"

२—जीव-ब्रह्म — जायसी का कथन है कि ब्रह्म से ही यह समस्त सृष्टि आपूरित है — 'चौदह भुवन पूरि सब रहा'[२]। 'उसने ही इस समस्त सृष्टि की सर्जना की है'[३]। वस्तुतः जीव बीज रूप में ब्रह्म में ही था। ब्रह्म से ही अठारह सहस्र जीव-योनियों की उत्पत्ति हुई है[४]। वस्तुतः वही सब कुछ कर्ता है, जीव कुछ करता-धरता नहीं —

वै सब किछु, करता किछु नाहीं। जैसे चलै मेघ परिछाहीं॥
परगट गुपुत विचारि सो बूझा। सो तजि दूसर और न सूझा॥[५]

जीव पहले ईश्वर में अभिन्न था, बाद में उनका विछोह हो गया। जीव में ब्रह्म में मिलने की जो पीर और तड़पन है उसका कारण यही विछोह है —

"हुता जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहे बीछुरा ?
अब जिउ उठै तरंग, मुहम्मद कहा न जाइ कछु॥"[६]

ईश्वर का कुछ अंश घट-घट में समाया है —

"सोई अंस घटै घट मेला। जौ सोइ बरन-बरन होइ खेला॥"

१—जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, पृ० ३१०। २—वही, पृ० ३०३।
३—वही, ('जेइ सब खेल रचा दुनियाई')।
४—वही, (एक अकेल न दुसर जाती। उपजे सहस अठारह भांती॥)
५—वही, पृ० ३०३।
६—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३०५ (सोरठा ३)।

जायसी ने जीव, ब्रह्म और प्रकृति (सृष्टि) की अभेदता का भी प्रतिपादन किया है। सम्पूर्ण जगत ईश्वर की ही प्रभुता का विकास है। नाना योनियों में वही परमात्म तत्व ही प्रकट हुआ है –

'जौं उतपति उपराजै चहा। आपनि प्रभुता आपु सों कहा ॥
रहा जो एक जल गुपुत समुंदा। बरसा सहस अठारह बुन्दा ॥'[1]

ब्रह्म ही इस जगत का बड़ा सर्जक है, करतार है, धारण करने वाला और हरण करने वाला भी है –

'तुम करता बड़ सिरजन-हारा। हरता धरता सब संसारा।'[2]

इस प्रकार जायसी ने जीव और ब्रह्म के अभेदत्व की स्थापना की है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि जीव में अल्लाह के 'जमाल एवं जलाल'' (सौन्दर्य-माधुर्य एवं शक्ति, प्रताप और ऐश्वर्य पक्ष) का लोप हो जाता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि एक बूंद में समुद्र समाया हुआ है अर्थात् मनुष्य-पिंड के भीतर ही ब्रह्म और समस्त ब्रह्माण्ड है जब अपने भीतर ही ढूंढ़ा, तो वह उसी अनन्त सत्ता में विलीन हो गया –

'बुन्दहिं समुद समान, यह अचरज कासौं कहौं ?
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आपु महं ॥'[3]

साधक के लिए इसी अभेदत्व का स्पष्टीकरण करते हुए कवि का कथन है कि 'जैसे दूध में घी और समुद्र में मोती की स्थिति है वैसे ही वह परम ज्योति भी इसी जगत के भीतर-भीतर भासित हो रही है।'[4] कवि कहता है कि वस्तुतः एक ही ब्रह्म के चित् और अचित् दो पक्ष हुए, दोनों के मध्य तेरी अलग सत्ता कहां से आई। जीव जब अपनी अलग सत्ता के अहंभाव या भ्रम को मिटा देता है, तो वह ब्रह्म में मिलकर एक हो जाता है –

'एकहि तें दुए होइ, दुइ सों राज न चलि सकै।
बीचतें आपुहि खोइ, मुहम्मद एकै होइ रहु ॥'[5]

'ठकार के सिलसिले में भी जायसी ने जीव, ब्रह्म और सृष्टि के विषय में अपना मत व्यक्त किया है –

'ठा – ठाकुर बड़ आप गोसाईं। जेहि सिरजा जग अपनिहि नाईं ॥
आपुहि आपु जौ देखै चहा। आपनि प्रभुता आप सौं कहा ॥

१–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३०५। २–वही, पृ० ३०५।
३–वही, पृ० ३०८ ४–वही, पृ० ३०८ (सोरठा)।
५–वही, पृ० ३१४। ६–वही, पृ० ३१४। (सोरठा १५)।

सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन, आपुहि देखा ॥
आपुहि बन औ आपु पखेरू। आपुहि सौजा, आपु अहेरू ॥
आपुहि पुहुप फूलि बन फूले। अपुहि भंवर बास-रस भूले ॥
आपुहि फल आपुहि रखवारा। आपुहि सो रस-चाखनहारा ॥
आपुहि घट–घट महं मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै ॥
आपुहि कागद आपु मसि, आपुहि लेखनहार।
आपुहि लिखनी, आखर, आपुहि पंडित अपार ॥[1]

कवि निखिल सृष्टि में उसी एक सत्ता को संप्रसारित पाता है।

३–साधना – मूलतः सूफी साधना 'प्रेम-प्रभु' की साधना है। विरहानुभूति एवं प्रियतम की प्राप्ति के लिए प्रेम-पंथ का अवलम्बन इस साधना के केन्द्र हैं। साधक अपने भीतर बिछुड़े हुए प्रियतम के प्रति प्रेम की पीर को जगाता है। पहले जीव-ब्रह्म (बन्दा–अल्लाह) एक थे। पश्चात् इस अद्वैत या अभेद-स्थिति में भेद की निष्पत्ति हुई। अब जीव इस विरह–जन्य तड़पन की स्थिति में है, वह पुनः अपने बिछुड़े हुए प्रियतम से मिलकर अभेदता का आनन्द पाना चाहता है –

"हुता जो एकहि संग, हम तुम काहे बीछुरे।
अब जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाइ किछु ॥"[2]

यह 'भावतरंग' मूलतः विछोह की तीव्र अनुभूति से उत्पन्न है। कबीर[3] की ही भांति जायसी ने भी इसे एक महान् प्रेम भावना और 'शीश का सौदा' कहा है–

"परै प्रेम के झेल, पिउ सहुं धनि मुख सो करै।
जो सिर सेंती खेल, मुहम्मद खेल सो प्रेम रस ॥"[4]

इस 'काया नगरी' में ही प्रियतम मिल सकता है, हां यह अश्वय है कि उसे खोजने में स्वयं 'खो' जाना चाहिए, उनमें खो जाने पर ही 'पिउ' मिलता है[5] –

आपुहि खोइ ओहि जो पावा। सो बीरौ मनु लाइ जमावा ॥
जौ ओहि हेरत जाइ हेराई। सो पावै अमृतफल खाई ॥

१–जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, पृ० ३१६।
२–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३०५।
३–'जह तों घर है प्रेम का, खाला का घर नांहि।
सीर उतारै भुइं धरै, सौ पैसे घर मांहि ॥ कबीर।
४–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३०६।
५–हेरत हेरत हे सखी रहया कबीर हेराइ। बूंद समानी समद में, सोकत हेरी जइ ॥
हेरत हेरत हे सखी गया कबीर हिराइ। समद समाना बून्द में सोकत हेरया जाय ॥
–कबीर ग्रंथावली, पृ० १७, ३–४।

आपुहि खोए पिउ मिलै, पिउ खोए सब जाइ।
देखहु बूझि विचारि मन, लेहु न हेरि हिराय ॥[१]

प्रियतम की यह खोज साधारण जन के वश की बात नहीं है। कोई 'मर-जिया' ही उसे पाता है –

'कटु है पिउ कर खोज, जो पावा सो मरजिया
तहं नहिं हंसी, न रोज, मुहमद ऐसे ठावं वह ॥'[२]

गुरु की कृपा से ही शिष्य समझ कर इस प्रेम पंथ पर चलता है। यह पंथ भी अजब विकट है – 'सात खण्ड हैं, चार सीढ़ियां हैं, अगम्य चढ़ाई है, त्रिवेणी (इला-पिंगला-सुषुम्ना) का पंथ है, इस पर वही चढ़ता है जिसे गुरु चढ़ाता है, जो अपने बल पर चढ़ा वह गिर पड़ा, नारद दौड़कर संग में हो जाते हैं, उसे साथ लेकर कुमार्ग पर चलते हैं आगे फिर तो तेली के बैल की तरह वह निशिदिन फिरता रहता है, पर एक पग भी और नहीं बढ़ता।[३]

यों तो जायसी उदारतापूर्वक विधिना तक पहुंचने के अनेक मार्गों को स्वीकार कराते हैं, फिर भी वे मुहम्मद के पंथ (स्वर्गीय प्रेम पंथ या इस्लाम) को श्रेष्ठ मानते हैं, उस मार्ग को जो पाता है वह पार उतर जाता है और जो अन्यत्र भूला होता है वह बटपारों द्वारा लूट लिया जाता है –

"विधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवां जेते ॥
तेहि महं पंथ कहौं भल गाई। जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई ॥
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कबिलास बसेरा ॥"—
वह मारग जो पावै, सो पहुँचे भव पार।
जो भूला होइ अनतहि, तेहि लूटा बटपार ॥"[४]

जायसी मुहम्मद के पंथ को श्रेष्ठ मानते हैं। जायसी ने नमाज, तरीकत, हकीकत, मारिफत और शरीअत को इस पंथ का महत्वपूर्ण अंग कहा है। इस्लामी सृष्टि रचना की कल्पना से उनका कोई मतभेद नहीं है। कुरान[५] में आदम को खुदा के रूप-रंग का कहा गया है। जायसी ने भी लिखा है कि 'उहै रूप आदम अवतरा।'[६] आदम के स्वर्ग से निष्कासन की कथा को भी जायसी ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। जायसी ने आदम के अल्लाह से बिछोह के दुःख को साधारण जीव के वियोग

१—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३१९-२०।
२—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३१९—२०।
३—वही, पृ० ३२० (दा दाया जा कह गुरु करई, आदि)।
४—वही, पृ० ३२१। ५—कुरान शरीफ (हिंदी)।
६—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३०८।

का दुःख मान कर इस्लामी कल्पना पर सूफीमत की प्राणप्रतिष्ठा कर दी है। वस्तुतः बन्दा और अल्लाह में 'जमाल-जलाल' के ही अस्तित्व और अनस्तित्व का भेद है। जीव इस संसार में आते ही अल्लाह के 'जमाल—जलाल' से अलग हो जाता है। और इस कारण वह दुःखी होता है—

"छाँड़ि जमाल जलालहि रोवा। कौन ठांव तें दैव बिछोवा ॥"

सूफी साधकों ने विधि-विहित पंथ को स्वीकार किया है। जायसी ने भी अन्य सूफी साधकों की भांति नमाज, मक्का-मदीना, फरिश्तों और इमाम में विश्वास प्रकट किया है, किन्तु उनकी व्याख्या नवीन प्रकार की है। ये सब कायानिष्ठ हैं, अतः उनके मत से इनके लिए हज (तीर्थ-यात्रा) और कृच्छ्र-साधना की आवश्यकता नहीं है।

यद्यपि कायानिष्ठ ब्रह्म की प्राप्ति के लिए 'चारि बसेरे सों चढ़े सत सों उतरै पार 'वाली सूफी साधकों की विशिष्ट साधना पद्धति है, तथापि जायसी ने योग-मार्ग की साधना की भी बातें स्वीकार की हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर योगियों के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग भी किए हैं। अनहदनाद, इला, पिंगला, सुषुम्ना, बंकनालि, शून्य, सहस्रार, चक्र, कमल, कुंडलिनी, नौ पौरी, दशम द्वार आदि अनेक योगसाधना-परक शब्द अखरावट में मिलते हैं।

शून्यवाद-योगमत में 'शून्य' की महत्ता है। विद्वानों का विचार है कि संभवतः बौद्ध शून्यवादी सिद्धों के दाय के रूप में उन्होंने इसे प्राप्त किया था। जायसी ने इस 'शून्यवाद' का इस प्रकार निरूपण किया है—

'इहै जगत कै पुन्नि, यह जप-तप यह साधना।
जानि परै जेहि सुन्न, मुहमद सोई सिद्धभा ॥
भा भल सोइ जो सुन्नहिं जानै। सुन्नहिं तें सब जग पहिचानै ॥
सुन्नहि ते है सुन्न उपाती। सुन्नहिं तें उपजहिं बहु भांती ॥
सुन्नहिं मांझ इन्द्र बरम्हंडा। सुन्नहिं ते टीके नवखंडा।
सुन्नहिं ते उपजे सब कोई। पुनि बिलाइ सब सुन्नहिं होई ॥
सुन्नहि सात सरग उपाराहीं। सुन्नहिं सातौ धरति तराहीं ॥
सुन्नहिं ठाट लाग सब एका। जीवहिं लाग पिंड सगरे का ॥
सुन्नम सुन्नम सब उतिराई। सुन्नहिं महं सब रहे समाई ॥
सुन्नहिं महं मन-रूख, जस काया महं जीउ।
काठी माझ आगि जस, दूध माहं जस पीउ ॥"[1]

हिंदी में संभवतः सर्वप्रथम 'शून्यवाद' की बातें सिद्ध सरहपाद की बानी में मिलती हैं—

१—जा० ग्रं०, ना प्र० स०, पृ० ३२३—३२४।

"जहिं मण पवण ण संचरइ, रवि-ससि णाह पवेस।
तहि बढ़! चित्त विसाम करु सरहें कहिउ उएस॥
आइ ण अन्त ण मज्झ णउ, णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण॥[१]

इस सिलसिले में नागार्जुन के शून्यवाद का महत्व है। नागार्जुन का शून्यवाद बुद्ध के 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का ही तर्क प्रतिष्ठित एवं विकास प्राप्त रूप है। उसने प्रतीत्यसमुत्पादवाद, शून्यवाद और मध्यममार्ग भी कहा है।[२] दार्शनिक दृष्टि से जागतिक पदार्थों को न सत कह सकते हैं और न असत्। और न उनके विषय में शाश्वतवाद या उच्छेदवाद की ही स्थापना की जा सकती हैं।[३] न तो हम संसार के पदार्थों के कारण से उत्पन्न होने के कारण ऐकांतिक असत् कह सकते हैं और सापेक्ष होने के कारण उन्हें ऐकांतिक सत् भी नहीं कह सकते।[४]

"शून्यमिति न वक्तव्यं अशून्यमिति एव च।"

नागार्जुन ने तो यहां तक कहा है कि तत्व जैसा है वैसा उसका वर्णन करना असंभव है। वह शून्य है। शून्य से ही समस्त पदार्थों की निष्पत्ति हुई है अन्त में वे शून्य में ही लीन भी हो जाते हैं। इस शून्य रूप की अनिर्वचनीय सत्ता की अनुभूति होने के ही कारण बुद्ध तथागत हैं। समस्त दृश्य वस्तुएं (पदार्थ) भी शून्य ही हैं। यह शरीर भी शून्य है। यही शून्यवाद नाथपंथी योगियों के माध्यम से कबीर आदि निर्गुनियों संतों और जायसी आदि सूफियों को प्राप्त हुआ है। भंवर-गुफा, ब्रह्मरन्ध्र–दशम-द्वार, अनाहतनाद इला-पिंगला-सुषुम्ना आदि शून्यवादी शब्द इन तीनों मतवादों में एक ही प्रकार से प्रयुक्त मिल जाते हैं। जायसी ने शून्यवाद[५] का जो महत्व प्रतिपादित किया है उसके मूल में भारतीय-योग साधना है। उन्होंने अखरावट में नाथों और योगियों की साधना-पद्धति को स्वीकार कर लिया है। क्या प्राणायाम और क्या आसन-समाधि, क्या इला, पिंगला या सुषुम्ना की बात

१–हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग : नामवर सिंह, परिशिष्ट, पृ० ३२४।
२–मूल माध्यमिक कारिका, नागार्जुन (चन्द्रकीर्ति की वृत्ति-सहित, २४।१८)

"य: प्रतीत्यसमुत्पाद : शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिसपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥"

महायान, भदंत शांतिभिक्षु, पृ० १६।

३–ए हि० इं० फि०, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, वा० १, पृ० १४३।
४–मूल माध्यमिक कारिका वृत्ति, पंचम प्रकरण, पृ० १४५।
५–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, (अखरावट), पृ० ३३४।

और क्या ब्रह्मरन्ध्र की महत्ता, क्या अनहदनाद[1] और क्या 'सोंहम्', क्या पिंड-ब्रह्माण्ड की एकता[2] और क्या इनका सूक्ष्म विवेचन यह सब मूलतः हठयोगियों की साधना का ही प्रभाव है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा–

"तब बैठहुह बज्रासन मारी। गहि सुखमना पिंगला नारी॥"[3]

जायसी ने कबीर के विषय में लिखा है कि वे बड़े भारी सिद्ध थे–

"ना–नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहै सौ में हारा॥"[4]

कबीर की बानियों पर योग-संप्रदाय की गहरी छाप है। जायसी द्वारा कबीर को बड़ा सिद्ध कहना और उनकी महत्ता को स्वीकार करना इस बात की ओर इंगित करता है कि जायसी पर भी योगमत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

'चारि बसेरे (अवस्थाएं)

सूफी मत के साधक की क्रमशः चार अवस्थाएं[5] कही गई हैं (१) शरीअत धर्म ग्रन्थों के विधि-निषेध का सम्यक् पालन (कर्मकाण्ड), (२) तरीकत (वाह्य-क्रिया कलापों से परे होकर हृदय की शुद्धता द्वारा ईश्वर का ध्यान (उपासना काण्ड), (३) हकीकत (भक्ति और उपासना के द्वारा सत्य का सम्यक् बोध–जिससे साधक तत्व-दृष्टि-सम्पन्न और त्रिकालज्ञ हो जाता है (ज्ञानकाण्ड) और (४) मारिफत (सिद्धावस्था) –कठिन व्रतोपवास द्वारा साधक की आत्मा का पर-मात्मा में लीन हो जाना), इस प्रकार साधक ईश्वर की सुन्दर प्रेममयी प्रकृति का अनुसरण करता हुआ प्रेममय हो जाता है।

अखरावट में जायसी ने इन अवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है–

(शरीअत) "कही सरीयत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहंगीरू॥
तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुद जल जिउ न डेराई॥
(तरीकत-मारिफत) राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत मार बुड़ूकी॥
"साँची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ।
पांव रखै तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचै सोइ॥

स्पष्ट है कि जायसी सच्चे मुसलमान की भाँति विधि-विधान शरअ को मानते थे। उनकी शरीअत पर आस्था थी। इन अवस्थाओं के नाम-मात्र के ही वर्णन

१–पही, पृ० ३०७, ३१२, ३१६, ३३८।
२–वही, पृ० ३०६ (दोहा)। ३–वही पृ० ३२८।
४–वही, पृ० ३३१।
५–पदमावत का काव्य-सौन्दर्य, पृ० १२५।
६–जा० ग्र०, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, पृ० ६६४।

अखरावट में मिलते हैं। वे चारो मुकामों और सातो मुकामों के महत्व को भी स्वीकार करते हैं–

"सात खंड और चार नसेनीं। प्रथम चढ़ाव पंथ तिरबेनी ।।[1]
बाँक चढ़ाव सात खंड ऊँचा। चारि बसेरे आइ पहूँचा ।।[2]

नैतिक मतवाद एवं आध्यात्मिक वैशिष्ट्य

क्या कबीरदास और क्या सूरदास, क्या तुलसीदास और क्या जायसी–वस्तुतः भक्तियुगीन इन संतों, भक्तों और सूफियों में विचार और भावना की संकीर्णता नहीं है। यद्यपि वे अपने-अपने धर्म और पंथ पर दृढ़ हैं, फिर भी वे उन्हें 'ऐकान्तिक-एकमात्र पंथ के रूप में नहीं कहते। वे सत्य और परम सत्ता को किसी मत-विशेष में बांधना नहीं चाहते। "प्रेमाभिलाष की प्रेरणा से प्रेमी भक्त उस अखंड ज्योतिरूप की किसी न किसी कला से दर्शन के लिए सृष्टि का कोना-कोना झकांता है, प्रत्येक मत और सिद्धान्त की ओर आंख उठाता है और सर्वत्र जिधर देखता है उधर उसका कुछ न कुछ आभास पाता है। यही उदार प्रवृत्ति सब सच्चे भक्तों की रही है। जायसी की उपासना 'माधुर्य भाव से, प्रेमी और प्रिय के भाव से है। उनका प्रियतम संसार के परदे के भीतर छिपा हुआ है। जहां जिस रूप में उसका आभास कोई दिखाता है वहां उसी रूप में देख वे गद्‌गद होते हैं। वे उसे पूर्णतया ज्ञेय या 'प्रमेय' नहीं मानते। उन्हें यही दिखाई पड़ता है कि प्रत्येक मत अपनी पहुँच के अनुसार, अपने मार्ग के अनुसार उसका कुछ अंशतः वर्णन करता है। किसी सिद्धान्त विशेष का यह मत या आग्रह कि ईश्वर ऐसा ही है भ्रम है। जायसी कहते हैं–

"सुनि हस्ती कर नाव अंधरन टोवा धाइ कै।
जेइ टोवा जेइ ठांव मुहम्मद सो तैसे कहै ।।"

'एकांग दस्सिनों' (एकांगदर्शियों) का यह दृष्टान्त सबसे पहले बुद्ध ने दिया था। इसको जायसी ने बड़ी मार्मिकता से अपनी उदार मनोवृति की व्यंजना के लिए लिया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक मत में सत्य का कुछ न कुछ अंश रहता है।"[3]

इसी कारण जायसी 'मुहम्मद' के मत को श्रेष्ठ मानते हुए भी 'विधना के अनेक मार्गों' को स्वीकार करते हैं। वे अखरावट में किसी विशिष्ट सिद्धान्तवाद

१–जा० ग्र०, ना० प्र० सभा, पृ० ३२०।
२–वही, पृ० ३२५।
३–जा० ग्र०, ना० प्र० सभा, पृ० १५६–५७।

में बंधना नहीं चाहते। अपनी उदार और सारग्रहिणी बुद्धि के फलस्वरूप योग, उपनिषद्, अद्वैतवाद, भक्ति, इस्लामी एकेश्वरवाद आदि से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं। उनके लिए वे सभी तत्व ग्राह्य हैं जो प्रेम की पीर जगाने में समर्थ हैं। अलग-अलग पंथों की अनेक भावनायें, अनेक विचारावलियाँ, अनेक सूक्तियाँ, जायसी की धर्म-साधना में मिलकर इतनी एकाकार हो गई हैं कि साधारण बुद्धि चमत्कृत हो उठती है। ब्रह्मवाद (अद्वैत), योग, (हठ-योग चक्रभेद और आनन्दवाद) और इस्लामी–सूफी सिद्धान्तों का समन्वय जायसी की अपनी विशेषता है।[१] सच्चे साधक को इन्द्रियोपभोग से ऊपर उठना आवश्यक है। साधना के मार्ग में 'नारद' तो पथ-भ्रष्ट करने के लिये हैं ही, चंचल 'मन'[२], भी एक प्रबल शत्रु है, इसका नियन्त्रण साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अखरावट में साधना-पंथ के कतिपय रूपक (घी-रूपक, घन दरपन-रूपक और जोलाहा-कर्म-रूपक) भी नाथ-पंथी साधकों की शैली के ही अनुरूप दिए गए हैं–

(क्ष) घी रूपक :

मा-मन मथन करै तन खीरू। दुहै सोइ जो आपु अहीरू॥
पांचौ भूत आतमहि मारैं। गरब दरब करसी कै जारैं॥
मन माठा-सम अस कै धोवैं। तन खैला तेहि माहं बिलोवैं॥
जपहु बुद्धि कै दुइ सन फेरहु। दही चूर अस हिया अभेरहु॥
पछवां कढ़ुई कैसन्ह फेरहु। ओहि जौति महं जोति अभेरहु॥
जस अन्तपट साढ़ी फूटै। निरमल होइ मया सब टूटै॥
मखनमूल उठै लेइ जोती। समुद माहं जस उलटै कोती॥
जस घिउ होइ जराइ कै, तस जिउ निरमल होइ।
महै महेरा दूरि करि, भोग करै सुख सोइ॥[३]

गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसी प्रकार के 'घृत रूपक' की साधना का वर्णन किया है––

"सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि कृपा हृदयं बस आई॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पिन्हाई॥

१–जायसी : डा० रामरतन भटनागर, पृ० १७७
२–'चंचलं' हि मन: कृष्ण प्रमथि बलवदृढ़म्
तस्माहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्'
'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च युज्यते।' श्री मद्भागवद्गीता।
३–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३२४-२५।

नोइ निवृत्ति पात्र विस्वासा । निर्मल मन अहीर निज दासा ॥
परम धर्ममय पय दुहि भाई । अवटै अनल अकाम बनाई ॥
तोष मरुत तब क्षमां जुड़ावै । घृत सम जावुन देह जमावै ॥
मुदितां मथै बिचारि मथानी । दम अधार रजु सत्य सुबानी ॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता । विमल विराग सुमन सुपुनीता ॥
जोग अगिनि करि प्रगट तव, कर्म सुभासुभ लाइ ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत, ममता मल जरि जाइ ॥[1]

(२) दीपक–रूपक :

दीपक जैस बरत हिय आरे । सब घर उजियर तेहि उजियारे ॥
तेहि महं अंस समानेउ आई । सुन्न सहज मिलि आवै जाई ॥
तहां उठै धुनि आयंकारा । अनहद सबद होइ झनकारा ॥

— — —

सुनहु बचन एक मोर, दीपक जस आरे बरै ।
सब घर होइ अंजोर, मुहमद तस जिउ हीय महं ॥[2]

— — —

एहि विधि लेसें दीप, तेज रासि विग्यान मय ।
जातहि जासु समीप जरसि मदादिक सलभ सब ॥
सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा । दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा ॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा । तब भव मूल भेद भ्रम नासा ॥
प्रबल अविद्या कर परिवारा । मोह आदि तम मिटइ अमारा ॥
तब ओइ बुद्धि पाइ उँजियारा । उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा ॥
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई । तब यह जीव कृतारथ होई ॥
–रामचरितमानस, उतरकांड ।

और (३) जोलाहा–रूपक :

प्रेम-तन्तु नित ताना तनई । जप तप साधि सैकरा भरई ॥
दरब गरब सब देइ विथारी । गनि साथी सब लेहिं सुंभारी ॥–
सूत–सूत सौ कया मंजाई । सीझा काम विनत सिधि पाई ॥

— — —

भरै सांस जब नावै नरी । निसरै छूछी, पैठै भरी ।
खाइ–लाइ कै नरी चढ़ाई । इललिलाह कै दारि चढ़ाई ॥[3]

१–रामचरितमानस : गो० तुलसीदास, (उत्तरकांड), दोहा ।
२–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३२५ ।
३–जा० ग्र०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ३३२ (४३।४४) ।

"हम घर सूत तनहिं नित ताना ।।"
'इंगला पिंगला ताना भरनी सुखमन तार से बीनी चदरिया ।।
झीनी झीनी बीनी चदरिया ।'

—कबीरदास ।

इन उदाहरणों के प्रकाश में स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन भक्तों के भावों में एक अद्‌भुत साम्य है, और यह वैचारिक एकता आश्चर्यजनक नहीं है । यह उस समय के विद्वानों, साधकों, योगियों और संतों में समान रूप से पाई जाती है । इन साधकों ने धर्म और जाति से बहुत ऊपर उठकर परम सत्ता के साक्षात्कार की बातें स्पष्ट की हैं । इन बातों में अनन्त शान्ति और शाश्वत सत्य का निर्देश मिलता है ।

'अखरावट' के आधार पर जायसी के आध्यात्मिक विचारों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) सृष्टि के आदिकाल में एक 'गोसाईं' था, उसे चित्सत्ता, नूर, सुन्न भी कहा जा सकता है । उसने ही यह द्विधायुक्त सृष्टि उत्पन्न की है ।

(२) जीव और ब्रह्म में अभेद था, किन्तु नारद के बहकाने के कारण जीव की अभेदता समाप्त हो गई, वह स्वर्ग से बहिष्कृत हुआ और ईश्वर के 'जमाल-जलाल' से वंचित हुआ । वस्तुत: जीव में जो प्रेम-विरह की तड़पन है वह इसी विश्लेष के ही कारण है । वह इसी तड़पन और प्रेम-पीर की साधना से पुन: ईश्वर के 'जमाल-जलाल' की अवाप्ति चाहता है । जीव जब अल्लाह को पुन: पा लेगा, तो यह अभेदता मिट जायगी ।

(३) मन का परिष्कार इसके लिए एक मुख्य साधन है । मात्र मन के परिष्कार से ही सब कुछ नहीं होता । साधक को कतिपय विशिष्ट साधनाओं की भी आवश्यकता पड़ती है । जायसी 'विधिना' के अनेक मार्गों को स्वीकार करते हैं, फिर भी इस्लाम को सर्वोपरि मानते हैं । यद्यपि उन्होंने इस्लाम पंथ पर सूफी साधना का रंग चढ़ा दिया है ।

जायसी का सूफी-पंथ सूफी मत को उनकी अपनी देन है । इसमें न केवल शास्त्रीय सूफी सिद्धान्त हैं और न भावनात्मक रहस्यवादिता । नमाज, तरीकत, मारिफत, हकीकत और शरीअत इस्लामी साधना के विधि-विधान हैं । जायसी ने इनकी नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है । जायसी योगियों की ही भांति कायानिष्ठ ब्रह्म की साधना को अत्यन्त आवश्यक मानते हैं—'जो कछु पिंडे सो ब्रह्मण्डे' उनकी साधना का एक मूल मन्त्र है । त्रिकुटी, चक्रभेद, इला, पिंगला, सुषम्ना, नौपौरी, दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र प्रभृति यौगिक साधनाओं द्वारा उसे प्राप्त किया जा

सकता है। हृदय मन की शुद्धता के साथ ही साधक को नैतिक आचरण की भी आवश्यकता है। साधक के लिए सर्वश्रेष्ठ साधना है प्रेम पीर की साधना—वस्तुतः इसी के माध्यम से जीव ब्रह्म की परमज्योति साक्षात्कार करता है।

(४) यह सर्वविदित है कि जायसी ने 'प्रेम की पीर' को सर्वाधिक महत्व दिया है। सूफी साधक एकमात्र प्रेम को ही मानता है। पदमावत में तो 'प्रेमपीर' ही काव्य का विषय है—पदमावत की कहानी प्रेमपीर की ही कहानी है।

इस साधना के क्षेत्र में गुरु का बड़ा महत्व है। वही विरह को प्रदीप्त करता है। उस 'चिनगी' को सुलगाने का काम तो चेला का है। इस दुर्गम पंथ पर साधक को अकेले ही चलना पड़ता है—

'कठिन खेल औ मारग संकरा। बहुतन्ह खाइ फिरे सिर टकरा॥
मरन खेल देखा जो हंसा। होइ पतंग दीपक महं धंसा॥
तन पतंग भिरिंग कै नाईं। सिद्ध होइ सो जुग-जुग ताईं॥
बिनु जिउ दिए न पावै कोई। जो मरजिया अमर भा सोई॥

जायसी ने अपनी समर्थ तूलिका से प्रेम-पंथ के साधक का एक अत्यन्त जीवंत चित्र दिया है—

प्रेम तन्तु तस लाग रहु, करहु ध्यान चित बांधि।
पारधि जैस अहेर कहं, काम रहै सर साधि॥

''यह प्रेम की एक लक्ष्य साधना ही रूपक रूप में रत्नसेन की पदमावती प्राप्ति की कहानी बन गई है।

(५) जायसी दर्शन के क्षेत्र में जीव, ब्रह्म और प्रकृति को तत्वतः एक मानते हैं। जहां-कहीं वे प्रकृति को 'उसकी' छाया कहते हैं, वहां प्रतिबिम्बवाद की झलक आ गई है। जो अन्तर है, वह माया के कारण नहीं है, शैतान की करनी है। शैतान के ही भुलावे में आकर जीव अपने जलाल और जमाल को भूल गया है। इसी से उसके, अल्लाह के और प्रकृति के बीच में परदा पड़ गया है।

जायसी ने मूलतः अद्वैतवाद के आधार पर ही अपने अध्यात्म जगत का निर्माण किया है—

'अस वह निरमल धरति अकासा। जैसे मिली फूल महं बासा॥
सबै ठांव औस सब परकारा। ना वह मिला, न रहै निनारा॥
ओहि जोति परछाहीं, नवौ खण्ड उजियार।
सूरुज चांद कै जोती, उदित अहै संसार॥'[1]

जायसी जीव और ब्रह्म के बीच में माया की संस्थिति को स्वीकार नहीं करते। अखरावट में एक स्थान पर माया का उल्लेख अवश्य है, परन्तु शंकर अद्वैत के

१—जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, १४६।

अर्थों में नहीं । सूफियों के एक प्रधान वर्ग का मत है कि नित्य पारमार्थिक सत्ता एक ही है । इस दृश्यमान अनेकत्व के बीच उसी का ही आभास मिलता है । यह नाम रूपात्मक दृश्य जगत उसीं एक मत की बाह्य अभिव्यक्ति है । परमात्मा का बोध इन्ही नामों और गुणों के द्वारा हो सकता है । इसी बात को ध्यान में रखकर जायसी ने कहा है –

'दीन्ह रतन विधि चार, नैन, बैन, सरवन्न मुख ।
पुनि जब मेटिहि मारि, मुहमद तब पछिताब मैं ।।"

इस परम सत्ता के दो स्वरूप हैं – नित्यत्व और अनंतत्व, दो गुण हैं – जनकत्व और जन्यत्व । शुद्ध सत्ता में न तो नाम है, न गुण । जब वह निर्विशेषत्व या निर्गुणत्व से क्रमश: अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आती है तब उस पर नाम और गुण लगे प्रतीत होते हैं । इन्हीं नाम–रूपों और गुणों की समष्टि का नाम जगत् है । सत्ता और गुण दोनों मूल में जाकर एक ही हैं । दृश्यजगत भ्रम नहीं है, उस परम सत्ता की आत्माभिव्यक्ति या अपर रूप में उसका अस्तित्व है । वेदान्त की भाषा में वह ब्रह्म का ही 'कनिष्ट स्वरूप है । हल्लाज के मत की अपेक्षा यह मत वेदान्त के अद्वैत के अधिक निकट है । 'मूर्त–अमूर्त सबको उस ब्रह्म का व्यक्त-अव्यक्त स्वरूप मानने वाले जायसी यदि उस ब्रह्म की भावना अनन्त सौंदर्य और अनन्त गुणों से सम्पन्न प्रियतम के रूप में करें, तो उनके सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं आ सकता । उपनिषदों में भी उपासना के लिए ब्रह्म की सगुण भावना की गई है । 'जायसी सूफियों के अद्वैतवाद तक ही नहीं रहे हैं, वेदान्त के अद्वैतवाद तक भी पहुँचे हैं । भारतीय मत-मतांतरों की उनमें अधिक झलक है ।"[१]

सूफी साधक भी 'अहं ब्रह्मास्मि' की ही भांति 'अनलहक' का प्रतिपादन करते हैं और इस प्रकार वे ब्रह्म की एकता और अपरिच्छन्नता का भी प्रतिपादन करते हैं । जीव और ब्रह्म की अद्वैत स्थिति का एक बड़ा बाधक तत्व 'अहंकार' है । अहंकार के कुहासे के फटते–छूटते ही इस ज्ञान का उदय हो जाता है कि सब मैं ही हूं 'मुझसे अलग कुछ नहीं है । जायसी 'सोऽहम्' की अनुभूति को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं –

(अहंकार)

'हौं – हौं कहत सबै मति खेई । जौ तू नाहिं आहि सब कोई ।।
आपुहि गुरु सौ आपुहि चेला । आपुहि सब और आपु अकेला ।।

(सोऽहम्)

सोहं सोहं बसि जो करई । जो बूझै सो धीरज धरई ।।

जीव ईश्वर की एकता के साथ ही जायसी जगत को ब्रह्म से अलग नहीं

१—जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, भूमिका, पृ० १४४–४५ ।

मानते। जगत की जो सत्ता प्रतीत हो रही है यह तो अवभास या छाया मात्र है, पारमार्थिक नहीं –

'जब चीन्हा तब और न कोई। तन, मन, जिउ, जीवन सब सोई ॥
हौं – हौं कहत धोख इतराहीं। जब भा सिद्ध कहां परछाहीं ?

स्पष्ट है कि जो नाम रूपात्मक दृश्यमान ज़गत है 'वह न तो ब्रह्म का वास्तव स्वरूप ही है और न ब्रह्म का कार्य या परिणाम ही है। वह है केवल अध्यास या भ्रान्तिज्ञान। उसकी कोई अलग सत्ता नहीं है। नित्य तत्व ब्रह्म एक ही है।'[1]

'प्रतिबिम्बवाद' की ओर जायसी ने पदमावत में बड़े ही अनूठे ढंग से संकेत किया है –

सरग आइ धरती महं छावा। रहा धरति पै धरत न आवा ॥

'स्वर्गीय अमृत-तत्व धरती में ही छाया हुआ है, पर पकड़ में नहीं आता। इस भाव को कवि ने 'अखरावट' में अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट किया है –

आपुहि आप जो देखे चहा। आपनि प्रभुता आपु सौं कहा ॥
सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन आपुहि देखा ॥
आपुहि बन और आपु पखेरू। आपुहि सौजा आप अहेरू ॥
आपुहि पुहुप फूलि बन फूलै। आपुहि भंवर बास रस भूलै ॥
आपुहि घट-घट महं मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै ॥
दरपन बालक हाथ, मुख देखै, दूसर गनै।
तस भा दुइ एक साथ, मुहमद एकै जानिए ॥

'आपुहि दरपन आपुहि देखा' से दृश्य और द्रष्टा, ज्ञेय और ज्ञाता का एक दूसरे से अलग न होना सूचित होता है। इसी अर्थ को लेकर वेदान्त में यह कहा जाता है कि कि ब्रह्म जगत का केवल निमित्त कारण ही नहीं, उपादान कारण भी है। 'आपुहि आप जो देखै चहा' का मतलब यह है कि जब अपनी ही शक्ति का लीला-विस्तार देखना चाहा। शक्ति या माया ब्रह्म ही की है। ब्रह्म से पृथक उसका कोई अस्तित्व नहीं। 'आपुहि घट-घट महं मुख चाहै।' अर्थात् प्रत्येक शरीर में जो कुछ सौन्दर्य दिखाई पड़ता है वह उसी का है। किस प्रकार एक ही अखण्ड सत्ता के अलग-अलग अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं यह बताने के लिए जायसी यह पुराना उदाहरण देते हैं –

"गगरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै ॥
सूरूज दिपै अकास, मुहमद सब महं देखिए ॥"[2]

१–जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, भूमिका, पृ० १४७।
२–जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, पृ० १४७–४८

'अखरावट' में जायसी ने उदारतापूर्वक इस्लामी भावनाओं के साथ भारतीय हिन्दू भावनाओं के सामञ्जस्य का प्रयत्न किया है। स्पष्ट है कि वे इस्लाम पर पूर्ण आस्था रखते हैं, किन्तु उनकी यह इस्लाम भावना सूफी मत की नवीन व्याख्याओं से संवलित हैं, योगमत के योगाचार-विधानों से मण्डित है और हिन्दू-मुस्लिम दोनों एक ब्रह्म की ही संतान हैं, की भावना से अलंकृत है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश के उल्लेख[१], प्रसंग वश 'अलिफ एक अल्ला बड़ मोई'[२] केवल एक स्थल पर 'अल्लाह का नामोल्लेख, कुरान[३] के लिये 'कुरान' और 'पुरान' के नामोल्लेख, स्वर्ग या विहिश्त के लिए सर्वत्र 'कैलाश'[४] या 'कबिलास' के प्रयोग, 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'अनलहक' के लिये 'सो हं'[५] का प्रयोग, इब्लीस या शैतान के स्थान पर 'नारद'[६] का उल्लेख, योग साधना के विविध वर्णन प्रभृति बातें इस बात की ओर इंगित करती हैं कि जायसी हिन्दू-मुस्लिम-भावनाओं में एकत्व को दृष्टि में रखते हुए समन्वय एवं सामञ्जस्य का प्रयत्न करते हैं। महात्मा कबीर ने भी इस दिशा में प्रयत्न किया था। कबीर ने बड़ी ही लापरवाही और अक्खड़ता से इसी सामञ्जस्य भावना की ओर इंगित किया था 'जौ तू तुरुक तुरुकनी जाया। आन बाट होइ काहे न आया॥' (कबीर) और जायसी ने भी हिन्दू-मुसलमानों की एकता के विषय में अत्यंत नम्रता पूर्वक कहा—

"तिन्ह संतति उपराजा, भांतिन्ह भांति कुलीन॥
हिन्दू तुरुक दुवौ भए, अपने अपने दीन॥[७]
मातु कै रक्त पिता कै बिन्दू। अपने दुवौ तुरुक औ हिन्दू॥[८]

जायसी की यह सामाञ्जस्य भावना उनके उदार मानवतावादी दृष्टकोण की परिचायिका है—

आखिरी कलाम

हस्तलिखित प्रतियाँ और सम्पादन

सर्वप्रथम 'आखिरी कलाम' का प्रकाशन फारसी लिपि में हुआ था। यह बहुत पुरानी छपी हुई थी'[९] सैयद कल्बे मुस्तफा साहब के परिश्रम के परिणाम स्वरूप

१—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा (अखरावट) पृ० ३०४।
२—वही, पृ० ३३०।
३—वही, पृ० ३२१,३३०।
४—वही, पृ० ३०७।
५—वही, पृ० ३१२, ३२८।
६—वही, पृ० ३०५—३२० (इबलीस), ३३१ (ना-नारद तब रोइ पुकारा)।
७—वही, पृ० ३०८।
८—वही, पृ० ३१३।
९—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा (वक्तव्य द्वितीय संस्करण, पृ० १)।

शेख नियामतुल्लाह साहब की कृपा से यह पुस्तक प्राप्त हुई और 'जायसी ग्रन्थावली के द्वितीय संस्करण में (१९३५ ई०) प्रकाशित होकर हिन्दी जगत के समक्ष आई।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'जायसी ग्रन्थावली' के वक्तव्य में लिखा है कि उन्होंने अपने सम्पादन में 'आखिरी कलाम' का भी पाठ शुक्लजी के संस्करण का ही रखा है। "उसकी एक लीथो प्रति लखनऊ के श्री सैयद कल्बे मुस्तफा जायसी से मिल गई। श्री कल्बे मुस्तफा जायसी का कथन था कि इसी प्रति से शुक्लजी ने भी उसका पाठ अपने संस्करण में दिया था। शुक्लजी के पाठ को इस प्रति के पाठ से मिलाने पर यह बात ठीक ज्ञात हुई, किन्तु इस प्रति में प्राय: प्रत्येक पंक्ति में एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा किए गये संशोधन भी हैं जिनका आधार संशोधकों की कल्पना के अतिरिक्त कदाचित और कुछ नहीं है। शुक्लजी ने अधिकतर संशोधनों को स्वीकार करते हुए और अपनी ओर से भी कुछ संशोधन करते हुए रचना का पाठ अपने संकरण में दिया है।[1]"

निर्माण काल

जायसी तीस वर्ष की आयु में काव्य-रचना करने लगे थे। 'आखिरी कलाम' का निर्माण उन्होंने १५३२ ई० (९३६ हि०) में किया। उससे पहिले बादशाह बाबर दिल्ली की गद्दी पर बैठ चुके थे जिसका उल्लेख कवि ने किया है—

बाबर साह छत्रपति राजा। राजपाट उन कहं विधि साजा॥
मुलुक सुलेमा कर ओहि दीन्हा। अदल दुनी ऊमर जस कीन्हा॥
अली केर जस कीन्हेसि खांडा। लीन्हेसि जगत समुंद भरि डांड़ा॥
बल हम जाकर जैस संभारा। जो बरियार उठा तेहि मारा॥
पहलवान नाए सब आदी। रहा न कतहु बाद कर बादी॥[2]

जायसी ने 'शाहेतख्त' बाबर की जो प्रशंसा की है, वह यथार्थ है। बाबर ने २१ अप्रैल १५२६ ई० को पानीपत के युद्ध में इब्राहीम लोदी को परास्त करके दिल्ली और आगरे पर अधिकार प्राप्त किया था[3]। १५३० ई० तक बाबर ने सभी प्रतिद्वंदियों को परास्त कर दिया था।[4]

कुछ लोगों का यह अनुमान है कि सम्भवत: : जायसी बाबरी दरबार में सम्मिलित हुए हों, क्योंकि उस समय तक मुगल राज्य जायस तक नहीं फैला

१—जायसी-ग्रन्थावली (हि० एकेडेमी) पृ० ३।
२—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३४१—४२।
३—ऐन एम्पायर बिल्डर आफ सिक्सटीन्थ सेन्चुरी—विलियम रशब्रुक, पृ० १३३—३५
४—दि मुगल एम्पायर फ्राम बाबर टू औरंगजेब : श्री एस० एम० जफर, पृ० २१।

था[1]। आखिरी कलाम की पंक्ति 'जायस नगर मोर अस्थानू' प्रकट है कि जायसी इस पंक्ति की रचना के समय जायस से भिन्न स्थान पर निवास कर रहे थे और वह स्थान सम्भवतया शाही दरबार था जिसकी प्रशंसा उन्होंने मुक्तकण्ठ से की है तथा जिस राजा की दान-वीरता को जी खोलकर सराहा है।[2]

मसनबी-पद्धति के अनुसार यह शाहेतख़्त की प्रशस्ति है। किन्तु क़िसी सुदृढ़ प्रमाण के अभाव में यह मानना कठिन है कि वे 'बाबरी दरबार में' निवास कर रहे थे। आखिरी कलाम में ही जायसी ने निर्माण-तिथि भी दी है–

"नौ सैं बरस छतीस जो भए। तब एहि कथा क आखर कहे ॥[3]

अर्थात् यह काव्य ९३६ हिजरी में लिखा गया।

आखिरी कलाम की कथा

जायसी ने इस काव्य के प्रारम्भ में मसनवी-शैली के अनुसार ईश्वर-स्तुति की है। अपने 'नौ सदी' में अवतार धारण करने का उल्लेख करके उन्होंने भूकम्प और सूर्य-ग्रहण के भी उल्लेख किए हैं। मुहम्मद-स्तुति, शाहेतख़्त बाबरशाह की प्रशस्ति और सैयद अशरफ की वन्दना, जायस नगर का परिचय, ९३६ हिजरी में इस काव्य के प्रणयन के उल्लेखों के पश्चात् कवि ने अत्यन्त हुलसित भाव से प्रलय-काल का वर्णन किया है। धरती को आज्ञा हुई और उसने द्रव्य उगलना शुरू किया। मार्जारी के सूंघने मात्र से ही लोग मरने लगे। पुन: मैकाइल को अनुमति मिली। उन्होंने अग्नि की घोर वर्षा की। सारी पृथ्वी जलने लगी। शत-शत मन की शिलाएं बरसीं-टूटीं। यह क्रम चालीस दिनों तक चला। संसार के समस्त जीव-जन्तु इसमें मर गए। जिबर ईल ने इस दृश्य को देखा और ईश्वर से निवेदन किया कि चलकर देख लीजिए संसार में कोई भी जीवित नहीं बचा है। मुर्दों के आधिक्य के कारण धरती की मिट्टी तक नहीं दिखाई देती।

पुन: मकाईल नामक फिरिश्ते को बुलाकर पृथ्वी पर जल बरसाने की आज्ञा दी गई। चालीस दिनों तक धारासार जल-वृष्टि होती रही। संपूर्ण संसार जलमग्न हो गया।

तत्पश्चात् इसराफील को आज्ञा दी गई। उन्होंने 'सूर' (तूर्य) नाद से सारे

१–सुल्तान पुर गजेटियर : भाग ३६, १९०३ पृ० १३४ (दी मुगल टू इन देयर फर्स्ट इनवेशन डू नाट सी टू हैव टूबुल्ड सुलतानपुर)।

२–आखिरी कलाम – दोहा ८, ३४१–४२।

३–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ३४३ (१३।१) डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'तब एहि कबिता आखर कहे।'पाठ दिया है – जा० ग्रं०, हि० ए० पृ० ६९१ (१३।१)।

संसार को उड़ा दिया, पृथ्वी एवं आकाश कांपने लगे, चौदहो भुवन झूले की तरह झूलने लगे। उनकी प्रथम फूंक से नदी–नाले समतल हो गए। दूसरी फूंक पर पहाड़ और समुद्र एक हो गए। चांद, सूर्य, तारे सब टूट-टूट कर गिर गए।

इसके पश्चात् अजराईल को आज्ञा हुई कि समस्त जीवों को ले आए। अजराइल ने एक-एक करके जिबराईल, मकाईल और इसराफील को मार डाला। तब ईश्वर ने उस यम–'अजराईल'–से पूछा–"अब तो कोई नहीं बचा।" उसने कहा- "अब मेरे और आपके सिवा कोई नहीं बचा। ईश्वर ने अजराईल के भी प्राण ले लिए।"

चालीस वर्षो तफ ऐकान्तिक जीवन के पश्चात् ईश्वर ने सोचा, मैंने ही यह सम्पूर्ण संसार बनाया है, किन्तु अब कोई मेरा नाम लेनेवाला भी नहीं है। मैं इन समस्त पड़े हुओं को पुन: उठाऊंगा और 'सरात' के पुल पर से चलाऊंगा, कौसर में स्नान कराके जीवों को बैकुंठ में भेजूंगा।

सर्वप्रथम चारो फिरिश्ते जीवित किए गए। जिवराइल ने पृथ्वी पर आकर मुहम्मद को पुकारा। लाखों स्वरों ने समवेत भाव से उत्तर दिया। उन्होंने घबड़ा कर ईश्वर के पास जाकर निवेदन किया, "हे गुसाई, मैं उन्हें कहां पाऊं ? धरती पर मेरी पुकार के उत्तर में लाखों स्वर एक साथ सुनाई पड़ते हैं। मैं किसे यहां लाऊं ?"

पुन: जिबराईल को भेजा गया, उन्होंने मुहम्मद को ढूंढ निकाला। वे अपने अनुयायियों के साथ उठे। वे सब नंगे थे। उन सब के तालू में आंखें थीं। सब स्वर्ग की ओर देख रहे थे। एक ओर मुहम्मद, दूसरी ओर जिबराईल और बीच में वे सब-सब के सब तीस सहस्त्र कोस लम्बे 'पुले सरात' के अत्यन्त संकरे पथ पर चले। पापी पुल के नीचे 'पीप' के सागर में गिर पड़े।

ईश्वर की आज्ञा से सूर्य फिर से देदीप्यमान हुआ। उसी आलोक में समस्त खड़े जीवों का लेखा-जोखा होने लगा। सूर्य लगातार छः महीने तक चमकता ही रहा और वहां प्रकाश ही प्रकाश–दिन ही दिन रहा। कुछ ताप से व्याकुल जल रहे थे, कुछ पिपासा से पीड़ित हुए और जो धर्मी थे उनके सिर पर छांह थी–उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं था। सवा लाख पैगंबर भी वहां थे। मुहम्मद साहब को आज्ञा दी गई कि वे अपने अनुयाइयों को सामने लाएं। मुहम्मद ने निवेदन किया कि यदि आपकी आज्ञा हो, तो धर्मी जनों को पहले ले आऊं। ईश्वर ने कहा कि मैं पहले पापियों को दंड देना चाहता हूं। अत: उन्हें ही ले आओ। पश्चात् मुहम्मद साहब ने आदम, ईसा, इब्राहीम, नूह आदि को एक-एक पैगंबर के पास जाकर उनकी ओर से ईश्वर से बिनती करने को कहा। परंतु कोई प्रस्तुत न हुआ। आदम ने कहा, "मैं तो स्वयं दु:ख में हूं, गेहूं खाकर झंझट में फंस गया हूं।" मूसा ने कहा,

'हे रसूल, मैं फरऊ' बादशाह से झगड़ा करके स्वयं विपत्ति में फंसा हू' । जब किसी ने साथ नहीं दिया, तो रसूल ने ईश्वर से आकर स्वयं प्रार्थना की। ईश्वर ने क्रोधित होकर फातिमा बीबी को बुलवाया । सब ने आखें बन्द कर लीं । फातिमा बीबी ने हसन हुसेन को ईश्वर के यहां प्रस्तुत करते हुए न्याय की याचना की । उन्होंने कहा कि यदि मेरा न्याय न किया गया तो शाप दू'गी और सारा आसमान जल जायगा। ईश्वर ने मुहम्मद से कहा कि यदि वे अपनी बेटी को शान्त न करेंगे, तो उनके सब अनुयायी नरक में डाल दिए जाए'गे। फातिमा ने जब देखा कि अन्य पैगम्बर तो अहं में हैं और उसके पिता (मुहम्मद) धूप में अपने अनुयायियों के सुख के लिए मारे-मारे फिर रहे हैं, तो मुहम्मद और उनके अनुयायियों के संकट को देखकर बीबी फातिमा का हृदय पानी-पानी हो गया। ईश्वर मुहम्मद साहब पर प्रसन्न हो गए। हसन-हुसैन को मारने वाले यजीद को ईश्वर ने नरक में डाल दिया । ईश्वर ने मुहम्मद साहब के कारण सबको क्षमा कर दिया। कौसर के पवित्र जल में सबको स्नान कराया गया। मुहम्मद साहब और उनके अनुयायियों की इस प्रसन्नता के उपलक्ष्य में ईश्वर ने दावत दी। भांति-भांति के स्वर्गीय भोजनों के पश्चात् सबको 'शराबुन्तहूरा' (स्वर्गीय शराब) दी गई । स्वर्ग में जाने के पहले मुहम्मद साहब की प्रार्थना पर ईश्वर ने अपने दिव्य स्वरूप के दर्शन दिए। दर्शन की मूर्च्छना में सब तीन दिन तक मूर्च्छित पड़े रहे। जिबराईल ने सबको जगाया और दिव्य वस्त्र पहन कर सब स्वर्ग में गए। स्वर्ग में सबके लिए आनन्द और हूरें प्रस्तुत थीं ।

—इस काव्य का अन्त जायसी ने स्वर्ग के अनंत विलास और अनन्त आनन्द के वर्णन के साथ किया है। स्वर्ग में न नींद है, न मृत्यु, न दुःख है न व्याधि, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है—

"नित पिरीत नित नित नव नेहू । नित उठि चौगुन होइ सनेहू ।।
तहां न मीचु, न नींद दुख, रह न देह महं रोग ।
सदा अनन्द मुहम्मद, सब सुख माने भोग ।।
—ज० ग्रं०, पृ० ३६१, दोहा ६० ।

नाम

जब कि जायसी ने इस ग्रंथ के प्रारम्भ में शाहेतख्त बाबर शाह की प्रशस्ति की है, 'सन नवसै छतीस जब भए। तब एहि कथा क आखर कहे ।।' प्रभृति पंक्तियां लिखी हैं। तब भी हिन्दी के नामी-गरामी कई लोगों ने आलोचक बनने के जोश में यह मान ही लिया है कि यह जायसी का 'आखिरी कलाम' है अर्थात् 'अंतिम रचना' है।

वस्तुतः ऐसा कहने का इन विद्वानों के पास कोई आधार नहीं हैं। कई लोगों ने तो 'आखिरनामा' य 'आखरियत नामा' को ही 'अधिक समीचीन' नाम माना है और

कहा है कि "लेखक की असावधानी से किंवा जनश्रुति के आधार पर परिवर्तित नाम 'आखिरी कलाम' प्रसिद्ध हो गया हो। ग्रन्थ के वर्ण्य विषय के विचार से भी 'आखिरनामा' बहुत ही उपयुक्त जंचता है।"[1] कुछ लोगों को 'आखिरी कलाम' का शब्दिक अर्थ ठीक बैठता दिखाई नहीं देता"[2] कौन-सा नाम अधिक समीचीन है कौन सा नाम किसी आलोचक को अधिक जंचता है और लेखक (जायसी या प्रतिलिपिकार) की असावधानी से नाम 'आखिरी कलाम' हो गया हो, ऐसी कल्पनाएं उचित नहीं हैं। वस्तुतः यह प्रलय (आखिरी समय) के वर्णन से सम्बद्ध जायसी का 'कलाम' है।[3] यह कहना कि 'जायसी के अन्य काव्यों के अनुकरण पर इसका भी नाम 'आखिरीनामा' होना 'चाहिएं,[4] यह प्रस्ताव ही असंगत है। स्पष्ट है कि इस ग्रंथ में सृष्टि के अन्तिम दृश्य का वर्णन होने से अन्तिम वर्णन का काव्य अर्थात् 'आखिरी कलाम' नाम देना ही जायसी ने उचित समझा था। यह कहना कि 'यह नाम निस्संदेह नाम की शिथिलता, अपरिपक्व विचारधारा आदि का द्योतक है', कवि के प्रति अन्याय है। क्योंकि आज तक के प्राप्त उल्लेखों, परंपराओं, ग्रन्थनामों और हस्तलेखों में सर्वत्र 'आखिरी कलाम' ही नाम मिलता है और इस नाम में कोई भी अपरिपक्वता नहीं है। इस नाम में वर्ण्य-वस्तु का पूर्ण इंगित है, यह नाम पूर्णतः कलात्मक और कवित्वपूर्ण है, अर्थवत्ता और व्यंजकता भी इस नाम में दर्शनीय हैं और इस नाम में एक दर्शन का कमाल भी है।

कलाम से व्युत्पन्न 'कलाम पाक', 'कलाम-मजीद', 'कलामुल्ला' प्रभृति शब्दों का विशिष्ठ अर्थ कुरान से लगाया जाता है। कुरान को इस्लाम में 'आखिरी कलाम' भी कहा जाता है। कुरान में अन्तिम रसूल पर अल्लाह की कृपाओं और नियामतों का उल्लेख है। प्रलयकाल का पूर्ण विवरण भी दिया हुआ है। जायसी ने अपने 'आखिरी- कलाम' को इस्लाम के 'आखिरी कलाम' (कुरान) के ही अनुकरण पर बनाया है। प्रलय और अंतिम न्याय के दृश्य पूर्णतः इस्लाम-सम्मत हैं। यह अवश्य है कि प्रस्तुत काव्य में मुहम्मद साहब की महत्ता का मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है। कुरान और प्रस्तुत ग्रन्थ 'आखिरी कलाम' दोनों के प्रलय वर्णन आदि एक से हैं। इस्लाम मजहब के अनुयायियों के लिए जायसी ने मुहम्मद साहब के प्रति

१–सूफी महाकवि जायसी : डा० जयदेव, पृ० ६२-६३।

२–म० मु० जायसी : डा० कमल कुल श्रेष्ठ, पृ० ४६।

३–आदर्श हिन्दी शब्दकोश : रामचन्द्र पाठक, पृ० १८६ (कलाम-वचन कथन, वक्तव्य बातचीत) तथा हिन्दुस्तानी-इंगलिश डिक्शनरी (कलाम-वक्तृता साहित्यिक कृति अथवा आपत्ति)।

४–सूफी महाकवि जायसी : डा० जयदेव, पृ० ६४।

जिस भक्ति और आस्था विश्वास का प्रतिफल न प्रस्तुत काव्य में किया है वह उन्हें 'आखिरी कलाम के समकक्ष ही प्रतीत हुआ था और यही कारण है कि जनता के विश्वास और मुहम्मद साहब के प्रति आस्था को दृढ़तर करने के लिए जायसी ने 'आखिरी कलाम नाम ही अत्यन्त उपयुक्त समझा था।

पीर महिमा

'आखिरी कलाम' से लगता है कि कवि 'बिन गुरु ज्ञान मिलत नाहीं' का समर्थक हो चुका है। पीर की महत्ता पर उसकी पूर्ण आस्था है। सैयद अशरफ उसके प्यारे पीर हैं। पीर के द्वार की सेवा (मुरीदी) से ही मनवांछित फल की प्राप्ति हो सकती है –

"मानिक एक पाएउं उजियारा। सैयद असरफ पीर पियारा॥
जहांगीर चिस्ती निरमरा। कुल जग महं दीपक विधि धरा॥
समुद माहं जो बाहति फिरई। लेतै नावं सौहं होइ तरई॥
तिन्ह घर हौं मुरीद सो पीरू। संवरत बिनु गुरु लावत तीरू॥
जो अस पुरुषहिं मन चित लावै। इच्छा पूजै, आस तुलावै॥
जौ चालिस दिन सेवै, बार बुहारै कोइ।
दरसन होइ 'मुहम्मद', पाप जाइ सब धोइ॥"[1]

प्रस्तुत पंक्तियों में 'जो अस –– तुलावै' विशेष द्रष्टव्य है। अनेक लोग सैयद अशरफ जहांगीर को भी जायसी का गुरु मानते हैं। 'गुरु-परम्परा' के सिलसिले में स्पष्ट किया जा चुका है कि जायसी के जन्म के बहुत पहले ही सैयद अशरफ की मृत्यु हो चुकी थी। वे तो स्पष्ट रूप से जायसी के पूज्य पीर थे जिनका 'मनचित से ध्यान लाने मात्र से ही इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

'आखिरी कलाम' में कुल मिलाकर ४२० अर्द्धालियां और ६० दोहे हैं। वास्तव में 'आखिरी कलाम' कवि की अप्रौढ़ रचना है। कवि ने कुरान में 'आखिरी दिन' का जो वर्णन पढ़ा था, उसे स्वान्तः सुखाय और बहुजन हिताय 'आखिरी कलाम' में दोहे चौपाई और सहज अवधी भाषा के माध्यम से कह दिया है। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान–दोनों के लिए 'आखिरी कलाम, सुलभ हो गया।

शिया विचारधारा

कहा जा चुका है कि प्रलय (कयामत) के दिन का वर्णन कुरान-सम्मत है। सूफी मत विशेष रूप से शिया मुसलमानों में प्रिय रहा है। यहां पर फातिमा–पुत्र

१–जा० ग्र० ना० प्र० सभा, ३४२ (दोहा सं० ९)

हसन-हुसेन की मृत्यु के लिए मुहम्मद साहब के अनुयायियों को गुनहगार ठहराया गया है। रसूल के आग्रह पर और बीबी फातिमा की कृपा पर उन्हें क्षमा मिल गई है। यजीद को सजा मिली है। मूलत: यह शिया-शेखों की विचारधारा है। इसीलिए लगता है कि जायसी शिया थे या शिया सम्प्रदाय की ओर उनका झुकाव था।

इस्लामी धर्म-दर्शन

आखिरी कलाम की कथा ही 'इस्लामी मजहब' के हश्र (प्रलय) दिन की कथा है। प्राय: सभी सामी मतों में ईश्वर को एक कठोर शासक के रूप में माना गया है। सर्वत्र उसके आतंक और प्रकोप की ही प्रधानता है। इस काव्य में जायसी ने लिखा है, जब सूर्य, चन्द्र प्रभृति सेवकों को ग्रहणादि का त्रास मिलता है, तो जन सामान्य की क्या बात ?–

"ताकहं अैसा तरासै, जो सेवक अस नित।
अबहुं न डरसि, मुहम्मद, काह रहसि निहचित ।।
जा० ग्र०, ना० प्र० सभा, पृ० ३४०।

उसने ही धरती, गिरि, मेरु पहाड़, स्वर्ग, सूर्य चांद, तारे और अठारह सहस्र योनियों को बनाया है, जो जीवन में उसका नाम नहीं लेता उसे वह नर्क में डाल देता है–

"सहस अठारह दुनिया सिरै। आवत जात जातना करै ।।
जेइ नहिं लीन्ह जनम महं नाऊं। तेहि अहं कीन्ह नरक महं ठाऊँ ।।
सो अस दैउ न राखा, जेइ कारन सब कीन्ह।
दहुँ तुम काह 'मुहम्मद एहि पृथवी चित दीन्ह ।।"[१]

ईश्वर को उसकी आज्ञा का उल्लंघन पूर्णत: असह्य है–

"आयसु इबलीसहुँ जौ टारा। नारद होइ नरक महं पारा ।।"[२]

उसने 'फरऊँ' बादशाह को घोर नरक दिया है। शदाद ने बिहिश्त के नमूने पर अपना स्वर्ग बनवाया था। ईश्वर ने उसे द्वार के अन्दर पैठते ही मार डाला–

"जौ शदाद बैकुण्ठ संवारा। पैठत पौर बीच गहि मारा।
जो ठाकुर अस दारुन, सेवक तइं निरदोख।
माया करै मुदम्मद, तौ पै होइहि मोख ।।"[३]

इबलीस ने ईश्वर से प्रतिद्वंद्विता की। उसने आदम को बहका कर गेहूँ खिला

१–जा० ग्र०, ना० प्र० सभा, पृ० ३४१ (७)।
२–वही। ३– वही।

दिया ।[1] ईश्वर संसार का कर्त्ता[2] पालक और संहारक है–

"भंजन, गढ़न, सवारन, जिन खेला सब खेल ।
सब कहं टारि मुहम्मद अब होइ रहा अकेल ॥"[3]

उसने संपूर्ण सृष्टि का उद्भव और विकास मुहम्मद साहब की प्रीति के लिए ही किया है–

"जेहि हित सिरजा सात समुन्दा । सातहु दीप भए एक बुन्दा ।
तर पर चौदह भुवन उसारे । बिच-बिच खंड-बिखंड संवारे ॥
सो अस दैउ न राखा, जेहि कारन सब कीन्ह ।"[4]
"तुम तहं एता सिरजा, आप कै अंतर हेद ।
देखहु दरस मुहम्मद आपनि उमत समेत ॥"[5]

जायसी ने 'पुले–सिलवात' एवं 'कौसर'–स्नान का उल्लेख किया है–

पुल सिलवात पुनि होइ अमेरा । लेखा ले अंब (उमत ?) सबकेरा ॥"[6]

आखिरी कलाम में अन्तिम दिन के न्याय का चित्रण कवि का प्रतिपाद्य है । ईश्वर के चार फिरिश्तों और उनके कार्यों के भी उल्लेख इसमें मिलते हैं ।

जायसी के मानस में बिहिश्त के लुत्फ, शराबुन्तहूरा[7] हूरें, गिल्में, विलास एवं परमानन्द–भोग[8] आदि झूल रहे थे । आखिरी कलाम के अन्त में इन सब के उल्लसित वर्णन मिलते हैं–

"चालिस चालिस हूरैं सोई । औ संगलागि बियाही जोई ॥"
"औ सेवा कहं अछरिन्ह केरी । एक एक जनि कहं सौ-सौ चेरी ॥"[9]
"पैठि बिहिस्त जौ नौ निधि पैहै । अपने अपने मंदिर सिधैहैं ॥"[10]
"नित पिरीत नित नव-नव नेहू । नित उठि चौगुन होइ सनेहू ॥"
नित्तइ नित्त जो बारि बियाहै । बीसौ बीस अधिक ओहि चाहै ॥
तहां न मीचु न नींद दुख, रह न देह महं रोग ॥
सदा अनन्द मुहम्मद, सब सुख मानैं भोग ॥[11]

१–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, भूमिका, पृ० ३४१–४२ ।
२–वही, पृ० ३३६ (दोहा १-२) ३–वही, पृ० ३५७ ।
४–वही पृ० ३४१ । ५–वही पृ० ३५७ (दोहा ५०) ।
६–वही । ७–वही पृ० ३५७ (दोहा ५०) ।
८–वही पृ० ३५६ (दोहा ५६-५७) ।
९–वही पृ० ३५८ (दोहा ५३ । ६–७) ।
१०–वही पृ० ३५६ (दोहा ५७।१) । ११–वही पृ० ३६१ (दोहा ६०) ।

जीव–सृष्टि–ब्रह्म

जायसी ने कुरान एवं अन्यान्य इस्लामी धर्म-ग्रन्थों को ही आधार मानकर 'आखिरी कलाम' की रचना की है। जायसी मुसलमानी एकेश्वरवाद पर विश्वास रखते थे। इस ग्रन्थ में 'सूफी'–सिद्धान्तों और मतों का प्रतिपादन नाम मात्र का ही है। वस्तुतः इसमें मुहम्मद साहब की प्रशस्ति का गान ही मुख्य विषय रहा है।

इस काव्य के अध्ययन से लगता है कि जायसी पर अद्वैतवाद का जादू पूर्णतः चढ़ा हुआ था–

अद्वैतवादी के अनुसार–'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः' अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त संसार मिथ्या है–

"सांचा सोइ और सब झूठे। ठांव न कतहुँ ओहि के रूठे ॥"[१]

यह संसार मिथ्या किंवा असार स्वप्नवत है–

यह संसार सपनकर लेखा [२]

इस दृश्य जगत में जो कुछ है सब में ईश्वर का प्रतिबिम्ब है–

"सबै जगत दरपन कै लेखा। आपन दरसन आपुहि देखा ॥[३]

ईश्वर या ब्रह्म अकेला था। उसने अपने कौतुक [४] के लिए सम्पूर्ण संसार को बनाया सजाया है–

"अपने कौतुक कारन, मीर पयारिन हाट"[५]

अठारह सहस्र योनियों का 'करतार' भी वही है। सब में उसी का प्रतिबिम्ब दर्शनीय है। वही इन समस्त जीवों का निर्माण करता है, पालन-रक्षण करता है और संहार करने के पश्चात् अकेला रहता है–

"भंजन गढ़न, संवारन जिन खेला सब खेल।
सब कह टारि, मुहम्मद, अब होइ रहा अकेल ॥"[६]

'आखिरी कलाम' में आए हुए जीव ब्रह्म एवं सृष्टि से संबद्ध ये वे सांकेतिक बिन्दु हैं जिनका विकास 'पदमावत' में हुआ है।

'आखिरी कलाम' मूलतः एक कथा प्रधान रचना है। इसमें इस्लाम धर्म के अनुसार अन्तिम दिन की कथा कही गई है। इसकी भाषा साधारण है। अलंकृति

१–जा० ग्र० ना० प्र० सभा पृ० ३४० (४)। २–वही '
३–वही पृ० ३४२ (दोहा १०१७)।
४–"स एकाकी न रमते तस्मातेतत् द्वितीयम ऐच्छत।" एको हं बहुस्याम की इच्छा से ही ब्रह्म ने लीलार्थ सृष्टि की है।
५–जा० ग्र० ना० प्र० सभा पृ० ३४२। ६–वही पृ० ३४७।

और रसमयता का इसमें प्रायः अभाव है। वर्णनात्मकता का ही सर्वत्र प्राधान्य है। इस ग्रन्थ की अवधी में फारसी, अरबी और कुरान के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह विशेष महत्वपूर्ण नहीं है।

चित्ररेखा

चित्ररेखा की प्रतियां

चित्ररेखा के संपादन[1] में दो हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया गया है। हैदराबाद के सालार – ए – जंग संग्रहालय वाली प्रति का नाम सुविधा के लिए 'प्रति क' और अहमदाबाद वाली प्रति का नाम 'प्रति ख' रख लिया गया है। अहमदाबाद वाली प्रति के अंतिम पृष्ठ गायब हैं, कुछ स्थल दीमकों के शिकार हो चुके हैं, फिर भी उसके पाठ शुद्ध हैं और लिखावट सुन्दर है।

चित्ररेखा की एक हस्तलिखित प्रति 'उस्मानियां विश्वविद्यालय' के पुस्तकालय[2] में है, सुना है यह प्रति पूर्ण और सुन्दर है। 'चित्ररेखा' का रचना – काल अज्ञात है, पर इतना अवश्य है कि इसकी रचना के समय कवि वृद्ध हो चला था–

"जेवं जेवं बूढ़ा तेवं तेवं नवा"

प्रतिलिपिकाल

सालार – ए – जंग संग्रहालय वाली प्रति में उसके लिपिक ने अंत में लिखा है।

'तम्मत तमाम शुद पोथी चित्ररेखा, सिन तसनीफ मलिक मुहम्मद जायसी, दर अहद मुहम्मद शाह बादशाह गाजी, बतारीख दो आज दहम, सहर, रजब, मुआफिक ११२७ फसली मुताबिक ११३३ हिजरी बरोज मंगरवार, बवक्त दोपहरी अजखत कमतरीन दयाराम भटनागर, बातमाम रसीद।'

इस प्रकार इसका प्रतिलिपिकाल ११२७ हि० है।

चित्ररेखा की कथा

जायसी ने पदमावत की ही भाँति 'चित्ररेखा' का प्रारम्भ भी इस समस्त जगत् के 'एक' सर्जनकर्ता की वन्दना के साथ किया है। उस एक करतार राजा ने ही 'चौदह भुवनों को साजा है, अठारह सहस्र योनियां उसी ने रची हैं, उसी ने स्वर्ग बनाकर धरती को रचा है, उसी ने चाँद, सूर्य, तारे वन, समुद्र और पहाड़ सर्जन किये हैं, उसी ने वर्ण-वर्ण की सृष्टि उत्पन्न की है। उसने ही जीवों की

१–चित्ररेखा : हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, निवेदन–भूमिका।

२–उस्मानियां यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी हस्तलिखित प्रति।

चौरासी लाख योनियां बनाई हैं, उसने सबके लिए भुगुति (भोजन) और निवास भी दिये हैं, उसने मनुष्य रचा और उसे बड़प्पन देते हुए सर्वश्रेष्ठ बना दिया[१]। समस्त सृष्टि – सूरज, चांद, तारे, धरती, गगन, विद्युत, मेघ – मानों एक डोर से बांधे हुए हैं और ये सब डोर में नाथे हुये काठ की भांति नर्तन करते रहते हैं[२]। पहले सर्वत्र शून्य था, पुनः स्थूल रूप में उसने जगत का निर्माण किया। उस घोर अन्ध-कूप में ज्योति हुई, ज्योति से एक मोती की निष्पत्ति हुई, मोती से अपार जल हुआ, फेन-राशि उठी और आकाश उठ गया –

"दूसरे फेन उहै जल जामा। मैं धरती उपजइ सवनामा॥"

एक वृक्ष की दो डालें हुई उन दोनों से अन्य-अन्य प्रकार प्रादुर्भूत हुए। वह तरुवर फलता है, झरता है लोग फूल भी कहते हैं, संसार की अठारह सहस्र शाखायें (योनियां) हैं और वह (ईश्वर) स्वयं रसमूल है[३]।

इसके बाद जायसी ने सृष्टि के उद्भव की कहानी कहते हुए 'करतार' की प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा है। इसके बाद मुहम्मद साहब और उनके चार यारों का वर्णन करके पूरे दो दोहों में जायसी ने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम कवि ने अपने प्यारे पीर सैयद अशरफ जहांगीर चिश्ती को अपना पीर कहकर स्वयं को उनके द्वार का मुरीद कहा है।

"कालपी के शेख बुरहान महदीं गुरु हैं, उन्होंने ही मुझे प्रेम-प्याला पंथ" दिखाया है[४]। इसके पश्चात् कवि ने अपने विषय में एक विनम्रोक्ति दी है –

'मुहमद मलिक पेम मधु भोरा। नाउं बड़ेरा दरसन थोरा[५]॥" आदि।

इस संक्षिप्त भूमिका के साथ कवि ने चित्ररेखा की कथा प्रारम्भ की है। चन्द्रपुर नामक एक अत्यन्त सुन्दर नगर था। वहां के राजा का नाम चन्द्रभानु था। यह नगर गोमती के तट पर सुशोभित था। वहां के सभी मन्दिर मणि-खचित थे – चाहे वे राजा के हों या रंक के। उन प्रासादों के कलश सोने के ढले हुये थे। वहां की स्त्रियां तो साक्षात् स्वर्ग की अप्सराओं के समान थीं। राजमन्दिरों में ७०० रानियां थीं। उनमें प्रधान पट्टरानी थीं – रूपरेखा – वह अत्यन्त लावण्यमयी थी। उसके गर्भ के बालिका का जन्म हुआ, आनन्द – बधाये बजे। ज्योतिषी और गणक आये। उन्होंने उसका नाम चित्ररेखा रखा और कहा कि यह निष्कलंक चांद के समान अवतरित हुई है, रूप, गुण एवं शील में यह अन्यतम होगी। आज इसका जन्म तो चन्द्रपुर में हुआ है, किन्तु यह कन्नौज की रानी होगी। धीरे-धीरे चांद की

१–चित्ररेखा : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, सं० – पं० शिवसहायक पाठक।
२–वही, पृ० ६६। ३–वही, पृ० ६७।
४–चित्ररेखा – शिवसहाय पाठक, पृ० ७४। ५– वही, पृ० ७५।

कला के समान वह बढ़ती ही गई। दसएं वर्ष के आते — ही पूनम के चांद जैसा उसका वदन प्रकाशमान हो उठा, भौंरे, सर्प और शेष नाग जैसे उसके केश हो गए। उस गोरी की ज्योति शरद-पूनम की ज्योति थी। उस खंजन-नयन की भौंहें धनुष के समान, बरुनी बाणों के समान और पलकें तलवार के समान हो गईं।

सावन में वह सखियों के साथ हिंडोला झूलती थी। जब वह सयानी हुई, तो राजा चन्द्रभानु ने वर खोजने के लिए अपने दूत भेजे। वे ढूंढते—ढूंढते सिंहद देश के राजा सिंघनदेव के यहां पहुँचे और उसके कुबड़े बेटे के साथ सम्बन्ध तै कर दिया।

कन्नौज के राजा थे कल्यानसिंह। उनके पास अपार जन धन एवं पदाति, हस्ति आदि सेनायें थीं। सर्व सम्पन्न होने पर भी एक पुत्ररत्न के अभाव में वे बड़े दु:खी थे। घोर तप के उपरान्त उनके यहां एक राजकुमार का जन्म हुआ। पंडित और सामुद्रिक आए। उन्होंने कहा कि इस बालक का जन्म उत्तम घरी में हुआ है, उसका नाम प्रीतम कुँवर रखा और कहा कि यह भाग्यवान अल्पायु है, उसकी आयु केवल बीस वर्ष की है। जब उसे इस बात का पता चला और उसकी आयु के केवल अढ़ाई दिन शेष रह गये, तो वह राज-पाट छोड़कर घोड़े पर सवार होकर काशी में अन्त गति लेने के लिए चल पढ़ा। उधर राजा सिंघनदेव अपने कुबड़े बेटे का विवाह राजकुमारी चित्ररेखा के साथ करने के लिए आए। राजा उसी बाग में आकर उतरे, जहां कन्नौज का राजकुमार धूप और यात्रा के श्रम से विकल होकर एक पेड़ की सुखद छाया-तले सो रहा था। राजकुमार उठा, तो सिंघन देव ने उसके पैर पकड़ लिए और उसकी पुरी और नाम पूछा और विनती की कि हम इस नगर में ब्याहने आये हैं। हमारा वर कुबड़ा है, तुम आज रात विवाह कराकर कल चले जाना।

सिंघनदेव ने उसे बीरा दिया, उसे वर के रूप में सजाया गया। उसने सोचा कि कहाँ हम काशी-गति के लिए चले थे और कहां बीच में ही विवाह होने लगा। राजा चन्द्रभानु के अगुआ लोगों ने दूल्हे को देखा, तो वे फूले नहीं समाये। बारात चन्द्रभान के द्वार पर पहुँची। सखियों ने दूल्हे को देखकर चित्ररेखा से बड़ी-बड़ी बातें कीं। बड़े ठाट—बाट से विवाह हुआ। धौरहरे के सातवें खण्ड में उन दोनों को सुलाया गया। प्रीतमसिंह के हृदय में अपनी आसन्न मृत्यु का स्मरण करके बड़ी विकलता हुई। उसे चैन कहाँ? वह पीठ देकर लेटा रहा। पिछला प्रहर होने लगा। राजकुमारी के अंचल पट पर प्रीतम सिंह ने लिखा—'मैं कन्नौज के राजा का पुत्र हूँ। जो विधाता ने लिख दिया है वह अमिट है। मेरी मात्र २० वर्ष की आयु थी। वह पूर्ण हो गई, अब वह पुन: लाई नहीं जा सकती। कल दोपहर के पूर्व मैं काशी में मोक्ष-गति प्राप्त करूंगा। मैं तो सहज ही काशी जा रहा था कि सिंघनदेव ने

आकर मेरा तुम्हारे साथ विवाह करा दिया। तुम्हारे लिये यह झंखना हुआ और मुझे यह दोष लगा। यह लिखकर वह घोड़े पर बैठकर काशी को चल पड़ा। प्रातःकाल जब तारे डूबने लगे तो सखियां आईं। उन्होंने देखा कि धन्या सोई हुई है—उसके सब साज-सिंगार अछूते हैं। उन्होंने उसे जगाते हुए कहा कि उठो प्रातः काल हो गया। तुम्हारा कान्त किधर है? तुम्हारी सेज पर फूल वैसे ही हैं जैसे हमने बिछाए थे। तुम्हारे अंग भी अछूते—अनालिगित हैं। तुमने किस अवगुण के कारण पति की सेज को स्वीकार नहीं किया। चित्ररेखा ने कहा—'मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं। मुझे उसका दर्शन नहीं मिला। केवल पीठ ही देखी।' यह कहते समय उसकी दृष्टि अंचल-पट के लेख पर पड़ी और उलने कहा—'कुँवर तो सहज स्वभाव से काशी चले गये। अब मैं अप्सरा बनकर उनकी सेवा करूंगी और चिता में जल कर स्वर्ग में उनसे मिलूंगी।' इतना कहकर उसने अपना सिंधोरा मंगवाया और माँग में सिंदूर भरकर एवं पति के पठ के अंचल में गाँठ जोड़कर वह चिता में बैठ गई। उसने कहा—प्रियतम ने यह 'फेंटा' देकर मेरा सम्मान किया है। अब इसी फेंट को गृहीत करके मैं स्वर्ग में जाऊंगी। प्रिय, तुमने मुझे इस प्रकार भुला दिया, पर मैं नारी हूँ। मैं स्वयं को जलाकर तुमसे मिलूंगी।'

प्रीतम कुंवर ने काशी में आकर मरण के लिए चिता बनाई। मरने से पहले खूब दान देना शुरू किया। बड़े-बड़े सिद्ध महात्माओं ने आकर उसे घेर लिया। उन्हीं में व्यास जी भी आये। सबको दान देने के पश्चात् राजकुमार ने कहा 'गुसाईं, आप भी लीजिये।' उसने 'भर मूठी' दान दिया। व्यास जी के मन में प्रेम उमड़ आया और उन्होंने 'चिरंजीव तुम होहु' का आशीष दे ही दिया। राजकुमार ने साश्चर्य कहा—'मैं तो जल मरने को प्रस्तुत हूँ। हे गुसाईं, यह 'चिरंजीव' कैसा। यदि जीवन मोल मिल सकता, तो किसी को भी देते हुए न खटकता। पर वह कहीं नहीं मिलता। फिर भी तुमने मरते हुए मुझे जीवन का आशीष दिया है। अतः लगता है कि तुम कोई बड़े पिता हो, पालक हो—जिनके दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। "व्यास जी ने भी इस बात को मन में समझ लिया और उन्होंने कहा कि जो मुख से निकल गया वह अन्यथा नहीं हो सकता। मैं व्यास हूँ और विधाता ने मेरे मुख से वह बात कहवा कर तुम्हारे जीवन की अवधि को बढ़ाया है। हे कुँवर, घर जाओ। तुम्हारा नया जन्म हो गया है।"

व्यास जी के चरणों का स्पर्श करके वह घोड़े पर चढ़कर चन्द्रपुर की ओर चला। इधर चित्ररेखा के लिये चिता सजाई जा चुकी थी। वह उस पर बैठ चुकी थी, केवल आग लगाने भर की देर थी। चित्ररेखा अंचल पर लिखे हुए लेख को पढ़कर सोच रही है—'प्रियतम के मरण की घड़ी आ जाय तो मैं भी चिता में आग देकर उसके साथ ही जल जाऊं।' जैसे वह घड़ी पूर्ण होने को आई और यह इच्छा

कर रही थी कि आग लेकर चिता में लगा दूँ, ठीक इसी समय प्रीतमसिंह का आगमन हुआ। उन दोनों की आंखें मिलीं। उसके हाथ की अग्नि हाथ में ही रह गई। उसने लज्जावश अपना सिर ढंक लिया। वह चिता से उतर कर मन्दिर की ओर चली। राजकुमार के चिरंजीवी होने की बात चारो ओर फैल गई। बाजे बजने लगे। दैव ने आज शोक के मध्य सुख और भोग की निष्पत्ति की। जिनके हृदय में सच्चा वियोग होता है वे वियोगी अश्वमेव मिलते हैं।

सखियों ने चित्ररेखा को पुन: जड़ाऊ हार आदि से खूब अलंकृत किया और कहा—'आज तुम्हारे कान्त तुम्हें भेंटना चाहते हैं। समस्त संताप आज मिट जायेंगे। प्रियतम की सेवा में जिसका मन लगा है, उसका सोहाग दिन पर दिन बढ़ता ही रहता है। जो सेवा करते हैं वे दसवीं दशा तक पहुँच जाते हैं और जो खेलते रहते हैं वे पीछे पछताते हैं।

चित्ररेखा के कुछ विशिष्ट आकर्षण

'आदि एक बरनौ सो राजा' मसनवी-पद्धति एवं मंगलाचरण-विधान के अनुसार जायसी ने चित्ररेखा के प्रारम्भ में 'करतार' राजा की वन्दना की है—

आदि एक बरनों सो राजा।
जाकर सबै जगत यह साजा॥

वह सर्वव्यापी है—

चौदह भुवन पूर कै साजू। सहस अठारह भू जइ राजू॥
सरग साजि कै धरती साजी। बरन बरन सिष्टी उपराजी॥[1]

स्पष्ट है कि उसी करतार राजा ने ही समस्त जगत को साजा है, चौदह भुवन उसी ने साजा है, अठारह सहस्र योनियां उसी ने रची हैं—

साजे चांद सुरुज औ तारा। साजे बन कहं समुद पहारा॥
जीया जोनि लाख चौरासी। जल थल माहं कीन्ह सब बासी॥
सब कहं दीन्हेउ भुगुति निवासू। जो जिन्ह थान सो ताकर बासू॥
सब पर मानुस सरा गोसाईं। सबै सरा मानुष कै ताईं॥[2]

यह द्रष्टव्य है कि जायसी ने इस्लाम के अनुसार 'सहस अठारह' और हिन्दुत्व के अनुसार 'जीया जोनि लाख चौरासी' दोनों की बातें कह दी हैं। इस संसार में ईश्वर ने जितनी वस्तुयें बनाई हैं, सब अस्थिर हैं। उसने इस सृष्टि के पीछे एक 'ताजन' (कोड़ा) लगा रखा है—

"तिन्ह ताजन डर जाए न बोला। सरग फिरइ जौ धरती डोला॥[3]

१—चित्ररेखा — शिवसहाय पाठक, पृ० ६५।
२—वही,। ३—वही, पृ० ६६। ११–१२

चांद, सूर्य, मेघ, विद्युत, धरती, स्वर्ग – सभी उसी के इंगित से परिचालित हैं–

"नाथे डोर काठ जस नाचा। खेल खेलाइ फेरि गहि खांचा ॥[1]

सृष्टि का उद्भव – (जगत)

जायसी ने लिखा है कि आदि में सर्वत्र महाशून्य था–

औ सुन भा जौ अहा अचीन्हा। फुन अस्थूल भएउ जग कीन्हा ॥[2]

उस निराकार ब्रह्म (अचीन्हा) ने स्थूल (व्यक्त सत्ता) होते हुए जगत की रचना की। उस अन्धकूप (महाशून्य) में उसने ज्योति को आलोकित किया[3]। उस ज्योति से एक मोती की निष्पत्ति हुई। उस मोती से अपार जल-राशि हुई। फेन उठा और मेघ या आकाश भी उठ गया। वही फेन जम कर धरती के रूप में परिणित हो गया। जब ब्रह्म ने इस सम्पूर्ण जगत का निर्माण किया, तो उसे नमूने या अभ्यास की आवश्यकता न हुई।[4]

वह आदि सत्ता इन अठारह सहस्र जीव कोटियों में व्यक्त हुई हैं।[5]। यह जगत उसने द्विधामूलक बनाया है–

"जौवै चित तें चरइ औ चलैं। होइ दो पाइ मन्दइ औ गलै ॥

सुख दुख पाप पून व्यवहारू। होइ दोइ चलै चलेउ संसारू ॥

सेत स्याम रचना औ रंगा। जहां पेड़ छांह तिन संगा ॥

धरती सरग देवस औ राती। दुहुन डार साखा सब भांती ॥[6]

एक वृक्ष की दो शाखायें हुईं, उन दोनों से अन्यान्य शाखायें हुईं।[7] उसने जगत को द्वैतमूलक बनाया। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, श्वेत-श्याम, धरती-स्वर्ग, दिन-रात-इसी द्वैत के आधार पर संसार चलता है।[8]

जीव, ब्रह्म और जगत की एकता के विषय में जायसी की आस्था है। स्वर्गीय अमृत तत्व इसी जगत में परिव्याप्त है, पर पकड़ में नहीं आता–

आपु आप चाहेसि जौ देखा। जगत सानि दरपन कै लेखा ॥

घट-घट जस दरपन परछाहीं। नान्हे मिला दूर फुनि नाहीं ॥

१–वही, पृ० ६६। ११–१२।

२–चित्ररेखा, शिवसहाय पाठक, ६७। ३–४।

३–कुरानशरीफ।

४–चित्ररेखा, शिवसहाय पाठक, पृ० ६७।

५–वही, पृ० ६७ (सहस अठारह साखा, आपु भएउ रस मूलु)।

६–वही, पृ० ६८।

७–वही, पृ० ६७।

८–वही, पृ० ६८।६।

हौं तो दोउ बीच की काई। जब छूटी तब एक होइ जाई ॥
हिय कर दरपन मन कर मंजन। देखु आपु महं आपु निरंजन ॥[1]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि दृश्य और द्रष्टा, ज्ञेय और ज्ञाता एक दूसरे से अभिन्न हैं। 'आपु आप चाहेसि जब देखा' अर्थात् जब ब्रह्म ने अपनी ही शक्ति की लीला का विस्तार देखना चाहा। वह प्रत्येक 'घट' में 'दरपन-परछाई' की भांति व्याप्त है। उस निरञ्जन-निराकार को 'अपने' में देखा जा सकता है।

उस ईश्वर की सत्ता काष्ठ में, अग्नि और दूध में घी के सदृश अनुस्यूत है, जो मनसा मंथन करता है वही उसे पाता है। जो भौर के समान केतकी के कांटे से अपना हृदय प्रेम की पीर से छेद-बेध लेता है वही दु:ख सहने के पश्चात् उसे पाता है, जैसे चींटा गुड़ को –

अगिन काठ धिव खीर सो कथा। सो जानी जो मन दइ मथा।
भंवर भयउ जस केतकि कांटा। सो रस पाइ होइ गुरु चांटा ॥[2]

प्रेम की सर्वोच्चता

विरह-प्रेम की निष्पत्ति एवं बाह्याडम्बर तथा निष्प्रेम साधना की निस्सारता –

जायसी प्रेम-पंथ के एक महान् साधक – संत थे। प्रेम-पंथ में उन्होंने प्रेम पीर की महत्ता का प्रतिपादन किया है। व्यर्थ की तपस्या काय-क्लेश एवं वाह्या-डम्बर को वे महत्वहीन मानते थे। वे प्रेमप्रभु की प्राप्ति के लिये 'हृदय में विरह' का होना अत्यंत आवश्यक मानते थे –

का भा परगट कया पखारें। का भा भगति भुइं सिर मारें ॥
का भा जटा भभूत चढ़ाए। का भा गेरु कापरि लाए ॥
का भा भेस दिगंबर छांटे। का भा आपु उलटि गए कांटे ॥
जो भेखहि तजि मौन तू गहा। ना बग रहैं भगत बे चहा ॥
पानिहिं रहइं मंछि औ दादुर। टागे नितहिं रहहिं फुनि गादुर ॥
पसु पंछी नांगे सब खरे। भसम कुम्हार रहइं नित भरे ॥
बर पीपर सिर जटा न थोरे। अइस भेस की पावसि भोरे ॥
जब लगि विरह न होइ तन, हिये न उपजइ पेम।
तब लगि हाथ न आव तप–करम–धरम–सत नेम ॥[3]

जायसी ने अपने समय में कृच्छ-काय-क्लेश और नाना विध बाह्याडम्बर

१–चित्ररेखा – शिवसहाय पाठक, पृ० ६९।
२–वही, पृ० ६९।
३–चित्ररेखा, शिवसहाय पाठक पृ० ७०।

वाली साधनाओं को देखा था, उन्हें लक्ष्य करके वे कहते हैं कि "प्रकट भाव से काया प्रक्षालन से कोई फायदा नहीं। धरती पर सिर पटकने वाली साधना व्यर्थ है। जटा और भभूत बढ़ाने-चढ़ाने का कोई मूल्य नहीं है। गैरिक वसन धारण करने से क्या होता है? दिगंबर योगियों का-सा रहना भी बेकार है। कांटे पर उत्तान सोना और साधक होने का स्वांग भरना निष्प्रयोजन है। देश-त्याग कर मौन व्रती होना भी व्यर्थ है, कहीं बगुला भी मौनी बनकर भगत होते हैं? पानी में ही तो मछली और मेढक भी रहते हैं (अत: जल में लगातार रहना और साधक होने का दम भरना निस्सार है), चमगादड़ पंछी भी तो अपने को टांगे रहता है (अत: पैर ऊपर करके सिर नीचे करने वालों की शीर्षासनी साधना से भी कुछ नहीं होता)। पशु पक्षी नंगे वदन रहते हैं (अत: मनुष्य की नंगे वदन रहने वाली दिगम्बरी साधना से भी कुछ नहीं होता) कुम्हार भी तो भस्म से नित्य प्रति सना रहता है (अत: भसम रमाने से क्या होता है?) क्या बट और पीपल में कुछ कम जटायें हैं? अरे भोले ऐसे केश-वेश से कहीं ईश्वर मिलता है? जब तक विरह नहीं होता – हृदय में प्रेम की निष्पत्ति नहीं हो सकती। बिना प्रेम के तप, कर्म, धर्म और सत नेम की सच्चे अर्थों में प्राप्ति नहीं होती। स्पष्ट है कि जायसी सहज प्रेम-विरह की साधना को ही सर्वश्रेष्ठ साधना मानते हैं।

चित्ररेखा का मार्मिक संदेश

चित्ररेखा मूलत: एक छोटी-सी प्रेम-कथा है। दैव की कृपा से कभी-कभी शोक के भीतर से सुख और भोग का अद्भुत संयोग उत्पन्न हो जाता है। वे विछोही प्रेमी अवश्यमेव मिलते हैं जिनके हृदय में सच्चा वियोग होता है अर्थात् सच्चे प्रेमियों का विछोह मिलनजन्य आनन्द में बदल ही जाता है–

'दई आन उपराजा, सोग माहं सुख भोग।
अवस ते मिलै बिछोही, जिन्ह हिय होइ वियोग ॥'[१]

दु:ख में सुख का भोग उत्पन्न होना, तो भगवान् की ही कृपा का परिणाम है। यह वह कृपा है जो सच्चे प्रेमी की प्रेम-परीक्षा के पश्चात् अनायास सुलभ होती है।

इस द्विधामूलक सृष्टि के विषय में लिखते हुए उन्होंने प्रेम के विषय में लिखा है–

'दुहुन जो बार एक दिसि राखे। सो फल प्रेम प्रीति-रस चाखे ॥'[२]

१–चित्ररेखा–शिवसहाय पाठक, पृ० १११।
२–वही, पृ० ६८।११–१२।

वस्तुत: ईश्वर की सत्ता काष्ठ में अग्नि और दूध में घी के समान है, जो मन देकर उसका मंथन करता है वह उसे जानता है। इसके लिए जो साधक भौंर के सदृश केतकी के कांटे से अपना हृदय प्रेम की पीर से छेद-बेध लेता है वही दुःख सहने के पश्चात् उस रस का आस्वाद पाता है।

'अगिन काठ घिव खीर सोक था। सो जानी जो मन देइ मथा॥
भंवर भएउ जस केतकि कांटा। सो रस पाइ होइ गुर चाँटा॥'[१]

जो प्रेम-प्रभु आज प्रकट रूप में मिला हो, उससे क्यों न मिल लिया जाय? कल मिलने की आशा लिए हुए पुन: अवधि रखने का क्या प्रयोजन?[२]

जायसी ने जगत-निर्माण की बात लिखते हुए कहा है–

'प्रेम पिरीति पुरुख एक लिया। नाउं मुहम्मद दुहुं जग दिया॥
अंधकूप भा अहा निरासा। ओनकै प्रीति जोति परकासा॥'[३]

अर्थात् ईश्वर ने प्रेमपूर्वक मुहम्मद को बनाया और उस महाशून्य में उन्हीं की प्रीति के कारण ज्योति प्रकाशित की। अपने महदीं गुरु शेख बुरहान की प्रशस्ति करते हुए उन्होंने प्रेम के विषय में कहा है कि उन्होंने ही मुझे प्रेम-प्याला-पंथ 'लखाया' है—इस झूठे जग के धंधे को तजकर जिसने सच्चा प्रेम-पंथ पा लिया, जिसने प्रेम-प्याला पी लिया और प्रेम में चित्त को बांध दिया वही सच्चा प्रेमी और साधक है।[४]

अपने विषय में कवि ने कहा है कि "मैं प्रेम मधु भोरो हूं। हाथ में प्याला और साथ में सुराही है–प्रेम प्रीति का पूर्णत: (बहुत दूर तक) निर्वाह कर रहा हूं।"[५] "वे स्वयं प्रेम पंथ के पथिक हैं, घर में ही उदास हैं उस प्रेम प्रभु का वे कभी मन से स्मरण करते हैं और 'कबहुं टपक' उबास रहते हैं।"[६]

सावन और हिंडोले का वर्णन करते हुए जायसी ने 'प्रेम के खेल' की महत्ता स्पष्ट की है–"जब तक यह नैहर है, तभी तक यह प्रेम का खेल है अत: जबतक यहां हो–खूब खेल लो।"[७] "सभी रानियां नवल प्रेम-रस-रांची और प्रेम प्यारी थीं, वे सब की सब प्रेम रंग-रांची अभय भाव से नाच रही थीं।"[८]

कनौज में कल्यान सिंह नामक राजा के घर में पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम भी प्रेम और प्रीति से ही सम्बद्ध 'प्रीतम कुंवर' रखा गया। जब प्रीतमकुंवर

१–वही पृ० ६६। ११–१४।
२–चित्र रेखा–शिवसहाय पाठक, पृ० ९, १५–१६।
३–वही, पृ० ७१।१–४।
४–वही, पृ० ७४।७ से १६ तक।
५–वही, पृ० ७५।
६–वही, पृ० ७६। १५–१६।
७–वही, पृ० ८४।
८–वही, पृ० ८३।

काशी-गति के लिए रानी चित्ररेखा को सोता छोड़कर चला गया, तो रानी ने कहा कि "हे प्रियतम, जो तुमने मुझे इस प्रकार भुला दिया है, तो मैं भी सच्ची पतिव्रता कहलाऊँगी, जब अपने आपको जलाकर तुम से मिलूँगी। यहाँ पर रानी चित्ररेखा की प्रीति का उज्ज्वल पातिव्रत्य रूप प्रस्तुत किया गया है :

"जो तुम पिउ हौं अइस बिसारी। आपुहि जारि मिलौं तो नारी।।"[1]

'चित्ररेखा' प्रसादांत या प्रेमान्त कथा-काव्य है जायसी ने इस कथा का अन्त अवध-भोजपुर जनपद में लोक-ख्यातिलब्ध और प्रेम-महत्ता की प्रतिपादिका उक्ति से ही किया है-

"कोटिक पोथी पढ़ि मरे, पंडित भा नहिं कोइ।
एकै अच्छर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होइ।।"

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि चित्ररेखा में आदि से लेकर अंत तक प्रेम की ही महत्ता का गुणगान किया गया है।

मुहम्मद साहब और उनके चार मीत

सृष्टि के आदि में ईश्वर ने एक पुरुष रचा, उसका नाम मुहम्मद रखा। उन्हीं की प्रीति के कारण उसने उस अंधकूप (महाशून्य) में ज्योति को प्रकाशित किया। वे स्वतः अपनी ज्योति से प्रदीप्त थे, उन्हीं की ज्योति से अन्य सब प्रकाशित हैं। यह एक सूक्ष्म बात है कि उनसे ही यह संपूर्ण संसार हुआ है, वे हजरत नबी रसूल सब के अगुआ हैं-

"प्रेम पिरीति पुरुष एक किया। नाउं मुहम्मद दुहुं जग दिया।
अंधकूप भा अहा निरासा। ओनकै प्रीति जोति परकासा।।
उनतें भा संसार सपूरन, सुनहु बैन अस्थूल।
वे ही सब के अगुआ, हजरत नबी रसूल।।[2]

हजरत मुहम्मद के चार मीत (चार यार या चार खलीफा) उत्तराधिकारी हुए। उन चारो को दोनों लोकों में प्रतिष्ठा दी। उनमें प्रथम अबूबकर सिद्दीक थे, उन्होंने इस्लाम में सत्य की प्रतिष्ठापना की है, दूसरे हैं उमर अदल, वै जब दीन में आए, तो जगत में न्याय (अदल) फैला उन्होंने अन्याय की बात सुनकर अपने पुत्र को मरवा डाला। तीसरे खरीफा मित्र हैं उसमान। ये बड़े विद्वान और गुणी थे। उन्होंने सुन्दर पुराण कुरान लिखकर सुनाया। और चौथे हुए रणगाजी अली जो सिंह की तरह शक्तिसंपन्न थे।[3] जायसी ने इन 'चार मीतों' की प्रशस्ति में

१-चित्ररेखा-शिव सहाय पाठक पृ० १०१।१५-१६-१०७ तथा पृ० १०७,६-११।
२-चित्ररेखा-शिवसहाय पाठक, पृ० ७१। ३-वही पृ० ७२।

लिखा है—

चारिहूँ चहूँ खण्ड भुइं गहै। दौलत अहै जो अस्थिर रहै ॥
पापत रहा मारि सब काढ़ा। भा उजियार धरम जग बाढ़ा ॥
हुए मीत अस चारों, जौ मति करहिं न डोल।
पढ़हिं सारे अरथा वहीं चारि अरथ एक बोल ॥[१]

पीर परम्परा का उल्लेख

जायसी ने पदमावत—अखरावट की ही भांति चित्ररेखा में भी पीर (संत) परम्परा का विशद उल्लेख किया है —सैयद अशरफ अत्यन्त प्यारे पीर हैं, मैं उनके द्वार का मुरीद हूँ। वे जहांगीर चिश्ती वंश के थे, संसार-सागर के बीच उनका धर्म का यान सजा है। हाजी अहमद, शेख कमाल-जलाल और शेख मुबारक का जायसी ने प्रशस्तिपूर्ण उल्लेख किया है—

सैयद असरफ पीर पियारा। हौं मुरीद सेवौं तिन बारा।
जहांगीर चिस्ती वै राजै। समुद माहिं बोहित किन साजै ॥
उलंघि पार दरियावै गहे। भए सो पार करी जिन गहे ॥

— — —

हाजी अहमद हाजी पीरू। दीन्ह बांह जिन समुद गंभीरू ॥
शेख कमाल जलाल दुन्यारा। दुऔ सो गुनन बहुत बहु बारा ॥
असमखदूम बोहित लाइन, धरम करम कर चाल।
करिआ सेख मुबारक, खेवट सेख जमाल ॥[२]

जायसी ने यहाँ पर सैयद अशरफ जहांगीर चिश्ती की पीर-परम्परा का उल्लेख किया है। ये फैजाबाद जिले के कछौछा के चिश्ती-संप्रदाय के सूफी संत थे, जो आठवीं शती हिजरी के अन्त और नवमीं शती के आरम्भ में जायसी से बहुत पहले हुए थे। जायसी उनके घराने के बड़े भक्त थे।"[३]

जायसी जायस में रहते थे। सैयद अशरफ साहब की दरगाह वहां अब तक विद्यमान है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने सैयद अशरफ को जायसी का दीक्षा गुरु माना है। शुक्लजी के अनेक नकलची विद्वानों ने भी शुक्लजी के वाक्य को अपना बना लिया है, पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। जायसी सैयद अशरफ को अत्यन्त प्रिय पीर मानते थे। सैयद अशरफ की मृत्यु जायसी के जन्म से काफी पहले ८०८ हिजरी

१—वही, पृ० ७२।

२—चित्ररेखा—शिवसहाय पाठक, पृ० ७३।

३—पदमावत—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३८।

में हो चुकी थी। कुछ लोग उनकी मृत्यु तिथि ८४० हि० मानते हैं।[1] अतः वे जायसी के दीक्षा गुरु नहीं हैं। हां, यह सच है कि जायसी अशरफी परम्परा के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हैं।"[2]

गुरु–परम्परा

जायसी ने पदमावत[3] एवं अखरावट के अतिरिक्त चित्ररेखा में भी अपनी गुरु–शिष्य–परम्परा का वर्णन किया है। उन्हों ने लिखा है–

महदीं गुरू सेख बुरहानू। कालपि नगर तेहिंक अस्थानू॥
मक्कइ चौथहि कहं जस त्यागा। जिन्ह वैं छुए पापतिन्ह भागा॥
सो मोरा गुरु तिन्ह हौं चेला। धोवा पाप पानि सिर मेला॥
पेम पियाला पंथ लखावा। आपु चाखि मोहिं बूंद चखावा॥
सो मधु चढ़ा न उतरइ कावा। परेउं माति पाएउं फेरि आवा॥
माता धरती सो भइ पीठी। लागी रहइ सरग सों दीठी॥

सैयद राजे हामिद शाह मानिकपुर के बहुत बड़े सूफी संत थे, एवं उनके शिष्य दानियाल खिज्री थे, एवं उनके शिष्य सैयद मोहम्मद महदी हुए। इनका १५०४ ई० में देहान्त हुआ था। इनके शिष्य अलहदाद हुए और उनके शिष्य शेख बुरहान कालपी वाले हुए, जो महदी की परम्परा में होने के कारण स्वयं भी 'महदी गुरु' कहलाए। 'महदीं गुरु शेख बुरहानू' ने पदमावत की निम्नलिखित पंक्तियां द्योतित हो उठती हैं–

गुरु महदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिन्हकर खेवा॥
अगुआ भएउ शेख बुरहानू। पंथ लाइ जेहिं दीन गियानू॥"[5]

इस प्रकार चित्ररेखा के प्रकाशन से यह सिद्ध हो जाता है कि कालपी नगर के शेख बुरहानू के पश्चात् कोई मेहदी या महदी नामक संत जायसी के गुरु नहीं थे, बल्कि शेख बुरहानू के दादा गुरु और शेख अलहदाद के गुरु सैयद मोहम्मद महदी के विरुद के अनुसार स्वयं शेख बुरहान की महदी गुरु के विरुद से प्रसिद्ध हो गए थे।[6]

१–अखबार उल अख्यार–धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक–डा० रामखेलावन पाण्डेय।
२–जा० ग्रं०, : सं० डा० माताप्रसाद गुप्त (पदमावत) १३१–३२।
३–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, (पदमावत) पृ० ८ (दोहा २०)
४–वही, (अखरावट), पृ० ३२२ (दोहा २७)।
५–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ८ (दोहा २०।१२)
६–चित्ररेखा–शिवसहाय पाठक, भूमिका, पृ० १४–१५

कवि का अपने विषय में कथन

सर्वप्रथम जायसी ने अपने विषय में लिखा है कि 'सैयद अशरफ प्यारे पीर हैं और मैं उनके द्वार का मुरीद हूँ।'[1] पश्चात् शेख बुरहान महदी गुरु का स्तवन करते हुए उन्होंने कहा है–

'सो मोरा गुरु तिन्ह हौं चेला। धोवा पाप पानिसिर मेला।
पेम पियाला पंथ लखावा। आपु चाखि मोहिं बूँद चखावा।।
जो मधु चढ़ा न उतरइ कावा। परेउं माति पाएउं फेरि आवा।।'[2]

इसके पश्चात् तो उन्होंने बड़े ही विनम्र ढंग से अपने विषय में लिखा है––

मुहमद मलिक पेम मधु भोरा। नाउं बड़ेरा दरपन थोरा।।
जेवं-जेवं बूढ़ा तेवं-तेवं नवा। खूदी कई खयाल न कवा।।
हाथ पियाला साथ सुराही। पेम पीतिलइ ओर निबाही।।
बुधि खोई और लाज गंवाई। अजहूँ अइस धरी लरिकाई।।
पता न राखा दुहवइ आंता। मता कलालिन के रस मांता।।
दूध पियावइ तैस उधारा। बालक होइ परातिन्ह बारा।।
रोवउं लोटउं चाहउं खेला। भएउ अजान चार सिर मेला।।
पेम कटोरी नाइकै मता पियावइ दूध।
बालक पीया चाहइ, क्या मंगर क्या बूध।।[3]

इन पंक्तियों से लगता है कि ये प्रेम-मधु के भ्रमर थे (प्रेम-मधु-माते थे); उनका नाम तो बहुत बड़ा था, पर वे 'दरसन-थोरा' थे। ज्यों-ज्यों वृद्धावस्था आ रही थी, त्यों-त्यों उनमें अभिनवता का सन्निवेश हो रहा था। 'अजहूं अइस धरी लरिकाईं।' से स्पष्ट है कि इनकी अवस्था अधिक हो चली थी, और 'चित्ररेखा' इनकी वृद्धावस्था की रचना है। संसार की 'अस्थिरता' का वर्णन करते हुए जायसी ने एक अन्य स्थल पर भी इसी प्रकार का इंगित किया है–

'यह संसार झूठ थिर नाहीं। तरुवर पंखि तार परछाहीं।।
मोर मोर कइ रहा न कोई। जोरे उवा जग अथवा सोई।।
समुद तरंग उठै अंध कूपा। औ बिलाहिं सब होइ होइ रूपा।।
पानी अइस बुलबुला होई। फूट बिलाहिं मिलइं जल सोई।।
मलिक मुंहम्मद पंथी, घर ही माहिं उदास।
कबहूं संवरहि मन कैं, कबहूं टपक उबास।।'[4]

१–चित्ररेखा–शिवसहायक पाठक, भूमिका, पृ० ७३।
२–चित्ररेखा : शिवसहाय पाठक, पृ० ७४।
३–वही, पृ० ७५। ४–वही पृ० ७६

यद्यपि इन पंक्तियों में संसार की अस्थिरता (जन्म-मृत्यु) एवं वैराग्य विषयक बातें कही गई हैं, बुल्ले, तरंग आदि प्रतीकों के माध्यम से जन्म के पश्चात् 'विलाने' (विलीन होने) की बातें स्पष्ट की गई हैं, तो भी 'जोरे उवा जग अथवा सोई' के द्वारा कवि ने अपनी वृद्धावस्था की ओर इंगित कर ही दिया है, क्योंकि वे गत जीवन का मानो सर्वेक्षण करते हुए कह रहे हैं –'जो जग नीक होत अवतारा। होतहिं जनम न रोवत बारा ॥'

चित्ररेखा में उन्होंने अन्यत्र भी अपने विषय में लिखा है–

मुहमद सायर दीन दुनि, मुख अंब्रित बैनान।
बदन जइस जग चन्द सपूरन, सूक जइस नैनान ॥[1]

स्पष्ट है कि उनका बदन तो सम्पूर्ण चन्द्र के सदृश था, पर नेत्र शुक्राचार्य जैसे ही थे।

दोहा-चौपाई

'चित्ररेखा' की कथा मसनवी शैली में लिखी गई है। 'दोहे–चौपाई' वाली छन्द परम्परा को ही जायसी ने यहां भी गृहीत किया है। सम्भवत: जायसी ने सात अर्द्धालियों के पश्चात् एक दोहे का विधान किया था, किन्तु जिन दो प्रतियों के आधार पर 'चित्ररेखा' का सम्पादन हुआ है, उनमें इस क्रम का निर्वाह सर्वत्र नहीं है।

मुझे प्रो० राजकिशोर जी पाण्डेय से ज्ञात हुआ है कि उस्मानिया विश्व-विद्यालय वाली हस्तलिखित प्रति पूर्ण है और उसमें सात अर्द्धालियों के पश्चात् एक दोहे का विधान आद्यन्त मिलता है। 'चित्ररेखा' की प्रतियां फारसी अक्षरों में हैं, कुछ तो प्रतिलिपिकार के अधिक गच-पच और कुछ पुरानी लिखाई और इन सबने मिलाकर कहीं-कहीं मात्रा-सम्बन्धी कमी-वेशी का दोष उपस्थित कर दिया है। यों डा० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है कि पदमावत आदि में जायसी ने दोहे–चौपाई का स्वतन्त्र प्रयोग किया है। फिर भी 'चित्ररेखा' में जहां भी यह दोहा था, प्रस्तुत विद्यार्थी ने विचार-विमर्श किया है। स्वयं डा० माताप्रसाद जी गुप्त[2] ने एक पत्र भेजकर कुछ स्थलों के स्थान पर अपना प्रस्तावित पाठ भेजा है।

कहरानामा

'कहरानामा' की एक हस्तलिखित प्रति 'कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस,

१–चित्ररेखा : शिवसहाय पाठक, पृ० ७७।
२–डा० माताप्रसाद गुप्त का पत्र, दिनांक १७।६।६०।

लन्दन' में सुरक्षित हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त[1] ने इसे नाम के अभाव में 'महरी बाईसी' नाम से संपादित किया है। वस्तुतः इसका नाम 'कहरानामा' है।

लन्दन वाली प्रति में पदमावत और कहरानामा दो ग्रंथ हैं। इसमें कुल १८० पृष्ठ हैं। इस कहरानामा में बाईस छन्द हैं। इस प्रति का रचना-काल ११.१४ हि० है।

'कहरानामा की एक अत्यन्त सुन्दर हस्तलिखित प्रति रामपुर स्टेट, पुस्तकालय[2] में हैं। इस प्रति में भी 'पदमावत' और 'कहरानामा' ग्रन्थ सुरक्षित हैं। कहरानामा की इस प्रति में कुल २५ पृष्ठ हैं। इसमें रचनाकाल ९४७ हि० दिया गया है।

११ जुल–हिजाब हि० १०८५ (२६ फरवरी १६७५ ई०) को लेखक ने इसकी प्रतिलिपि शुरू की थी और १ मुहर्रम १०८६ हि० (१८ मार्च १६७५ ई०) अर्थात् २० दिन में समाप्त किया था। यह फारसी लिपि में लिखी गई प्रति है। इसमें जबर, जेर, पेश आदि सर्वत्र दिए गए हैं। शब्दों के नीचे उनका फारसी में अर्थ भी दिया गया है। इसके लिखने वाले हैं मुहम्मद शाकिर।

इसकी[3] एक प्रति बिहार के मनेरशरीफ खानकाह से श्री सैयद हसन अस्करी को प्राप्त हुई है। इसकी लिपि उर्दू है। यह यद्यपि पूर्ण नहीं है, पर सुलिखित है। मेरे पास इसकी एक फोटोस्टेट प्रति है। इसमें कुल ८ पत्र हैं। इसके अन्त में इसका प्रतिलिपि काल दिया हुआ है। 'कहरानामा' की एक प्रति आनन्दभवन पुस्तकालय बिसवाँ, जि० सीतापुर में है। इसमें १२ पत्र हैं। प्रत्येक पृष्ठ में ३६ पंक्ति हैं। लिपि नागरी हैं। लिपिकाल १७७० (सं० १८२७) है।[4]

इस प्रति के आरम्भ में 'अथ' कहरानामा 'लिख्यते' दिया गया है। अन्त में लिखा है—

कहरानामा भाषा कीन्हा जो गावै सो तरिहै रे।
राम नाम परमारथ महिमा रामै पार उतरि है रे॥

१—जा० ग्रं० (महरी बाईसी पृ० ७११–७२१), सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, भूमिका, पृ० १०४।

२—बम्बई विश्वविद्यालय के लाइब्रेरियन श्री मार्शल जी ने इस प्रति की माइक्रोफिल्म कापी मंगा कर मुझे उपकृत किया है। यह प्रति आज भी मेरे पास सुरक्षित है।

३—इसकी दो प्रतियां जायस में मिली हैं, देखिए ना० प्र० पत्रिका, २०१७ अंक १।

४—ना० प्र० सभा हस्तलिखित हिन्दी ग्रथों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण, सन् १९२६–२८, पृ० ४३१।

'नामा' उत्तरपद फारसी का है। इसी कारण डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का अनुमान है कि 'इस ग्रन्थ का पूर्व पंद भी हिन्दी से इतर भाषा का होना चाहिए, जैसे कूजानामा, रजनामा इत्यादि। उनके अनुसार इसका नाम 'कहरनामा' चाहिए।'[1]

वस्तुत: मध्ययुग में फारसी के अनुकरण पर 'नामा' उत्तरपद वाले बहुत से ग्रन्थ लिखे गये। हिन्दी में भी इस प्रकार के कुछ प्रयत्न हुए हैं। कहरानामा का कहरा मूलत: वही शब्द मालूम होता है जो कबीर में भी आया है। बिरहुली, चौंतीसी आदि के साथ कबीर ने कहरा भी लिखा है। कहरा और क़हरवा संभव है एक हों। कहरवा अवधी का एक गीत है।[2]

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी[3] की सम्मति है कि यह काव्यरूप वही है जिसे कबीर ने भी लिखा है। यह काव्य रूप और भी संत कवियों में मिलना चाहिए। कबीर ने बीजक ग्रंथ के अन्तर्गत १२ पदों का कहरा लिखा है जिसमें दूसरे पद के अन्त की दो बानियां इस प्रकार हैं –

प्रेम बान इक सतगुरु दीन्हा गाढ़ो तीर कमाना हो।
दास कबीर कीन्ह यह कहरा महरा माहिं समाना हो।।

बीजक के टीकाकार महाराज राघवदास ने यहां कहरा का अर्थ जनम-मरण रूप क़हर या 'दुख' ही किया है।

डा० वासुदेवशरण का कथन है कि नाम के सम्बन्ध में यह प्रश्न बना रहता है कि कहरानामा में कहरा शब्द का सम्बन्ध कहरा से है या 'कहर' से[4]।

वस्तुत: 'कहरवा' या कहार गीत उत्तर प्रदेश की एक 'लोक-धुनि' है। जायसी समर्थ कवि थे यदि वे कहार और कहर का श्लेष किए हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह अवश्य है कि 'नामा' उत्तरपद फारसी का है और कहार क़हार जाति और गीत की ओर इंगित करता है। कहार डोली ले जाने का काम आज भी करते हैं और कहरानामा में संसार से डोली जाने की बात लिखी गई है–

भा भिनुसारा चलै कहारा होतहि पाछिल पहरा रे।
सबद सुनावा, सखियन्ह मावा, हंस कै बोला महरा रे।।[5]

फारसी, उर्दू आदि में नाना उत्तरपद वाले अनेक ग्रंथ मिलते हैं। जायसी ने हिंदी में एक लोक धुनि के आधार पर इस ग्रंथ की रचना की है। इस प्रकार 'कहरानामा' में

१–ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५८, अंक ४, सं० २०१०, पृ० ४७७।
२–वही, श्री पुरुषोत्तमलाल का मत।
३–ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५८, अंक ४, सं० २०१०, पृ० ४७८।
४–ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५८ अंक ४, सं० २०१०, पृ० ४७८।
५–मनेरशरीफ वाली प्रति से उद्धृत।

कहरा का अर्थ कहार (जाति विशेष), कष्ट—दु:ख या कहर और गीत विशेष है । 'कहारों' के गीतों में बहुत से गीत 'निरगुन' कहलाते हैं। भक्त कहार कह उठते हैं 'अच्छा अब कोई निरगुन कहंरवा सुनाओ' । इस प्रकार कहरवा गीत में निर्गुण ब्रह्म का गुणगान करना, आत्मा और परमात्मा के प्रेमपरक गीत गाना हमारे देश की एक अत्यन्त प्राचीन लोक-परम्परा है । जायसी कबीर आदि ने उसे गृहीत करके काव्य रूप में निबद्ध किया है ।

महरी बाईसी का प्रकाशन

सन् १९५१ ई० में डा० माताप्रसाद गुप्त ने जायसी ग्रन्थावली का संपादन किया था। उसमें उन्होंने 'महरी बाईसी' नामक जायसी की एक अनुपलब्ध प्रति को भी छापा था। उन्हें इस ग्रंथ की एक प्रति कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस, लन्दन से प्राप्त हुई थी। उन्होंने लिखा है – 'महरी बाईसी नाम मेरा दिया हुआ है। स्पष्ट नामोल्लेख कृति में नहीं है। केवल महरी गाने का उल्लेख कृति में जहां-तहां हुआ है, और इस कृति में कुल बाईस गीत हैं, इसलिए यह नाम दे दिया गया है। सम्भव ही नहीं, आशा भी है कि आगे की खोजों में इस कृति का ठीक नाम ज्ञात हो जावेगा।'

'यह कृति केवल सन् ११९४ हिजरी की एक प्रति के आधार पर सम्पादित हुई है। लिखावट प्राय: शिकस्त है, और दिया हुआ पाठ अत्यन्त कठिनतापूर्वक उससे प्राप्त किया गया है।[1]

डा० गुप्त का कथन है कि इस प्रति में अनेक स्थलों पर शब्द और पंक्तियां भी छूटी हुई हैं।[2]

वस्तुत: इस ग्रंथ का नाम 'कहरानामा' या 'कहारानामा' है। यह नाम इस ग्रन्थ की अनेक प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथों में मिला है। 'रामपुर स्टेट लाइब्रेरी' में पदमावत के प्रति के अन्त में कहरानामा की भी एक पूर्ण और सुलिखित प्रति मिली है। 'यह प्रति १०८६ हिजरी (१६७५ ई०) में लिखी गई थी।[3] 'मनेरशरीफ के खान का पुस्तकालय की फारसी लिपि में लिखित प्रति में 'पदमावत', 'अखरावट' और कहारानामा' की प्रतियां मिली हैं। यह प्रति काफी उच्च श्रेणी की और सुलिखित है। यह सत्रहवीं शताब्दी में शाहजहां के समय में लिखी गई थी।[4]

१—जा० ग्रं० (भूमिका –) डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १०४।
२—वही, पृ० १०४।
३—पदमावत — डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राक्कथन, पृ० १०।
४—जे० बी० आर० एस० (प्रो० हसरत अस्करी का लेख), भाग ३९, १९५३, पृ० १०–४ (अवधी ग्रन्थों की एक नई हस्तलिखित प्रति।

मनेरशरीफ वाली प्रति, रामपुर वाली प्रति और कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस वाली प्रति, इन प्रतियों को देखने पर ज्ञात हुआ कि डा० माताप्रसाद गुप्त ने जो पाठ दिया है वह संतोषजनक नहीं है। इसका पुन: सम्पादन आवश्यक है।

कहरानामा की कथा

'कहरानामा' तीस पदों की एक प्रेम कथा है। इसे 'निर्गुण–प्रेम कथा' भी कह सकते हैं। भूल से इसका नाम 'महरीबाईसी' रखा गया है। इसमें बाईस छंद नहीं हैं – तीस छंद हैं। संसार एक सागर के समान है। इसमें धर्म की नौका पड़ी हुई है। केवट एक ही है। नैहर से महराई कैसे आई ? कौन केवट है ? कौन कहरा है ? कौन गुण लाकर पंथ को सिर पर रखता है ? कौन गुन (रस्सी) से नौका को तट पर खींचता है ? कोई इस पंथ को तलवार की धार कहता है तो कोई सूत जैसा। मैंने नरक का फन्द नहीं देखा है, जाल में उलझ गया हूँ। कोई इस सागर में पैरते–तैरते हार गया है, और बीच में खड़ा है, कोई मध्य सागर में डूबता है और सीप ले आता है, कोई टकटोर करके छूंछे ही लौटता है, कोई हाथ झार कर पछताता है, मुहम्मद कहते हैं कि संभाले रहो टोई-टोई पांव उतारो, नहीं तो खाले में पड़ोगे।

जायसी गुरु की आज्ञा पालन करने की बात लिखते हैं कि साधना पंथ पर गतिमान होने वाले साधक के लिए गुरु की आज्ञा या गुरु का साथ होना आवश्यक है। अन्त में तो एक ही आश्रय रह जाता है ईश्वर। कहरानामा में कई बार इस अन्तिम आश्रय की ओर संकेत किया गया है।

जो नाव पर चढ़ता है, वह पार उतरता है और नाव चली जाने पर जो बाहं उठाकर पुकारता है और केवट लौटता नहीं, तो पछताता है, लोग उसे 'मूर्ख–अनाड़ी' कहते हैं। बहुत दूर जाना है, रोने पर कौन सुनता है ? जो गँठ पूरे हैं, जो दानी हैं, उनसे हाथ पकड़ कर केवट नाव पर चढ़ा लेता है, वहां कोई भाई, बन्धु और संघाती नहीं। मन अकेले विसूरता है मुहम्मद कहते हैं। इस मार्ग पर चलो, मझधार में न डूबो। साधक को इस संसार–सागर में पैर संभाल कर रखना चाहिए अन्यथा पदभ्रंश होने का भय है।

वर्षाऋतु में नदी के पाट को देखकर मन आतंकित हो जाता है, पवन द्वारा उद्वेलित लहरें हृदय को प्रकंपित कर देती हैं। सूस, मगर, गोह, घरियार पद–पद पर उछलते-उतराते हैं, संकट पड़ने पर केवट को बहुत से लोग पुकारते हैं, परन्तु वह सबको नहीं मिलता, ऐसे भीषण प्रवाह में केवट के बिना नाव का पार लगना बड़ा मुश्किल है। जायसी ने योग युक्ति, मन की चंचलता को दूर करने, भोगों से दूर रहने और प्रेम-प्रभु में मन रमाने की बातें कही हैं। जायसी ने महरी-महरा

के विवाह के बहाने आत्मा-परमात्मा के विवाह का वर्णन किया है। आत्मा का श्रृंगार-वर्णन वैसा ही है जैसा सूर सागर में राधा का श्रृंगार—

साजइ माग झारि दुइ पाटी चतुरि न चीर संबारहु रे
बेनी गूँथहु इंगुर लावहु रचि-रचि-सेंदुर सारहु रे।

जायसी ने भी यहाँ वे ही उपमायें दी हैं जो सूरदास ने, वे ही आभूषण हैं जो राधा के। आत्मा रूपी प्रिया अपने प्रिय परमात्मा को गम्भीर गुणों से संयुक्त और महनीयरूप में अनुभव करती है। यह प्रिय पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, सभी दिशाओं में गतिमान है। इसकी प्राप्ति तभी होती है जब अपने आपको समाप्त कर दिया जाता है।

अन्त में कवि ईश्वर के प्रेम का निरूपण करते हुए कहता है कि जिसे वह अपना सेवक समझता है उसे दरिद्र और भिखारी बना देता है। उसकी सृष्टि की विपरीतता भी दर्शनीय है—जिसे वह अपना सेवक जानता है उसे भीख मंगाता है, कवि और पंडित दुःख और 'दरद'[१] में जीते हैं और 'वह' मूरख को राजभोग दे देता है। जहाँ चन्दन है वहाँ नाग हैं, जहाँ फूल हैं वहाँ काँटे भी हैं, जहाँ मधु है वहाँ माखी भी हैं और जहाँ गुर है वहां चींटा भी हैं—

'जो सेवक आपुन कै जाने, तेहि धरि भीख मंगावै रे।
कबिता, पंडित दुक्ख—दरद महं, मुरुख के राज करावै रे॥
चन्दन जहाँ नाग है तहवाँ, जहाँ फूल तहं कांटा रे।
मधु जहवां है माखी तहवा, गुर जहवाँ तहं चांटा रे॥

विशेष

'कहरानामा' में कहारों के जीवन और वैवाहिक वातावरण के माध्यम से कवि ने अपने आध्यात्मिक विचारों को अभिव्यक्त किया है।

आत्मा और परमात्मा के मिलन—बिवाहों की बात को कवि ने कहार जीवन के विवाह के बहाने स्पष्ट किया है—

'भा भिनुसारा चलै कंहारा, होतहि पाछिल पहरा रे।
सखी जी गावहिं हुडुक बजावहिं, हंसि के बोला महरा रे॥
हुडुक तबर औ झांझ मजीरा, बांसुरि महुअर बाजै रे।
सबद सु॰ावा सखियन्ह गावा, घर घर महरीं साजै रे॥
पूजा पानी दुलहिन आनी, चूलह भा असबारा रे।
बाजन बाजै केवट साजै, भा बसन्त संसारा रे॥

१—मनेर शरीफ वाली हस्तलिखित प्रति से।

मंगलचारा होइ झंकारा औ संग सेन सेहली रे ।
जनु फुलवारी फूली वारी, जिन्ह कर नहिं रस केली रे ।।
सेंदुर लै-लै मारहिं धै-धै, राति मांति सुभ डोली रे ।
भा सुभ मेंसू फूला टेसू, जनहु फाग होइ होरी रे ।।
कहै मुहम्मद जे दिन अनन्दा, सो दिन आगे आवे रे ।
है आगैं नग रैनि सबहि जग, दिनहि सोहाग को पावै रे ।।

इस पद्य में हुडुक तबर, झांझ, मजीरा, बाँसुरी, महवर, महरा, महरी, फाग खेलना' टेसू, सेंदुर मंगलाचार, आदि के द्वारा कवि ने फागुन में कहारों के विवाह और ईश्वरीय अर्थों में आत्मा का परमात्मा के रंग में रंग जाने का वर्णन बड़े ही ललित रूप में प्रस्तुत किया है। कहरानामा के सभी पद गेय, ललित और आध्यात्मिक अर्थों की व्जंजना से संबलित हैं । अनुप्रास और श्लेष के सौंदर्य प्राय: सर्वत्र दर्शनीय हैं। जैसे कबीर कहते हैं कि 'दुलहिन ! गावहु मंगलाचार । आजु घर आए राजा राम भरतार' । वैसे ही जायसी ने भी इस छोटे से ग्रन्थ में निर्गुण ब्रह्म को प्रियतम और भक्त या आत्मा को प्रियतमा मान कर दोनों के चिर मिलन का बड़ा ही मनोमय वर्णन किया है।

मसला[१]

नागरी प्रचारिणी सभा में जायसी कृत 'अखरावती' की एक हस्तलिखित प्रति है। इस प्रति के लिखने वाले हैं सीतलदास । 'अखरावती' की पुष्किा में उन्होंने लिखा है–

'लिषा है सीतलदास महंमद कृत अखरावती ग्रंथकेर एह नाम औ मसला आगे लिखब ।'[२]

'अखरावती' की पुष्पिका के पश्चात् 'सीतलदास' जी ने जायसीकृत 'मसला'[३] को लिखा है। नागरीप्रचारिणी सभा में 'मसला' के केवल तीन पृष्ठ ही मिले हैं। एक तो प्राचीन लिखाई, दूसरे पढ़ने की कठिनाई तीसरे 'लिपिक' की असावधानी और चौथे खण्डित प्रति–इन सभी कारणों से इस कृति की पूर्णरूपरेखा स्पष्ट नहीं हो पाती। इतना स्पष्ट है कि 'मसला' में अवध जनपद के मुहावरे, लोकोक्तियां, कहावतें आदि सुन्दर रूप से प्रयुक्त हैं।

१–ना० प्र० सभा, खोज रिपोर्ट, १६ ७।

२–नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय की 'जायसीकृत अखरावती और मसला' की प्रतियां, पृ० २५।

३–'महंतगुरुचरन प्रसाददास के पास जायसी की कई हस्तलिखित प्रतियों के साथ 'मसला' भी है।

प्रस्तुत 'खंडित प्रति' नागरी अक्षरों में है। (परिशिष्ट में 'मसला' या 'मसलानामा' को दिया गया है)।

वर्ण्य और उसका वैशिष्ट्य

'मसला' की कथा अज्ञात है। किसी अन्य प्रति के प्राप्त होने पर ही निश्चय पूर्वक कुछ कहा जा सकता हैं। फिर भी प्राप्त 'खंडित प्रति' के आधार पर कहा जा सकता हैं कि इस ग्रन्थ में जायसी ने 'मसला' (–मसले या मसलों) के सुन्दर प्रयोग किये हैं। अवधी भाषा और अवध जनप्रद में प्रयुक्त 'मसलों' को जायसी ने अत्यंत जीवन्त रूप में उपस्थित किया है। इन प्राप्त मसलों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि 'मसला' की प्रति से मुहावरे, लोकोक्तियों और कहावतों के क्षेत्र में एक नवीन अध्याय का आरम्भ हुआ है। प्रारम्भ में कवि ने अल्लाह से मन लगाने की बात कही है–

यह तन अलह मियां सों लाई। जिहि की षाई तिहि की गाई ॥[२]

यहां यह कह देना समीचीन है कि प्राप्त प्रति की प्रत्येक पंक्ति में कोई न कोई कहावत या लोकोक्ति अवश्य प्रयुक्त है। इन कहावतों के कतिपय प्रयोग अत्यन्त भव्य, जीवन्त और लोक जीवन के प्रतिनिधि हैं। ज्ञान का सागर अथाह और अनन्त है–इसके विस्तार की कोई सीमा नहीं है—इतनी बड़ी सेना में एक व्यक्ति का क्या विस्तार–भला जिस घर में सासु ही तरुणी हो उस घर में बहुओं का कौन 'सिंगार' ?

"बुधि विद्या के कटक मो हौं मन का विस्तार।
जेहि घर सासु तरुणि है, बहुअन कौन सिंगार ॥[३]

जो जिस को पाना चाहता है पाकर ही रहता है। अनाज छोड़कर लोग 'घुन' को पकड़ ही लेते हैं–

जासों प्रेम सो धै धै परै। नाज छांड़ि घुन बिनिया करै ॥

बहुत सी बातें बनाकर कही जाती हैं, किन्तु क्या उन 'बहुत बनाकर कही गई बातों में कुछ सार अंश भी होता है ? 'छूंछ पछोरते समय उड़ उड़ जाता है–

"बात बहूतै कहै बनाई। छूंछ पछोरै उड़ि-उड़ि जाई ॥"

इस पंक्ति में 'बात बहुत बनाकर कहना' और छूंछ पछोरै उड़ि उड़ि जाय' इन दो

१–'मसला' की दो हस्तलिखित प्रतियां 'जायस' से प्राप्त हुई हैं। देखिए ना० प्र० पत्रिका, २०१७ अंक १ जनवरी–मार्च।

२–मसला (हस्तलिखित प्रति) पृ० २४।

३–वही पृ० ३।

कहावतों के सुन्दर एवं दृष्टांतमूलक प्रयोग दर्शनीय हैं। संसार में जीवन अल्पकाल का है और उपहास बहुत है–'जीवन थोर बहुत उपहांसू।''

यदि निष्प्रेम भाव से जीवन-निर्वाह किया जाय, तो वह व्यर्थ है 'जिस हृदय में प्रेम नहीं वहां (ईश्वर या अन्य) **कोई** किस प्रकार आ सकता है ? भला सूने गांव में कोई जाता है–

बिना प्रेम जो जीत्र निबाहा। सूने गांउ म आवै काहा ॥

कुछ लोग प्रियतम और प्रेम में प्रार्थक्य बतलाते हैं, किन्तु क्या ये दोनों पृथक हैं ? धान के खेतों के होने की पुष्टि 'पयार' (पुआल) से ही हो जाती है–

प्रीतम प्रेम कोइ कहै आना। धान क षेत पयारहि जाना ॥

यहां 'प्रियतम और प्रेम की एकता' 'कोई कहै आना' (अन्य कहना)' और धान के खेत पयारहिं जाना, लोकोक्तियों के प्रयोग दर्शनीय हैं।

जहां 'पांच भूत' हैं वहां सुमति कहां ? चाहे फिर ये पांच भूत हो या पांच भूत (इन्द्रियां)–

पांच भूत कोइ सुमति न करै।

खेत को अधिक गहराई पर खोदने और गहराई में बीज डालने से अनाज सहज ही जल भुन जाता है–अंकुरित भी नहीं होता–

सहजै नाज जाइ सब जरै। अधिकै षेत जौ नीवैं षनै ?

यदि तूने अंत (परिणाम) को नहीं समझा, तो व्यर्थ बैठे रहने का क्या प्रयोजन ? अरे, अभी तो तुम कल साधारण से बनिया थे और आज बड़े धन्ना सेठ हो गए–

अंत न समुझु करसि का बैठ। कालिहिंहिं बनियां आजुहि सेठ ॥

'अन्त न समझना', हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना और 'कल के बनियाँ और आज के सेठ 'मुहावरे' यहां प्रयुक्त हुए हैं। 'वैसे ही रहना', 'करनी करना' और जिसकी लाठी उसकी भैंस मुहावरों का प्रयोग–

''करनी करहु रहहु का बैस। जिसकी लाठी तिसकी भैंस।''

'पुण्य–पाप एक रूप न जानना,' 'दूध का दूध पाती का पानी 'मुहावरों के प्रयोग–

पुन्य पाप एक रूप न जानी। दूध क दूध पानी क पानी।'

कवि 'साई से नेह करने' की बात कहता है और इंगित करता कि जब कालक्षण (अंतिम क्षण) आ जायेगा, तो क्या हो सकता है ?

अब साई सो नेह करु, फेरि न यह संयोग।
कालिह (?) ते (जो?) षनी उतरी, भई वै लही जोग ॥[१]

साधक कवि कहता है कि अवश्य ही मैंने 'पतनुकवा' आम की तरह तुम्हारे रूप को

१–द्रष्टव्य–१''कोल्हू ते खरि ऊतरी भई बैल ही जोग'' (अधिक शुद्ध पाठांतर)

'हरे' लिया है, अब या तो आम आएगा या लबेदा अंटक जाएगा–

निश्चै तोर रूप मैं हेरा। आवै अंब कि जाइ पवेरा ॥

बिना स्वामी के और कुछ सुहाता नहीं। धन्या रूखा–सूखा ही खाती है–

बिनु साई नहिं और सोहाई। धन जिउ (हौं तो) रूषा षाई ॥

यदि कर सको तो कुछ 'नेकी कर लो'–

सकहु कछू नेकी ले साथा। षावा भात उड़ावा पाता।

'नेकी साथ लेकर चलना' और 'भात खा कर पात उड़ा देना' मुहावरों के प्रयोग यहां दर्शनीय हैं।

स्वयं देखकर दूसरों को दिखाना ही बुद्धिमानी है–

आपु देखि और सो सिषावै।

'आज जो करना है कर लो, अन्यथा यह सांसारिक धंधा छोड़ कर तो मरना ही है–

करि ले आजु अहै जो करना। धंधा छांड़ि आखिर है मरना।

तू ईश्वर–परम रूपमय—को छोड़कर इस माया मोह के जाल में लुब्ध हुआ है

"रूप निरंजन छांड़ि कै माया देखि लोभान।"[१]

प्राप्त हस्तलिखित प्रति की ये ही उपलब्धियां है। १६ वीं शती की अवधी भाषा, भाषा की व्यंजकता, 'पुण्य-पाप एक रूप न जानी' दूध का दूध पानी का पानी', 'जा सों प्रेम सो धै-धै परै,' 'बिना प्रेम जो जीव निबाहा,' 'बुधि विद्या के कटक में हौ मन का विस्तार जेहि घर सासुहि तरुणि है, बहुवन कौन सिंगार', 'प्रीतम प्रेम कोइ कहे आना', 'अब साई सो नेह करु फेरि न यह संयोग', 'निश्चै तोर रूप मैं हेरा', 'बिन साई नहिं और सोहाई' 'आपु देखि सो और सिखावै' प्रभृति तथ्यों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि यह कृति सर्वथा जायसी की भाषा के साँचे में ढली हुई है और है अत्यन्त मनोरंजक।

घाघ और भड्डरी की कहावतें हिन्दी में प्रख्यात हैं, फिर भी दृष्टान्तों, लोकोक्तियों, मुहावरों एवं कहावतों की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। कहावतों के आधार पर इस प्रकार उपदेशमूलक दृष्टान्तों के उपस्थापन से सम्बद्ध संभवतः यह हिन्दी का अपने ढंग का प्रथम अनमोल ग्रन्थ है।[२]

१—इसके आगे की पंक्ति (हस्तलिखित प्रति में) नहीं है।

२—द्रष्टव्य—'मसला' या 'मसलानामा'।

४

कथावस्तु का संघटन : मूल स्रोत और अन्य उपकरण

(हस्तलिखित प्रतियां, रचनाकाल और लिपि)

पदमावत की प्राप्त हस्तलिखित प्रतियां

हिन्दी साहित्य के विद्वानों के अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि जायसीकृत पदमावत की हस्तलिखित प्रामाणिक प्रतियाँ पर्याप्त संख्या में मिली हैं। और शोध करने पर और भी अनेक प्रतियों के उपलब्ध होने की संभावना है। गार्सां द तासी, पं० रामचन्द्र शुक्ल, डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रो० अस्करी प्रभृति विद्वानों की शोधों के परिणामस्वरूप पदमावत की अनेक बहुमूल्य प्रतियों का पता चला है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने पदमावत का सम्पादन करते हुए चार मुद्रित प्रतियों और एक कैथी लिपि में लिखित हस्तलिखित प्रति का सहारा लिया था, किन्तु उन्होंने इस प्रति का कोई विवरण नहीं दिया है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने जायसी ग्रंथावली के संपादन में सोलह प्रतियों के आधार पर पाठ-संशोधन का कार्य किया है। इनमें पांच प्रतियां बहुत ही अच्छी थीं। उनमें से चार प्रतियां लन्दन के कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस में हैं।

(१) कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस, लन्दन की प्रति—यह २१८ पत्रों में है और पूर्ण है। इसमें अनेक चित्र भी दिए गए हैं। इसके प्रतिलिपिकार (इबादुल्लाह अहमद) खान मुहम्मद गोरखपुर के थे। इन्होंने शव्वाल, ११०७ हि० में किन्हीं दीनानाथ के लिए यह पुस्तक लिखी थी।

(३) महाराज काशीनरेश के सरस्वती-भवन (पुस्तकालय) की प्रति—इसमें कुल २१६ पत्र हैं। यह प्रति भी पूर्ण है। यह नागराक्षरों में है। यह फाल्गुन

सं० १८१८ की लिखी हुई है।

(३) एडिनबरा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय की प्रति—इसमें कुल ३३८ पत्र हैं। यह प्रति भी पूर्ण है। प्रतिलिपिकाल सन् ११४२ हि० है। डा० गुप्त का कथन है कि यह प्रति अत्यन्त त्रुटिपूर्ण है।

(४) कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस, लन्दन की प्रति—इसमें कुल १८० पत्र हैं। प्रति पूर्ण है और फारसी अक्षरों में अत्यन्त सुलिखित है। प्रतिलिपिकाल १११४ हि० है।

(५) कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस, लन्दन की प्रति—इसमें कुल १८४ पत्र हैं। प्रति पूर्ण है। अक्षर फारसी हैं, और लेख अत्यन्त सुन्दर हैं। लिपिकार रहीम-दांद खां, शाहजहांपुर। प्रतिलिपिकाल ११०६ हि० है।

(६) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रति—यह प्रति लीथो प्रेस द्वारा छापी हुई है। इसमें कुल ६३६ पृष्ठ हैं। प्रति फारसी अक्षरों में है। अहमद अली मुन्शी द्वारा उर्दू में किया हुआ अनुवाद भी इसी में है। इसका प्रकाशन कानपुर से शेख मुहम्मद अजीमुल्लाह, पुस्तक-विक्रेता द्वारा १३२३ हि० में हुआ था। इसकी एक प्रति श्री सैयद कल्बे मुस्तफा जायसी के पास भी है। विश्वविद्यालय की प्रति में ७३ से १०४ तक के पृष्ठ नहीं हैं। मुस्तफा साहब की प्रति में ये पृष्ठ हैं।

(७) मुन्शी नवलकिशोर की लीथो प्रति—इसमें ३५३ पृष्ठ हैं। लिपि फारसी है। हाशिए में उर्दू भावार्थ भी दिया गया है। टीकाकार हैं श्री हसनअली। प्रकाशन-तिथि १८७० ई० है। प्रथम संस्करण १८६५ में छपा था। यद्यपि यह प्रति मुद्रित है, किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि इसका पाठ भी मूलतः किसी एक हस्तलिखित प्रति के अनुसार है।

(८) कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय (किंग्स कालेज) की प्रति—यह प्रति भी पूर्ण और फारसी अक्षरों में सावधानी के साथ लिखी हुई है। संभवतः यह प्रति ११५३ हि० की है।

(९) रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल की प्रति—इसमें कुल १६७ पत्र हैं। प्रथम पत्र गायब है। शेष प्रति पूर्ण है। प्रति कैथी अक्षरों में लिखी हुई है। लिपिकार हैं झब्बूलाल कायस्थ, मौजा शरीतारा सलेमपुर आसपुर सरकार, सूबा बिहार, मुकाम—अजीमाबाद महले—सुलतानगंज। प्रतिलिपि की तिथि ११९८ हि०, सं० १८४२ जेठ बदी दो, मंगलवार है।

(१०) कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस लन्दन की प्रति—इसमें कुल २१३ पत्र हैं। प्रति फारसी अक्षरों में सुलिखित है। प्रति पूर्ण है। संभवतः यह प्रति

लगभग २०० वर्ष प्राचीन है।[1]

(११) कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस, लन्दन की प्रति—इसमें २११ पत्र हैं। प्रति फारसी लिपि में हैं। लिपिकाल नहीं दिया गया है। संभवतः वह १७वीं या १८वीं शताब्दी की प्रतिलिपि है।

(१२) कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस, लन्दन की प्रति— इसमें कुल ३४० पत्र हैं। प्रति नागराक्षरों में सुलिखित और पूर्ण है। यह सचित्र प्रति है। इसमें ३४० पृष्ठ मूल पदमावत के हैं और ३४० चित्रों के पृष्ठ हैं। चित्र अत्यन्त कलापूर्ण हैं। लिपिकार हैं थान कायथ, मिर्जापुर।

(१३) श्री गोपलचन्द्र सिंह की प्रति (उत्तरप्रदेश सरकार, आफिसर आन स्पेशल ड्यूटी, सेक्रेटेरियट, लखनऊ)—इसमें पृष्ठसंख्या नहीं दी गई है। प्रति फारसी अक्षरों में अत्यन्त सुलिखित और पूर्ण है। लिपिकार ईश्वरप्रसाद, निवास स्थान—गंगा गौरौनी है। लिपिकाल ११९५ हि० और लिपिस्थान करतारपुर बिजनौर है।

(१४) कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस, लन्दन की प्रति—फारसी अक्षरों में सुलिखित है और पूर्ण है। लिपिकाल सन् ३६ (?) दिया हुआ है। लिपिकार का नाम तो नहीं 'पर पता दिया गया है—मुहम्मद नगर, परगना सिधौरा, सरकार लखनऊ।

(१५) महन्त गुरुप्रसाद की प्रति—प्रति नागराक्षरों में और पूर्ण है। लिपिकाल सं० १८५८ है। यह प्रति हर गांव के, डा० जगेसरगंज, जिला सुल्तानपुर के महन्त गुरुप्रसाद के पास है।

(१६) सैयद कल्बे मुस्तफा की प्रति—प्रति खंडित है। खंडित अंशों को मुस्तफा साहब ने किसी अन्य प्रति से पूर्ण करा लिया है।[2]

(१७) मनेर शरीफ की प्रति—यह प्रति फारसी अक्षरों में है। इसमें पदमावत अखरावट और कहारानामा नामक ग्रन्थ हैं। अखरावट की पुष्पिका में ९११ हि० दिया हुआ है। प्रो० हसन अस्करी का विचार है कि यह प्रति शाहजहां के काल में १७वीं शती में लिखी गई थी। इस प्रति के पाठ अत्यन्त उच्च कोटि के हैं।[3] पटना विश्वविद्यालय ने इसकी एक प्रति कराई है।[4]

१—जा० गं०, डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ५ (भूमिका)।

२—जा० ग्रं०, डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ७।

३—प्रस्तुत प्रति के 'अखरावट और कहारानामा' वाले अंश की फोटो लिपि मेरे पास भी हैं। पाठ की दृष्टि से ये प्रतियां अत्यन्त शुद्ध हैं।

४—जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसाइटी भाग २९, १९५३, पृ० १०-४०। प्रो० अस्करी का लेख 'अवधी ग्रंथों की एक नई हस्तलिखित प्रति'।

(१८) बिहार शरीफ की प्रति – यह प्रति फारसी लिपि में है। यह ११३६ हि० (सन् १७२४) में मुहम्मदशाह बादशाह के राज्य-संवत् के पांचवें वर्ष में लिखी गई थी। यह प्रति भी सम्पूर्ण है, सुलिखित है और पाठ की दृष्टि से भी मूल्यवान है। यह प्रति अस्करी, पटना विश्वविद्यालय के पास है।

(१९) रामपुर राज्य पुस्तकालय की प्रति – यह प्रति अत्यन्त सुन्दर प्रामाणिक और सुलिखित है। लिपि फारसी है। अरबी के जबर, जेर, पेश आदि के उपयोग से अवधी भाषा के दोहे-चौपाई अत्यन्त सावधानी के साथ लिखे गये हैं। इसमें कुल ६५९ दोहे हैं। चौपाइयों के नीचे प्रत्येक शब्द का फारसी में पर्याय भी दिया गया है। इस प्रति के अन्त में कहरानामा की एक सम्पूर्ण प्रति है।[1]

(२०) पेरिस की प्रति[2] फ्रान्स (पेरिस) के राजकीय पुस्तकालय में भी नागरी अक्षरों में लिखित एक प्रति है।

(२१) लीड की प्रति[3] – लीड के पुस्तकालय में कैथी नागरी अक्षरों में भी एक प्रति सुरक्षित है, जो बिलमेट पर आधारित है।

(२२) ईस्ट इण्डिया हाउस, पुस्तकालय की प्रति – अपने पृष्ठों की प्रत्येक पीठ पर चमकीले चित्रों से सुसज्जित यह ७४० फोलियो पृष्ठों की एक सुन्दर पुस्तक है। यह नागरी अक्षरों में लिखी गई है।[4]

(२३) उदयपुर वाली प्रति – महाराज उदयपुर, पुस्तकालय में भी पदमावत की एक पूर्ण और सुलिखित प्रति है। इसका लिपिकाल १८३८ ई० है।

(२४) बिहार रिसर्च सोसाइटी पटना की प्रति – यह प्रति प्रो० अस्करी को मिली थी और इस सोसाइटी के पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह उर्दू लिपि में लिखी गई है। इसके लिपिकार हैं पटना के भोलानाथ। यह १८वीं शती में लिखी गई थी।

(२५) बसी नकवी की प्रति – जायस के श्री वसी नकवी के पास पदमावत की एक सुलिखित और पूर्ण प्रति है। इसकी लिपि नागरी है। ग्रन्थावली

१–रजा लाइब्रेरी रामपुर स्टेट की प्रति – इसमें कहरानामा की प्रति भी है। बम्बई विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष की कृपा से मुझे इसकी एक माइक्रोफिल्म कापी प्राप्त हुई है।

२–जाती संग्रह नं० ३१ (गार्सांदतासी ने अपने इस्त्वार दी ल तितरैत्यूर ऐंदुई ऐंऐंदुस्तानी मूल के द्वितीय संस्करण में इसे फारसी अक्षरों में लिखी गयी कहा है। (देखिए – हिंदुई साहित्य का इतिहास – गार्सांदतासी, पृष्ठ ८४)।

३–लीड के पुस्तकालय के सूची पत्र की संख्या १३४–१३५।

४–इस्त्वार द ला लितैरैत्यूर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी, वा० १ जायसी।

के रूप में इसमें पदमावत, अखरावट, कहरानामा और मसलानामा नामक ग्रन्थ संगृहीत हैं। इसमें लिपिकाल नहीं दिया गया है।

(२६) श्री त्रिभुवन प्रसाद त्रिपाठी की प्रति – जायस क्षेत्र के सेमरौता जू० हा० स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री त्रिभुवन प्रसाद त्रिपाठी के पास भी 'पदमावत' की एक सुलिखित प्रति है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में ३३० पृष्ठ हैं। इसमें पदमावत, कहरानामा, मसलानामा एवं अखरावट क्रम से संग्रहीत हैं। लिपिकार हैं मदनदास जी।

(२७) उदयपुर स्टेट लाइब्रेरी में पदमावत की एक हस्तलिपि प्रति है। यह कैथी लिपि में है। ग्रियर्सन ने अपने सम्पादन में इसका उपयोग किया था।

(२८) महंत गुरुचरण प्रसाद दास, स्थान डाक्टर वछरावां, जिला रायबरेली के पास 'पदमावत' की एक सुलिखित प्रति है।

(२९) ना० प्र० सभा, खोज-रिपोर्ट १९४७, २८७ क : पदमावत की एक हस्तलिखित प्रति का विवरण दिया हुआ है। सभा की खोज रिपोर्टों में पदमावत के हस्तलेखों की सूची इस प्रकार है–

२० : १०९
२३ : २८४ ए० बी०
२६ : २८९ बी०
२९ : २२५
४२ : ५३७
४७ : २८७ ख"

एक नए हस्तलेख का विवरण १९४७–४८ वाली खोज रिपोर्ट में है। इसका प्रतिलिपिकाल १९३५ वि० है। यह फारसी लिपि से नागरी में लिखा गया है। लेखक पं० रामदीन द्विज (खो० रि० ४८–४९–५० ई०)।

३०–३१–३२ कैथी लिपि की तीन प्रतियों का उल्लेख डा० रामकुमार वर्मा[1] ने किया है जिसमें प्रति न० १ का प्रतिलिपिकाल १७५५ ई० है। वैतालगढ़ की (अपूर्ण) प्रति का लिपिकाल १७०१ ई० है और प्रति न० २ का लिपिकाल १८२२ है। इनके विषय में डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि 'ये प्रतियां बहुत अशुद्ध हैं और इनमें पाठान्तर भी अनेक हैं।

(३३) भारत कला भवन, काशी वाली प्रति – यह प्रति कैथी लिपि में है।

इधर शोध के सिलसिले में पदमावत की और भी कई हस्तलिखित प्रतियों का पता चला है।

१–हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३०९।

पदमावत का रचनाकाल

जायसी ने पदमावत के रचना-काल का उल्लेख करते हुए लिखा है—

सन् नौ सै सैंतालिस अहै। कथा अरम्भ बैन कवि कहै।"[१]

नौ सै सैंतालिस हिजरी (१५४० ई०)[२] में शेरशाह दिल्लीपति हुमायूं को परास्त करके दिल्ली का सम्राट बन चुका था। इस समय तक वह दिल्ली का सम्राट ही बना था। उसका राज्याभिषेक ७, शव्वाल, ६४८ हि० (अर्थात् २५-२६ जनवरी १५४२ ई०) को हुआ था।[३] जायसी ने शाहे वक्त के रूप में दिल्ली के सुल्तान शेरशाह के वैभव का अत्यन्त वैभववन्त उल्लेख किया है—

सेरसाहि दिल्ली सुल्तानू। चारिउ खण्ड तपइ जस भानू॥[४]

६४७ के अनेक पाठान्तर पदमावत की प्रकाशित-अप्रकाशित अनेक प्रतियों में मिलते हैं।

(१) ग्रियर्सन तथा सुधाकर द्विवेदी ने ६४७ हि० पाठ ही स्वीकार किया है।

'सन् नौ सै सैंतालिस अहा। कथा अरम्भ बैन कवि कहा॥[५]

(२) जायसी ने ६४७ हि० (१५४०-४१ ई०) में अपने 'पदमावती' काव्य की रचना की थी।[६] मिश्र बंधुओं ने ६२७ पाठ माना है।[७]

(३) पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जा० ग्रं० के प्रथम संस्करण में सैंतालिस पाठ दिया था, किन्तु द्वितीय संस्करण में उन्होंने 'नव सै सत्ताइस' पाठ को ही स्वीकार किया और लिखा कि 'पहले संस्करण में दिये हुए सन् को शेरशाह के समय में लाने के लिए, 'नव सै सैंतालिस' पाठ माना गया था। फारसी लिपि में 'सत्ताइस और 'सैंतालिश' में भ्रम हो सकता है। इस पदमावत का एक पुराना बंगला अनुवाद है उसमें भी 'नव सै सत्ताइस' पाठ माना गया है।

"शेख मुहम्मद जाति जखन रचित ग्रंथ संख्या सप्तविंशनवशत।"

यह अनुवाद अराकान राज्य के वजीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० ई० के आसपास आलो-उजालो नामक एक कवि से कराया था।[८]

१—जा० ग्रं०, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, पृ० १३५ (२४।१)।

२—एलिमेंट्स आफ न्यूइश ऐण्ड मोहमडन कैलैंडर्स, पृ० ४६१।

३—ना० प्र० पत्रिका, भाग १२, पृ० १४२ (पदमावत की तिथि और रचनाकाल)।

४—पदमावत (स्तुति खण्ड) १३।१ से आगे।

५—पदुमावति, ग्रियसर्न तथा सुधाकर द्विवेदी, पृ० ३५।

६—हिंदुई साहित्य का इतिहास, गार्सां द तासी, पृ० ८६।

७—मिश्र बंधुविनोद, भाग १, पृ० २६० (प्र० सं०)।

८—जा० ग्रं०, पं० रामचन्द्र शुक्ल (भूमिका), पृ० ६।

डा० माताप्रसाद गुप्त को भी कुछ प्रतियों (द्वि० ५, तृ० २, पं० १) में नौ सै सत्ताइस पाठ मिला है, किन्तु जा० ग्रं० में उन्होंने 'नौ सै सैंतालिस' पाठ को ही मूल पाठ माना है।[1] डा० गुप्त को दो प्रतियों में (द्वि० ७ और ३) पैंतालिश पाठ मिला है।[2]

(५) पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने भी ९२७ हि० को पदमावत का रचनाकाल माना है।[3]

(६) ए० जी० शिरेफ[4] और डा० रामकुमार वर्मा[5] ने भी नौ सै सैंतालिस पाठ उपयुक्त माना है।

(७) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी[6] पं० परशुराम चतुर्वेदी,[7] डा० कमलकुल श्रेष्ठ[8] प्रभृति विद्वानों ने ९२७ हि० को ही पदमावत का रचनाकाल माना है।

गोपालचन्द्र जी[9] की प्रति में 'नौ सै सत्ताइस' पाठ है। भारत कलाभवन, काशी की कैथी प्रति में ९३६ हि० (१५३०) पाठ मिलता है।

"सन् नौ सै छत्तीस जब रहा। कथा उरेहि बएन कवि कहा।"[10]

बिहार शरीफ[11] की प्रति में ९४८ हि० पाठ मिलता है। रामपुर स्टेट, पुस्ताकलय[12] की प्रति में ९४७ हि० पाठ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विभिन्न प्रतियों के माध्यम से पदमावत की रचना तिथि से सम्बद्ध पांच तिथियाँ – ९२७ हि०, ९३६ हि०, ९४५ हि० ९४७ हि० और ९४८ हि० में हमारे समक्ष विद्यमान हैं। इस सम्बन्ध में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत विशेष उल्लेखनीय है।

१–जा० ग्रं०, डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १३५।

२–वही (पाद टिप्पणी)।

३–ना० प्र० प०, भाग १२, पृ० १४२।

४–पदुमावति, ए० जी० शिरेफ, भूमिका,।

५–हि० सा०, का आ० इ०, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २३—२४।

६–हिन्दी साहित्य, आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २४०—४१।

७–सूफी काव्य-संग्रह, पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०४।

८–हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य (पृ० ४१—४२) और 'म० मु० जायसी', डा० कमल कुल श्रेष्ठ, पृ० २४—२५।

९–पदमावत (प्राक्कथन) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३३।

१०–भारत कला भवन की कैथी प्रति।

११–जे० बी० एस० आर, भाग ३९,।

१२–पदमावत डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३३।

'९२७ हि० पाठ के पक्ष में एक तर्क यह भी है कि अपेक्षाकृत क्लिष्ठ पाठ है। विपक्ष में यही युक्ति है कि शेरशाह के राज्यकाल से इसका मेल नहीं बैठता। मैंने अर्थ करते समय शेरशाह वाली युक्ति पर ध्यान देकर ९४७ पाठ को समीचीन लिखा था, किन्तु अब प्रतियों की बहुल सम्मत्ति और क्लिष्ट पाठ की युक्ति पर विचार करने से प्रतीत होता है कि ९२७ मूल पाठ था और जायसी ने पदमावत का आरम्भ इसी तिथि में अर्थात् १५२१ ई० में कर दिया था। ग्रंथ की समाप्ति कब हुई कहना कठिन है, किन्तु कवि ने उस काल के इतिहास की कई प्रमुख घटनाओं को स्वयं देखा था। बाबर के राज्यकाल का तो स्पष्ट उल्लेख है ही (आखिरी कलाम ८।१)। उसके बाद हुमायूं का राज्यारोहण, चौसा में शेरशाह द्वारा उसकी हार (९४५ हि०), कन्नौज में शेरशाह की उस पर पूर्ण विजय (९४७ हि०), फिर शेरशाह का दिल्ली के सिंहासन पर राज्याभिषेक (९४८ हि०) ये घटनायें उनके जीवन-काल में घटीं। मेरे मित्र श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा ने मुझे एक बुद्धिपूर्ण सुझाव दिया है कि पदमावत के विविध हस्तलेखों की तिथियां इन घटनाओं से मेल खाती हैं। हि० ९२७ ई० में आरम्भ करके अपना काव्य कवि ने कुछ वर्षों में समाप्त कर लिया होगा। उसके बाद उसकी हस्तलिखित प्रतियां समय-समय पर बनी रहीं। भिन्न तिथियों वाले सब संस्करण समय की आवश्यकता के अनुकूल चालू किये गये। ९२७ वाली कवि लिखित प्रति मूल प्रति थी। ९३६ वाली प्रति २ की मूल प्रति हुमायूं को राज्यारोहण की स्मृति रूप में चालू की गई-हि० ९४५ वाली प्रति जिसका माताप्रसाद जी गुप्त ने पाठान्तर में उल्लेख किया है। शेरशाह की चौसा-युद्ध में हुमायूं पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त चालू की गई। ९४७ वाली चौथी प्रति शेरशाह की हुमायूं पर कन्नौज-विजय की स्मृति का संकेत देती है। पांचवीं या अन्तिम प्रति ९४८ हि० की है, जब शेरशाह दिल्ली के तख्त पर बैठकर राज्य करने लगा था। मूल ग्रंथ जैसे का तैसा रहा। केवल शाहे वख्त वाहा अंश उस समय जोड़ा गया। पदमावत जैसे महाकाव्य की रचना के लिए चार-पांच वर्षों का समय लगा होगा। (और शेरशाह को आशीर्वाद देनेवाली) घटना के पश्चात् ही शाहे वक्त की प्रशंसा वाला अंश शुरू में जोड़ा गया होगा।'[1]

इस विषय में निवेदन है कि जब जायसी ने 'मसनवीशैली' में और 'चार-पांच वर्षों' के समय में पदमावत की रचना की थी, और समय की आवश्यकता के अनुसार पांच प्रतियां चालू की गईं, तो स्पष्ट है कि पदमावत की एक नहीं अपितु पांच प्रतियां प्रामाणिक हैं और जब कि इन प्रतियों में पर्याप्त पाठभेद भी मिलता है, तो यह भी स्पष्ट है कि ये अंश प्रक्षिप्त नहीं है – ऐसी स्थिति में हिन्दी में एक

१-पदमावत (प्राक्कथन) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३३-३४।

नहीं, अपितु जायसी कृत पांच 'पदमावत' हो जाते हैं, डा० माताप्रसाद गुप्त या किसी अन्य विद्वान् के पदमावत के वैज्ञानिक सम्पादन का पुनः क्या अर्थ। दूसरा ज्वलन्त प्रश्न है शाहेवक्त का। मसनवी पद्धति के अनुसार प्रायः सूफी कवियों ने ग्रन्थ में ईश्वर गुरु आदि के स्तवन के अनन्तर शाहेवक्त का उल्लेख किया है और '६२७ हि० में आरम्भ करके जायसी के ४–५वर्षों के समय में इसे पूर्ण किया, तो अवश्य ही तत्कालीन बादशाह का उल्लेख किया होगा – किन्तु पदमावत की किसी भी प्रति में सिकन्दर लोदी या इब्राहीम लोदी (६२७ हि०), बाबर (१५२६) या हुमायूं (६३६ हि०) में से किसी का भी उल्लेख नहीं मिलता। पुनः यदि ये संस्करण समय की आवश्यकता के अनुकल चालू किये गये', तो इन विभिन्न तिथियों वाले पदमावतों में उनके शाहेवक्त कहां हैं ? उनके वर्णन भी तो अवश्य अपेक्षित हैं ? इस कथन से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जायसी एक ऐसे दरबारी कवि थे, जो अनेक युद्धों और अनेक बादशाहों की विजय या राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में अपने काव्य के नये-नये संस्करण निकालते चलते थे। ६३६, ६४५ और ६४८ का समर्थन जो एक-एक प्रतियों में मिलता है – हमें किसी निश्चित परिणाम तक नहीं पहुँचाता। इसलिए स्पष्ट है कि यह मात्र प्रतिलिपिकारों का प्रमाद है।

आचार्य पं० चन्द्रबली पांडेय का कथन है कि सन् ६२७ हि० का जीवन–काल १२ दिसम्बर सन् १५२० से ३० नवम्बर १५२१ ई० तक था। यह वह समय था जब इब्राहीम लोदी और उसका सहोदर भ्राता जलाल परस्पर सिंहासन के लिए लड़ रहे थे जो सिकन्दर के नाम पर रो रहा था। अब मथुरा के हिन्दू यमुना में स्नान करने का साहस कर लेते थे, बाल बनवा सकते थे और अपनी मूर्तियों को बूचर खाने में जाने से रोक सकते थे। सिकन्दर का आतंक इब्राहीम भोग रहा था। जनता उसके प्रतिकूल पड़ती थी। अनादर अपमान एवं अन्याय में वह सिकन्दर का चचा निकला। बंगाल का हुसेनशाह कभी सत्य पीर की उपासना कर सदा के लिए सो गया था। सारांश यह कि एक भी बादशाह उस समय ऐसा न था जो जायसी का शाहेवक्त होता। सम्भव है कि जायसी ने पवित्र पदमावत को उन शासकों को बचाकर रखना ही उचित समझा हो और उनकी बन्दना में शाहेवक्त को स्थान न दिया हो।

पं० चन्द्रबली पांडेय की उपर्युक्त सम्भावना विशेष महत्व नहीं रखती। जायसी ६३६ हि० वाली प्रति में शाहेवक्त से रूप में हुमायूं का उल्लेख कर सकते थे अथवा इसके पूर्व के बादशाह बाबर का उल्लेख कर सकते थे (जब कि उन्होंने आखिरी कलाम ८।१ में 'बाबर साह छात्रपति राजा' कहकर उसका उल्लेख भी किया है।) परन्तु अभी तक प्राप्त समस्त प्रतियों में केवल शेरशाह का उल्लेख है।

दिल्ली के सुलतान–पद पर शेरशाह का अभिषेक २५ जनवरी १५४२ ई०

को (ता० ७ शव्वाल, हि० सन् ९४८) को हुआ था।[१] ९४७ हि० को पदमावत का रचना-काल मानने पर यह कठिनाई उपस्थित होती है कि जायसी ने शेरशाह को दिल्ली का सुलतान कहा है, किन्तु ९४७ हि० में शेरशाह का राजतिलक नहीं हुआ था। "पदमावत का आरम्भ ग्रीष्म ऋतु में संभवत: दशहरा को ही हुआ। यदि हमारा अनुमान ठीक है, तो उस समय शेरशाह दिल्ली का सुलतान नहीं था। वह तो अगस्त के लगभग दिल्ली में पहुंचता है। अत: इस दृष्टि से ९४७ हि० को ठीक मानना उचित नहीं जान पड़ता।"[२]

आचार्य चन्द्रबली पाडेय की संभावना के अनुसार यदि पदमावत का रचना-काल ग्रीष्म ऋतु में मान भी किया जाय, तो भी ९३७ हि० को पदमावत का रचना-काल मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। कन्नौज के युद्ध में हुमायूं पर शेरशाह की विजय १७ मई १५४० ई० को (९ दिन बीते ९४७ हि०) हुई थी। अत: ९४७ हि० में शेरशाह का दिल्ली सुलतान के रूप में वैभववन्त उल्लेख असंगत नहीं है। पदमावत का निर्माणकाल कवि ने इस प्रकार दिया है—

"सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ बैन कबि कहा॥"

इस का अर्थ होता है कि पदमावत की कथा के प्रारंभिक बचन कवि ने सन् ९२७ हि० (१५२० ई० के लगभग) में कहे थे। पर ग्रंथारम्भ में कवि ने मसनवी की रूढ़ि के अनुसार 'शाहेवक्त 'शेरशाह की प्रशंसा की है जिसके शासन-काल का आरम्भ ९४७ हि० अर्थात् १५४० ई० से हुआ था। इस दशा में यही सम्भव जान पड़ता है कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य तो सन् १५२० ई० में ही बनाए थे, पर ग्रन्थ को १९ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया। इसी से कवि ने भूतकालिक क्रिया 'अहा' (—था) और कहा का प्रयोग किया है।[३] 'पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस संभावना' का कारण बताते हुए लिखा है—" (जा०ग्रं० के) पहले संस्करण में दिए हुए सन् को शेरशाह के समय में लाने के लिये 'नव सै सैंतालिस' पाठ माना गया था। फारसी लिपी में सत्ताइस और सैंतालीस में भ्रम हो सकता है। पर पदमावत का एक पुराना बंगला अनुवाद है उसमें भी 'नव सै सत्ताइस पाठ माना गया है—

'शेख मुहम्मद जाति जखन रचति ग्रन्थ संख्या सपृविंश नवशत।'

यह अनुवाद अराकान राज्य के वजीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० ई० के आसपास आलो-उजालो नामक एक कवि से कराया था।"[४]

१—ना० प्र० पत्रिका, भाग १२, पृ० १४२।
२—ना० प्र० पत्रिका, भाग १२, पृ० १२६।
३—जा० ग्रं०, पं० रामचंन्द्र शुक्ल (भूमिका), पृ० ६।
४—वही।

और 'कहा' पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि जायसी भूतकाल की बातें कह रहे हैं, वर्तमान की नहीं।'

पं० चन्द्रबली पाण्डे[1] ने भी इसी प्रकार की कुछ बातें कही हैं—' 'अहा'

डा० माताप्रसाद गुप्त[2] ने १६ हस्तलिखित प्रतियों के वैज्ञानिक परीक्षण के अनन्तर 'अहा' और 'कहा' के स्थान पर 'अहै' और 'कहै' पाठ स्वीकार किया है। उन्हें केवल एक प्रति (प्रति १) में 'अहा' और 'कहा' पाठ मिला है। इस १५ प्रतियों में प्राप्त होनेवाले 'अहै' और 'कहै' पाठ को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। अतः शुक्लजी और पांडेयजी की भूतकाल की बाधा का सहज ही समाधान हो जाता है। जहां तक आलो-उजालो 'वाले' सप्तविंश नवशत की तिथि का प्रश्न है वह अवश्यमेव महत्वपूर्ण है (इस पर हमने आगे गहन विचार प्रस्तुत किया[3] है) इसका कारण यह है कि यह अनुवाद १२५० ई० के आसपास का है। पदमावत की अभी तक एक भी इतनी प्राचीन हस्तलिखित प्रति नहीं प्राप्त हो सकी है। यह तो सुनिश्चित है कि आलो-उजालो[4] ने पदमावत का अनुवाद किसी हस्तलिखित प्रति से ही किया होगा। फारसी लिपि की घसीट लिखावट के कारण अनुवादक ने सैंतालिस का सत्ताइस पढ़ लिया है। यह भी संभावना की जा सकती है कि ऐतिहासिक ज्ञान से अभाव के शेरशाह की प्रशंसा और ९२७ हि० वाले असामंजस्य को अनुवादक ने लक्षित नहीं किया।

डा० कमलकुल श्रेष्ठ ने भी ९२७ हि० की डफली में अपना राग मिलाया है। उन्होंने शुक्लजी के मत का पिष्ठपेषण करते हुए बंगला अनुवाद का उल्लेख किया है, तदुपरांत वे लिखते हैं—"प्रस्तुत लेखक १५२० ई०-९२७ हि० को मानने वाले विद्वानों से मतैक्य रखते हुए एक और तर्क ९२७ हि० के पक्ष में रखता है वह यह कि जायसी ने अपना अंतिम ग्रन्थ "आखरी (?) कलाम" १५२९ ई०-९३६ हि० में लिखा था। यह अन्तर्साक्ष्य (?) से प्रमाणित एवं निर्विवाद है जब कि कवि का आखिरी कलाम अर्थात् कवि की अन्तिम रचना ९३६ हि० की है तो पद्मावती निश्चय रूप से उससे पूर्व की होगी।[5] अंत में कुलश्रेष्ठ जी मैदान छोड़कर भागते हुए (इस समस्या को छोड़कर) कह ही देते हैं, 'प्रस्तुत पुस्तक के लिए यह विवाद विशेष महत्वपूर्ण नहीं होता।"[6] जब कवि ने अंतिम रचना ९३६ हि० में बनाई,

---

१—ना० प्र० पत्रिका, भाग १२, पृ० १२५-२६।
२—जा० पं० डा० ग्रं० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १३५। 	३—देखिए विशेष।
४—ए हिष्ट्री आफ बेंगली लैंग्वेज, दिनेशचन्द्र सेन, पृ० ६।
५—हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य : डा० कमल कुलश्रेष्ठ, पृ० ४१—४२।
६—वही, पृ० ४२।

तो ९४७ हि० में पद्मावती की कथा आरम्भ ही कैसे की होगी।"[१]

कहने की आवश्यकता नहीं कि आखिरी कलाम को कवि की 'अंतिम रचना' कहना नितान्त भ्रान्त है। 'आखिरी कलाम' तो कवि कृत अंतिम दृश्य (प्रलय-आखिरी समय) से संम्बद्ध कलाम (कलाम–साहित्यिक कृति) है। इस ग्रन्थ में अंतिम समय का वर्णन काव्यात्मक शैली में किया गया है।[२]

'आखिरी कलाम' की रचना–तिथि ९३६ हि० है। डा० कुलश्रेष्ठ ने ही लिखा है कि 'बाद में जब कि सारा ग्रंथ लिख डाला गया, तो शेरशाह के समय में कवि ने उसकी भूमिका लिखी। उसमें भूतकालिक क्रिया का प्रयोग करते हुए प्रारंभ काल और सामयिक राजा के रूप में शेरशाह की प्रशंसा की।'[३]

इस प्रकार कुलश्रेष्ठ जी ने ९२७ हि० को ही पदमावत का रचनाकाल माना है। यहां पर प्रश्न यह उठता है कि जब जायसी कृत पदमावत जो ९२७ हि० में शुरू हुआ था, अधूरा पड़ा हुआ था। जायसी को इसे भी पूरा करना था (डा० कुल-श्रेष्ठ के शब्दों में 'शेरशाह के समय में भूमिका' लिखनी थी), तो वे अपनी एक रचना का नाम अंतिम रचना क्यों रखते ? यदि इसे अंतिम रचना माने भी तो यह भी मान लेना पड़ेगा कि ९३६ हि० तक पदमावत की रचना पूर्ण हो चुकी थी। स्पष्ट ही कुलश्रेष्ठ जी के कथन में व्याघात एवं असंगति दोष हैं। इतना निश्चित है कि पदमावत की समाप्ति शेरशाह के समय में ही हुई है निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आखिरी कलाम का अर्थ लगाने में कुलश्रेष्ठ जी ने भूल कर दी है, आखिरी कलाम जायसी की अंतिम रचना नहीं है। उसकी रचना के पश्चात् पदमावत और 'चित्ररेखा' की रचना हुई है। इन दोनों ग्रन्थों के वृद्धावस्था के वर्णन एवं पदमावत में आए हुए–'दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहिं जुगराज'—शेरशाह को आशीष देने के उल्लेख अवश्य ही 'बाबरसाह छत्रपति राजा (आ० क० ८। १) के परवर्ती हैं। पदमावत को ९२७ हि० की रचना मानने वाले प्रायः विद्वानों का तर्क है कि 'शाहे वक्त के रूप में शेरशाह के वैभव, पराक्रम आदि के वर्णन वाला अंश ९४७ हि० (९४८ हि० चन्द्रबली पांडेय के अनुसार) में पदमावत की समाप्ति के पश्चात् जोड़ दिया गया। पदमावत २० वर्षों में लिखा गया हो, या ४–५ वर्षों के समय में यह बात स्वीकार्य है, किन्तु काव्य की रचना के अनन्तर शेरशाह की प्रशंसावाला अंश (भूमिका की भांति) इसमें जोड़ दिया गया है—यह बात वर्तमान युगीन लेखकों के लिए उपयुक्त है, जायसी के लिए नहीं। यह बात ९२७ हि० की युक्ति की संगति

१–मलिक मुहम्मद जायसी, डा० कमल कुलश्रेष्ठ पृ० २५।

२–द्रष्टव्य-इसी प्रबंध का अध्याय ३, आखिरी कलाम।

३–मलिक मुहम्मद जायसी : डा० कमल कुलश्रेष्ठ, पृ० २५।

बैठाने के लिए कही जाती है। 'स्तुति–खंड' के अंत में लिखी गई यह बात भी समीचीन नहीं प्रतीत होती। प्रायः सूफी कवि ग्रन्थारम्भ में ही जगत के करतार की वन्दना करते हैं, गुरू का स्तवन करते हैं, शाहेवक्त का उल्लेख करते हैं। मसनवी शैली के प्रबंध काव्य के लिए ये बातें आवश्यक मानी गई हैं। अतः स्तुति-खंड निश्चित रूप से पहले ही लिखा गया था। ९२७ हि० की अपेक्षा ९४७ हि० को अधिक प्रामाणिक मानने के लिए यह भी एक अत्यन्त प्रबल तर्क है। जायसी भारतीय महाकाव्य की शैली में एवं मुख्य रूप से मसनवी शैली के (समन्वयात्मक रूप) में अपना काव्य सर्जित करने जा रहे थे। उन्होंने प्रारम्भ में ही नियमानुसार 'समस्त जगत के करतार राजा की बन्दना की है। उसी ने सृष्टि की उत्पत्ति की है, मुहम्मद साहब का पुण्य-स्मरण भी (ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए ईश्वर और मुहम्मद, पीर आदि) ग्रन्थ के आरम्भ में मसनवी पद्धति के अनुसार किया है। मुहम्मद साहब, उनके चार यार तदनन्तर ४५ पंक्तियों में शेरशाह के वैभव एवं प्रताप का वर्णन, पश्चात् पीर सैयद अशरफ, गुरु महदी आदि का उल्लेख है, पश्चात् ग्रन्थ की रचना-तिथि बताई गई है।

"सन् नौ सै सैंतालिस अहै। कथा अरम्भ बैन कबि कहै।"

महात्मा तुलसीदास ने भी रामचरितमानस के प्रारम्भ में बन्दनादि के पश्चात् ग्रन्थारम्भ की तिथि दी है—

संवत सोरह सै इकतीसा। करउं कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा।एहि दिन रामचरित परकासा॥"[1]

'सिंघल दीप वर्णन' के प्रारम्भ में कवि ने लिखा है—

सिंघलदीप कथा अब गावौं। औ सो पदुमिनि बरनि सुनावौं॥[2]

पंक्ति के 'अब गावौं 'औ सो पदुमिनि' पद द्रष्टव्य हैं। इन पंक्तियों के ठीक पहले कवि ने लिखा है—

"सन नौ सै सैतालिस अहै। कथा आरम्भ बैन कवि कहै॥
सिंघलदीप पदुमिनि रानी। रतनसेन चितउर गढ़ आनी॥"[3]

इन पंक्तियों से भी स्पष्ट है कि स्तुति-खंड समाप्त करने और 'सो पदुमिनि' का इंगित करने के पश्चात् ही कवि ने सिंघल दीप वर्णन का आरम्भ किया। इस प्रकार यह कथन महत्वहीन हो जाता है कि 'शेरशाह' वाला अंश बाद में जोड़ा गया है और ९४६ हि० सन् में जायसी के ग्रन्थारम्भ की बात सुदृढ़ और प्रमाणित

१–रामचरित मानस ,बालकाण्ड।
२–जा०ग्रं०, डा० माता प्रसादगुप्त, पृ० १३६।
३–वही, पृ १३५।

हो जाती है।

डा० माताप्रसाद के समक्ष शुक्लजी की अपेक्षा पदमावत की हस्तलिखित प्रतियां अधिक थीं। शुक्लजी[1] ने चार मुद्रित एवं एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर पदमावत का संपादन किया था। डा० माताप्रसाद गुप्त[2] के समक्ष १९ हस्त-लिखित प्रतियां थीं। इन सोलह प्रतियों में तीन प्रतियों में 'सत्ताइस' और एक प्रति में 'अहा' और 'कहा' पाठ मिले थे, दो प्रतियों में सैंतालिस के स्थान पर 'पैंतालिस' पाठ भी मिले थे। इन समस्त प्रतियों का वैज्ञानिक ढंग से संपादन करते हुए उन्होंने 'सन नौ से सैंतालिस अहै' पाठको ही मूल पाठ माना है।[3]

पदमावत की एक अत्यन्त सुन्दर प्रति रामपुर स्टेट के राज पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह प्रति अत्यन्त प्रामाणिक है। इसे १६७५ ई० में मुहम्मद शाकिर नामक सूफी संत भक्त ने अपने उपयोग के लिए लिखा था। डा० माताप्रसाद गुप्त के पाठों से यह विलक्षण मेल खाती है। इस प्रति में रचनाकाल ९४७ हिजरी दिया हुआ है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि लिपिक और लिपि के भ्रम के कारण ९४७ मूल पाठ को ९२७ पढ़ा गया और एक बड़े विवाद का जन्म हुआ। गार्सां द तासी, ग्रियर्सन तथा प्रो० हसन अस्करी की मान्यताएं रामपुर स्टेट पुस्तकालय की अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रति, डा० माताप्रसाद गुप्त की ११ प्रतियों एवं उनके संपादन आदि के साक्ष्य एवं उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः यह स्पष्ट है कि पदमावत का प्रारम्भ ९४७ हि० में ही हुआ था और यह ग्रन्थ ९४९ हि० के पूर्व समाप्त हो चुका था।

पदमावत की लिपि : एक सर्वेक्षण

हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के समक्ष 'पदमावत' की आदि प्रति के मूल अक्षरों के विषय में एक बहुत वितंडावाद-सा खड़ा कर दिया गया है। कुछ विद्वान उसे निश्चित रूप से फारसी अक्षरों में, कुछ विद्वान नागराक्षरों में और कुछ विद्वान कैथी अक्षरों में लिखा हुआ कहते हैं।

सबसे पहले गर्सां दतासी ने [१८३९ ई० में] लिखा कि जायसी ने ९४७ हि० (१५४०—४१ ई०) में पद्मावती काव्य की रचना की। यह रचना, जो हिन्दी में लिखी गई है, या तो फारसी अक्षरों में, या देवनागरी अक्षरों में लिखी गई

१—जा० ग्रं०, पं रामचन्द्र शुक्ल, वक्तव्य, पृ० १।

२—जा० ग्रं०, डा० माताप्रसाद गुप्त, भूमिका, पृ० २।

३—वही, पृ० १३५।

है और जिसमें ६५०० के लगभग छंद है।"[1] फारसी या देवनागरी अक्षरों में लिखे जाने का कारण यह हैं कि उन्होंने जिन प्रतियों का उल्लेख किया है उनमें से कई फारसी अक्षरों में हैं और कई नागराक्षरों में। स्पष्ट है कि उन्होंने आदि प्रति के अक्षरों की समस्या पर गहराई से विचार नहीं किया।

डा०ग्रियर्सन[2] ने लिखा है कि मूलत: पद्मावत फारसी अक्षरों में ही लिखा गया था और इसका कारण उनका (जायसी का) धर्म था।" ग्रियर्सन के मत से पदमावत के फारसी लिपि में लिखे जाने की बात स्वत: सिद्ध थी।

पं० रामचन्द्र शुक्ल का (सन् १९२४ ई०) मत है कि आदि प्रति की लिपि फ़ारसी थी। झंझट का एक बड़ा कारण यह भी था कि जायसी के ग्रन्थ फारसी लिपि में लिखे गए थे। हिन्दी लिपि में उन्हें पीछे से लोगों ने उतारा है।"[3]

बाबू श्यामसुन्दरदास का कथन है कि "पदमावत की प्रतियां अधिकतर उर्दू लिपि में मिलती हैं। संभव हैं, और अधिक संभव है कि जायसी ने स्वयं उसे उर्दू लिपि में लिखा हो। उर्दू में सत्ताईस और सैंतालीस लिखने पर उनमें अधिक अन्तर नहीं होता। थोड़े से भ्रम में सैंतालीस का सत्ताईस पढ़ा जा सकता है। उर्दू लिपि की यह कठिनाई जगतप्रसिद्ध है।"[4] इसी भूमिका में उन्होंने यह भी लिखा है कि पदमावत का एक बंगाली अनुवाद है,[5] जो लगभग सन् १६५० ई में अनुवाद हुआ था और जिसमें ९२७ पाठ हैं। उन्होंने ९२७ पाठ को फारसी या उर्दू अक्षरों के कारण विभ्रष्ट पाठ समझ कर ९४७ को अधिक पसंद किया।

पं० चन्द्रबली पांडेय ने (१९३१ ई० में) एक लेख लिखकर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि जायसी ने पदमावत की रचना नागरी अक्षरों में की थी।[6] पांडेय जी का कथन है कि ग्रियर्सन, शुक्ल जी, डा० श्यामसुन्दरदास आदि लेखक इस बात पर सावधानी और वैज्ञानिक प्रकार से विचार किए बिना निश्चित निर्णय कर

१—गार्सा द तासी: हिंदुई साहित्य का इतिहास, पृ० ८६।

२—इट इज आल सो ड्यू टू हिज रिलिजन दैट ही ओरिजिनली रोट इट इन दि परशियन कैरेक्टर'—सर जार्ज ग्रियर्सन, सटीक पदुमावती, पृ० ५।

३—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली (वक्तव्य) पृ० ९ (प्रथम संस्करण १९२४ द्वितीय संस्करण के प्र० स० वाले वक्तव्य को परिवर्तित कर दिया गया है)। जा० ग्र० (द्वि० सं०) वक्तव्य, पृ० ८।

४—डा० श्यामसुन्दरदास, संक्षिप्त पदमावत, भूमिका, पृ० १२।

५—वही, पृ० १३।

६—चंद्रबली पांडेय का लेख : ना० प्र० पत्रिका, काशी, भाग १२, सं० १९८८, पृ० १०१–१४५।

गये हैं।

पाण्डेय जी का मत संक्षप ने इस प्रकार है—

'जायसी के समय में उर्दू का तो नाम भी नहीं था।'[1] 'हिन्दी भाषा को लिखने के लिए फारसी अक्षरों में आवश्यक विचार भी नहीं हुए थे।'[2]

अर्थात् पाण्डेय जी के मत से जायसी ने उर्दू अक्षरों का प्रयोग नहीं किया, क्योंकि उस काल में ऐसे अक्षर वर्तमान नहीं थे।

भले ही पाण्डेय जीं के लेख के समय (१९३१ ई०) यह बात अज्ञात रही हो, किन्तु आज तो यह स्पष्ट है कि जायसी के समय से बहुत पहले की उर्दू रचनायें हमारे समक्ष उपस्थित हैं। ना० प्र० सभा की खोज रिपोर्ट में पदमावत की एक हस्तलिखित प्रति दर्ज की गई है। इसका प्रस्तुत हस्तलेख सं० १९३५ वि० का लिखा हुआ है। इसमें पदमावत के विषय में लिखा है—

> "संवत् पंदरह सै अशी सात अधिक सम होइ।
> रच्यो जगत हित योग विधि पढ़ै ज्ञान पथ होइ॥

खोज विवरण (२६–२८९ बी०) में भी र० का यही है—

> संवत् पंदरह सै असी सात अधिक सब होइ।
> रच्यो जगत हित योग यह पढ़े ज्ञान पथ होइ॥

इस हस्तलेख की एक विशेषता यह है कि इसमें लिखा है कि 'वितस्तातीर स्थित गढ़ नामक पुरी के नवाब मुहम्मद ने प्रस्तुत ग्रन्थ को फारसी लिपि से नागरी लिपि में करने की आज्ञा दी। राजा बहादुर कायस्थ फारसी लिपि को पढ़ते रहे और पं० रामदीन मिश्र उसे नागरी लिपि में लिखते रहे—

"इतिश्री जायस नगर वासी मलिक मोहमद कृत पदमावति भाषा पोथी सम्पूर्णम्' अथ लिखना प्रयोजन लिष्यते–

> डिल्ली नगर नरेश अपारा। तिन्हकर वंश भयो उजियारा।
> सरित वितस्ता तीर गढ़ नाऊं। पुरी विदित सबकर बल ठाऊं॥
> तहाँ नरेश महंमद नामा। सूरबीर बल सब हित धामा।
> ईछा तिन धनपतिहि समाना। सूर्य अग्नि समजात बषाना॥
> बुद्धि गुनी पंडित सब आवै। सिद्धि वीर भूपति सिर नावै॥
> भइ अज्ञा नरपतिहि विशेषी। फारसी ते नागरि पुनि लेषी॥
> मह द्वौ कातिक मार्ग सोहाई। कायथ राजबहादुर गाई॥
> संबत् वोनईस सै पैंतीसा। रामदीन द्विज मिश्र लिषीसा॥

१–चन्द्रवली पाण्डेय का लेख पृ० १०४। २–वही, पृ० १२०।

श्रवण दोस कछु मोहि इतो, जो सुनि सो लिषि दीन ।
समुझि बूझि पंडित गुनी बिगर बतावन दीन ।।

फारसी लिपि से नागरी लिपि करने में जो कठिनाई होती है, वह प्रस्तुत लेख से स्पष्ट हैं । सम्भवत: पदमावत के रचनाकाल को १५८७ वि० लिखने में इसके अतिरिक्त उनका 'श्रवण-दोष' भी कारण था। उन्होंने इस ग्रंथ का नाम 'पदमावती' लिखा है। उनके समक्ष पदमावत फारसी लिपि में था। यदि उर्दू लिपि तब तक आविष्कृत नहीं हुई थी, तो भी फारसी की विशुद्ध लिपि में पदमावत को लिखने में कौन सी बाधा या कठिनाई थी ? पाँडेय जी ने (शाहजहां के समय में एक ऐसी लिपि प्रचलित हुई, जिसका नाम उर्दू पड़ गया) उर्दू की उत्पत्ति का जो यह अनुमान किया है असंगत है, क्योंकि शाहजहाँ के दो-तीन सौ वर्ष पहले के उर्दू लिपि में लिखे ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं ।

पाडेय जी का यह भी मत है कि जायसी का उद्देश्य हिन्दू जनता में सूफी मत का प्रचार था, इसलिये उन्होंने स्वभावत: नागरी लिपि में लिखा होगा। यदि यह मान लें कि जायसी (खालिकबारी की लाखों प्रतियां ऊटों पर लदवा कर देश में बांटी गई थीं) पदमावत को प्रकाशित करके प्रचारित करते थे, "तब तो यह बात ठीक हो सकती है, किन्तु जो प्रति जायसी ने अपने हाथ से लिखी, वह उन्हीं के पास रही होगी और जिस लिपि से जायसी अधिक परिचित थे उसी में वह लिखी गई होगी । उस आदि प्रति की कुछ अनुकृतियां की गई होंगी, वे भले ही नागरी या कैथी में लिखी गई हो, यह और बात है ।"[१]

पांडेय जी का एक प्रबल तर्क यह है कि अखरावट की रचना कैथी वर्ण-माला के आधार पर हुई है । अत: जायसी को इसे कैथी लिपि में लिखना पड़ा। और चूँकि उन्होंने अखरावट को कैथी में लिखा, अत: पद्मावत को भी इसी लिपि में लिखा होगा । अखरावट कैथी लिपि में लिखी गई हो, यह सम्भव है, किन्तु इस बात से पदमावत के भी कैथी में लिखे जाने का कोई निश्चित प्रमाण नहीं निकलता । यहाँ पर यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि कबीर कृत 'ज्ञान चौंतीसा' की ही शैली में जायसी ने अखरावट की रचना की है । अपने मत सिद्धान्त या प्रतिपाद्य के स्पष्टीकरण के लिए हमारे देश में प्राचीन काल से ही इस प्रकार की सर्जनायें की जाती रही हैं । जायसी ने भी इस पद्धति-विशेष को ग्रहीत किया है, और इसी कारण यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि जायसी ने नागरी या कैथी लिपि में ही पदमावत की रचना की थी ।

श्री ए० जी शिरेफ[२] का कथन है कि लिपि के सम्बन्ध में चन्द्रबली पाण्डेय

१–ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७, सं० २००९, पृ० ३३६ ।
२–ए० जी शिरेफ, पद्मावति, भूमिका, पृ० ५६ ।

के मत उन्हें ठीक नहीं जंचते। पदमावत से पूर्व अखरावट के निर्माण की बात वे नहीं मानते। शिरेफ ने अपने मत के समर्थन में पदमावत के तीन स्थलों की चर्चा की है। उनके मत से ये स्थल फारसी लिपि के मत का पर्याप्त अंशों में समर्थन करते हैं। प्रथम स्थल में अवश्य पाठ के संदेह का एक प्रमाण है जो अवश्य ही फारसी लिपि के कारण हुआ। डा० माताप्रसाद गुप्त[१] ने ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, किन्तु उनके पास कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर वे कह सकें कि ये भूलें आदि प्रति के अनुकरण करने में हुईं। ये भूलें प्रतिलिपि की किसी भी परम्परा में हुई हो सकती हैं। अतः आदि प्रति के विषय में वह प्रमाण महत्वहीन है।

द्वितीय स्थल में पदमावत के रचनाकाल के पाठ की समस्या है। डा० माताप्रसाद गुप्त की जायसी ग्रंथावली से स्पष्ट है कि ९२७ का पाठ दो परस्पर असम्बद्ध हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है। और उसी बंगाली अनुवाद में (सन् १६५० ई० के लगभग)। इन परिस्थितियों से हम अनुमान कर सकते हैं कि यह भूल यदि आदि प्रति से अनुकरण करने में नहीं हुई, तो भी उसके बहुत उपरान्त नहीं हुई। किन्तु इस बात से भी किसी निश्चित निर्णय पर पहुंचा नहीं जा सकता।[२]

तृतीय स्थल पर खण्ड चालीस (स्त्री-भेद वर्णन-खण्ड) के द्वितीय दोहे में (४०।२।१) कवि ने 'संखिनी' जाति की स्त्री की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। शुक्लजी के संस्करण में 'संखिनी' शब्द है। उन्होंने टिप्पणी में लिख दिया है कि "कवि ने शायद 'शंखिनी' के स्थान पर 'सिंघिनी' समझा है।[३] 'ए० जी० शिरेफ का कथन है कि जायसी ने फारसी में लिखित पुराने ग्रन्थों का अनुकरण करते हुए इस शब्द को भ्रम से पढ़कर 'सिंघिनी' समझा और इसलिए सिंहिनी के गुण इस छन्द में भर दिए। डा० माताप्रसाद गुप्त ने बिना कोई भिन्न पाठ दिए 'सिंघिनी' शब्द दिया है। फारसी और उर्दू की प्राचीन प्रतियों को देखने वाले लोगों को ज्ञात है कि इन लिपियों में प्रायः लिखने में क और ग में भेद नहीं रखा गया है। प्राचीन हस्तलेखों की फारसी में 'सिंघिनी' औ 'संखिनी' दोनों शब्द एक ही प्रकार से लिखे जाते हैं। यह सत्य है कि इस प्रसंग में जायसी ने 'उर अति सुभर खीन अति लंका' आदि पंक्तियों में ऐसी स्त्री का वर्णन किया है जो सिंह के गुणों से समन्वित है। कामशास्त्र में ऐसे गुणों का वर्णन नहीं मिलता। यहाँ प्रतिपाद्य इतना ही है कि शुक्लजी का पाठ 'संखिनी' ही प्रामाणिक पाठ है। किन्तु इस शब्द से या इस स्थल के छन्दों से जो भी अनुमान निकलते हैं उनका पदमावत की आदि प्रति से कोई सम्बन्ध नहीं

१—डा० माताप्रसाद गुप्त, जा० ग्रं०, भूमिका, पृ० २५-२९।

२—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७, सं० २००९, पृ० ३३७।

३—जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा काशी) दोहा २ पृ० २०७।

है। शिरेफ ने एक और तर्क दिया है – मेरी समझ में आठवें अध्याय के आठवें छन्द में निश्चित प्रमाण है। इस छन्द का आशय 'रस' और 'रिस' के पन पर निर्भर है। केवल फारसी लिपि में, जहां इन दो शब्दों का रूप एक ही है, ऐसा पन हो सकता है।" किन्तु उस छन्द का स्पष्ट गुण शब्दों में अनुप्रास का प्रयोग है। फारसी अक्षरों के विषय में कोई भी प्रमाण यहां नहीं है।

'आदि प्रति की लिपि' पर विचार करते हुए डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है कि पदमावत की प्राप्त प्रतियों में से तीन (प्र०२, द्वि० ७, तृ० ३) नागरी लिपि में हैं, शेष फारसी या अरबी लिपि में हैं, किन्तु इन तीन नागरी लिपि की प्रतियों के भी आदर्श फारसी या अरबी लिपि में थे।[१]

इस प्रसंग में गुप्तजी का प्रथम उद्देश्य यह प्रमाणित करना है कि नागरी और कैथी की प्रतियां फारसी प्रतियों की प्रतिलिपियां हैं। इस बात के स्पष्टीकरण के लिए गुप्तजी ने १३९ शब्दों के 'सामान्य पाठ और प्रति का पाठ' प्रदर्शित किया है। जिनमें नागरी प्रति का पाठ स्थापित पाठ से भिन्न है और जिनमें भेद या भूल इस कारण हो सकी है कि प्रति लेखक फारसी लिपि का अनुकरण कर रहा था। ऐसी भूलें प्रधानतया ह्रस्व स्वरों की गड़बड़ी की हैं (जो फारसी लिपि में अलिखित हैं) क, ग की गड़बड़ी और इन अक्षरों की गड़बड़ी जिनकी पहचान फारसी लिपि में बिन्दुओं पर निर्भर है। डा० गुप्त द्वारा दिए गए उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है कि प्राप्त नागरी प्रतियों की भी आदर्श प्रति फारसी या अरबी में थी। डा० गुप्त ने इस बात को स्वीकार करने के बावजूद लिखा है – "इससे भी बढ़कर आश्चर्य की बात यह है कि पदमावत की जितनी भी प्रतियां प्राप्त हुई हैं, चाहे नागरी की हों चाहे अरबी की–सबका मूल आदर्श कवि की प्रति नागरी लिपि में थी।"[२] इस बात को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने ६६ उदाहरण दिए हैं। उनके कथन का अर्थ है कि ये पाठ की ऐसी भ्रष्टता के निरूपण हैं जो नागरी प्रति के ही अनुकरण करने में सम्भव हैं। मात्र इसी तर्क के आधार पर यह मानना कि आदि प्रति नागरी में थी, सुसंगत नहीं जान पड़ता। डा० गुप्त ने एक ओर यह स्वीकर किया है कि प्राप्त नागरी प्रतियों की भी आदर्श प्रति फारसी थी और दूसरी ओर बिना व्याख्या दिए यह लिखा है कि 'नागरी की हो चाहे फारसी की, सबका मूल आदर्श कवि की प्रति नागरी लिपि में थी। इन ६६ उदाहरणों में से ५९ ऐसे हैं जहां ब और व और ओ (या औ) की गड़बड़ी होती है। ब और व की गड़बड़ी नागरी में अवश्य होती है और कैथी में उनका रूप एक ही है। किन्तु अधिक उदाहरण ब और ओ (या औ) की

१–जा० ग्रं० (हि० ए०) पृ० १९।

२–डा० माताप्रसाद गुप्त, जा० ग्रं०, भूमिका, पृष्ठ २४।

गड़बड़ी के हैं, अर्थात्, जब और जो (या जौ) इत्यादि। यहां दो बातें स्पष्ठ हैं। दोनों रूप के शब्द एक ही अर्थ के हैं, और नागरी लिपि में उनके रूप समान नहीं। डा० गुप्त की किसी व्याख्या के अभाव में हम केवल अनुमान कर सकते हैं कि उनका विचार यह है कि प्रतिलिपि करते समय एक मनुष्य मूल प्रति पढ़ देता था और दूसरा मनुष्य प्रतिलिपि लिखता था। यह यदि अनिवार्य नहीं, तो साधारण रीति है। ऐसा होते हुए जब पाठक व्यक्ति नागरी की प्रति पढ़ देता, तो 'जब' और 'जव' की गड़बड़ी नागरी लिपि में सम्भव था और पाठक के उच्चारण में 'जव' और 'जौ' की गड़बड़ी हो सकती थी।[१]

इस विचार के विरुद्ध कहा जा सकता है कि 'ब और व की गड़बड़ी भारत की अधिकतर भाषाओं की लिखावट तथा उच्चारण में होती है और जितना पूरब की ओर हम आगे चलते हैं उतनी ही गड़बड़ी बढ़ती है, यहाँ तक कि बंगाल में व और ब में कोई भेद नहीं होता, वे एक ही अक्षर होते हैं। पदमावत की भाषा पूरबी हिन्दी है, इसलिए स्वाभाविकतः व और ब की गड़बड़ी हो सकती है, चाहे पाठक ने नागरी प्रति से पढ़ लिया हो, चाहे फारसी से। इसके अतिरिक्त जब और जौ लगभग समान अर्थ के हैं और जहां समानार्थक नहीं वहाँ अर्थ का भेद महत्वपूर्ण नहीं है (जैसे सब और सो) हां, जहाँ अर्थ समान है बहुत सम्भव है कि वहाँ प्रति लेखक ने उस रूप को ग्रहण किया होगा जिस रूप से वह अधिक परिचित था।"

"अन्य सात उदाहरणों में से चार 'कुरुंम' (कूर्म) और 'कुरुंभ' की गड़बड़ी के हैं। यह बात अधिक विश्वास योग्य है, क्योंकि नागरी में म और भ में कुछ अधिक भेद नहीं है, तथा कैथी में भेद इससे भी कम है। यह पाठ (अर्थात् कुरुंभ) सब प्रतियों में है – नागरी प्रतियों में भी। सम्भव है कि अनुनासिकता के आधिक्य के कारण पिछले व्यञ्जन की गड़बड़ी उच्चारण में हुई। या सम्भव है कि कुरुंभ ही जायसी की बोली का ठीक शब्द हो, क्योंकि कुरुंभ पाठ इस ग्रन्थ में कहीं नहीं मिलता। किन्तु अकेले यही आदि प्रति की नागरी लिपि वाली बात को सिद्ध नहीं कर सकता।"

अन्य तीन उदाहरणों में से एक (रूई के स्थान पर रूद) केवल एक नागरी प्रति में मिलता है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह भूल आदि प्रति से प्रतिलिपि करने में हुई। यह भूल उसके अनंतर की भी हो सकती है।

दूसरा उदाहरण (छार के स्थान पर ठार या थार) प्रश्नवाचक चिन्ह लिए हुए हैं।[२] इसका स्पष्ट अर्थ हैं कि डा० गुप्त ने स्वयं इस पाठ को संदिग्ध माना है। प्रश्न-चिंह समन्वित शब्द को नागरी लिपि का पक्ष मजबूत करने के लिए प्रस्तुत

१—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७, सम्वत् २००९, पृ० ३३९।

२—डा० माताप्रसाद गुप्त, जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३६० (दोहा ३५२।५७)।

करना स्वतः अत्यन्त अशक्त तर्क है ।

(रातिहु देवस इहै मन मोरें । लागों कंत छार ? जेऊं तोरें ।"[1])

"तीसरा उदाहरण गुप्त जी की ही भूल जान पड़ता है, क्योंकि वह क और ग की गड़बड़ी का बात है, जो फारसी लिपि का गुण है, नागरी का नहीं[2] ।"

गुप्त जी ने उदाहरणों की विविधता, प्रामाणिता एवं संख्याधिक्य से यह प्रदर्शित किया है कि तीनों नागरी प्रतियां फारसी प्रतियों की किसी न किसी समय की हुई प्रतिलिपियां हैं, किन्तु सभी प्रतियां नागरी मूल से उत्पन्न हैं । उनका यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ, क्योंकि उनके उदाहरण विश्वासजनक नहीं हैं और गुप्त जी व्याख्या से उसका समर्थन नहीं करते ।'

आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन है कि 'जायसी ने अपनी पदमावत किस लिपि में लिखी इसका विचार स्व० चन्द्रबली पांडेय ने किया है । उनकी धारणा यही है कि फारसी लिपि में वह जायसी द्वारा न लिखी गई होगी, हो सकता है कि वह नागरी लिपि में न लिखी गई हो, प्रत्युत कैथी लिपि में लिखी गई हो, जो लिखने – पढ़ने के लिए पूर्वी अंचल में बहु प्रचलित थी, चूंकि उनकी रचना मुसलमान बंधुओं के मध्य फैली, इसलिए उसकी अनुलिपियां फारसी लिपि में अधिक मिलती हैं ।'

आचार्य मिश्र जी ने सम्भावनाओं की ओर इंगित करते हुए लिखा है कि 'हो सकता है कि यह नागरी लिपि में न लिखी गई हो' यह तथ्य उचित और संगत है, क्योंकि (डा० माताप्रसाद गुप्त को प्राप्त) तीनों नागरी प्रतियाँ भी मूलतः फारसी प्रति की अनुकृतियां हैं ।[3]

आचार्य मिश्रजी के मतानुसार दूसरी सम्भावना है कि वह "कैथी लिपि में लिखी गई हो , जो पढ़ने–लिखने से पूर्वी अंचल में बहुप्रचलित थी ।" यह सम्भावना दृढ़ आधार पर स्थित है, क्योंकि पदमावत की कई कैथी प्रतियां भी मिली हैं ।

उपर्युक्त समस्त मतों के विवेचनों के पश्चात् भी लिपि का प्रश्न वैसे ही है, जैसे वह ग्रियर्सन के समक्ष था । ग्रियर्सन का अनुमान है कि जायसी ने इसे फारसी लिपि में लिखा था ।[4] 'ए० जी० शिरेफ ने भी लिखा है कि 'जायसी ने अपनी परिचित भाषा में जन-साधारण के लिए कविता लिखते हुए स्वभावतः उन अक्षरों का प्रयोग किया होगा जो उनकी शिक्षा के मूल थे । जायस मुसलमानी

१–ना० प्र० पत्रिका, काशी, वर्ष ५७ सं २००६, पृ० ३४० ।
२–वही, पृ० ३४१ ।
३–डा० माताप्रसाद गुप्त, जा० ग्रं०, भूमिका पृ० १६ ।
४–पदुमावति ए० जी० शिरेफ, भूमिका, पृ० ५–६ ।

शिक्षा का केन्द्र था। 'प्रतियों और पुस्तकों की भी परम्परा आधुनिक काल से पहले फारसी लिपि में होती जा रही थी, जिससे अनुमान निकलता है कि आदि प्रति उसी लिपि में थी। डा० गुप्त ने प्रमाणित किया है कि सब हस्तलिखित नागरी प्रतियां फारसी प्रतियों की प्रतिलिपियां हैं (यद्यपि वे मूलप्रति को नागरी की मानते हैं) यह भी एक प्रमाण है। पाठ की जो विभ्रष्टता दो सौ वर्ष से कम की अवधि में हो गई, वह भी फारसी लिपि का पक्ष पुष्ट करती है। सूर्यकान्त शास्त्री का भी मत है कि पदमावत की भाषा ठेठ अवधी है और यह ग्रंथ फारसी लिपि में लिखा गया था।'[1]

जायसी का फारसी भाषा पर असाधारण अधिकार था, यह सिद्ध हो चुका है। उनकी भाषा अवधी अवश्य है पर उनकी लिपि फारसी ही थी। फारसी में ही उन्होंने अपने ग्रंथ लिखे थे। फारसी से कैथी या नागराक्षरों में उसकी प्रतिलिपियां-अनुलिपियां हुई हैं, इन प्रतियों की विशाल परम्परा का मूल फारसी था और यह सम्भवतः यही कारण था कि उनकी कृति जनता से दूर ही रही। वे हिन्दी की विशाल परम्परा में उपेक्षित ही रहे। अलाओल आदि के अनुवाद में जो सन् की भ्रष्टता है, वह भी फारसी लिपि के कारण है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पदमावत की आदि प्रति फारसी में लिखी गई थी।

कथानक का मूल स्रोत

जायसी के पूर्व कई प्रेमाख्यानक काव्य प्रणीत हो चुके थे। चंदायन (१३७९ ई०) और मृगावती (१५०३ ई०) के ही अनुरूप पदमावत की भी सर्जना हुई है।

हिन्दी साहित्य में प्रेमकथाओं की एक सुदृढ़ परम्परा है। अभी कुछ समय पूर्व तक कितनी ही प्रेमकथाओं के नाम मात्र ज्ञात थे, कुछ के नाम तक अज्ञात थे। इधर अनेक प्रेमगाथाओं का उद्घाटन हुआ है। अतः आज के शोध के छात्र के लिए पहले से बहुत अधिक प्रेमकथाओं के अध्ययन का सुयोग प्राप्त है।[2]

प्रेमगाथा—परम्परा का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता कि है प्रेम गाथाओं का आधार और मूल स्रोत कोई न कोई प्रेम कथा होती है — कवि उस कथा में अपने कल्पना—विलास का सौन्दर्य भर देता है। इस प्रेम कथा को कवि प्रायः — दोहा—चौपाई, छन्द में प्रबन्ध — काव्य की किसी परम्परा के अनुसार प्रस्तुत करता है, इस कथा में लोकतत्व की प्रधानता होती है। ऐतिहासिक तथ्यों को भी लोकवार्ता के

१—पं० सूर्यकांत शास्त्री : पदुमावति, प्रीफेस, पृ० ५ (१९३४), लाहौर।
२—डा० सत्येन्द्र : मध्ययुगीन साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन, पृ० २७३।

माध्यम से गृहीत किया जाता है।

तुलसीदास, सूरदास आदि महाकवियों ने पौराणिक आख्यानों के माध्यम से अपनी सर्जनाएँ की हैं, किन्तु प्रेमाख्यानक परम्परा के कवियों ने अपने काव्यों में कथाओं का वही रूप ग्रहण किया है, जो लोक–जीवन की, लोक–गीतों की तथा लोक कथाओं की मौखिक (और कभी-कभी साहित्यिक) परम्परा में ढल चुका था। "कबीरदास के निर्गुण भजन, सूरदास के लीला गान और तुलसीदास का रामचरितमानस अपनी अन्तर्निहित शक्ति के कारण अत्यधिक प्रचलित हो गए और हिन्दू जनता का ध्यान अपनी ओर खींचने में समर्थ हुए। परन्तु जनसाधारण का एक विभाग, जिसमें धर्म का स्थान नहीं था, जो अपभ्रन्श साहित्य के पश्चिमी आकर से सीधे चला आ रहा था, जो गांवों की बैठकों में कथानकरूप से और गान–रूप से चल रहा था, उपेक्षित होने लगा था। इन सूफी साधकों ने प्रौराणिक आख्यानों के बदले इन लोक-प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ही अपनी बात जनता तक पहुंचाई।[1] आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि सूफी प्रेम-काव्य गुणाढ्य की 'वृहत्यकथा से चली आती हुई प्रेम-कथाओं की परम्परा में आते हैं। सूफी प्रेमकथाओं का स्रोत लौकिक है, ये सभी कथाएं लोक-जीवन की परम्परा से गृहीत हैं। परिमाणत: हम देखते हैं कि सभी सूफी प्रेमकाव्यों में अद्भुत साम्य है। चन्दायन, मृगावती, पदमावत, मधुमालती, चित्रावली कनकावली प्रभृति प्राय: सभी काव्यों की कथाओं का मूल स्रोत एक ही है – लोकजीवन की कोई प्रेमकथा।

हमारा अनुमान है कि सूफी कवियों ने जो कहानियां ली हैं, वे सब हिंदुओं के घर में बहुत दिनों से चली जाती हुई कहानियां हैं, जिनमें आवश्यकतानुसार उन्होंने बहुत कुछ हेर-फेर किया है। कहानियों का मार्मिक आधार हिंदू हैं। मनुष्य के साथ पशु-पक्षी और पेड़-पौधों को भी सहानुभूति-सूत्र में बद्ध दिखाकर एक अखण्ड जीवन-समष्टि का आभास देना हिंदू-प्रेम-कहानियों का वैशिष्ट्य है। मनुष्य के घोर दु:ख पर वन के वृक्ष भी रोते हैं, पशु-पक्षी भी संदेश पहुंचाते हैं। यह बात इन कहानियों में भी मिलती है।[3]

हिन्दी प्रेमाख्यानक परम्परा के कवियों में हिन्दू जीवन और धर्म के प्रति उच्च कोटि की धार्मिक सहिष्णुता और सहानुभूति है। इसी के माध्यम से उन्होंने अपनी प्रेम-पीर की अभिव्यक्ति का सहज, सरल और मनोरंजक निरूपण किया है।

१–डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ६४–६५ (१९५९)।
२–डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७१।
३–पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७२।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोक-प्रचलित कथानक ही 'प्रेमाख्यानकों के मूल स्रोत हैं। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि 'प्रेमकाव्य की कथायें अधिकतर काल्पनिक ही हैं, पर जायसी ने कल्पना के साथ-साथ इतिहास की सहायता से अपने पदमावत की कथा का निर्माण किया है। रत्नसेन की सिंहल-यात्रा काल्पनिक है और अलाउद्दीन का पदमावती के आकर्षण में चित्तौर पर चढ़ाई करना ऐतिहासिक।'[1] वर्मा जी का प्रस्तुत कथन तर्क संगत है, परन्तु इतिहास के आलोक में ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाता है कि पदमावत में चित्तौर, दिल्ली, अलाउद्दीन के नाममात्र ऐतिहासिक हैं। शेष समस्त बातें कवि-कल्पना प्रसूत हैं। वस्तुत: जायसी ने अपनी कहानी को मनोमय और लोकाकर्षक बनाने के लिए इतिहास की छौंक दे दी है। यह छौंक नाममात्र की छौंक है, इसके मूल में एतिहासिकता ढूंढना व्यर्थ है। इनमें कतिपय नामों की इतिहास सम्मतता के अतिरिक्त सर्वत्र निजंधरी कथाओं के सदृश कल्पना-तथ्य का (फैक्ट्स ऐण्ड फिक्शन का) योग रहता है।[2]

प्रेमगाथाओं की कथा-वस्तु के मूल तन्तु और पदमावत:—

प्रेमगाथाओं की मूल कथावस्तु संक्षेप में यह है—

१—नायक किसी दूत या अन्य माध्यम से नायिका की प्रशंसा सुनता है या दर्शन करता है और एक दूसरे पर या दोनों एक दूसरे पर मुग्ध हो जाते हैं।
२—नायक नायिका को प्राप्त करने के लिए गृहत्याग कर चल पड़ता है।
३—मार्ग के प्रत्यूह—मार्ग में अनेक विघ्न आते हैं, किन्तु वह उन्हें पार कर जाता है।
४—उसकी रक्षा भी होती है।
५—दैवी या अमानवीय शक्ति उसकी सहायता करती है, अन्त में वह नायिका को प्राप्त कर लेता है और घर लौटता है।
६—लौटते समय भी विघ्न आते हैं, किंतु वह पार हो जाता है।
७—अन्त में मिलन होता है।
८—(दु:खान्त)।

किसी न किसी रूप में ये तन्तु प्राय: सभी प्रेमगाथाओं में मिलते हैं। एक आठवां तन्तु दु:खान्त का भी हो सकता है जिसमें किसी कारण से नायक-नायिका

१—डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५१८।
२—द्रष्टव्य—(आगे) पदमावत की ऐतिहासिकता : एक पुन: सर्वेक्षण, पृ० १८३ और 'पदमावत का काव्य—सौन्दर्य अध्याय १ (इसमें पदमावत की कथावस्तु और मूलस्रोत का सांगोपांग विवेचन किया गया है।)

में व्यवधान हो जाता है और एक या दोनों की मृत्यु हो जाती है ।[1]

इन तन्तुओं के समान ही कुछ और महत्वपूर्ण तन्तु हैं जिनका उपयोग प्रायः सभी प्रेमगाथाओं में हुआ है—

(१) नख-शिख-वर्णन ।
(२) विरहवर्णन : बारहमासा ।
(३) युद्ध वर्णन और
(४) सती होना ।

इस सूची को और बढ़ाया जा सकता है, किन्तु मूलरूप से मुख्य तन्तु इतने ही हैं । जायसी ने भी इन्हीं मूल तन्तुओं के माध्यम से पदमावत की कथा-वस्तु का संघटन किया है ।

जायसी द्वारा गृहीत 'पदमावती' की कथा

ऊपर कहा जा चुका है कि भारतवर्ष के सूफी कवियों ने लोकजीवन तथा साहित्य में प्रचलित निजंधरी कथाओं के माध्यम से अपने आध्यात्मिक सन्देशों को जनता तक पहुँचाने के प्रयत्न किये हैं । कुतबन ने 'मृगावती' में लिखा है कि यह कथा पहले से चली आ रही थी । इसमें योग, शृंगार और विरह-रस वर्तमान थे मैंने दुबारा फिर उसी कथा को लिपिबद्ध किया है । कुतबन का यह दावा अवश्य है कि पहले से ही प्रचलित कथा के अर्थ को उन्होंने नये सिरे से स्पष्ट किया है ।

'पुनि हम खोलि अरथ सब कहा ।'[2]

ठीक इसी प्रकार का एक अन्तःसाक्ष्य 'पदमावत' में भी प्राप्त होता है । जो स्पष्ट इंगित करता है कि पदमावती की कहानी जायसी की निजी कल्पना की उपज नहीं है—

'सन् नौ सै सैंतालिस अहा । कथा अरम्भ बैन कवि कहा ।।
सिंहलदीप पदमिनी रानी । रतनसेन चितउर गढ़ आनी ।।
अलउदीन देहली सुलतानू । राघव चेतन कीन्ह बखानू ।।
सुना साहि गढ़ छेंकन आई । हिन्दू तुरकन्ह भई लराई ।।
आदि अन्त जस गाथा अहै । लिखि भाखा चौपाई कहै ।।'[3]

इन पंक्तियों में जायसी ने यह स्पष्ट बताया है कि आदि से अन्त तक जैसी

१—डा० सत्येन्द्र : मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन पृ०२७३-२७४
२—कुतबन : मृगावती, स्तुति खण्ड (अप्रकाशित) हस्तलिखित प्रति से ।
३—पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली, पृ० ६ (दोहा २४) ।

गाथा है उसे ही वे 'भाखा–चोपाई' में निबद्ध करके प्रस्तुत कर रहे हैं। सिंहल कीं पद्मिनी रानी की कहानी जायसी ने सुनी थी। यह गाथा 'सिंहल की पद्मिनी रानी से लेकर 'हिन्दू तुरकन्ह भई लराई।' तक पूरी होती है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि जायसी ने जो वृत्त ग्रहण किया है वह आदि से अन्त तक एक ही गाथा है। वह गाथा लोक–गाथा है, इसमें सन्देह नहीं। यह एक ऐसी लोक–कथा है जिसमें ऐतिहासिक पुरुषों और स्थानों के नाम प्रविष्ट कर दिए गए हैं।

पं० चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार जायसी का यह दावा है कि पद्मावती की कथा रसपूर्ण और अत्यन्त प्राचीन थी। काव्यबद्ध करने का प्रथम श्रेय जायसी को ही है। इस कथन की पुष्टि पाण्डेय जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों से करते हैं—

कवि वियास कंवला रसपूरी। दूरि सो नियर नियर सो दूरी॥
नियरे दूर फूल जस काँटा। दूरि सो नियरे जस गुर चांटा॥
भंवर आइ बन खंड सन, लेइ कंवल कै बास।
दादुर बास न पावई, भलहि जो आछै पास॥[1]

'कवि इसके द्वारा यह व्यक्त करना चाहता है कि यहां एक से एक बढ़कर कवि हुए हैं और यह कथा भी रस से भरी पड़ी है, फिर भी किसी कवि से न बन पड़ा कि इस कथा को काव्य का रूप दे। यह कार्य तो मुझ जैसे अहिन्दू से बन पड़ा।'[2]

इस प्रकार इन साक्ष्यों से निष्कर्ष निकलता है कि पद्मावती की कहानी भारतवर्ष की प्राचीन कहानियों में से है। जायसी ने इस कहानी को ('सुना' भी था) पूर्ववर्ती पद्मावती रानी की साहित्यिक कहानी एवं लोक प्रचलित पद्मावती वाली कहानी की परम्पराओं से गृहीत करके गहन चिन्तना, विशाल कल्पना एवं महत् अनुभूति के मिश्रण से विकास एवं अनुपम काव्य-सौन्दर्य प्रदान किया है।

पदमावत की कथा

कवि ने पदमावत के प्रारम्भ में समस्त जगत के करतार की पावन बन्दना की है। पश्चात् मुहम्मद और उनके चार यारों का उल्लेख, गुरु-स्तवन, रचना-तिथि का उल्लेख और कथा-निर्देश करते हुए सिंघल द्वीप, उसकी सघन अमराई, उसके राजा गंधर्वसेन, राजसभा, उद्यान, नगर इत्यादि का वर्णन करके कवि ने मूल कथा का वर्णन प्रारम्भ किया है।

१–वही, पृ० ६ (दोहा २४)।
२–पं० चन्द्रवली पाण्डेय : हिन्दी कवि-चर्चा, पृ० १३४।

सिंघलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की पटरानी चंपावती के गर्भ से एक कन्या उत्पन्न हुई। उसका रूप अप्रतिम था। उसका नाम पदमावती रखा गया। वह विलक्षण बुद्धि सम्पन्न और सुगुण-शीला थी। जब वह ग्यारह वर्ष की सयानी हुई, तो उसे एक सतखंडा धवल गृह आवास के लिए दिया गया। बाला पदमावती यौबनभार से झुक गई। उस पद्मगंधा की वेणी नागिनी के सदृश उसकी पीठ मलय गिरि पर आलुलायित थी। वह भौंह रूप धनुष पर कटाक्ष -वाण संधान करके घुमाती थी। चकित-भ्रमित हिरनी जैसे उसके नेत्र थे। मुखकान्ति कमल कान्ति थी। उसके अधर माणिक्य की भांति और दांत हीरे की भांति थे। उस पद्मिनी का अनूप रूप देखकर संसार मोहित हो गया। उसके पास उसका पालित एक स्वर्ण-वर्ण का शुक था। यह शुक अद्भुत पंडित, चतुर और शास्त्रज्ञ था। जब रूप गुण की खान रानी पद्मिनी सयानी हो गई तब भी वैभव के मद में राजा ने उसका विवाह नहीं किया। वह अत्यन्त व्यथित रहने लगी। वह रात-दिन हीरामन से इसी बात की चर्चा किया करती थी। एक दिन बातचीत के बीच शुक ने कहा कि यदि कहो तो देश-देश में घूम कर तुम्हारे योग्य बर ढूँढ़ूँ। किसी ने राजा से यह बात कह दी। राजा ने शुक को मार डालने की आज्ञा दे दी। किसी प्रकार अनुनय-विनय द्वारा पद्मावती ने उसकी रक्षा की। शुक ने विदा की प्रार्थना की, परन्तु प्रेम-कातर पद्मावती ने उसे जाने नहीं दिया। पूर्णिमा के दिन पद्मावती सखियों-सहित मानसरोवर में जलक्रीड़ा और स्नान के लिए गई। सशंक शुक ने उपयुक्त अवसर देखकर वन की राह ली। वन के पक्षियों ने हीरामन का बड़ा सत्कार किया। एक दिन हीरामन एक बहेलिए की जाल में फंस गया। बहेलिया उसे झावे में रख कर हाट ले गया। चित्तौड़ के एक व्यापारी के साथ एक ब्राह्मण सिंघल की हाट में व्यापार के लिए गया था। हीरामन को पंडित समझ कर उसने व्याध से मोल ले लिया।

चित्तौड़ के राजा चित्रसेन की मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र रतनसेन सिंहासनासीन हुआ। ज्योतिषियों ने कहा कि वह सिंहल द्वीप में जाएगा और पद्मिनी से विवाह करेगा। जब वह ब्राह्मण शुक को लेकर रतनसेन के दरबार में गया, तो शुक के पांडित्य से प्रभावित होकर रतनसेन ने उसे एक लाख रुपए देकर हीरामन को मोल ले लिया।

एक दिन जब रतनसेन शिकार करने गया, तो उसकी रूप-गर्विता रानी नागमती ने शृंगार-मंडित अपना रूप दर्पण में देखा। उसने हीरामन से पूछा "क्या मेरे समान सुन्दर स्त्री अन्य कोई संसार में है?" इस पर उसने हंस कर कहा, "पद्मिनी और तुम्हारे सौन्दर्य में दिन-रात का अंतर है। उसके रूप के समक्ष

तुम्हारा रूप नगण्य है।" भावी सौत की चिन्ता से उद्वेलित रानी ने शुक को मार डालने की आज्ञा दी। धाय ने उसे मारा नहीं, छिपाकर रख दिया। लौटने पर जब राजा ने शुक को नहीं देखा तो वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। अंत में हीरामन लाया गया। राजा के पूछने पर शुक ने सारी बातें बता दीं। उसने पदमावती के नख-शिख का सविस्तार जीवंत चित्र वर्णित किया। उस सौन्दर्य-वर्णन को सुनकर राजा बेसुध हो गया। उसके मन में पदमावती-प्राप्ति की इतनी प्रबल अभिलाषा जागी कि जोगी-वेश में घर से निकल पड़ा। हीरामन मार्ग-दर्शक बना। उसके साथ सोलह सहस्र कुंवर भी योगी होकर चले। माता ने विनती की। नागमती ने सीता की भांति साथ चलने का आग्रह किया, किन्तु सब व्यर्थ। चित्तौड़ से चलकर अनेक नदियों, पर्वतों, एवं सात सागरों के अनेक प्रत्यूहों का प्रत्यास्थान करते हुए जोगियों का यह दल सिंहलद्वीप पहुँचा। रत्नसेन जोगियों के साथ महादेव के मंदिर में बैठकर तप करने लगा। हीरामन ने पद्मावती से भेंट की। वह उसे देखकर बहुत रोई। हीरामन के प्रयत्न से वसंत-पंचमी के दिन पदमावती सखियों के साथ शिव-मंडप में गई। रत्नसेन उसे देखते ही मूर्छित हो गया, उसने जोगी को जगाने के लिए अनेक उपचार किए, पर सब व्यर्थ। उसने उसके वक्षस्थल पर चन्दन से यह अंकित कर दिया कि "जोगी, तूने भिक्षा प्राप्त करने योग्य योग नहीं सीखा, जब फल प्राप्ति का अवसर आया, तो तू सो गया।" वह अपने प्रासाद में चली गई।

चेतना लौटने पर रत्नसेन करुणा-क्रन्दन कर उठा। उसके विलाप और जल मरने के दृढ़ संकल्प से देवताओं में 'त्राहि-त्राहि मच गई कि यदि प्रेम पंथ का यह पथिक मरा तो विरहाग्नि से समस्त लोक जल जाएंगे।

महादेव-पार्वती ने उसके प्रेम की परीक्षा ली। पार्वती ने लावण्यमयी अप्सरा का रूप धारण किया और कहा कि मुझे इन्द्र ने भेजा है। पद्मावती को भूल जा। तुझे अप्सरा मिली।' रत्नसेन ने कहा कि "अप्सरे, मुझे पद्मावती के अतिरिक्त और किसी से कोई प्रयोजन नहीं।" परीक्षा में सफल जानकर महादेव जी ने उसे सिद्ध गुटिका दी और सिंहलगढ़ में घुसने का मार्ग बतलाया। रत्नसेन ने अपने साथियों के साथ सिंहल गढ़ पर चढ़ाई कर दी। साहसिक अभियान में वह अपने जोगी साथियों के साथ पकड़ा गया। गन्धर्वसेन ने उन सबको शूली की आज्ञा दे दी। महादेव-पार्वती ने भांट—भाटिन का वेश धारण करके गन्धर्वसेन को बहुत समझाया, पर वह न माना। इसी बीच हीरामन शुक से पद्मावती ने संदेश भेजा कि "मेरा मरना और जीना तुम्हारे ही साथ होगा।" पुनः योगियों की वाहिनी और गँधर्वसेन की वाहिनी के घोर-घमासान की भीषण बिभीषिका उपस्थित हुई। रत्न-

सेन के साहाय्य के लिए महादेव-हनुमान प्रभृति देवता आ डटे। गन्धर्वसेन की हस्तिसेना को हनुमानजी ने अपनी पूंछ में लपेट कर आकाश में फेक दिया। महादेव के घण्टे का भैरव-निनाद, विष्णु के शंख का भीषण नाद तथा अन्यान्य देवों के वाद्यों की भीषण भैरवी जोगियों की सेना में बज उठी। साक्षात् प्रलयंकर शंकर को समरांगण में तांडव करते देखकर गन्धर्वसेन उनके चरणों में गिर पड़ा। उसने निवेदन किया, 'भगवान् ! कन्या आपकी है जिसे चाहें उसे दे दें।" हीरामन ने रत्नसेन के राज-व्यक्तित्व का परिचय दिया। बड़ी धूमधाम से रत्नसेन—पद्मावती का विवाह सम्पन्न हुआ। रत्नसेन के साथी सोलह सहस्र कुवरों का भी विवाह पद्मिनी स्त्रियों के साथ हो गया। षट्-ऋतुओं को दम्पति ने सुख पूर्वक व्यतीत किया।

एक ओर रत्नसेन अपनी सद्यः परिणीता प्रेयसी के साथ आनन्द में मग्न था और दूसरी ओर वियोग-क्लान्ता नागमती के विलाप मे पशु-पक्षी तक विकल हो गए। आधी रात के समय एक पक्षी ने नागमती के विरह का कारण पूछा। नागमती के कहने पर वह पक्षी उसका प्रेम-संदेश लेकर सिंहल द्वीप गया। शिकार खेलते-खेलते रत्नसेन एक पेड़ के नीचे जा पहुँचा। पक्षी ने उससे चित्तौड़ और नागमती की दीन दशा एवं दुखकथा का वर्णन किया। रत्नसेन ने विदा लेकर पद्मावती के साथ चित्तौर की ओर प्रस्थान किया।

सागर की उत्ताल तरंगों के घात-प्रत्याघातों को सहता हुआ रत्नसेन का जलयान झूमता हुआ चला जा रहा था। सहसा विभीषण के एक राक्षस के कुचक्र के फलस्वरूप रत्नसेन का जलयान भंवर-वात्याचक्र के आवर्त-विवर्त में पड़ गया और उस आलोड़न के कारण सागर के अतल-तल में खंड-खंड हो कर सदा के लिए समा गया। एक तख्ते पर एक ओर राजा बहा और दूसरे तख्ते पर दूसरी ओर रानी।

जलयान-ध्वंस के पश्चात् पद्मावती बहते बहते उस घाट पर जा लगी जहां लक्ष्मी झूला झूल रही थीं। लक्ष्मी और समुद्र की सहायता से रत्नसेन-पद्मावती का पुनर्मिलन हुआ। समुद्र ने उनका बड़ा सत्कार किया और विदाई के समय पांच अमूल्य पदार्थ अमृत, हंस, राजपक्षी, शार्दुल और पारस—भेंट किये। रत्नसेन चित्तौर पहुँचा। नागमती की बारी पल्लवित हो गई। नागमती से नागसेन और पद्मावती से पद्मसेन नामक पुत्र हुए।

रत्नसेन के दरबार में राघव चेतन नामक एक यक्षिणी सिद्ध पंडित रहता था। उसके वेद-विरुद्ध आचरण के कारण राजा ने उसे देश से निकल जाने की सजा दी। पद्मावती ने राघव को प्रसन्न करने के लिए अपना जड़ाऊ कंगन दिया

राघव चेतन ने अपमान का बदला लेने का निश्चय किया। वह कंगन लेकर दिल्ली की ओर चल पड़ा। उसने पद्मिनी के सौन्दर्य का वर्णन करके अलाउद्दीन को आक्रमण के लिए उत्प्रेरित किया। अलाउद्दीन ने रत्नसेन को पत्र लिखकर पद्मिनी की मांग की। राजा ने दूत से कहला दिया कि यदि उन्हें कल आना हो, तो वे आज ही आयें।

अलाउद्दीन ने चित्तौर पर आक्रमण किया। आठ वर्ष तक घोर घमासान युद्ध होता रहा। अन्त में अलाउद्दीन ने संधि का प्रस्ताव भेजा। इसमें समुद्र से प्राप्त पाँच रत्न मांगे गए और बादशाह ने चन्देरी देने की प्रतिज्ञा की। संधि हो गई। बादशाह को दुर्ग में प्रीतिभोज दिया गया। गोरा बादल के मना करने पर भी रत्नसेन ने उनकी बात न मानी। वह अलाउद्दीन के साथ शतरंज खेलने लगा। सहसा दर्पण में पद्मिनी का प्रतिबिम्ब देखकर वह मूर्च्छित हो गया। राघव चेतन ने बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से परिस्थिति सम्हाल ली। राजा उसे गढ़ से बाहर पहुँचाने आया। छलपूर्वक अलाउद्दीन ने उसे बन्दी बना लिया। वह दिल्ली की ओर रवाना कर दिया गया। इसी बीच कुंभलनेर के राजा देवपाल की एक दूती ने पदमावती को फुसलाना चाहा। अलाउद्दीन की भेजी एक वेश्या ने भी फुसलाने का प्रयत्न किया, पर भेद खुल जाने पर वे पीट-पाट कर भगा दी गई।

पद्मिनी ने गोरा-बादल से अपनी व्यथा कथा कही। गोरा बादल ने सहायता का बचन दिया। युद्ध की तैयारियां हुईं। बादल ने सद्यः आगत नवल वधू की युद्ध में न जाने की प्रार्थना अनसुनी कर दी। माता ने भी मार्गावरोध किया, पर वह वीर राजपूत न रुका। सोलह सौ पालकियों में सशस्त्र राजपूत बैठे। पद्मावती की पालकी में एक लुहार बैठा। यह प्रसिद्ध करा दिया गया कि रानी अलाउद्दीन के पास जा रही है। दिल्ली पहुँचकर गोरा बादल ने अलाउद्दीन से प्रार्थना की कि पद्मिनी पति से अन्तिम बार मिलकर गढ़ की कुंजियां सौंप देना चाहती है। अलाउद्दीन ने आज्ञा दे दी। लुहार ने रत्नसेन की लौह शृंखलायें काट दीं। बादल रत्नसेन को लेकर चित्तौड़ की ओर भागा। दिल्ली में गोरा और बादशाह के वीरों में घोर युद्ध हुआ। गोरा मारा गया। पद्मिनी से देवपाल के छल की बात सुनकर रत्नसेन आग बबूला हो गया। उसने आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में रत्नसेन के पेट में सांघातिक चोट लगी, चित्तौड़ का किला बादल को सौंप कर वह स्वर्गवासी हुआ। दोनों रानियां सती हो गईं। अलाउद्दीन ने पुनः आक्रमण किया। सभी स्त्रियां जौहर की ज्वाला में जल गईं। पुरुष युद्ध करते खेत रहे। चित्तौर पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। अलाउद्दीन के हाथ जौहर की राख ही आई—

'छार उठाइ लीन्ह एक मूठी।
दीन्ह उड़ाइ पिरथिमी झूठी॥'

पदमावत की ऐतिहासिकता

जायसी के पदमावत की कथा समय के साथ साथ अत्यन्त लोकप्रिय हो गई। अलाउद्दीन, दिल्ली, रत्नसेन, चित्तौड़ प्रभृति नामों से संबद्ध होने के कारण धीरे-धीरे यह कथा मुखर होती गई और इसे ही ऐतिहासिक सत्य किंवा इतिहास मान लिया गया। टाड, फिरिश्ता, आइने-अकबरी आदि की पदुमावती-विषयक कहानी का मूल आधार 'पदमावत' ही है। इस कथा को ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक सिद्ध करने के अनेक प्रयत्न किए गए हैं। परिणामतः अनेक निर्मूल और भ्रान्त धारणायें प्रचलित हो गई हैं। वस्तुतः पदमावत आधुनिक काल के उपन्यासों की-सी कविता-बद्ध कथा है जिसमें कतिपय ऐतिहासिक नामों के अतिरिक्त सर्वत्र महाकवि जायसी की कल्पना और भावना का विलास और सौन्दर्य दर्शनीय हैं।

टाड के राजस्थान का मूल आधार पद्मावत है—

कर्नल जेम्स टाड ने अलाउद्दीन के चित्तौर के आक्रमण का निम्नलिखित वृतांत दिया है:-

"विक्रम संवत् १३३१ (१२७५ ई०) में लखमसी चित्तौर के सिंहासन पर बैठा। दो बार अलाउद्दीन ने चित्तौर पर आक्रमण किया था। (लखमसी के) छोटे होने के कारण उसका चाचा भीमसी उसका संरक्षक बना। भीमसी ने सिंहल के (चौहान) राजा हम्मीर शंक की कन्या से विवाह किया था। उसका नाम पद्मिनी था। यह नाम उसके अलौकिक सौन्दर्य के कारण रखा गया था। पद्मिनी की प्राप्ति ही अलाउद्दीन के आक्रमण का मूल उद्देश्य था, यद्यपि यह आक्रमण दीर्घ-कालीन और व्यर्थ रहा। अन्त में उसने उसके अन्यतम सौन्दर्य को मात्र देखने तक ही अपनी आकांक्षा को सीमित कर दिया और वह भी दर्पण के माध्यम से। वह थोड़े से रक्षकों के साथ राजपूतों के विश्वास के भरोसे पर दुर्ग में गया। अपनी इच्छा-पूर्ति के पश्चात् वह लौटा। राजा उस पर विश्वास करके दुर्ग के बाहर तक उसको पहुँचाने आया। हिन्दुओं की महान् आस्था पर विश्वास करते हुए ही अलाउद्दीन ने इसी कारण यह साहसिक कार्य किया था। यहां भीमसी को कैद कर लिया गया, उसे अत्यन्त शीघ्र तातार शिविर की ओर ले जाया गया। यह घोषित कर दिया गया कि पद्मिनी के समर्पण पर ही उसे मुक्त किया जायगा।

जब यह बात ज्ञात हुई, तो चित्तौर के लोग विचलित हो उठे। पद्मिनी ने अपनी ही जाति और वर्ग से अपने मायके 'सीलोन' के अपने चाचा गोरा और भतीजा बादल से मन्त्रणा की। जिन्होंने उसके जीवन या इज्जत पर आंच न आने

देने और राजा की मुक्ति हो जाए—ऐसी मन्त्रणा दी। अलाउद्दीन को सूचित कर दिया गया कि पद्‌मनी जायगी, पर अपनी उच्च मर्यादा के साथ। पद्मिनी के साथ अनेक दासियां रहेंगी, बहुत सी अन्य सखियाँ भी होंगी, जो केवल उसे पहुँचाने और विदा करने दिल्ली जांएगी। शाही शिविर में सात सौ से अधिक डोलियां पहुँचीं। प्रत्येक डोली में चित्तौर के संरक्षकों में से एक अत्यन्त शूरवीर योद्धा बैठा। एक-एक पालकी उठाने वाले छः छः कहार वेशधारी सशस्त्र सैनिक भी थे। शाही शिविर कनातों से घिरा था। डोलियां उतार दी गईं। आधे घण्टे का समय हिन्दू राजा और उसकी रानी को अन्तिम भेंट के लिए स्वीकृत किया गया। उन्होंने राजा को तुरन्त एक पालकी में बैठाया और चित्तौर गढ़ की ओर लौट पड़े। शेष डोलियां मानो पद्मिनी के साथ दिल्ली जाने के लिए वहीं रहीं। किन्तु अलाउद्दीन का इरादा था कि वह भीमसी को वापस चित्तौर जाने की स्वीकृति नहीं देगा। वह ईर्ष्यालु हो रहा था कि रत्नसेन इतनी देर तक भेंट का आनन्द उठा रहा था। जब राजा और पद्मिनी के स्थान पर पालकियों से देशभक्त वीर निकल पड़े तो वह घबरा गया। किन्तु अलाउद्दीन पूर्णतः संरक्षित था। पीछा करने की आज्ञा दी गई। पालकियों से निकले हुए राजपूतों ने वीरतापूर्वक पीछा अरने वालों का कुछ देर तक सामना किया, किन्तु वे अन्त में एक-एक करके मारे गये।

"भीमसी के लिए एक तेज घोड़ा तैयार रखा था। वह उस पर सवार होकर सुरक्षित दुर्ग के भीतर पहुंच गया। फाटक पर अलाउद्दीन की सेना से घोर युद्ध हुआ। गोरा बादल के नेतृत्व में राजपूती सेना लड़ती रही। अलाउद्दीन अपने उद्देश्य में विफल रहा। गोरा इस युद्ध में मारा गया।

"खुमाण रास" में यह सुन्दर रूप में वर्णित है। बादल मात्र बारह वर्ष का था, किन्तु राजपूत से इस छोटी अवस्था में भी आद्भुत्य-प्रदर्शन की आशा रखी जाती है। वह वीरता के साथ लड़ा, घायल हुआ, पर बचकर निकल आया। बादल से अपने पति के शौर्य की कथा सुनकर 'मेरा पति मेरी प्रतीक्षा करता होगा' कहती हुई उसकी पत्नी आग की लपटों में कूद कर सती हो गई।

"अलाउद्दीन सेना में नई भरती करके शक्ति बढ़ाकर अपने उद्देश्य के लिए चित्तौर की ओर लौटा। कथा के अनुसार यह घटना सं० १३४६ (१२९० ई०) में हुई, किन्तु फिरिश्ता ने तेरह वर्ष बाद की (१३०३ ई०) तिथि दी है। चित्तौड़ की संरक्षिका कुलदेवी ने राजा को दर्शन दिया। राना ने कहा—'यद्यपि मेरे आठ सहस्र योद्धाओं ने अपना बलिदान कर दिया, फिर भी तुम सन्तुष्ट नहीं हुई? वह अन्तर्ध्यान हो गई। प्रातः उन्होंने अपने इस रात्रि के दृश्य की बात अपने प्रमुखों से कह दी, जिसे उन्होंने विशृंखल स्मृति की बात कहकर टाल दिया। "अब मैं

चित्तौड़ के लिये अपना बलिदान करता हूँ" कहते हुए अपने ग्यारह पुत्रों के मारे जाने के अनन्तर राणा मारे गए। राणा के युद्ध में जाने के समय पद्मिनी ने जौहर किया। सहस्रों राजपूत क्षत्राणियों के साथ पद्मिनी ने दहकती हुई अग्नि के उस गुप्त भूहरे में प्रवेश किया। राजपूतों ने दुर्ग की अर्गला का उद्घाटन किया। वे मुसलमानों पर टूट पड़े। भीमसी ने युद्धक्षेत्र में शरीर त्याग किया। – – – इस प्रकार अलाउद्दीन ने १३०३ ई० में इस राजधानी को जीत लिया।[1]

'टाड की यह कथा राजस्थान के भाट और चारणों के आधार पर लिखी गई है। भाटों की पुस्तक में समरसिंह के पीछे रत्नसिंह का नाम न होने से टाड ने पद्मिनी का सम्बन्ध भीमसी से मिलाया और उसे लखमसी की घटना मान ली। ऐसे ही भाटों के आधार पर टाड ने लखमसी का बालक होना भी लिख दिया है परन्तु न तो लखमसी मेवाड़ का कभी राजा हुआ और न उस समय बालक था, वह सीसोदे का सामन्त था। – – – यह बात कुंभलगढ़ के शिलालेख से स्पष्ट है (१४६० ई०) एकलिंग माहात्म्य के अनुसार भीमसी लखमसी का चाचा नहीं हो सकता।'[2]

वस्तुत: टाड का ग्रन्थ 'एकत्र किए गए अनेक विवरणों' का ग्रन्थ हैं। इसमें बहुत-सी बातें सुनी-सुनाई, भट्ट-भणंत, चारणों–द्वारा कथित और चारण–भाटों के आधार पर लिखी गई हैं। पद्मिनी रानी की कहानी से सम्बद्ध टाड की बातें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पदमावत पर ही आश्रित हैं। टाड ने चारणों के इतिहास से इस कथा को ग्रहीत किया है और चारणों के वृतों का मूल स्रोत पदमावत है। टाड द्वारा दी गई कथा में भी कल्पना और सम्भावना का ही प्राधान्य है। उसमें ऐतिहासिकता तो कुछ नामों और आक्रमण की बात तक सीमित है।

'तारीखे-फिरिश्ता' के पद्मिनी–वृत्त का मूल आधार पदमावत है—

पदमावत की रचना के लगभग सत्तर वर्ष के अनन्तर मुहम्मद कासिम फरिश्ता ने 'तारीखे–फरिस्ता' की रचना की थी। शेरशाह के काल में लिखे गए पदमावत की उस समय तक धूम मच चुकी थी। विद्वानों का विचार है[3] कि सम्भवत: फरिश्ता ने पदमावत से ही कुछ हाल लिया हो, क्योंकि अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण के सम्बन्ध में वह रत्नसेन का नाम तक नहीं देता और फिर कई घटनाओं के वर्णन के पश्चात् ७०४ हि० (सन् १३०४ ई०) के प्रसंग में वह लिखता है—

१–लें० क० जेम्स टाड : ऐनल्स ऐंड ऐंटिक्स आफ राजस्थान (टू वाल्यूम्स इन वन) वाल्यूम १, चैप्टर ६, पृ० २१२–२१५।

२–गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० १८७–८८।

३–रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० १८८-८९

'इस समय चित्तौड़ का राजा राय रतन सेन जो सुलतान ने जब उसका किला छीना, तब से कैद था – अद्भुत रीति से भाग गया । अलाउद्दीन ने उसकी एक लड़की के अलौकिक सौंदर्य और गुणों का हाल सुनकर उससे कहा कि यदि तू अपनी लड़की मुझे सौंप दे, तो तू बन्धन से मुक्त हो सकता है । राजा ने (जिसके साथ कैदखाने में सख्ती की जा रही थी) इसे स्वीकार करके लड़की को सौंपने के लिए बुलाया । राजकुमारी को लोगों ने विष देना चाहा, किन्तु राजकुमारी ने युक्ति से अपने पिता को छुड़ाया । उसने अपने विचारों को अवगत करा दिया । वह आत्मरक्षणार्थं सदल-बल बेरोक-टोक दिल्ली पहुंची । उस समय रात पड़ गयी थी । सुलतान की खास पखानगी से डोलियाँ कैदखाने में पहुंची और वहां के रक्षक बाहर निकल आये । भीतर पहुँचकर डोलियों से निकल कर राजपूतों ने तलवारें सम्हालीं और सुल्तान के सेवकों को मारने के पश्चात् वे राजा-सहित तैयार रखे हुए घोड़ों पर सवार होकर भाग निकले । – – – राजा भागता हुआ अपने पहाड़ी प्रदेश में पहुंच गया । – – – और उसी दिन से वह मुसलसानों के हाथों में रहे हुए मुल्क को उजाड़ने लगा । अन्त में सुलतान ने चित्तौड़ को अपने अधिकार में रखना निरर्थक समझकर खिजिर खां को हुक्म दिया कि किले को खाली करके राजा के भानजे को सुपुर्द कर दे ।

'पदमावत' और 'तारीखे फरिश्ता' की कथाओं की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि फरिश्ता ने कुछ-कुछ घटा-बढ़ी करके पद्मिनी की पदमावत वाली कथा को ही ऐतिहासिक रूप में रख दिया है । पद्मिनी को राजा की पुत्री को रानी न कहकर 'राजा की पुत्री'[१] बतलाया है । यह 'राजा की पुत्री' मूलतः' राजकुमारी शब्द का भ्रान्त अनुवाद है। विवाहिता राजकुमारियों के लिए भी राजकुमारी शब्द का प्रयोग होता है । तुलसीदास ('राजकुमारि सिखावन सुनहू अयोध्याकाण्ड) जायसी आदि कवियों ने भी राजकुमारी शब्द का प्रयोग विवाहिता राजपुत्रियों के लिए किया है ।

फरिश्ता का यह कथन प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता । प्रथम तो पद्मिनी के दिल्ली जाने की बात ही निर्मूल है । दूसरी चिन्त्य बात यह है कि अलाउद्दीन जैसे प्रबल प्रतापी सुल्तान की कैद से भागा हुआ रत्नसेन बच जाय और मुल्क को उजाड़ता फिरे और मुलतान उसको सहन करके अपने पुत्र को चित्तौड़ खाली करने की आज्ञा दे दे, यह सम्भव प्रतीत होता है । प्रामाणिक इतिहासों के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि फरिश्ता की ये बातें ऐतिहासिक नहीं हैं। सन् १३०४ ई० में ख़िजिर खां के किला को खाली करके छोड़ देने की बात भी निर्मूल है ।[१]

१–फरिश्ता : तारीख—ए—फरिश्ता, पृ० ११५ (लखनऊ) ।

अलाउद्दीन के समसामयिक केवल चार इतिहासकार ज्ञात हैं --फज्लुला[1] वस्साफ, जियाउद्दीन बरनी,[2] अमीर खुसरो[3] और अब्दुल्ला मलिक इसामी[4]। अमीर खुसरो ने पद्मिनी का नाम नहीं लिया है।

खिलजी वंश के प्रामाणिक इतिहासों में अमीर खुसरो कृत 'तारीखे-अलाई' का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। अमीर खुसरो सुलतान अलाउद्दीन के साथ इस आक्रमण में चित्तौड़ गया था। इस कारण उसका दिया हुआ वृत्त अधिक प्रामाणिक माना जाना चाहिए। उसने 'तारीखे-अलाई' में १३०३ ई० के अलाउद्दीन के आक्रमण के सम्बन्ध में लिखा है—

"सोमवार ता० ८ जमादि – उस्सानी हि० सं० ७०२ (वि० सं० १३५९) माघ सुदि ९ - ता० २८ जनवरी १३०३ ई० सुल्तान को अलाउद्दीन चित्तौड़ लेने के लिए दिल्ली से रवाना हुआ। ग्रंथकर्ता (अमीर खुसरो) भी इस लड़ाई में साथ था। सोमवार ता० ११ मुहर्रम हि० सन् ७०३ (वि० सं० १३६० भाद्र-पद सुदि १४ ता० २६ अगस्त १३०३ ई० को किला फतह हुआ। राय (राजा) भाग गया। परन्तु पीछे से स्वयं शरण में आया और तलवार की बिजली से बच गया। हिन्दू कहते हैं कि जहां पीतल का बर्तन होता है वहीं बिजली गिरती है, और राय का चेहरा डर के मारे पीला पड़ गया। तीस हजार हिन्दुओं को कत्ल करने की आज्ञा देने के बाद जब सुलतान ने चित्तौड़ का राज्य अपने पुत्र खिजिर खां को दिया, तब उसका नाम खिजराबाद रखा। सुलतान ने उसको एक लाल छत्र, जरदोजी खिलअत और दो झंडे — एक हरा और दूसरा काला — दिए और उस पर लाल और पन्ने न्योछावर किए, फिर वह दिल्ली को लौटा। खुदा का शुक्र है कि हिन्द के जो राजा इस्लाम को नहीं मानते थे, उन सबको अपनी काफिरों को कत्ल करने वाली तलवार से मार डालने का हुक्म दिया।"[5]

यहां विशेष द्रष्टव्य यह है कि अमीर खुसरो ने पद्मिनी नाम तक का उल्लेख

१–तारीख–ए वस्साफ '(फारस के मुगलों का इतिहास) १३१२ ई० में पूर्ण हुआ।
२–'तारीख–ए फिरोजशाही' १३५९ ई० में पूरा हुआ।
३–'खजायनुल फुतुह (अलाउद्दीन की विजयों का वर्णन – १३१२ ई० में) और 'आशिकाह या देवल रानी' (देवल और खिज्र खां – अलाउद्दीन के बेटे के प्रेम का वर्णन — १३१६ ई० में)।
४–'फुतूहस्लातीन' १३४९—५० ई०।
५–इलियट : हिस्ट्री आव इण्डिया, वाल्यूम ३, पृ० ७६— ७।

नहीं किया है। बर्नी ने भी पद्मिनी की कथा का नाम तक नहीं लिया है —

जिआउद्दीन बर्नी १३०३–४ ई० में जीवित था। वह उस काल का एक प्रामाणिक इतिहास–लेखक है। बर्नी ने अपने ग्रन्थ 'तारीखे–फीरोजशाही' में लिखा है – 'सुल्तान अलाउद्दीन ने चित्तौड़ को घेरा और थोड़े ही अर्से में उसे अधीन कर लिया। घेरे के समय चौमासे में सुल्तान की फौज को बड़ी हानि पहुंची।[1]'

जियाउद्दीन बर्नी अलाउद्दीन का समकालीन इतिहासकार है। उसने अपने इतिहास में कहीं भी पद्मावती का उल्लेख नहीं किया है। उसने कहीं यह भी नहीं लिखा है कि चितौड़ पर अलाउद्दीन के आक्रमण का कारण किसी नारी का सौन्दर्य था। यह मात्र परम्परागत जनश्रुति है।[2]

'जायसी की यह कहानी जिसमें प्रेम साहसिकता और त्रासादि तीनों का सुन्दर संमिश्रण हुआ है, अत्यन्त शीघ्र लोकप्रिय हो गई और अत्र–तत्र–सर्वत्र पद्मिनी की यह कहानी कही गई – पुन: पुन: कही गई। परशियन इतिहासकारों ने भी, जो तथ्य और कल्पना में विशेष पार्थक्य नहीं करते थे, तुरन्त इस कथा को सच्चे इतिहासों में, जिनमें फिरिस्ता और हज्जी उद्दबीर के इतिहास भी सामिल हैं, ऐतिहासिक तथ्य के रूप में गृहीत कर लिया।[3]

आईने–अकबरी की पद्मिनी–कथा

'टाड ने जो वृत्त दिया है वह राजपूताने के रक्षित चरणों के इतिहासों के आधार पर है। दो–चार व्योरों को छोड़कर ठीक यही वृतान्त 'आईने अकबरी' में

१–इलियट : हिस्ट्री आव इण्डिया, वाल्यूम ३, पृ० १८९।

२–"इफ ट्रेडीशन इज टू बी विलीव्ड, इट्श काज वाज हिज इनफैचुयेशन फार राजा रतनसिंह' सक्वीन पद्मिनी आफ एक्सक्विजिट ब्यूटी। बट दिस फैक्ट इज नौट एक्सप्लिसिट्ली मेंशन्ड इन एनी कन्टेम्पोरेरी क्रानिकल आर इन्स्क्रिप्शन।"
—ऐन ऐडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग, २ पृ० ३०२।

३–दिस स्टोरी आफ म० मु० जायसी, इन ह्विच रोमांश, ऐडवेन्चर ऐन्ड ट्रैजेडी आर आल ब्यूटीफुली इन्टरमिक्स्ड, वेरी सून ग्रिप्ड दी पाप्युलर माइन्ड ऐन्ड हियर, देयर ऐन्ड एव्रीह्वेयर दी स्टोरी आफ पद्मिनी वाज टोल्ड ऐन्ड रीटोल्ड। दी परशियन क्लानिक्लर्स हू डिड नाट वेरी मच केयर टू डिस्टिंग्विस बिटवीन फिक्शन ऐन्ड फैक्ट रेडिली एक्सेप्टेड इट ऐन्ज टू हिस्ट्री, सो दैट आफ्टर दी टाइम आफ मुहम्मद जायसी दी पद्मिनी एपिसोड इज मेन्शंड ऐज ए हिस्टोरिकल फैक्ट इन मैनी हिस्टोरिकल वर्क्स इन्क्लूडिंग दोज आफ फरिश्ता ऐन्ड हज्जीउद्दबीर।"
—हिस्ट्री आफ दि खिलजीज, डा० किशोरीशरण लाल, पृ० १२२–२३।

दिया हुआ है। 'आईने–अकबरी' में भीमसी के स्थान पर रतनसी (रत्नसेन या रत्न-सिंह) नाम हैं। रतनसी के मारे जाने का व्योरा भी दूसरे ढंग पर है। 'आईने-अकबरी' में लिखा है कि अलाउद्दीन दूसरी चढ़ाई में भी हार कर लौटा। वह लौटकर चित्तौड़ से सात कोस दूर पहुंचा था कि रुक गया और मैत्री का नया प्रस्ताव भेजकर रतनसी को मिलने के लिए बुलाया। अलाउद्दीन की बार-बार की चढ़ाइयों से रतनसी ऊब गया था। इससे उसने मिलना स्वीकार किया। एक विश्वासघाती को साथ लेकर वह अलाउद्दीन से मिलने गया और धोखे से मार डाला गया। उसका सम्बन्धी 'अरसी' (?) चटपट चित्तौर के सिंहासन पर बिठाया गया। अलाउद्दीन चित्तौर की ओर फिर लौटा और उस पर अधिकार किया। अरसी मारा गया और पद्मिनी सब स्त्रियों के सहित सती हो गई।[1]"

स्पष्ट है कि टाड और 'आईने-अकबरी' के पद्मिनी सम्बन्धी वृत्तों में साम्य है। अबुलफजल-कृत 'आईने-अकबरी' में वही वृत्त है जो उसने सुना था। इतिहासकारों का कथन है कि सम्भवतः अबुलफजल 'पदमावत' से परिचित था। जो भी हो, अबुलफजल के वर्णन से स्पष्ट है कि वह 'पदमावत से पर्याप्त प्रभावित है।

हज्जी उद्दबीर का पद्मिनी वृत –

हज्जी उद्दबीर का इतिहास अकबर के समय (१६०५ ई०) में लिखा जा रहा था। पदमावत १५४० ई० में शेरशाह के समय में लिखा गया था। पदमावत जो शेरशाह के समय में ख्याति प्राप्त कर चुका था और चितौड़ के राजवंश की कीर्ति का सम्बर्द्धन कर रहा था – निश्चय ही उस समय चित्तौड़ के राजघराने में समादृत रहा होगा। ईडर, शाबरकांठा एवं सौराष्ट्र के अन्य क्षेत्रों का चितौड़ से घनिष्ट सम्बन्ध था। उन सभी क्षेत्रों में यह कथा प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी, अतः ऐसी स्थिति में हज्जी उद्दबीर अवश्य ही पदमावत की कथा से प्रभावित लगता है। हज्जी उद्दबीर और जायसी के पद्मावती सम्बन्धी वृत्तों में बहुत अधिक समता भी पाई जाती है।

अन्य इतिहासकारों के उल्लेख —

वर्तमान युग के कई नामी–गरामी इतिहासकारों ने बड़े ही विचित्र तर्कों से पद्मिनी की कथा की ऐतिहाहिकता सिद्ध करने के प्रयत्न किए हैं। जैसे 'यदि पद्मिनी कथा जायसी की कोरी–कल्पना है, तो वह राजपूतों में फैली कैसे ? यद्यपि इस कथा से उदयपुर के राजवंश की मानहानि होती है फिर भी यह राजवंश पद्मिनी की कथा को स्वीकार कर सकता है। अलाउद्दीन का मेवाड़ की रानी की

१–पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली, पृ० २४।

ओर आकृष्ट होना और रानी का अपने पति को मुक्त कराने का प्रयास असम्भव नहीं जान पड़ता।[1] ये तर्क अत्यन्त हल्के और आधारहीन हैं। यह कथा 'जायसी की कोरी कल्पना' ही नहीं है, जायसी ने इस कथा को 'सुना' भी था। दूसरे पद्मिनी की 'पद्मावत' वाली कथा से चित्तौड़–उदयपुर के राजवंश की कीर्ति में चार चांद लगते हैं। इस कथा में मानहानि की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। 'राजवंश इस कथा को स्वीकार करता है,' चित्तौड़ में पद्मिनी का महल है, स्नान गार है प्रभृति तर्क व्यर्थ हैं। किसी राजवंश के स्वीकार करने मात्र से ही कोई कथा प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती।

प्रो० श्री नेत्र पांडेय[2] का कथन है जि 'हज्जी उद्दबीर ने अपना इतिहास अकबर के समय में गुजरात में लिखा था। यद्यपि पदमावत और उसके विवरण में अन्तर है, तथापि हज्जी उद्दबीर ने पद्मिनी की कथा का उल्लेख किया है। मेवाड़ की परम्परागत कथाएं भी पद्मिनी की कथा को स्वीकार करती हैं – जो अत्यन्त पुरानी हैं। अन्ततः प्रो० श्री नेत्र पांडेय ने भी इसे स्वीकार किया है कि पद्मिनी की कथा के विषय में बड़ा मदभेद है। इस कथा का प्रधान साधन जायसी कृत पदमावत हैं।" विद्वान इतिहासकार का कथन ठीक ही है कि इन समस्त पद्मिनी विषयक कथाओं का मूल आधार 'पदमावत' ही है।

सर्वेक्षण और निष्कर्ष

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने टाड के विवरण को देने के पश्चात लिखा है, "टाड ने जो वृत दिया है राजपूताने में रक्षित चारणों के इतिहासों के आधार पर है। दो-चार ब्योरों को छोड़ कर ठीक यही वृत्तान्त 'आई ने-अक्बरी' में दिया हुआ है। 'आईने अकबरी' में भीमसी के स्थान पर रतनसी (रतनसिंह या रत्नसेन) नाम है। रतनसी के मारे जाने का ब्योरा भी दूसरे ढंग पर है।"

"इन्हीं दोनों इतिहासिक वृत्तों के साथ जायसी द्वारा वर्णित कथा का मिलान करके शुक्ल जी ने पदमावत की उत्तरार्द्ध वाली कथा की ऐतिहासिकता प्रमाणित की है।[3]

टाड के राजस्थान का सम्यक् अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसकी ८० प्रतिशत से अधिक बातें बकवास या अनर्गलता के अंतर्गत आती हैं।

१–डा० ईश्वरी प्रसाद : भारतवर्ष का इतिहास, ।

२–श्री नेत्र पाण्डेय : भारत का वृहद् इतिहास, भाग २, मध्य कालीन भारत, पृ० १३१।

३–पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० २४।

"एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक (जेम्स टाड) की अति प्रसिद्ध कृति ने इन युगों के विषय में हमारी जनता की दृष्टि को पिछले सौ वर्ष में बहुत गुमराह किया है। -- वह विशेष रूप से राजस्थान का सर्वे करने और राजस्थानी राज्यों को मराठों और मुसलमानों के विरुद्ध उभाड़ने के लिए नियुक्त था। उसे पूरी सफलता प्राप्त हुई। -- अलाउद्दीन और दूसरे सब मुसलमानों को लम्पट-लुटेरा बताना और मराठों को मौसमी डाकू के रूप में चित्रित करना लज्जाजनक असत्य है। अकबर जैसे महापुरुष को कलंकित करने की कोशिश चांद पर थूकने के समान है। -- दु:ख की बात है कि हिन्दी, बंगला और गुजराती साहित्यों के तथा हिन्दुओं के रोपे हुए उर्दू साहित्य के पौधे और सौ बरस पहले बिखेरी गई इन विषमय असत्यों की खाद को आज भी अमृत समझ कर चूसते जा रहे हैं।"[1]

यह निर्भ्रान्ति सत्य है कि टाड ने अनेक गलत ऐवं भ्रम-प्रचारक अनर्गल बातें लिखी हैं। ओझा जी[2] ने भी टाड की शत-शत त्रुटियों की ओर निर्देश किया है। टाड ने पद्मिनी का जो वृत्त दिया है वह भी अत्यन्त भ्रमपूर्ण है–

विक्रम सं १३३१ (१२७४–७५ ई०) और वि० सं० १३४६ (१२९० ई०) में अलाउद्दीन दिल्ली का बादशाह नहीं था। पुन: इन संवतों में अलाउद्दीन के चित्तौड़–आक्रमण की कल्पना अनर्गलता नहीं तो और क्या है? अलाउद्दीन १२९५–९६ ई० में दिल्ली की गद्दी पर बैठा था। सं०१३३१ में चित्तौड़ पर दिल्ली के बादशाह ने अवश्य आक्रमण किया था, पर वह बलवन था, अलाउद्दीन नहीं। अलाउद्दीन ने चित्तौर पर आक्रमण १३०३ ई० में किया था।

इसी प्रकार सिंहल में चौहान राजवंश की कल्पना भी मिथ्या है। टाड के अनुसार "अलाउद्दीन की दूसरी चढ़ाई में राणा के ग्यारह पुत्र मारे गए। यदि पहली चढ़ाई अलाउद्दीन ने पद्मिनी को पाने के लिए की थी, तो दूसरी चढ़ाई में युद्ध में मारे गए। ये ग्यारह पुत्र कब पैदा हो गये? इतने तो लड़के रहे, टाड ने लड़कियों या मर गई सन्तानों का उल्लेख नहीं किया है। यदि अलाउद्दीन लंपट था तो भी बड़े-बड़े युद्ध में मारे जाने वाले बेटों की मां के लिये इतना बड़ा साहसिक अभियान करेगा, जिसमें जीत भी अनिश्चित हो। दूसरे इतिहासज्ञों ने अलाउद्दीन को प्रजा हितैषी और संयमी सम्राट कहा है।[3]

टाड की वार्ताओं में एक गल्प और दृष्टव्य है। उसका कथन है कि जब

१–जयचन्द्र विद्यालंकार–हिन्दी सा० स० नागपुर (अप्रैल, १९३६) इतिहास परिषद के सभापतिपद से अभिभाषण, पृ० १६–१७।

२–गौ० ही० ओझा : राजपूताने का इतिहास, दूसरा खंड, पृ० ४९४–९५।

३–डा० रघुबीरसिंह : पूर्व मध्यकालीन भारत, पृ० १२७–१६०।

अलाउद्दीन चित्तौर नहीं ले पाता, हार कर दिल्ली की ओर लौट जाता है, तो राणा से प्रस्ताव करता है कि पद्मिनी का मुख दर्पण में दिखा दो। राणा इस शर्त को स्वीकार कर लेता है और पराजित शत्रु को अपनी पत्नी का मुख दर्पण के माध्यम से दिखलाता है।

जायसी की कथा है कि राणा रतनसेन अलाउद्दीन का सामन्त बनना स्वीकार कर लेता है। वह उसे गढ़ में ले जाता है। वहां अलाउद्दीन अकस्मात पद्मिनी की परछाई देखता है। 'टाड के किस्से से ऐसा लगता है मानों हारे हुए शत्रु को अपनी बीबी का मुंह दिखाना राजपूती शालीनता और आतिथ्य का अंश था।''[१]

''गोरा पद्मिनी का चाचा लगता था और बादल गोरा का भतीजा था।'' अर्थात् बादल पद्मिनी के दूसरे चाचा का लड़का था। पद्मिनी के दो चाचा और चचेरा भाई चित्तौड़ में कैसे रहते थे। उन्हें तो चित्तौड़ का पानी भी नहीं पीना चाहिए। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि पद्मिनी मेवाड़ की थी और गोरा और बादल चित्तौड़ के सरदार और उसके सम्बन्धी थे। ''टाड ने किस्से की संगति लाने के लिए गोरा-बादल को सिंहल का ही बताया।''

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि टाड के आधार पर पदमावत का ऐतिहासिक आधार ढूंढ़ना और इसी कारण उसे इतिहासाश्रित कहना ठीक नहीं है।

ओझा जी के मत : समीक्षा

संवत् १६८१ (१६२४ ई०) में शुक्ल जी ने जायसी-ग्रन्थावली का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया। म०म० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा कृत 'राजपूताने का इतिहास, स० १६८३ में प्रकाशित हुआ।

ओझा जी ने पदमावत की कथा देने के अनन्तर लिखा है—''इतिहास के अभाव में लोगों ने पदमावत को ऐतिहासिक पुस्तक मान लिया, परन्तु वास्तव में वह आजकल के ऐतिहासिक उपन्यासों की - सी कविताबद्ध कथा है, जिसका कलेवर इन ऐतिहासिक बातों पर रचा गया है कि रतनसेन (रत्नसिंह) चित्तौड़ का राजा, पद्मिनी या पद्मावती उसकी रानी और अलाउद्दीन दिल्ली का सुलतान था, जिसने रतनसेन (रत्नसिंह) से लड़कर चित्तौड़ का किला छीना था। बहुधा अन्य सब बातें कथा को रोचक बनाने के लिए कल्पित खड़ी की गई हैं, क्योंकि रत्नसेन एक बरस भी राज्य नहीं करने पाया, ऐसी दशा में योगी बन कर उसका सिंहल द्वीप (लंका) तक जाना और वहां की राजकुमारी को व्याह लाना कैसे संभव हो सकता

१—इन्द्रचन्द्र नारंग : पदमावत-सार, पृ०।

है ? उसके समय सिंहल द्वीप का राजा गंधर्व सेन नहीं किन्तु कीर्ति निश्शंकदेव पराक्रमबाहु (चौथा) या भुवनेक बाहु (तीसरा) होना चाहिये।[१] सिंहल द्वीप में गन्धर्व सेन नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ।[२] उस समय तक कुम्भलनेर आवाद ही नहीं हुआ था, तो देवपाल वहां का राजा कैसे माना जाय ? अलाउद्दीन आठ बरस तक चित्तौड़ के लिए लड़ने के बाद निराश होकर दिल्ली को नहीं लौटा, किन्तु अनुमानतः छः महीने लड़कर उसने चित्तौड़ ले लिया था, वह एक ही बार चित्तौड़ पर चढ़ा था, इसलिये दूसरी बार आने की कथा कल्पित ही है।"[३]

जेम्स टाड की कल्पनाओं के विषय में भी ओझा जी ने लिखा है—"कर्नल टाड की यह कथा विशेषकर भाटों के आधार पर लिखी गई है और भाटों ने उसको 'पद्मावत' से लिया है। भाटों की पुस्तक में समरसिंह के पीछे रत्नसिंह का नाम न होने से टाड ने पद्मिनी का सम्बन्ध भीमसिंह से मिलाया और उसे लखमसी (लक्ष्मणसिंह) के समय की घटना मान ली। — — परन्तु लखमसी न तो मेवाड़ का कभी राजा हुआ और न बालक था, किन्तु सीसोदे का सामन्त था और उस समय वृद्धावस्था को पहुँच चुका था। — — रत्नसिंह की सेना का मुखिया बनकर अलाउद्दीन के साथ की लड़ाई में लड़ते हुए मारा गया था, जैसा कि वि० सं० १५१७ (१४६० ई०) के शिलालेख से स्पष्ट है। — — — ऐसी दशा में टाड का कथन भी विश्वास के योग्य नहीं हो सकता। 'पदमावत' तारीख-फिरिश्ता और टाड के राजस्थान के लेखों की यदि कोई जड़ है तो केवल यही कि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई कर छः मास के घेरे के अनन्तर उसे विजय किया, वहां का राजा रत्नसिंह इस लड़ाई में लक्ष्मणसिंह आदि कई सामन्तों-सहित मारा गया। उसकी रानी पद्मिनी ने कई स्त्रियों सहित जौहर की अग्नि में प्राणाहुति दी।"[४]

विशेष

पद्मावत में चित्तौड़ पर अलाउद्दीन के आक्रमण के अतिरिक्त और भी कतिपय घटनाओं एवं अनुश्रुतियों का उपयोग भी किया गया है। 'अलाउद्दीन ने १२९७ ई० में अपने भाई उलूग खां और सेनापति नसरत खाँ को गुजरात पर चढ़ाई करने को भेजा। मालवा से उन्होंने मेवाड़ के रास्ते बढ़ना चाहा, किन्तु राजा समरसिंह ने उन्हें मार भगाया। तब मेवाड़ के दक्खिन घूम कर वे आसावल

१—डफ : क्रानोलाजी आव इण्डिया, पृ० ३२१।
२—वही, पृ० ३२१-२२।
३—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा—उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० १८७—८८।
४— ,, —राजपूताने का इतिहास, पृ० ४९१—९२—४४९—९५।

जा पहुँचे ।[1] यद्यपि अलाउद्दीन ने इस युद्ध में सेना का नेतृत्व नहीं किया था, तो भी चित्तौड़ के राजा समरसिंह के द्वारा अलाउद्दीन की इस युद्ध में प्रथम बार हार हुई थी ।

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का कथन है कि "जिन पुत्र सूरि ने अपने 'तीर्थ-कल्प" में उलूग खां की गुजरात–विजय का वर्णन करते हुए लिखा है–'विक्रम संवत् १३५६ (१२९९ ई०) में सुलतान अल्लावदीण (अलाउद्दीन खिजली) का सबसे छोटा भाई उलूखान (उलूगखां) कर्णदेव के मन्त्री माधव की प्रेरणा से दिल्ली नगर से गुजरात की ओर चला । चित्रकूट (चित्तौड़) के स्वामी समरसिंह ने उसे दण्ड देकर मेवाड़ देश की रक्षा कर ली ।[2]

यहां ध्यान देने की बात है कि माधव का ही जनश्रुतियों में प्रचार-प्रसार और संप्रसार होता रहा और संभावना की जा सकती है कि जायसी के राघव चेतन की कहानी का मूल संभवत: गुजरात के मन्त्री माधव के चरित्र में है ।

"रणथंभौर की जीत से दिल्ली सल्तनत की सीमा मेवाड़ से जा लगी । समरसिंह के बेटे रत्नसिंह को मेवाड़ की गद्दी पर बैठे कुछ महीने बीते थे कि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ को घेर लिया । (१३०२ ई०) छ: महीने घिरे रहने के बाद रसद और पानी चुक गये तो किला अलाउद्दीन के हाथ आया । रत्नसिंह मारा गया और उसकी रानी पद्मिनी ने बहुत–सी स्त्रियों के साथ जौहर कर लिया । अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का राज्य अपने बेटे खिजर खां को देकर उसका नाम खिज–राबाद रखा ।"

अलाउद्दीन चित्तौड़ को मुश्किल से ले पाया था कि दिल्ली से मंगोलों के नये हमले की खबर आई । तरगी नामक एक मंगोल ने एक बड़ी सेना के साथ जमना किनारे डेरा आ डाला और दिल्ली को घेर लिया । अलाउद्दीन के आने पर वह हट गया ।[3]

"जायसी ने अलाउद्दीन की चित्तौड़ चढ़ाई के अवसर पर दिल्ली पर हरेवों की चढ़ाई की बात जो लिखी है, उसमें स्पष्ट तरगी के मंगोलों की परछाई है ।"[4]

यद्यपि रत्नसेन अलाउद्दीन के साथ हुए युद्ध में मारा गया था, तथापि सम्भवत: 'आदि अन्त जस गाथा अहै' वाली गाथा में रत्नसेन अलाउद्दीन के द्वारा नहीं मारा गया ।

१–जयचन्द्र विद्यालंकार : इतिहास–प्रवेश, पृ० २५३, (प्र० सं० १९३८)

२–गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा : राजपूताने का इतिहास, द्वि० खं०, पृ० ४७६–७७ ।

३–जयचन्द विद्यालंकार : इतिहास प्रवेश, पृ० २६५–६६ ।

४–इन्द्रचन्द्र नारंग : 'पदमावत–सार ।'

जायसी के समय में चित्तौड़ का राणा संग्रामसिंह था। उसके बाद उसका पुत्र रत्नसिंह गद्दी पर बैठा। जायसी के पदमावत वाले रत्नसेन में इस रत्नसिंह की कथा भी जुड़ी हुई है।

"मेवाड़ में सांगा के पीछे उसका छोटा बेटा रत्नसिंह राणा हुआ। – – १५३१ ई० में राणा रत्नसिंह को उसके एक सरदार ने मार डाला।"[1]

" – – – महाराणा के एकाएक इस प्रकार स्वर्गवास होने के अनन्तर मेवाड़ की गद्दी पर उसका दूसरा लड़का रत्नसिंह बैठा। – – उसके बाद ही बूँदी के देशद्रोही हाड़ा सरदार जो सांगा की दूसरी रानी कर्मवती का भाई और उसके पुत्रों विक्रमादित्य और उदयसिंह का तरफदार था और अपने भानजे विक्रमादित्य को सिंहासन दिलाने के लिये मेवाड़ के शत्रु मुगलों–बाबर–से रणथम्भौर प्रदेश उन्हें देने आदि की सांठ–गाँठ कर रहा था, दण्ड के लिए शिकार–मिस बुलाकर महाराणा रत्नसिंह ने मरवाना चाहा और उनके साथ द्वन्द्व करते हुए स्वयं भी मारा गया (३० जनवरी १५३२ ई०)।"[2]

"विक्रमादित्य और उदयसिंह को महाराणा सांगा ने यह बड़ी जागीर रत्नसिंह की आन्तरिक इच्छा के विरुद्ध और अपनी प्रीतिपात्र रानी कर्मवती के विशेष आग्रह से दी, परन्तु अन्त में इसका परिणाम रत्नसिंह और सूरजमल दोनों के लिए घातक ही हुआ।"[3]

"महाराणा सांगा की मृत्यु के समाचार पहुँचने पर उसका कुँवर रत्नसिंह वि० सं० १५८४ माघ सुदी १५ (१५२८ ता० ५ फरवरी) के आसपास चित्तौड़ के राज्य का स्वामी हुआ। महाराणा सांगा के देहान्त के समय महाराणी हाड़ी कर्मवती अपने दोनों पुत्रों के साथ रणथंभौर में थी। अपने छोटे भाइयों के हाथ में रणथंभौर की पचास-साठ लाख की जागीर का होना रत्नसिंह को बहुत अखरता था, क्योंकि वह उसकी आन्तरिक इच्छा के विरुद्ध दी गई थी। महाराणा बहुत अप्रसन्न हुआ।"[4]

उधर हाड़ी कर्मवती विक्रमादित्य को मेवाड़ का राजा बनाना चाहती थी, जिसके लिए उसने सूरजमल से बातचीत कर बाबर को अपना सहायक बनाने का प्रपंच रचा। – बाबर अपनी दिनचर्या में लिखता है—"हि० स० ६३५ ता० १४ मुहर्रम (वि० सं० ३५८५ आश्विन सुदि १५–ई० सं० १५२८ ता० २८ सितम्बर)

१–जयचन्द विद्यालंकार : इतिहास-प्रवेश, पृ० ३२८–२६।

२–पृथ्वीसिंह मेहता : हमारा राजस्थान, पृ० ८७–८८ (१६५०)।

३–गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : राजपूताने का इतिहास, दू० खं० पृ० ६७२–७३।

४–वही, पृ० ७००-७०१।

को राणा साँगा के दूसरे पुत्र विक्रमाजीत के जो अपनी माता पद्मावती (? कर्मवती) के साथ रणथंभौर में रहता था, कुछ आदमी मेरे पास आए। मेरे ग्वालियर को रवाना होने के पहले भी विक्रमाजीत के अत्यन्त विश्वासपात्र राजपूत अशोक के कुछ आदमी मेरे पास ७० लाख की जागीर लेने की शर्त पर राणा की अधीनता स्वीकार करने के समाचार लेकर आये थे—मैंने यह भी कहा कि यदि विक्रमाजीत अपनी शर्तों पर दृढ़ रहा तो उसके पिता की जगह उसे चित्तौड़ की गद्दी पर बिठा दूंगा।"

"ये सब बातें हुईं, परन्तु सूरजमल रणथंभौर जैसा किला बाबर को दिलाना नहीं चाहता था, उसने तो केवल रत्नसिंह को डराने के लिए यह प्रपंच रचा था, इसी से रणथंभौर का किला बादशाह को सौंपा न गया, परन्तु इससे रत्नसिंह और सूरजमल में विरोध और बढ़ गया।"[१]

"— — महाराणा ने उसको छल से मारने की ठान ली। इस विषय में गुहणोत नैणसी लिखता है—"राणा रत्नसिंह शिकार खेलता हुआ बूंदी के निकट पहुँचा और सूरजमल को बुलाया।— — राणा ने अपनी पंवार वंश की रानी से कहा कि कल हम एकल सुअर मारेंगे। — — दूसरे ही दिन सबेरे सूरजमल को साथ लेकर राणा शिकार को गया। राणा ने पूरनमल को सूरजमल पर वार करने का इशारा किया, परन्तु उसकी हिम्मत न पड़ी, तब राणा ने सवार होकर उस पर तलवार का वार किया, जिससे उसकी खोपड़ी का कुछ हिस्सा कट गया, इस पर पूरनमल ने भी एक वार किया, जो सूरजमल की जांघ पर लगा, तब तो लपक कर सूरजमल ने पूरनमल पर प्रहार किया, जिससे वह चिल्लाने लगा। उसे बचाने के लिये राणा वहां आया और सूरजमल पर तलवार चलाई। इस समय सूरजमल ने घोड़े की लगाम पकड़कर झुके हुए राणा की गर्दन के नीचे ऐसा कटार मारा कि वह उसे चीरता हुआ नाभि तक चला गया। राणा ने घोड़े पर से गिरते-गिरते पानी मांगा, तो सूरजमल ने कहा कि काल ने तुझे खा लिया है, अब तू जल नहीं पी सकता। वहीं राणा और सूरजमल, दोनों के प्राणपक्षी उड़ गए। पाटण में राणा का दाह-संस्कार हुआ और रानी पंवार उसके साथ सती हुई। यह घटना वि० सं० १५८८ (ई० स० १५३१) में हुई।"[२]

जायसी ने पदमावत की सर्जना शेरशाह के समय में १५४० ई० में की है। पदमावत की सर्जना के लगभग १० वर्ष पूर्व मेवाड़ के राणा रत्नसिंह और बूंदी के सूरजमल का द्वन्द्व और दोनों की मृत्यु वाली घटना घटी थी। जायसी ने जिस

१—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : राजपूताने का इतिहास, पृ० ७०४।
२—वही, पृ० ७०४—५।

देवपाल और रत्नसेन–द्वन्द्व' की परिकल्पना की थी, सम्भवतः यही घटना उसके मूल में है।

"जौ देवपाल राव रन गाजा। मोहिं तोहिं जूझ एकौझा राजा ॥
मेलेसि सांग आइ विष भरी। मेटि न जाइ काल की घरी ॥
आइ नाभि तर सांग बईठी। नाभि बेधि निकसी सो पीठी ॥
चला मारि तब राजै मारा। टूट कंध धड़ भयउ निनारा ॥
सुधि बुधि तौ सव बिसरी, भार परा मझ बाट।
हस्ति घोर को कारर? घर आनी गइ खाट ॥[1]

रतनसिंह – सूरजमल द्वन्द्व, तलवार का नाभि तक पहुंच जाना, दोनों की मृत्यु, रानी पंवार का सती होना वाली घटना और रत्नसेन, देवपाल–द्वन्द्व, सांग का चीरते हुए नाभि तक पहुंचना, दोनों की मृत्यु, रानी पद्मिनी और नागमती का का सती होना इन दोनों घटनाओं में अद्भुत साम्य है।

इससे एक अन्य बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि अवश्य ही पदमावत की रचना इस घटना (अर्थात् १५३१ ई०) के बाद ही हुई है। इस प्रकार पदमावत की रचना ९२७ हि० (१५२० ई०) में कहना भी असंगत हो जाता है।[2]

श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[3] ने सुदृढ़ प्रमाणों के आधार पर पद्मिनी की कथा को कवि की कल्पना – मात्र माना है। तत्कालीन जीवित और प्रामाणिक इतिहास-लेखक राजकवि अमीर खुसरो और बर्नी ने पद्मिनी का नाम तक नहीं लिया है। जहाँ राजकवि खुसरो ने एक ओर देवल देवी और खिजिर खां के प्रेम का वर्णन ऐतिहासिक तथ्यों के साथ 'आशिकाह' में किया है, जहाँ उसने अलाउद्दीन के आक्रमणों, का अत्यन्त उल्लिसत भाव से और विलासित तथ्यावली में रसपूर्ण वर्णन किया है, वहां वह पद्मिनी की कथा जैसे सरस प्रसंग की अवहेलना कर जाय – यह बात असम्भव प्रतीत होती है, वह चित्तौड़ की चढ़ाई में अलाउद्दीन के साथ भी गया था। यदि पद्मिनी की कथा लोक-जीवन या लोक कथाओं से गृहीत और कवि-कल्पना न होती न तो बर्नी और खुसरो अवश्य ही उसका रसमय वर्णन करते। अतः पद्मिनी की कथा ऐतिहासिक नहीं प्रतीत[4] होती।

पूर्वार्द्ध की कथा नाथ पंथियों के सिंहल–गमन, सिद्धि-प्राप्ति आदि पर

१–पं० रामचन्द्र शुक्ल : जा० ग्रं०, पृ० २९७।

२–द्रष्टव्य, इसी प्रबन्ध का 'पदमावत का रचनाकाल'।

३–गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० १९१।

४–द्रष्टव्य : मार्डन रिव्यू (नवम्बर १९५०) पृ० ३६१—६८, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ६ अंक ३ पृ० २६–३१, साहित्य संदेश, (भा० १३ अंक ६) पृ० २४९-५०।

आधारित लोक-कथाओं का काव्यबद्ध विकसित एवं विलसित रूप है। यह बात भी कल्पना-मात्र है कि सिंहलद्वीप लंका न होकर राजस्थान का सिंगोली या महाराष्ट्र का 'बम्बई के पास सिंहल या सांगली' स्थान है।

वस्तुत: लोगों ने इतिहास के अभाव में या ऐतिहासिक अध्ययन न करने के कारण 'पदमावत' को ऐतिहासिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ मान लिया है। वास्तविकता यह है कि वह नाम मात्र के लिए ऐतिहासिक है। वह एक सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है जिसका कलेवर इन ऐतिहासिक तथ्यों पर रचा गया है—

(१) रत्नसेन चित्तौड़ का राजा था। उसने मात्र एक वर्ष राज्य किया था।

(२) दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन ने १३०३—४ ई० में चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी और छ: महीने में उसे जीत लिया था।

(३) क्षत्राणियों ने जौहर की ज्वाला में प्राणाहुति दी थी।

(४) सम्भवत: उस समय 'पद्मिनी' नाम की रानी नहीं थी, जिसके लिए ही अलाउद्दीन ने आक्रमण किया था। यह परवर्ती भट्ट भणंत और मात्र कल्पना है।

फिरिश्ता, अबुल-फजल टाड आदि की पद्मिनी—सम्बन्धी बातों का मूल स्रोत पदमावत है।

(उपर्युक्त इतिहासकारों की पद्मिनी-सम्बन्धी बातों का मूल स्रोत पदमावत है)। हमारे यहाँ पद्मिनी-सम्बन्धी कथाएँ लोक और साहित्य में प्रचलित ही रही हैं।

सिंहल द्वीप की पद्मिनी, उसका हीरामन शुक, रत्नसेन का सोलह सहस्र जोगी राजकुमारों के साथ सिंहल जाना पद्मिनी को व्याह लाना प्रभृति बातें लोक-कथात्मक एवं कवि-कल्पित हैं।

रत्नसेन के समय में सिंहल में गन्धर्व सेन नामक कोई राजा था ही नहीं,[१] उस समय वहां का राजा कीर्ति निश्शंकदेव पराक्रम बाहु (चौथा) या भुवनेक बाहु तीसरा होना चाहिए।[२] ये गन्धर्वसेन भी कवि कल्पना-मात्र हैं (गन्धर्व सेन की सम्भावना तो इन्द्र के दरबार, कुवेर की अलका या हिमालय प्रदेश में की जा सकती है)। उस समय कुंभलनेर स्थापित तक नहीं हुआ था, अत: देवपाल को वहां का राजा कैसे माना जाय? अलाउद्दीन आठ वर्ष तक चित्तौड़ के लिए लड़ने के बाद निराश होकर दिल्ली नहीं लौटा, किन्तु अनुमानत: छ: महीने लड़कर उसने चित्तौड़ ले लिया था, वह एक ही बार चित्तौड़ पर चढ़ा था। इसलिए दूसरी बार आने की

१—डफ : क्रोनोलाजी आफ इण्डिया, पृ० ३२१—२२।
२—वही, पृ० ३२१।

कथा कवि-कल्पना एवं संभावना है।[1]

जायसी द्वारा गृहीत कथा

'पद्मावती' की कहानी भारतीय लोक-जीवन की एक चिर परिचित कहानी है। भारतीय वाङ्मय में 'पद्मावती' की कहानी अनेक रूपों में प्राप्त होती हैं, इनमें से कुछ के उल्लेख ऊपर किये जा चुके हैं। अभी तक निश्चित रूप से यह ज्ञात नहीं कि पद्मावती की उस चिरपरिचत कहानी के साथ अलाउद्दीन, रत्नसेन और पद्मावती वाली कहानी का संग्रन्थन सर्वप्रथम किसने किया ? जायसी के समय में यह कथा प्रचलित थी।

'सिंहलदीप पदुमनी रानी। रतनसेन चितउर गढ़ आनी ॥
अलाउदीं देहली सुलतानू। राघव चेतन कीन्ह बखानू ॥
सुना साहि गढ़ छेका आई। हिन्दू तुरुकन्ह भई लराई ॥
आदि अंत जस गाथा अहै। लिखि भाखा — चौपाई कहै ॥[2]

जायसी का कथन है कि जैसी आदि से अन्त तक कहानी रही है तदनरूप उन्होंने उसको भाषा—चौपाई में निबद्ध करके उपस्थित किया है। जायसी के समक्ष दोनों कहानियों के रूप वर्तमान थे। उन्होंने इन दोनों कथाओं के ताने—बाने से पदमावत की कथा का संघटन किया है। उन्होंने लोकजीवन से प्रचलित पद्मावती की कथा, साहित्य में समादृत पद्मावती की कथा, अलाउद्दीन के आक्रमण की कथा और राजपूतनियों के जौहर की कथाओं को एक सूत्र में संगुफित करके पदमावत जैसा एक अदभुत—अपूर्व काव्य-सौंदर्य—सम्पन्न प्रबन्ध-काव्य प्रस्तुत किया है।

जायसी ने अपनी कहानी का रूप वही रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित था। इसीलिए शुक्ल जी ने जहाँ एक ओर अनुमान किया था कि इस कथा का 'पूर्वार्द्ध तो बिलकुल कल्पित[3] कहानी है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर है, वहीं उन्होंने यह भी कहा है कि अवध में 'पद्मिनी रानी और हीरामन सूए' की कहानी प्रचलित है। 'जायसी इतिहास-विज्ञ थे। अत: उन्होंने रत्नसेन, अलाउद्दीन आदि नाम दिए हैं।' 'जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर सूक्ष्म व्योरों की मनोहर कल्पना करके उसे काव्य का सुन्दर रूप दिया है।[4]'

१—गौ० ही० ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ०१८७—८८ से उद्धृत।
२—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पृ० ९।
३—रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पृ० ९
४—वही, भूमिका, पृ० २६।

उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरार्द्ध की कथा में भी अलाउद्दीन, रत्नसेन, दिल्ली, चित्तौड़, अलाउद्दीन–आक्रमण, जौहर आदि कुछ ऐतिहातिक आधार हैं, किन्तु जायसी ने उसे जो रूप प्रदान किया है, उसमें सर्वत्र कवि–कल्पना का ही प्राधान्य है। कथा वास्तविक-सी लगे – एतदर्थ इसमें ऐतिहासिकता की छौंक दे दी गई है। वस्तुतः इतिहास के आधार पर पदमावत की कथा का निर्माण नहीं हुआ है। किस प्रकार कोई साहित्यिक कृति इतिहास का निर्माण कर देती है, इसका ज्वलंत उदाहरण पदमावत है। यही है पदमावतकार की महान् सफलता और उसका उत्तम काव्य-कौशल।

पदमावत साहित्यक कृति है, ऐतिहासिक नहीं। अतः पदमावत का सौंदर्य साहित्य का है इतिहास का नहीं। पदमावत के विषय में कहा जा सकता है कि उसमें सर्वत्र कवि–कल्पना का काव्य-सौंदर्य दर्शनीय है। जायसी ईरानी इतिहास-कारों की भांति 'तारीख' लिखने नहीं बैठे थे। उन्होंने बार–बार अपने कवि-कर्म का उल्लेख किया है। प्रेमपीर की अभिव्यक्ति ही उनका प्रतिपाद्य है। वे प्रेम-श्रृंगार के महान् कवि हैं। पदमावत में ही अनेक स्थलों पर अपने कवि-कर्म का उल्लेख उन्होंने किया है (केवल 'स्तुति–खण्ड' में ही) —

एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। सोई विमोहा जेई कबिसुनी॥
२१।१

चारि मीत कवि मुहम्मद पाए। २२।१

जायस नगर धरम अस्थानू। तहां आइ कवि कीन्ह बखानू॥ २३।१

मुहम्मद कवि जौ बिरह भा ना तन रक्त न माँसु। दोहा २३

सन नौ सै सैंतालिस अहै। कथा अरम्भ बैन कबि कहै॥
२४।१ (पदमावत संजीवनी टीका)

आदि अन्त जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।
कवि बिथास कंवला रस पूरी। दूरि सो नियर नियर सो दूरी।
२४।५–६।

वे अपने को सभी कवियों का अनुवर्ती (पिछलगुवा) मानते हुए अपने कवि-कर्म की अभिव्यक्ति करते हैं —

"हौं सब कबिन्ह केर पछिलगा। किछु कहि चला तबल दइ डगा॥"[1]

उन्हें 'साहि के गढ़ छेंकने, हिन्दू-तुरकों की लड़ाई और सिंघल द्वीप की पद्मिनी रानी की कहानी–ज्ञात थी।' यह कहानी आदि से अन्त तक किस रूप में थी, उसे ही उन्होंने – 'भाषा–चौपाई' में कह दिया है।

१—डा० माताप्रसाद गुप्त : जा० ग्रं०' पृ० १३५।

वस्तुतः पृथ्वीराज रासो और पदमावत पर विचार करते हुए यह न भूलना चाहिए कि ये उत्कृष्ट कोटि के काव्य-ग्रन्थ हैं, इतिहास-ग्रंथ नहीं। इन ग्रन्थों में वर्णित घटनाओं अनैतिहासिक कहना उनके प्रति अन्याय है। इन ग्रन्थों की ऐतिहासिक चीर-फाड़ से इनके वास्तविक सौन्दर्य को नहीं पाया जा सकेगा। आवश्यकता है इन ग्रंथ-रत्नों के साहित्यिक सौन्दर्य के मूल्यांकन की, जिससे ये काव्यसमीक्षा-शाणोल्ली होकर अपना आलोक विकीर्ण कर सकें।[1]

कथानक रूढ़ि

वृक्ष दोहद, अशोक, हंस, कर्णिकार, चकोर प्रभृति कवि-समय वस्तुतः एक प्रकार के विशिष्ट 'मोटिफ' (अभिप्राय) हैं, जो अत्यन्त प्रसंग-गर्भी हैं। इनसे एक निश्चित कथा-खण्ड की व्यंजना होती है, ये अपने-आप में एक-एक पूर्ण कहानी हैं।[2] 'भारतीय कथाओं में ऐसे अनेक लघु कथा-व्यंजक प्रतीकों के प्रयोग हुए हैं। कथाओं में प्रयुक्त होने वाले इन प्रतीकों को कथात्मक 'मोटिफ[3]' अभिप्राय या कथानक रूढ़ि कहा जाने लगा है। धीरे-धीरे कथाओं में ऐसे अनेक सजातीय कथात्मक प्रतीकों के संयोग से कथात्मक 'टाइप' बन जाते हैं।[4]

कथानक रूढ़ियों के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है पेंजर[5] और ब्लूम-फील्ड[6] के। इस क्षेत्र में बेनिफी और डब्ल्यू नार्मन की कृतियां भी विशेष महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी साहित्य में इस क्षेत्र में दिशा-निर्देश का अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयत्न आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का[7] है।

भारतीय कथाकार कथा को विकास देने के लिए एवं अभिलषित दिशा में मोड़ देने से लिए कतिपय सामान्य घटनापरक विशिष्ट अभिप्रायों तथा विषयपरक विश्वासों का आश्रय लेता है, जो दीर्घकाल से हमारे देश के कथाकाव्यों में व्यवहृत

१—द्रष्टव्य—शिवसहाय पाठक कृत पदमावत का काव्य-सौंदर्य, प्रथम अध्याय पृ० २६।

२—शिप्ले, डिक्शरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर, फोक टेल, पृ० २४७ (दी मोटिफ इज दी स्मालेस्ट रिकागनिजिबुल एलिमेंट दैट गोज टू मेक अप ए कम्पलीट स्टोरी)।

३—'मोटिफ' के लिए देखिए 'टामसन' मोटिफ इंडेक्स आव फोक लिटरेचर, १९३२-३७ एस० टी।

४—वही, पृ० २४८ (दी इम्पार्टेन्स आफ दी टाइप इज टू शो दी वे इन व्हिच नैरेटिव मोटिफ्स फार्म इन टू कान्वेंशनल क्लसटर्स)।

५—पेंजर : कथासरित्सागर (नया संस्करण), टानी कृत अनुवाद।

६—ब्लूम फील्ड, जर्नल आव अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी, वाल्यूम ३६, ४०, ४१।

७—आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल।

होते रहे हैं। इन वैशिष्ट्यों को पाश्चात्य विद्वानों ने 'मौटिफ' की संज्ञा से अभिहित किया है। हिन्दी में कतिपय विद्वानों ने 'कथा–परिधान' या 'कथारूप' की संज्ञायें भी दी हैं। परन्तु ये शब्द 'मोटिफ' के अन्तर्भूत अर्थ का सम्यक् द्योतन करते प्रतीत नहीं होते। प्रतीक, प्रयोजन, उपलक्षण और संकेत शब्द भी कथानक रूढ़ि के स्थानापन्न–रूप में प्रयुक्त हुए हैं।[1] मूलतः ये कथा के 'मोड़क–संकेत' (टर्निंग–प्वाइंट) या 'विस्तारक – विन्दु' होते हैं। आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी[2] ने इस 'मोटिफ' शब्द को 'कथानक–रूढ़ि' की संज्ञा से अभिहित किया है। अध्ययन की सुविधा के लिए हम 'कथानक – रूढ़ि' शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

हिन्दी प्रेमख्यानक काव्यों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन लोक-गृहीत और साहित्य-क्षेत्र में समादृत कथाओं में कतिपय ऐसी सामान्य विशेषताएं उपलब्ध होती हैं जिनके मूलभूत कारण स्वरूप ये कथाएं एक सांचे में ढली-सी जान पड़ती हैं। इन कथाओं की तुलनात्मक मीमांसा करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन कवियों ने कथानक को विस्तार देने और सुनिश्चित दिशा देने के लिए घटनापरक रूढ़ियों का आश्रय लिया है। जायसी ने पदमावत की कथा में अनेक चिर-परिचित कथानक रूढ़ियों का उपयोग किया है।

पदमावत में 'कथानक रूढ़ियों' का प्रयोग

पदमावत की कथा के संघटन एवं चयन पर विचार करते समय कथानक रूढ़ियों का विवेचन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, क्योंकि प्राचीन भारतीय चरित काव्यों, आख्यायिकाओं तथा अन्य कथाकाव्यों में इनके प्रयोग का प्राचुर्य है। भारतीय काव्यों में ही नहीं, अपितु फारसी, यूनानी एवं पाश्चात्य देशीय काव्यों में भी इनके प्रयोग का आधिक्य है।

भारतीय और यूनानी दोनों रोमान्सों में प्रथम दर्शन-जन्य प्रेम के सिद्धान्त की, स्वप्न में प्रेमियों का एक दूसरे के लिए हृदय खोलने की और अच्छाई से बुराई की ओर त्वरित गति से भाग्य-परिवर्तन की बात, पुनः सौभाग्य का प्रत्यावर्तन, अदम्य साहस, सागर में जलयान का ध्वंस, अलौकिक सौंदर्य-सम्पन्न नायक और नायिकायें प्रकृति और प्रेम के मुक्त और सविस्तार वर्णन इत्यादि की प्राप्ति होती है।[3]

अपभ्रंश भाषा के चरित–काव्यों में, हिन्दी के आदि कालीन काव्यों में,

---

१—डा० नामवर सिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ३१३।
२—आचार्य पं हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७२।
३—ए० बी० कीथ : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३६५।

रासो में प्रेमाख्यानक काव्यों में तथा अन्य प्रकार के प्रबन्ध काव्यों में कथानक रूढ़ियों का खूब प्रयोग हुआ है। हिंदी प्रेमाख्यानक काव्यों के सौंदर्य का संवर्धन करनेवाली इन कथानक रूढ़ियों का अध्ययन पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य की पीठिका पर अत्यन्त सुगमता से किया जा सकता है। श्री रामसिंह तोमर ने अपभ्रंस के चरित-काव्यों एवं हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रयुक्त कतिपय कथानक रूढ़ियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया हैं।[१]

(१) इन दोनों प्रकार के प्रेम काव्यों में एक प्रेम–कथा की प्रधानता होती है।

(२) प्रेमारंभ चित्रदर्शन, रूप-गुण श्रवण आदि से होता है।

(३) नायिका की प्राप्ति के लिये नायक का प्रयत्न, बीच में कतिपय बाधाओं का समावेश।

(४) लौकिक द्वारा परलौकिक संकेत।

(५) सिंहल यात्रा या किसी सामुद्रिक यात्रा की योजना।

(६) राक्षस, अप्सरा या किसी अन्य अलौकिक शक्ति के योग द्वारा कथा में आश्चर्य तत्व का मिश्रण, इत्यादि।

श्री तोमर जी की सूची में थोड़ी-सी ही कथानक-रूढ़ि की चर्चा है। पदमावत में ऐतिहासिकता नाम मात्र की है। उसमें आद्यंत प्रायः घटनात्मक निजंधरी कथाओं का ही प्राधान्य है। कुछ ऐतिहासिक नामों के अतिरिक्त उसमें सर्वत्र संभावना और कल्पना-विलास का ही सौन्दर्य है। इस विषय में ऐतिहासिक और निजंधरी कथाओं में विशेष भेद नहीं किया गया। केवल ऐसी बात का ध्यान रखा गया है कि संभावना क्या है। चितौर के राजा से सिंहल देश की राजपुत्री का विवाह हुआ था या नहीं, इस ऐतिहासिक तथ्य से कुछ लेना-देना नहीं है, हुआ हो, तो बहुत अच्छी बात है, न हुआ हो, तो होने की संभावना तो है ही। राजा से राजकुमारी का विवाह नहीं होगा, तो किससे होगा ? शुक नामक पक्षी थोड़ा बहुत मानव–वाणी का अनुकरण कर लेता है, और भी तो कर सकता था। – – जब ये संभावनायें हैं, तो क्यों न शुक को सकलशास्त्र-विलक्षण सिद्ध कर दिया जाय। इस प्रकार संभावना पक्ष पर जोर देने के कारण कुछ कथानक रूढ़ियां इस देश में चल पड़ी हैं। कुछ रूढ़ियां ये हैं[२]–

१—कहानी कहने वाला सुग्गा।

२–क–स्वप्न में प्रिय का दर्शन,

१—विश्वभारती, खंड ५, अंक २, अप्रैल–जून, १९४६ ई०।

२–पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७४–७५।

ख–चित्र में देखकर किसी पर मोहित हो जाना,

ग–भिक्षुकों या बंदियों के मुख से कीर्ति-वर्णन सुनकर प्रेमासक्त होना, इत्यादि ।

३—मुनि का शाप

४—रूप-परिवर्तन

५—लिंग-परिवर्तन

६—परकाय-प्रवेश

७—आकाशवाणी

८—अभिज्ञान या सहिदानी

९—परिचारिका का राजा से प्रेम और अंत में उसका राजकन्या और रानी की बहन के रूप में अभिज्ञान ।

१०—नायक का सौंदर्य ।

११—षट्ऋतु और बारहमासा से माध्यम से विरह वेदना ।

१२—हंस-कपोत आदि से संदेश भेजना ।

१३—घोड़े का आखेट के समय निर्जन बन में पहुँच जाना, मार्ग भूलना, मान सरोवर पर किसी सुन्दरी स्त्री या उसकी मूर्ति का दिखाई देना, फिर प्रेम और प्रयत्न ।

१४—विजय वन में सुन्दरियों से साक्षात्कार ।

१५—युद्ध करके शत्रु से या मत्त हाथी के आक्रमण से या कापालिक की वलि वेदी से सुन्दरी का उद्धार और प्रेम ।

१६—गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और गणिका-माता का तिरस्कार ।

१७—भरण्ड और गरुड़ आदि के द्वारा प्रिय युगलों का स्थानान्तरण ।

१८—पिपासा और जल की खोज में जाते समय असुर-दर्शन और प्रिया–वियोग ।

१९—ऐसे शहर का मिल जाना जो उजाड़ हो गया हो ।

२०—प्रिया की दोहद-कामना की पूर्ति के लिए प्रिय का असाध्य-साधन का संकल्प ।

२१—शत्रु–संतापित सरदार को उसकी प्रिया के साथ शरण देना और फल-स्वरूप युद्ध इत्यादि ।

वस्तुत: भारतीय कथा-साहित्य में प्राचीन काल से ही इस प्रकार की कथानक-रूढ़ियों के प्रयोग मिलते हैं। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी के आसपास

रचे गए संस्कृत साहित्य में, और पश्चात् अपभ्रंश–साहित्य में इनकी बाढ़-सी आ गई है। पदमावत की कथा-वस्तु के संघटन के लिए जायसी ने ऊपर दी गई कथानक रूढ़ियों (में से प्राय: अनेक रूढ़ियों) का प्रयोग अत्यन्त चारुता से किया है। पदमावत में इनके अतिरिक्त और भी प्रचलित कथानक रूढ़ियों के दर्शन होते हैं, जैसे सिंहलद्वीप, देवमंदिर जोगी और जोगी वेश, सपत्नी-ईर्ष्या आदि।[१]

जबतक कथाएं लोक-कण्ठ को अलंकृत करती हैं और उन्हें काव्यबद्ध नहीं किया जाता, तबतक उनकी रूढ़ियों को लोक प्रचलित कहानी की संज्ञा दी जा सकती है, किन्तु जब किसी भी तत्व का साहित्य में प्रयोग परंपरा-प्रचलित और रूढ़ हो जाता है, तो उसे साहित्यिक-परम्परा की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पदमावतकार के समक्ष अपभ्रंशकाल से चली आती हुई चरितकाव्यों की, मौलिक कथाओं की चन्दायन से चली आती हुई प्रेमकथा-काव्यों की एवं फारसी मसनवियों की विशाल परम्परा थी। इन काव्यों में अनेक कथानक रूढ़ियों के प्रयोग मिलते हैं। जायसी ने लोक और साहित्य में प्रचलित कथाओं से ही इन रूढ़ियों को गृहीत किया है। डा० सत्येन्द्र का कथन है कि पदमावत की संपूर्ण पृथ्वीराजरासो की ही भांति पदमावत में भी कथानक-रूढ़ियों का उत्कृष्ट सौन्दर्य दर्शनीय है।

पदमावत में प्रयुक्त विशिष्ट कथानक रूढ़ियाँ

१—सिंहलद्वीप की पद्मिनी।

२—संदेशवाहक शुक।

३—यह शुक बहेलिया द्वारा पकड़ा जाकर चित्तौड़ के ब्राह्मण के हाथ बेचा जाता है।

४—राजा तोते को खरीदता है।

५—राजा की रानी इस भय से कि तोता राजा से पद्मिनी का रूप कहेगा तो वह उसके मोह में पड़ जायेगा, तोते को मार डालना चाहती है, पर तोता बच जाता है।

६—एक राजा जो शुक से पद्मिनी का रूप सुन कर उसके प्रेम में मग्न हो जाता है।

७—राजा अपनी पहली रानी और राजपाट को त्याग कर शुक के पीछे-पीछे चलता है।

१—शिवसहाय पाठक : पदमावत का काव्य-सौन्दर्य, पृ० ३५–३६।

८–राजा नाव में बैठकर सात समुद्र पार करता है।

९–सिंहल में अगम्य गढ़ में पद्मिनी का निवास।

१०–एक शिव जी के मन्दिर में राजा का तपस्या करना, जहाँ वसंत के दिन पद्मिनी का आना।

११–पद्मिनी को देखकर राजा बेसुध, पद्मावती उस बेहोश राजा की छाती पर कुछ लिखकर चली गयी।

१२–होश आने पर राजा का दुख।

१३–पार्वती द्वारा राजा के प्रेम की परीक्षा।

१४–महादेव जी द्वारा कृपा करके सिद्धि देना और गढ़ का मार्ग बताना।

१५–राजा ने गढ़ पर चढ़ाई की। एक अगाध कुण्ड में रात में प्रवेश किया, वहाँ वज्र किवाड़ लगे मिले जिन्हें राजा ने खोला।

१६–राजा महलों में गया और पकड़ा गया, उसे सूली देने का आदेश।

१७–शिव-पार्वती ने भाट बनकर पद्मिनी के पिता को समझाया कि यह तो राजा है, पर उसने न माना।

१८—युद्ध की घोषणा, जोगियों की ओर से हनूमान, विष्णु तथा शिव को देखा, तो राजा ने अधीनता मानी।

१९—पद्मावती रत्नसेन को मिली।

२०—नागमती ने पक्षी के हाथ रत्नसेन के पास सिंहल संदेश भेजा।

२१—राजा पद्मावती और बहुत-सा धन ले सिंहल से विदा हुआ।

२२—समुद्र ने याचक बनकर धन मांगा, पर राजा ने न दिया।

२३—समुद्र में तूफान से अटक कर जहाज लंका में पहुँचे जहां विभीषण का राक्षस उन्हें एक वात्याचक्रालोड़ित समुद्र में ले गया।

२४—तभी एक राज पक्षी उस राक्षस को लेकर उड़ गया।

२५—रत्नसेन–पद्मावती का जहाज टूक-टूक हो गया। दोनों लकड़ी के टुकड़ों को पकड़ कर अलग-अलग बह गये।

२६—पद्मावती बहकर वहां पहुंची जहां लक्ष्मी थी। लक्ष्मी ने उसे बचाया।

२७—लक्ष्मी ने समुद्र से रत्नसेन को लाने को कहा।

२८—समुद्र एकान्त में बिलपते रत्नसेन के पास पहुँचा। ब्राह्मण बनकर और उन्हें डंडे के सहारे माया से पद्मावती के द्वीप पर ले आया।

२९—लक्ष्मी ने पद्मावती का रूप धर रत्नसेन की परीक्षा ली तब पद्मावती से मिलाया।

३०—समुद्र ने पाँच चीजें भेंट देकर दोनों को विदा किया। पाँच चीजें–१ अमृत,

२, हंस, ३, सोनहा पक्षी, ४, शार्दूल और ५, पारस पत्थर।

३१—लक्ष्मी के दिए बाड़े में से रत्न लेकर लाव–लश्कर जगन्नाथ में खरीदा, चित्तौड़ को चले।

३२—नागमती को अदृश्य शक्ति ने पति के आने की सूचना दी।

३३—एक महा पण्डित राघव चेतन ने आकर काव्य सुना कर राजा को वश में कर लिया।

३४—उसने यक्षिणी-सिद्धि से प्रतिपदा को दूज का चन्द्रमा दिखा दिया, राज पंडितों का इस प्रकार अपमान।

३५—अपमानित पंडितों ने ऐसे जादूगर को राजसभा में रखने के खतरे राजा को सुझाए। राजा ने राघव चेतन को देश-निकाला दिया।

३६—राघवचेतन ने जाते-जाते पद्मिनी का रूप देखा और पद्मिनी का दिया कंगन लिया।

३७—पद्मिनी के रूप से वह मूर्छित हो गया।

३८—राघव ने दिल्ली अलाउद्दीन को पद्मिनी का सौन्दर्य बताया तथा रत्नसेन के पास पांच अमोल रत्नों के होने की बात भी कही।

३९—अलाउद्दीन ने राघव के हाथ पत्र भेजा कि पद्मिनी को दिल्ली भेजो. राजा ने मना किया। अलाउद्दीन ने गढ़ घेर लिया।

४०—दोनों में घमासान युद्ध होने लगा। किन्तु राजा ने फिर भी राजपंवर पर नृत्य–अखाड़ा जोड़ा।

४१—कन्नौज के मलिक जहांगीर ने अलाउद्दीन के कहने से नीचे से एक बाण छोड़ एक नर्तकी को मार डाला।

४२—अलाउद्दीन ने सन्देश भेजा कि राणा पांचों नग दे दे, पद्मिनी नहीं लेंगे। राजा ने नग भेजे, संधि हुई।

४३—अलाउद्दीन चित्तौड़ देखने गया। राजा से शतरंज खेलते हुए झरोखे में आई हुई पद्मिनी को शीशे में देखा और मूर्छित हो गया।

४४—गढ़ से लौटते हुए शाह ने विदा के लिए साथ आए हुए राजा को प्रेम दिखाते हुए बन्दी बना लिया।

४५—इस वियोग में कुम्भलनेर के राजा देवपाल ने दूती को पद्मावती को फुसला लाने के लिए भेजा।

४६—दूती ने पदमावती को फुसलाना चाहा, पर वह असफल रही और उसे बुरी तरह पीट कर निकाल दिया गया।

४७—शाह ने भी पातुर दूती को जोगिन बनाकर भेजा कि वह उसे ले आए।

४८—जोगिन के कहने से पद्मावती जोगिन बनने को तैयार हुई, पर सखियों ने रोक लिया।

४९—तब पद्मावती के साथ गोरा-बादल ने रत्नसेन को छुड़ाने का वचन दिया।

५०—बादल की नव परिणीता वधू ने रोका पर वह रुका नहीं।

५१—सोलह सौ चंडोल सजाए गए। पद्मिनी की पालकी में लुहार बैठा और डोलों में राजपूत। ये दिल्ली चले।

५२—शाह से कहा कि पद्मिनी आपके यहां आई है, पर वह रत्नसेन से मिलकर तब आपके यहां आएगी। रत्नसेन से मिलने की आज्ञा दीजिए।

५३—इस विधि से रत्नसेन को छुड़ा लिया गया। वह चित्तौड़ की ओर भेज दिया गया।

५४—बादल रत्नसेन के साथ चित्तौड़ लौटा, गोरा ने शाह की सेना को रोका युद्ध किया और मारा गया।

५५—राजा चित्तौड़ पहुँचा। प्रसन्नता छा गई। पद्मावती ने देवपाल की दूती को बात बताई।

५६—राजा ने देवपाल पर चढ़ाई कर दी। उसे मार डाला।

५७—राजा को देवपाल की सेल का घाव लग गया था। इससे वह भी मर गया।

५८—नागमती और पद्मावती सती हो गई।

पदमावत के इन अभिप्रायों के विषय में डा० सत्येन्द्र का मत है कि "अभि-प्रायों की इस सूची को देखने मात्र से यह प्रतीत हो जाता है कि प्रत्येक अभिप्राय काफी विस्तृत क्षेत्र में लोक कथाओं में उपयोग में आता रहा है। कोई भी मात्र ऐतिहासिक नहीं।"[1]

पद्मावती रानी की कहानी भी भारतीय लोक और साहित्य की एक कथानक रूढ़ि है –

मूलतः पदमावती रानी की कहानी भारतवर्ष की एक पुरानी कहानी है। अवध भोजपुर जनपद की तो यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध कहानी मानी जाती है। किसी राजकुमारी का अपने पालित शुक से अपना हृदय खोलना, काम-व्यथा कहना, शुक के माध्यम से किसी राजा या राजकुमार के यहां प्रणय-संदेश भेजना, राजकुमार का आक्रमण या जोगी रूप में आगमन, भवानी या शिव-मन्दिर में मिलन, परिणय ग्रंथि में संग्रंथन, सागर–यात्रा, जलयान-ध्वंस, विविध प्रत्यूह, अलौकिक शक्ति अथवा दैवी शक्ति की सहायता, पुर्नमिलन प्रभृति तत्व भारतीय कथाओं में पाए जाते हैं।

१—डा० सत्येन्द्र : मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ०२७९-८२

केवल भारतीय कथाओं में ही नहीं, फारसी कथाओं, ग्रीक-कथाओं, गौथिक-कथाओं और अन्य पाश्चात्य देशीय प्राचीन या मध्ययुगीन कथाओं में भी इस प्रकार के कथा-तत्व मिल जाते हैं।[१]

पदमावती की कथा अपने इसी रूप में लोक में प्रचलित थी।[२] भारतीय वाङ्मय में संस्कृत काल से पदमावती की कथायें प्रसिद्धि पाती रही हैं। 'कल्कि पुराण[३] में आई हुई कथा के अनुसार पदमावती सिंहल देश के राजा वृहद्रथ की पुत्री है। कथा सारित्सागर[४] में भी लोक-कथाओं से गृहीत पदमावती की कथा वर्णित है। 'पृथ्वीराज रासो' के 'पदमावती – समय'[५] में भी पदमावती रानी की कहानी के मूल तत्व थोड़े से परिवर्तन के साथ ही हैं। 'शशिव्रता-विवाह-समय'[६] में शुक के स्थान पर हंस की अवतारणा की गई है, उस कथा के भी कुछ तत्व इससे मिलते हैं। इस कथा का मूल स्रोत 'वस्तुत:' नल-कथा में भी उपलब्ध है जहां नल के पास हंस आकर दमयन्ती के प्रति प्रेम और उसे प्राप्त करने की चेष्टा उत्पन्न कर देता है।[७] 'चन्दायन'[८] का ढांचा लगभग पदमावती की कहानी जैसा ही है। इन दोनों काव्यों की कथाओं में सादृश्य है। सदयवत्ससावलिंगा, मिरगावती, मुगुधावती, मधुमालती, प्रेमावती, सपनावती प्रभृति प्रेम कहानियों में भी प्रेम-परक आख्यान वर्तमान थे। जायसी ने लिखा है कि 'सिंहलद्वीप की पद्मिनी रानी' की कथा उनके समक्ष वर्तमान थी–

"आदि अन्तजस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।।[९]

जायसी ने जो वृत्त ग्रहण किया है वह आदि से अंत तक एक ही गाथा है। वह गाथा लोक गाथा है इसमें सन्देह नहीं। वस्तुत: यह कहानी आरम्भ से अंत तक लोक कहानी की भांति प्रचलित हो गई थी। अकबर के समय में यह एक लोक-कथा

१–पदमावत का काव्य–सौंदर्य, पृ० ३७।

२–वही, पृ० ३७।

३–साहित्य-सन्देश (आदि पद्मावती), भा० १३, अंक ६, पृ० २४६—५० (डा० दशरथ शर्मा का लेख)।

४–कथा सरित्सागर।

५–पृथ्वीराज रासो (पदमावती समय) हरिहरनाथ टंडन द्वारा सम्पादित।

६–पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवरसिंह – संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो शशिव्रता विवाह समय, पृ०५६—७६।

७–डा० सत्येन्द्र, आलोचना (पत्रिका) भाग ४, पृ० ३५।

८–मुल्ला दाऊद, चन्दायन सं० डा० परमेश्वरीलाल गुप्त।

९–पदमावत पृ० ६ (दो २४।५)।

के रूप में थी। आईने अकबरी, पृथ्वीराज रासो और टाड में इसी लोक कथा के वृत्त दिए गए हैं। इससे यह स्पष्ट हो गया कि पदमावत की सम्पूर्ण कथा लोक कहानी है। उसका ऐतिहासिक वृत्त से सम्बन्ध लोक क्षेत्र में हो गया था। जिससे कहानी में ऐतिहासिक नाम आ गए हैं और लोक कहानी के अभिप्रायों की ऐतिहासिक ब्याख्या लोक-मानस में प्रस्तुत कर दी गई जिसका काव्य-रूप जायसी ने खड़ा किया।"[१]

पदमावत में जायसी ने पदमावती रानी की इसी कहानी को गृहीत करके चरम-विकास का सौंदर्य प्रदान किया है। पद्मावती रानी की कहानी के समस्त लोकात्मक और काव्यात्मक रूपों में जायसी के पदमावत का काव्य-सौदर्य उत्कृष्ट कोटि का है।

पदमावत के कतिपय विशिष्ट अभिप्रायों का सर्वेक्षण[२]

(१) सिंहलद्वीप

भारतीय लोक-जीवन और साहित्य में सिंहलदेश की पद्मिनी नारियों (मुख्य रूप से राज कन्याओं) से विवाह के अनेक समधुर और सुधारस स्नात कथा प्रसंग आए हैं। 'श्री हर्षदेव की रत्नावली' में इसी रूढ़ि का आश्रय लिया गया है। कौतूहल की लीलावती में भी नायिका सिंहलदेश की राजकन्या ही है, और जायसी के पदमावत में भी वह सिंहल देश की ही कन्या है। इन सभी स्थानों पर सिंहल को समुद्र-मध्य स्थितकोई देश माना गया है। अपभ्रंश की कथाओं में भी इस सिंहल देश का समुद्र स्थित होना पाया जाता है। ऐसी प्रसिद्धि है कि सिंहलदेश की कन्यायें पद्मिनी जाति की सुलक्षणा होती हैं। जायसी के पदमावत तक के काल में सिंहल के समुद्र-स्थित होने की चर्चा आती है। मत्स्येन्द्रनाथ के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वे किसी स्त्री देश में विलासिता में फंस गए थे, और उनके सुयोग्य शिष्य गोरक्षनाथ ने वहां से उनका उद्धार किया था। 'योगि-सम्प्रदाया विष्कृति' नामक एक परवर्ती ग्रन्थ में सिंहल को 'त्रिया-देश' अर्थात् 'स्त्री-देश' कहा गया है। भारतवर्ष में 'स्त्री-देश' नामक एक स्त्रीदेश की ख्याति बहुत प्रचीन काल से है। इसी देश को कदलीदेश और बाद की पुस्तकों में 'कजरीवन' कहा गया है।[३] 'सिंहलदेश की सविस्तार चर्चा करते हुए पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि नागपंथी कहानियों में भी 'सिंहलद्वीप' और 'स्त्री-देश' का अन्तर स्पष्ट नहीं हो पाता। गुरु

१–मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक-तात्विक अध्ययन, डा० सत्येन्द्र, पृ० २७८–७९
२–आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७६–७७।
३– ,, नाथसम्प्रदाय ५४–५५–५६।

मत्स्येन्द्रनाथ अपना महाज्ञान भूलकर एक स्त्रीदेश में जा फंसे थे। वह कहां है ? 'मीनचेतन' और 'गोरक्ष-विजय' में इस देश को 'कदलीदेश' कहा गया है। 'योगी सम्प्रदायाविष्कृति' में 'त्रिया-देश' अर्थात् सिंहलद्वीप कहा गया है। सिंहलदेश ग्रंथ-कार की व्याख्या है। भारतवर्ष में स्त्रीदेश नामक एक स्त्रीप्रधान देश की ख्याति बहुत पुराने जमाने से है। लगभग एक दर्जन मतों का उल्लेख करते हुए पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि इन सब से यह अनुमान पुष्ट होता है कि कदलीदेश आसाम के उत्तरी इलाके में है। तन्त्रालोक की टीका और कौल ज्ञान निर्णय से यह स्पष्ट है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप में ही कौल-साधना की थी। इसलिए स्त्रीदेश या कदलीवन से वस्तुतः कामरूप ही उदिष्ट है। यह भी प्रमाणित होता है कि किसी समय हिमालय के पार्वत्य अंचल में पश्चिम से पूर्व तक एक विशाल प्रदेश ऐसा था जहां स्त्रियों की प्रधानता थी। मत्स्येन्द्रनाथ जिस स्थान पर गये आचार में फंस गये थे। वह स्त्रीदेश या कदलीदेश था जो कामरूप ही हो सकता है।[१] "उडियान देश के दो भाग हैं एक का नाम सम्भलपुर है और दूसरे का नाम लंकापुरी। अनेक चीनी और तिब्बती ग्रंन्थों में इस लंकापुरी की चर्चा आती है। उड्डियान में ही कहीं कोई लंकापुरी है। यह संभलपुर सिंहल हो सकता है, यह जालंधर पीठ के पास है।"[२]

सचमुच सिंहल द्वीप उडियान के समीप या वहीं कहीं होना चाहिए। पदमा-वत का सिंहलद्वीप — कलिंग समुद्र तट से दूर सात सागर पार स्थित है। वहां पर अत्यन्त रूपवती लावण्य-पुत्तलिका पद्मिनियाँ पाई जाती हैं। जायसी ने इन पद्मिनी नारियों के रूप-सौंदर्य का अत्यन्त उल्लसित वर्णन किया है—

> 'सिंहलदीप कथा अब गावौं। औ सौ पद्मिनि बरनि सुनावौं ॥
> पानि भरै आवै पनिहारी। रूप सुरूप पदमिनी नारी ॥
> पदुम गंध तिन्ह अंग बसाहीं। भंवर लागि तिन्ह संग फिराहीं ॥
> कनक कलस मुखचन्द दिपाहीं। रहस केलि सन आवहिं जाहीं ॥'[३]

'पद्मिनी' शब्द मूलतः कामशास्त्र के नायिका-प्रकरण से सम्बद्ध है। समस्त नायिकाओं में पद्मिनी श्रेष्ठतम है। वहां से चलकर यह शब्द लोक क्षेत्र में पहुंचकर अत्यन्त सुन्दरी का पर्यायवाची बन गया। श्री नाहटा जी ने राजस्थान में प्रचलित कई पद्मिनियों और पदमावतियों का उल्लेख किया है।[४] मुहणौत नैणसी

१—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय, पृ० ७८।

२—डा० प्रबोधचन्द्र बागची स्टडीज इन दि तंत्राज (कलकत्ता, १९३९), भाग १ और नाथ सम्प्रदाय ७ पृ० ७८।

३—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५९ अंक १, २०११।

४—पं० रामचन्द्र शुक्ल ; जायसी ग्रंथावली, सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड १।१ और ८।१२, ४

में चार पदमावतियों का उल्लेख है।

जायसी की पद्मावती इसी सात सागर पार के सिंहलद्वीप के राजा गंधर्व-सेन की पुत्री है। उसकी प्राप्ति के लिए रत्नसेन चित्तौड़ से सिंहल गया था। जायसी ने नाथों की सिंहल-गमन, पद्मिनी-स्त्रियों के अलौकिक सौन्दर्य, सात सागर के प्रत्यूह, सिद्धि-प्राप्ति आदि से सम्बद्ध कथाओं को 'सुना' था। गोरखनाथ की कथा प्राख्यात थी ही—'सिंहल में पद्मिनियों की कल्पना गौरखपंथी योगियों की देन है। महायानी बौद्धों में धान्यकटक और श्रीपर्वत सिद्धपीठ माने गए थे।'[१] वहां जाकर ही किसी को पूर्ण सफलता प्राप्त होती थी, ऐसा उनका विचार था। सिंहल में जाना और प्रेम और योग की साधना में उत्तीर्ण होना सिद्ध योगी के लिए अनिवार्य वस्तु थी। वहाँ साक्षात् शिव परीक्षा लेते हैं और परीक्षोतीर्ण होने पर अभीष्ट की अवाप्ति होती है। जायसी ने इन्हीं स्रोतों से सिंहलद्वीप की कथा ली है।

पदमावत के रत्नसेन की भाँति कबीर भी राम की खोज में सिंहल की यात्रा कर चुके थे—

'कबिरा खोजी राम का गया जु सिंहलदीप।
राम तो घट भीतर रह्या, जो आवे परतीति ॥[२]

जायसी के बहुत पहले अपभ्रंश के कई काव्यों में सिंहलद्वीप की कथानक रूढ़ि का उपयोग हो चुका था। इसका उपयोग १०६५ ई० में रचित मुनि कनकामर कृत 'करकण्डुचरिउ' में भी हुआ है।[३] करकंडु दक्षिण होते हुए 'सिंहल द्वीप, भी गए थे। उन्होंने सिंहल की राजकुमारी रतिवेगा से विवाह भी किया था। 'जिनदत्त चरिउ' (रचयिता : लाखू या लक्खण) (१२७५) में भी सिंहलद्वीप का उल्लेख मिलता है। नायक सिंहलद्वीप में जाकर राजकुमारी से विवाह करता है। धनपाल के 'भविसयत्त कहा' (१०वीं शती ईस्वी) में भविष्यदत्त की पांच सौ व्यापारियों के साथ 'कंचनद्वीप' की यात्रा का वर्णन है। दसवीं शताब्दी में मयूर[४] कवि ने 'पदमावती कथा' की रचना की थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस रोमैंटिक और मनोरम पद्मिनियों के देश का हमारे साहित्य में उपयोग प्राचीन काल से ही होता चला आ रहा है।

श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा का कथन भी इस सिलसिले में उल्लेखनीय

१—महापंडित राहुलसांकृत्यायन : पुरातत्व—निबंधावली, पृ० १२९।
२—कबीर ग्रंथावली, ना० प्र० सभा पृ० ८१।
३—करंजा जैन ग्रन्थमाला, सं० प्रो हीरालाल जैन १, १९३४ ई०।
४—हिन्दी साहित्य, पं० ह० प्र० द्विवेदी पृ० २६०।

है। कुछ विद्वानों के कथनानुसार पदमावत का सिंहलद्वीप लंका ही है। उनकी राय में रत्नसेन का सिंहल की पदमावती से विवाह एक ऐतिहासिक तथ्य है। वस्तुस्थिति यह है कि रत्नसेन लगभग एक ही वर्ष चित्तौड़ का राजा रहा, उसमें भी अंतिम छः महीने तक तो वह अलाउद्दीन से लड़ता ही रहा। ऐसी स्थिति में उसका सिंहल जाना, वहां पदमावती के साथ एक वर्ष तक रहना और पद्मिनी के साथ चित्तौड़ लौटना सर्वथा असंभव है। —— रत्नसेन के राज्य करने का जो समय निश्चित है उससे यही माना जा सकता हैं कि उनका विवाह सिंहल द्वीप अर्थात् लंका के राजा की पुत्री से नहीं किन्तु सिंगोली के सरदार की कन्या से हुआ हो।[१]

वस्तुतः सिंहल द्वीप की ऐतिहासिकता और भौगोलिकता को लेकर बहस करना व्यर्थ है। राजा रत्नसेन का सोलह सहस्र राजकुमार जोगियों' के साथ सात सागर पार करना, महादेव के मंडप में पदमावती की प्रतीक्षा में तप-साधना-रत रहना, उसके आने पर मूर्छित हो जाना, उसके जाने के पश्चात् मूर्छा का दूर होना, महादेव-पार्वती का कोढ़ी-कोढ़िन के वेश में आना, परीक्षा लेना, रत्नसेन की ओर से युद्ध में हनुमान महादेव प्रभृत्ति देवताओं का आना, उसका पद्मावती के साथ लौटना, लक्ष्मी-समुद्र की सहायता करना प्रभृति कथा-बिन्दु किसी ऐतिहासिक या भौगोलिक तथ्य की ओर इंगित नहीं करते। वस्तुतः ये सब हमारे देश की कथाओं की कथानक-रूढ़ियां हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जायसी के पदमावत में वर्णित सिंहलद्वीप न तो राजस्थान का 'सिंगोली' है और न लंका-द्वीप। जायसी लोक-कथाओं के सिंहलद्वीप, नाथ-संप्रदाय के सिंहल देश संबन्धी आख्यानों तथा अन्य प्रकार की सिंहल देश संबन्धी आख्यानों और कथाओं से परिचित थे। अतः उन्होंने वहीं से गृहीत करके कल्पना और संभावना के सहारे सिंहल द्वीप का विलसित चित्रण किया है। 'पैग पैग पर कुआं बावरी। साजी बैठक और पांवरी॥'[२] आदि वर्णन कल्पना मूलक ही हैं।

१—ना० प्र० पत्रिका, जिल्द १३, सं० १९८९ (पदमावत का सिंहल द्वीप लेख)।

२—इस वर्णन से स्पष्ट है कि यह अंश शेरशाह के शासन काल में लिखा गया था, शेरशाह ने सराय, कुयें, वृक्ष आदि की अत्यन्त सुन्दर व्यवस्था की थी। इस वर्णन से 'सन् नौ सै सैंतालिस अहा। कथा अरम्भ बैन कवि कहा॥ 'पर भी आलोक पड़ता है।

—इश्तियाक हुसैन कुरैशी : दी ऐडमिनिस्ट्रेशन आव दी सुल्तानेट आव देलही, पृ० २७० और एस० आर० शर्मा : मुगल एम्पायर इन इण्डिया, पृ० १७१।

'पृथ्वीराज रासो' के 'पद्मावती समय' में भी पदमावती[1] की जन्मभूमि को 'समुद्रशिखर' गढ़ कहा गया है। वह उत्तरप्रदेश की कन्या बताई गई है (जो कजरी बन त्रियादेश, स्त्री-देश, सिंहल देश आदि के गड्डमड्ड और उलझान का सूचक है) यद्यपि 'पदमावती-समय' में समुद्र-यात्रा की विनियोजना नहीं है, तथापि 'समुद्रशिखरगढ़' नाम ही उसके समुद्र सान्निध्य का सूचक है। कुछ लोगों का अनुमान है कि पदमावत की सर्जना के अनन्तर 'पदमावती-समय' रासो में प्रक्षिप्त कर दिया गया है। फिर उसका राजा विजय देव[3] सिंहल के राजा विजयसिंह से मिलता-जुलता है और जादू कुल में संभवत: यातुधान कुल की याद बनी हुई है।[4]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय सिंहल देश की पद्मिनी की कथा सम्बन्धी चिर परिचित कथानक-रूढ़ि के ताने–बाने से जायसी ने पदमावत की कथा का संघटन किया है।

हीरामन शुक

शुक, शुकी, चक्रवाक, और हंस भारतीय प्राचीन कथा-साहित्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण पात्र हैं। ये पक्षी भारतीय परिवार में अत्यन्त समादृत तो हैं ही, उस परिवार की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति–साहित्य–में भी इनका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कथाओं में शुक, सारिका, हंस आदि तीन विशेष उल्लेखनीय काम करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं––

(१) कथा के कहने वाले––वक्ता और श्रोता के रूप में।

(२) कथानक की गति को अग्रसर करने वाले संदेशवाहक या प्रेम-सम्बन्ध घटक के रूप में और

(३) कथा के रहस्यों को खोलने वाले अपनराद्ध भेदिया के रूप में। अन्तिम रूप में सारिका अधिक उपयोगी समझी गई है।[5] ये पक्षी प्रेम और मिलन कराने के साथ-साथ कभी-कभी भावी दुर्घटना या मंगल की सूचना भविष्यवक्ता के रूप में देते हैं। शुक का उपयोग कथात्मक प्रतीक के रूप में संस्कृत-काल से ही होता आ रहा है।

१–'पदमिनिय रूप पद्मावतिय मनहुं काम कामिनि रचिय' (पद्मावती समय।५)।
२–'पूरब दिसिगढ़ गढ़नपति समुदसिषर अति दुग्ग' (पद्मावती समय १।)
३–'तंहुं सुविजय सुरराजपति जादू कुलह अभग्ग।' (वही। १)।
४–हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७७।
५–आचार्य हजारीप्रसग्द द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५८ और ७५।

संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में निबद्ध कथाओं में शुक-शुकी का पुराना परम्परा-प्रचलित रूप दर्शनीय है । वाणभट्ट की कादम्बरी शुक के मुख से कहलवाई गई है ।[१] हर्षदेव की रत्नावली में नायिका के प्रेम-रहस्य का उद्घाटन मुखरा-सारिका ने ही किया है । पार्श्वनाथ चरित के तीसरे सर्ग में एक सकलशास्त्र-पारंगत सुग्गे की कथा है । अमरुक शतक के एक श्लोक में नायक-नायिका के रात्रि के प्रेमालाप को प्रात: सास-जिठानी के समक्ष शुक के दुहराने का मनोरंजक वर्णन मिलता है—

दम्पत्योर्निशिजल्पतो गृहशुकेनाकर्णितं यद्वचः ।
तत्प्रातर्गुरु सन्निधौ निगदतः श्रुत्वैव तारं वधूः ॥
कर्णालंवित पद्मरागशकलं विन्यस्य चंचुपुटे ।
व्रीड़ार्ता प्रकरोति दाड़िम फलव्याजेन वाग्बंधनम् ॥[२]

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का मत है कि पृथ्वीराज रासो में शुक-शुकी वाला अंश अत्यन्त प्रमाणिक और महत्वपूर्ण है । रासो की पूरी कहानी शुक-शुकी के मुख से कहलवाई गई है ।[३] हीरामन सुआ प्रेम-सम्बन्ध-घटक के रूप में कनकामरकृत 'करकंडु चारिउ'[४] में भी आया है । नलकथा ने प्रेम-व्यापार-संघटक का कार्य 'हंस' ने किया है । रासो के 'समुद्रशिखरगढ़'[५] की पद्मावती और दिल्ली के पृथ्वीराज के मध्य संदेश-वहन, प्रणय-संस्थापन और परिणय-ग्रन्थि-निबन्धन शुक ने ही किए हैं । पृथ्वीराज रासो के 'शशिब्रता-विवाह-समय'[६] में शशिब्रता और पृथ्वीराज के मध्य प्रणय-परिणय-व्यापार का संघटक एक हेमवर्ण हंस है । वह इंछिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता के समय इंछिनी की वियोग-विधुरा अवस्था की सूचना देकर राजा को बड़ी रानी (इंछिनी) की ओर उन्मुख करता है ।

भारतीय कथा-काव्यों में व्यवहृत शुक-सम्बन्धी ये सब कथायें लोक-प्रचलित थीं, अब भी हैं । पदमावत की कथा को गति देने के लिए जायसी ने इस रूढ़ि का आश्रय लिया है ।

१—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५८ और ७५ ।
२—अमरुक शतक : १६वाँ श्लोक ।
३—हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७६ ।
४—(सं०) प्रो० हीरालाल जैन : करकंडु चरित (कनकामरकृत), कारंजा जैन, ग्रन्थमाला, १९३४ ।
५—पृथ्वीराज रासो, पद्मावती समय, (सं० हरिहरनाथ टण्डन) ।
६—(सं०) आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृ० ५६—७८ ।

पदमावत में हीरामन शुक प्रेम-सम्बन्ध-घटक, संदेश-वाहक और परिणय ग्रंथि-बन्धन में सहायक—रूपों में आया है। 'सुआखंड', 'नागमती-सुआ-खंड, 'बनिजारा-खंड', 'राजा सुआ-संवाद-खंड', 'पद्मावती-सुआ-भेंट-खंड' प्रभृति स्थलों में वही मुख्य पात्र है। इन स्थलों पर जायसी ने अत्यन्त उल्लसित भाव से हीरामन की चर्चा की है।

हीरामन पद्मावती का पालित शुक है। वह स्वर्ण वर्ण का है। वह सकल कला-पारंगत है। पद्मावती का वह 'प्राण-परेवा' है। उड़ जाने पर बहेलिए ने पकड़ कर उसे एक ब्राह्मण के हाथ बेंच दिया। ब्राह्मण से रत्नसेन ने क्रय कर लिया। शास्त्रविद् प्रगल्भ शुक ने नागमती को अंधेरी रात-सदृश और पद्मावती को आलोकमय दिन-सदृश बता दिया। रानी रूठी। उसे मार डालने का उपक्रम हुआ। पारस-रूपा-पद्मावती का नखशिख-वर्णन सुनकर राजा जोगी बना। राजा ने सिंहल की ओर प्रस्थान किया। शुक गुरु-रूप में मार्ग-दर्शक बना। हीरामन ने ही राजा के मन में पदमावती के प्रति आकर्षण और प्रेम उत्पन्न किया है। अन्त में युद्ध के पश्चात् उपस्थित होकर उसने राजा के राजव्यक्तित्व का परिचय दिया है।

कई लोगों का आक्षेप है कि शुक पुन: अन्त तक काव्य में नहीं आता। बात विचारणीय है, किन्तु जब उसका कार्य ही समाप्त हो गया, तो उसके उपस्थित होने की क्या आवश्यकता? वह अपने कार्य का सम्यक प्रतिपादन करके अपना आलोक विकीर्ण करके चला जाता है। जायसी का हीरामन विद्वान् और रूप-वान है—

'तब ही व्याध सुआ लै आवा। कंचन बरन अनूप सुहावा ।।

शुक : पंडित और वेदज्ञ—सुए ने रत्नसेन से अपना परिचय देते हुए कहा था—

चतुरवेद हौ पंडित, हीरामन मोहि नावं।
पदमावति सौं मेखौं, सेव करौ तेहि ठावं ।।

इससे स्पष्ट है कि वह चारो वेदों का पंडित है। उसकी भाषा की क्या वर्णना की जाय?

जो वोले तो मानिक मूंगा। नाहिं त मौन बांधि रह गूंगा ।।
मनहु मारि मुख अमृत मेला। गुरु होइ आप कीन्ह जग चेला।

सचमुच गुरु-रूप शुक एक उत्तम कोटि का मार्ग-दर्शक था।

विशेष

कुछ विद्वानों का विचार है कि हीरामन का मूल रूप "हीरा—मणि" रहा होगा, किन्तु हमारे यहां 'हीरामणि' को परम ज्ञानामृत का पान कराने वाला तत्व नहीं माना गया। संभवत: 'हीरामन, का मूल स्रोत 'हिरण्मय' है। हमारे यहां कहा भी गया है—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं बपुः ।
सत्यधर्माय दृष्टये, तत्वं पूषन्नपावृणु ।।"

अमृत तत्व इसी हिरण्मय पात्र के ही माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है । पदमावत में भी हीरामन पारस, अमृत या परम तत्व-रूपा पदमावती को प्राप्त कराने का कार्य कराता है । उसका और अमृत रूपा परमात्म-ज्योति पदमावती का सान्निध्य है ।

वस्तुतः भारतीय कथा साहित्य की यह एक कथानक रूढ़ि है कि शुक वेदज्ञ पण्डित और मानव की भाषा में अपने विचारों को व्यक्त करने वाला कहा जाता है । विश्व की अनेक प्राचीन कथाओं में भी पक्षी का यह रूप मिल जाता है । सोमदेव के कथासरित्सागर की कई कहानियों में शुक का उपयोग हुआ है । पाटलिपुत्र के नरेश 'विक्रमकेशरी' के पास 'विदग्धचूड़ामणि' नाम का एक शुक था । उसी की सलाह से राजा ने मगध देश की राजकन्या 'चन्द्रप्रभा' से विवाह किया था ।[१]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हीरामन (शुक की कथा) भारतीय जीवन और साहित्य की एक अत्यन्त प्राचीन लोक कथा है जो साहित्य में विविध रूपों में व्यवहृत होती चली आयी है । वस्तुतः जायसी ने हीरामन शुक की कथा अवध जनपद में प्रख्यात हीरामन की कथा से, भारतीय लोक और साहित्य में समादृत हीरामन की कथानक रूढ़ि से गृहीत किया है । यह न तो किसी इतिहास की वस्तु है और न पुराण की । वस्तुतः यह लोक-कथाओं से गृहीत दीर्घ काल से प्रचलित कथानक-रूढ़ि है । इस कथानक में इतिहास खोजने के लिए मूंड़ मारना बेकार है । इसे अमुक ने अमुक से चुराया है, या यह अमुक पुराण से चुराई गई है कहकर इसे पौराणिक कथा मानना या चुराये जाने की बात कहना उचित नहीं है । दो या तीन स्थानों पर ही इसका उपयोग नहीं हुआ है, कई स्थानों पर हुआ है ।[२] उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में चतुरसेन शास्त्री का यह मत है कि कि यह कथा अमुक पुराण से चुराई गई है, निर्मूल सिद्ध हो जाता है ।[३]

फारसी साहित्य में प्रेम सम्बन्धी-घटक पंछी, मानसरोवर, बारहमासा, समुद्र-यात्रा, तूफान, जलयान-ध्वंस, शिवमन्दिर, शंकर-पारवती प्रभृति अनेक रूढ़ियां

१—पेंजर : ओशन आव दि स्टोरी, पार्ट ६, चैο ७, पृ० १८३, २६७ ।

२—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७६ (पदमावत का काव्य-सौंदर्य, पृ० ४३—४४ से उद्धृत) ।

३—पदमावत की कथानक रूढ़ियों के विशेष अध्ययन के लिये देखिये पदमावत का काव्य-सौंदर्य, पृ० ३१—५६ ।

नहीं मिलती। यह अवश्य है कि नायिका के सौंदर्य के चित्रण के लिए फारसी के कवि नख-शिख-वर्णन[1] अवश्य करते हैं। पदमावत की कथानक-रूढ़ियाँ प्राय: भारतीय कथाओं की परम्परा-ग्रथित रूढ़ियां हैं। इसमें लोक कथाओं की रूढ़ियां पंवारों से ली गई रूढ़ियों, लोक-गीतों की रूढ़ियों, काव्यों महाकाव्यों की रूढ़ियों आदि का सुगुंफन पदमावत में द्रष्टव्य है। इसकी कथा में मसनवी-काव्यों की कुछ रूढ़ियाँ या परम्परायें अवश्य मिलती हैं, पर इसकी अनेक कथा-रूढ़ियों का मूल स्रोत फारसी साहित्य में नहीं है। उनका मूल प्राय: भारतीय है।

१—लैला-मजनूं, निजामी, पृ० ३३—३४।

५

प्रबंध काव्य के रूप में पदमावत का संघटन

महाकाव्य के भारतीय लक्षण

संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में महाकाव्य-सम्बन्धी आदर्शों एवं लक्षणों का और उसके विविध अंगों का विशद विवेचन किया गया है। भामह[1] ने 'काव्यालंकार में लिखा है कि "महाकाव्य एक सर्गबद्ध रचना है। उसके चरित्र महान् होते हैं, उसमें सालंकार शिष्ट भाषा का प्रयोग होता है। उसमें सदाश्रयता होती है। उसमें नायक के अभ्युदय के साथ ही मंत्र, दूत, प्रयाण आदि का सविस्तार वर्णन होता है। वह पंच संधियों से युक्त होता है। उसमें चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ काम और मोक्ष) का विधान किया जाता है, अर्थ को प्राधान्य दिया जाता है। नायक का वंश-वीर्यादि विश्रुत होना चाहिए। उसमें इतर व्यक्ति के उत्कर्ष-प्रदर्शन के लिए नायक का बध नहीं दिखाया जाता।"

१— "सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च तत्।
अग्रगम्य शब्दमर्थ्यं च सालंकारं सदाश्रयम्॥
मंत्रदूत प्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत।
पंचभिः संधिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत॥
चतुर्वर्गाभिभानेपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।
नायकं प्रागुप पन्यस्य वंशवीर्य श्रुतादिभिः।
न तस्य बधं ब्रूयादन्यात्कर्षाभिधित्सया।
यदिकाव्य शरीरस्य न स व्यापित येष्यते।
न चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रसणस्तवौ॥"

आचार्य दण्डी[१], रुद्रट[२] हेमचन्द्र,[३] विश्वनाथ,[४] मम्मट, पंडितराज जगन्नाथ ने भी महाकाव्य के स्वरूप की विवेचना की है।

विश्वनाथ कविराज ने महाकाव्य के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार किया है—

(१) महाकाव्य की कथा सर्गबद्ध होती है।

(२) इसका नायक कोई देवता, सद्वंशीय क्षत्रिय अथवा धीरोदात्त गुणों से युक्त व्यक्ति होता है। एक ही वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी इसके नायक हो सकते हैं।

(३) शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस प्रधान होता है। अन्य रस उसके अंगी होकर आते हैं।

(४) वह नाटक की पंचसंधियों से समन्वित हो।

(५) कथानक इतिहास-प्रसिद्ध या सज्जनाश्रित होना चाहिए।

(६) उसमें चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से किसी एक के फल की प्राप्ति हो।

(७) उसमें आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण

१— सर्गबन्धों महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया-वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥
इतिहास कथोद्भूतमितरद्वासदश्रयम्।
चतुर्वर्ग फलायतं चतुरोदात्त—नायकम्।
नगरार्णव शैलतुं चन्द्राकोदय वर्णनैं।
मंत्रदूत प्रयाणाजि नायकाभ्युदयैरपि॥
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव निरंतरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णः श्राव्यवृतैः सुसंधिभिः॥
सर्वत्र भिन्न वृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजनम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति॥
न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदंगेः काव्यं न दुष्यति।
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विधः॥

—दण्डी, काव्यादर्श, परि० १, १४—२० (शास्त्री रंगाचार्य, रेड्डी तथा वेलंकर (पूना) गवर्नमेंट आफ इंडिया स्टडीज), पृ० ३६।

२—रुद्रट, काव्यालंकार, परि० १६, ७—१९।

३—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, अध्याय ८, पृ० ३३०।

४—विश्वनाथ, साहित्य-दर्पण, परिच्छेद, ६ श्लोक ३१५—३२८।

होता है।

(८) उसमें खल-निन्दा और सज्जन स्तुति भी हो।

(९) इसके सर्गों की संख्या आठ से अधिक हो। सर्ग न अधिक छोटे हों और न अधिक बड़े। प्राय: प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होता है। सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन उचित है। एक सर्ग में विविध छन्दों के प्रयोग भी होते हैं। प्रत्येक सर्ग के अन्त में भावी कथा की सूचना होनी चाहिए।

(१०) महाकाव्य में संध्या, सूर्य, चन्द, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रात:काल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, रण—प्रयाण, विवाह, मंत्र, पुत्रोत्पत्ति आदि का प्रयोग सांगोपांग वर्णन होना चहिए।

(११) महाकाव्य का नाम कवि, कथावस्तु, नायक अथवा किसी अन्य व्यक्ति के नाम पर होना चाहिए। सर्गों के नाम सर्गगत कथा के आधार पर होने चाहिए।

(१२) प्राकृत में निर्मित महाकाव्यों में सर्ग आश्वास संज्ञक होते हैं और अपभ्रंश में कुडबक का विधान होता है और प्राकृत में स्कंधक और गलितक तथा अपभ्रंश में उसके योग्य अन्य विविध प्रकार के छन्दों का प्रयोग होता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यों को दृष्टि में रखते हुए महाकाव्य की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

"पद्यं प्राय: संस्कृत प्राकृतापभ्रंश ग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्त सर्गाश्वास संध्यवस्कन्धकबन्धं सत्संधि शब्दार्थ वैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्।"[१]

हेमचन्द्र ने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश तथा ग्राम्य भाषाओं में भी महाकाव्य का होना स्वीकार किया है। उनका कथन है कि महाकाव्य संस्कृत में सर्गबन्ध, प्राकृत में आश्वासकबंध, अपभ्रंश में सन्धिबंध और ग्राम्यापभ्रंश में अवस्कन्धकबन्ध होते हैं।

महाकाव्य विषयक पाश्चात्य आदर्श

महाकाव्य के लिए पाश्चात्य-साहित्य में 'एपिक' (Epic) शब्द का प्रयोग किया जाता है। मूलत: 'एपिक' (Epic) शब्द 'इपोस' से व्युत्पन्न है। 'इपोज' का अर्थ है 'शब्द'[२]। इसका प्रयोग कहानी, वक्तव्य अथवा गीत के लिए होता था। कालांतर में 'एपिक' शब्द रूढ़ि रूप में एक वीरकाव्य विशेष का पर्याय बन गया, जिसमें किसी महान् घटना का भव्य शैली में वर्णन हो।

१—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, आठवाँ अध्ययन।

२—द्रष्टव्य, डिक्सनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर (शिप्ले)।

अरस्तू ने 'ट्रेजेडी' और एपिक (महाकाव्य) की तुलनात्मक मीमांसा करते हुए महाकाव्य के लक्षणों पर प्रकाश डाला है। उसका कथन है कि 'जहां तक शब्दों के माध्यम से महान् चरित्रों और उनके कार्यों के अनुकरण का सम्बन्ध है महाकाव्य और दुःखान्त की (ट्रेजेडी) में समानता प्राप्त होती है, किन्तु कतिपय दृष्टिकोणों से दोनों में पर्याप्त वैभिन्य हैं। महाकाव्य में आदि से लेकर अन्त तक एक ही छन्द का प्रयोग होता है। उसमें आदि मध्य और अन्त से युक्त कार्य की अन्विति होती है। वह प्रकथन-प्रधान होता है। उसके कार्य-व्यापार में समय की सीमा नहीं रहती। दुःखान्त की (ट्रेजेडी) का कार्य-व्यापार २४ घण्टे तक का ही होता है।[1]

इस प्रकार अरस्तू के मतानुसार महाकाव्य में किसी गम्भीर, पूर्ण एवं उदात्त कार्य की काव्यमय अनुकृति होती है। उसकी भाषा-शैली में मनोरमता एवं अलंकृतता आवश्यक गुण हैं। उसमें कार्यान्विति, व्यापक कथा एवं महान् चरित्रों की योजना की जानी चाहिए। फ्रेन्च आलोचक 'ली बोस्सु' ने महाकाव्य को प्राचीन घटनाओं के चित्रण के लिए एक छन्दोबद्ध रूपक के रूप में स्वीकार किया है।[2] लार्ड केम्स के मतानुसार महाकाव्य में वीरतापूर्ण कार्यों का उदात्त शैली में वर्णन होता है।[3] हाब्स ने भी वीरतापूर्ण प्रकथनात्मक कविता को ही महाकाव्य माना है।[4] डेवनाट का कथन है कि महाकाव्य का आधार प्राचीन घटनाओं पर प्रतिष्ठित होना चाहिए। लुकन ने प्राचीन घटनाओं की अपेक्षा अर्वाचीन घटनाओं को ही महाकाव्य के लिए अधिक उपयुक्त माना है। रैसां ने मध्यम मार्ग को महत्व प्रदान करते हुए कहा है कि महाकाव्य की घटनायें न अत्यन्त नवीन हों और न अत्यन्त प्राचीन।[5]

पाश्चात्य समीक्षकों ने मुख्य रूप से महाकाव्य के दो भेद बताये हैं—

(१) विकसनशील महाकाव्य (एपिक आफ ग्रोथ) और

(२) कलात्मक महाकाव्य (एपिक आफ आर्ट)

इन्हें ही उन्होंने प्रामाणिक और साहित्यिक की संज्ञायें दी हैं। विकसनशील महाकाव्य एक व्यक्ति की रचना न होकर अनेक व्यक्तियों की रचनाओं का सुसंबद्ध काव्य-रूप होता है,[6] जैसे, इलियड, ओडेसी (हिन्दी में पृथ्वीराज रासो)। कलात्मक

१—डोमेट्रियस, अरिस्टाटिल्स पोइट्री, पृ० १३

२—इबिड, पृ० २।

३—एम० डिक्सन, इंग्लिश एपिक ऐण्ड हीरोइक पोइट्री, पृ० १८।

४—वही, पृ० २२।

५—एपिक ऐण्ड हीरोइक पोइट्री, पृ० १।

६—एम० डिक्सन, इंग्लिश एपिक ऐण्ड हीरोइक पोइट्री, पृ० २७।

महाकाव्य किसी व्यक्ति की वह काव्यकृति है, जिसमें स्वाभाविकता के स्थान पर आलंकारिकता या कृत्रिमता होती है। यह रचना विद्वानों के लिए होती है। काव्य के सुनिर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार इसकी रचना होती है। इसमें कलापक्ष मुख्य रहता है। इसमें भाषा-शैली का सौन्दर्य और काव्य-कला का उदात्त रूप मिलता है[१] जैसे इनियड एवं पैराडाइज लास्ट।

रघुवंश और कुमारसंभव इसी के अन्तर्गत आते हैं। पाश्चात्य आलोचकों के महाकाव्य–विषयक प्रधान लक्षण इस प्रकार हैं––

(१) कथानक : महाकाव्य का कथानक प्रकथन प्रधान, लोक–विश्रुत, विशाल और महत्वपूर्ण होना चाहिए।[२] केम्प ने प्राचीन, लुकन ने अर्वाचीन और टैसो ने नाति प्राचीन और नाति अर्वाचीन घटनाओं को महाकाव्य के विषय के लिए ठीक कहा है।[३] लोक विश्रुतता और ऐतिहासिक घटनात्मकता का कथानक में होना आवश्यक माना गया है। मात्र कवि-कल्पना पर आधारित कथानक महाकाव्य के लिए उपयुक्त नहीं है।[४]

(२) नायक : नायक का गुणी, शूर और विजयी होना आवश्यक है। एक से अधिक नायक भी हो सकते हैं। नायक देश या जाति का प्रतिनिधित्व करता हुआ चित्रित किया जाता है, अतः उसको विजयी रूप में चित्रित करना आवश्यक है, क्योंकि उसकी विजय देश या जाति की विजय है। नायक को युद्ध प्रिय-होना चाहिए।

(३) अति प्राकृत और अलौकिक तत्वों का मिश्रण–नाटकों में तो दर्शकों को आश्चर्यचकित करने की ही आवश्यकता रहती है, पर महाकाव्यों में उससे आगे बढ़कर असम्भव, अविश्वसनीय और आश्चर्योत्पादक बातों एवं घटनाओं के भी वर्णन होते हैं। मानव की प्रकृति है कि वह श्रोताओं को विस्मय-विमुग्ध करने के लिए बात को अलंकृत रूप में या बढ़ा–चढ़ाकर उपस्थित करता है। यही कारण है कि महाकाव्य में अलौकिक और अति प्राकृत शक्ति वाले देवों, व्यक्तियों या घटनाओं का वर्णन होता है।[५] महाकवि को असम्भव लगने वाली सम्भव घटनाओं की अपेक्षा सम्भव लगने वाली असम्भव घटनाओं का चित्रण[६] करना पड़ता है। इसीलिए इलियड, ओडेसी, पेराडाइज लास्ट प्रभृति महा–

१–एल० एबरक्राम्बी : दी एपिक, पृ० ३९।

२–वही, पृ० ४८।

३–एम डिक्शन : इंग्लिश एपिक ऐण्ड हीरोइक पोइट्री, पृ० २३।

४–एल० एबरक्राम्बी, दी एपिक, पृ० ५५।

५–दि एपिक पृ० ४९। ६–वही, पृ० ५०।

काव्यों में देवता, अलौकिक शक्ति, भूत-प्रेत आदि का समावेश किया गया है। शायद महाकाव्य की कथा को महत्वपूर्ण और प्रभविष्णु बनाने के लिए और कार्य-सीमा की सविस्तरता के लिए पाश्चात्य समीक्षकों ने महाकाव्य में अलौकिक तत्वों का मिश्रण आवश्यक कहा है।[१]

(४) भाषा-छन्द का आदि से अन्त तक असाधारण, शालीन, गरिमा-सम्पन्न प्रयोग होना आवश्यक है।

(५) अन्य-जातीय भावों का प्राधान्य-महाकाव्य किसी जाति की प्रतिनिधि रचना होती है। अन्य पात्रों का चित्रण, विविध दृश्यों, स्थानों, उपाख्यानों, घटनाओं आदि के मनोमय ढंग से उपस्थापन[२] के साथ ही कथा की एक सूत्रता और लक्ष्य की एकता भी महाकाव्य में आवश्यक तत्व माने गये हैं।

महाकाव्य-सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य मतों की समीक्षा करने पर सिद्धान्ततः विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। कथा, छन्द, नायक, अन्य पात्र, देवता प्रभृति तत्व लगभग दोनों में समान हैं। भारतीय काव्यों में शृंगार, वीर और शान्त में से एक को प्रधान माना जाता है। पाश्चात्य आलोचकों ने केवल वीर रस को ही प्रधान माना है। उन्होंने जातीय भाव के समावेश का आग्रह किया है। इस विषय में डिक्सन का कथन उल्लेखनीय है—"महाकाव्य सभी देशों में एक जैसा है। पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—सर्वत्र उसकी आत्मा और प्रकृति में एकता है। महाकाव्य कहीं भी सर्जित हो उसकी रचना सुश्रृंखलित होती है। वह प्रकथन-प्रधान होता है, उसका सम्बन्ध महान् चरित्रों से होता है, उसमें महत्कार्य गरिमामयी शैली, महत् चरित्र आदि की सुनियोजना की जाती है। उपाख्यानों एवं सविस्तार वर्णनों से उसका कथानक समृद्ध बनाया जाता है।[३]

पदमावत का महाकाव्यत्व

पदमावत के महाकाव्यत्व पर विचार करते हुए डा० शम्भूनाथसिंह ने लिखा है—"पदमावत अलंकृत या साहित्यिक महाकाव्य है अर्थात उसकी रचना एक विशिष्ट कवि-द्वारा परम्परा प्राप्त साहित्यिक शैली में हुई है। उसकी शैली में विकसनशील महाकाव्यों में प्राप्त होने वाले अनेक तत्व—अलौकिक और अति प्राकृत शक्तियों में विश्वास, कथात्मकता आदि—वर्तमान हैं। कन्याहरण, सिंहल की भयंकर यात्रा, जहाज-टूटना, अन्य साहसिक कार्य, अलौकिक अति प्राकृत शक्तियों का मानव

१—एल एबरक्राम्बी : दी एपिक, पृ० ६५।

२—एम० डिक्सन : इंग्लिश एपिक ऐण्ड हीरोइक पोइट्री, पृ० २२।

३—वही, पृ० २४।

के साथ सम्बन्ध, जादू की सिधिगुटिका, शास्त्र और मानव भाषा-भाषी शुक आदि रोमांचक तत्वों का भी समावेश किया गया है।' इसमें रोमांचक तत्वों पर विचार करने के पश्चात् उन्होंने लिखा है– "पदमावत को हमने रोमांचक शैली का महाकाव्य माना हैं।" 'इसमें रोमांचक तत्व बहुत हैं, पर वे कवि के महदुद्देश्य और प्रतीकात्मक शैली, काव्यात्मक वर्णन तथा उत्तरार्द्ध की कथा के ऐतिहासिक आधार के कारण नियन्त्रित हैं। अत: यह कथा, आख्यायिका न होकर रोमांचक शैली का महाकाव्य है।"[१]

पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि "प्रबन्ध क्षेत्र के भीतर दो सर्वश्रेष्ठ काव्य हैं, 'रामचरित मानस' और 'पदमावत'। पदमावत हिन्दी साहित्य का एक जगमगाता रत्न है।"[२]

१–सुसंगठित और जीवन्त कथावस्तु

पदमावत में चित्तौड़ के राजा रतनसेन और सिंहल की राजकुमारी की प्रेमकथा वर्णित है। सम्पूर्ण काव्य की कथा को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध की कथा लोक विश्रुत पदमावती रानी की कहानी है। उत्तरार्द्ध की कथा में अलाउद्दीन के आक्रमण, जौहर आदि ऐतिहासिक तथ्यों की छौंक देकर उसे ऐतिहासिक-सी कथा बना देने का सफल प्रयत्न हैं। प्रासंगिक एवं आधिकारिक कथाओं में पूरी अन्विति वर्तमान है। इसकी कथा पर्याप्त विस्तृत और व्यापक है। उसमें कल्पना और इतिहास का अद्‌भुत समन्वय मिलता है। सम्पूर्ण कथा रत्नसेन और पद्‌मावती से सुसंबद्ध है। सम्पूर्ण कथा का विभाजन ५८ खंडों में किया गया है। खण्ड न विशेष बड़े हैं और न विशेष छोटे। कुछ खण्ड अवश्य छोटे हैं, पर अपने छोटे-रूप में भी वे प्रभविष्णु एवं महत्वपूर्ण हैं। "रत्नसेन जन्मखण्ड, रत्नसेन-सती खण्ड और रत्नसेन साथी-खण्ड" अल्प विस्तार वाले खण्ड हैं, किन्तु इस कारण कथा-प्रवाह में कहीं भी अवरोध उत्पन्न नहीं होता। कथा में आदि से अन्त तक कवि की महान् प्रतिभा और कल्पना-विलास का सौन्दर्य दर्शनीय है। अलाउद्दीन का दर्पण में पदमावती की छाया देखना, रत्नसेन का बन्दी-रूप में दिल्ली-गमन, देवपाल की दूती का प्रसंग, प्रभृति अनेक घटनाएँ किसी न किसी ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित हैं, किन्तु पद्‌मावत में वे सर्वथा कवि-कल्पित हैं।

स्पष्ट कि इसका विषय महान् और व्यापक है। इसमें प्रेम-पीर के काव्यात्मक सौन्दर्य का चरम विकास हुआ है। अरस्तू के अनुसार 'जीवंत कथानक का गुण

१–डा० शम्भूनाथसिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४२८।
२–पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रंथावली, पृ० २१०, (भूमिका)।

यह है कि उसमें आदि, मध्य और अंत अर्थात् उसका सर्वांग समानुपातिक विकास हुआ हो। पदमावत में पदमावती-विवाह तक की घटनायें कथा के आदि भाग के अंतर्गत हैं। विवाह के बाद राघव चेतन देश निकाला-खंड तक की कथा मध्य भाग के अन्तर्गत है और उसके पश्चात् की कथा अंत के रूप में है। स्पष्ट ही इसके आदि मध्य और अंत में समानुपातिक विकास द्रष्टव्य है।

पदमावत में नाटकीय सधियों और कार्यावस्थाओं का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। उत्तरार्ध की कथा में प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम इन पांचों कार्यावस्थाओं एवं मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श एवं निर्वहण-इन पांच संधियों की सम्यक् योजना हुई है। इस कथा में रत्नसेन को फल (पदमावती) की प्राप्ति हो जाती है। उत्तरार्ध की कथा में मुख्य रूप से प्रारम्भ, प्रयत्न और प्राप्त्याशा की ही संयोजना हुई है। अंत में नियताप्ति और फलागम को प्रत्यक्षतः न दिखाकर निगत और अवसान नामक पाश्चात्य ढंग की कार्यावस्थायें दिखलाई पड़ती हैं।

'पदमावत' का 'कार्य' है पदमावती का सती होना। सम्बन्ध-निर्वाह के ही अन्तर्गत गति के विराम का भी विचार कर लेना चाहिए। यह कहना पड़ता है कि पदमावत में कथा की गति के बीच बीच अनावश्यक विराम बहुत से हैं। मार्मिक परिस्थित के विवरण और चित्रण के लिए घटनावली का जो विराम पहले कह आये हैं वह तो काव्य के लिये अत्यन्त आवश्यक विराम है। क्योंकि उसी से सारे प्रबन्ध में रसात्मकता आती है।"[१] जायसी का सम्बन्ध-निर्वाह अच्छा है। एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग की श्रृंखला बराबर लगी है। कथा-प्रवाह खण्डित नहीं है।[२] 'पदमावत का कथानक पूर्णतः सुसँघटित और सुशृंखलित हैं। इस प्रकार अरस्तू की 'कार्यान्वित' और पाश्चात्य देशीय कार्यावस्थाओं की कसौटी पर पदमावत पूर्णतः खरा उतरता है। पदमावत में कोई भी घटना कथा की दृष्टि से अनावश्यक नहीं है। सभी घटनायें और प्रसंग एक दूसरे से कार्य कारण श्रृंखला में बंधे हैं। प्रत्येक घटना कथा-प्रवाह में योग देती है। पदमावत का कथानक पूर्णतः सुसंघटित कलात्मक और अन्विति युक्त है।

२ नायक

कथावस्तु के अनन्तर महाकाव्य के तत्वों में 'नायक' तत्व को प्रमुख स्थान दिया जाता है। वस्तुतः नायक के रूप में एक महत्तम चरित्र की सृष्टि के लिए ही कवि महाकाव्य की सर्जना में प्रवृत्त होता है। इस प्रसंग में कवीन्द्र रवीन्द्र

१– पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली (भूमिका), पृ० ७५।
२–वही, पृ० ७२।

का कथन उल्लेख्य है—

'मन में जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है, तब कवि उसे गीति-काव्य में प्रकाशित किए बिना नहीं रह सकते । इसी प्रकार जब मन में एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार आ जमाता है, मनुष्य-चरित्र का उदार-महत्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर, उस परम पुरुष की प्रतिभा प्रतिष्ठित करने के लिये कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं, उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्देश में रहती है, और उसका विचार मेघों को भेदकर आकाश में उठता है, उस मन्दिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, उसके देवभाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर नाना दिग्देशों से आ-आकर, लोग उसे प्रणाम करते हैं । इसी को कहते हैं महाकाव्य ।''[१]

पदमावत का नायक रत्नसेन महाकाव्योचित नायक है । नायक में बुद्धि उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, शौर्य, औदार्य, गांभीर्य, धैर्य, स्थैर्य, माधुर्य, कला-कुशलता, विनय, निरोगता, शुचिता, स्वाभिमान, प्रियवादिता, जनानुरागिता, वाग्मिता, महावंशत्व, दृढ़ता, तत्वशास्त्रज्ञता, अग्राम्यता, शृंगारिकता, सौभाग्य आदि विशेषतायें होती हैं ।[२] रुद्रट[३] और विश्वनाथ[४] कविराज ने भी थोड़े अंतर के साथ इन्हीं गुणों को आवश्यक माना है । विश्वनाथ कविराज के अनुसार धीरोदात्त नायक वह है जो अपनी प्रशंसा नहीं करता और जिसमें क्षमाशीलता, अतिगम्भीरता, स्थिर प्रकृतित्व महासत्तत्व, गर्वीलापन और दृढ़ निश्चयता हो ।[५]

इस दृष्टिकोण से पदमावत का रत्नसेन एक महासत्व धीरोदात्त नायक के सभी गुणों से अलंकृत, दृढ़ प्रतिज्ञ, त्यागी, विनयी, स्वाभिमानी, क्षमाशील, गम्भीर और शूर स्वभाव वाला आदर्श प्रेमी है । यह सद्वंशीय, क्षत्रिय, राजा और महान् शूर-वीर योद्धा भी है । ''रत्नसेन पर्याप्त गम्भीर है, पदमावती के प्रति उसका प्रेम उन्माद नहीं है, वह एक दृढ़ और स्थिर प्रेम है । सिंहल से लौटते समय गन्धर्वसेन से कही गई उसकी विनयशीलता की घोषणा करती हैं ।''[६]

१—मेघनाथ बध (हिन्दी-अनुवाद), भूमिका, पृ० १३७ ।

२—वाग्भट : काव्यानुशासन, अध्याय ५, (नायक-प्रकरण) ।

३—रुद्रट : काव्यालंकार, अध्याय १२ (७—८ श्लोक) ।

४—विश्वनाथ : साहित्य-दर्पण, अध्याय ३, श्लोक २० ।

५—वही, श्लोक २२ ।

६—डा० श्यामसुन्दरदास : रूपकरहस्य, पृ० ६४—६५ ।

नायक रत्नसेन का चरित्र एक आदर्श प्रेमी, त्यागी और बलिदानी के रूप में महान् है।

अन्य पात्रों में नागमती आदर्श भारतीय पतिप्राण देवी है, शुक गुरु प्रतीक और अप्राकृत शक्ति वाला पक्षी है। पद्मावती आदर्श भारतीय प्रेमिका के रूप में (भी) चित्रित है। अलाउद्दीन और राघवचेतन असत् पक्ष के प्रतिनिधि पात्र हैं। देवपाल भी उन्हीं की तरह है।

रसात्मकता और प्रभावान्विति

भावोद्रेक एवं रसात्मकता महाकाव्य का एक प्रमुख तत्व है। पदमावत में मुख्य रूप से आद्यंत रति-भाव की व्यञ्जना हुई है, इसलिए इसमें श्रृंगार रस का प्राधान्य है। इसमें करुण, वीभत्स, वीर, शान्त प्रभृति रसों का भी समावेश है। इसके आरम्भ और अंत में शान्त रस का चित्रण हुआ है। इस काव्य के अन्त में करुण-प्लावित शान्त रस की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। जायसी ने अन्तिम दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है कि वहाँ निर्वेद ही निखार पा सका है। "अन्तिम दृश्य से अत्यंत शान्तिपूर्ण उदासीनता बरसती है। कवि की दृष्टि में मनुष्य-जीवन का सच्चा अन्त करुणा-क्रन्दन नहीं, पूर्ण शान्ति है। राजा के मरने पर रानियां केवल विलाप ही नहीं करती हैं, बल्कि इस लोक से अपना मुँह फेर कर दूसरे लोक की ओर दृष्टि किए आनन्द के साथ पति की चिता में बैठ जाती हैं। इस प्रकार कवि ने सारी कथा का शान्त रस में पर्यवसान किया है।"[१] इतना होने के बावजूद प्रेम और रति-भाव के प्राधान्य के कारण शुक्लजी[२] ने भी इसे श्रृंगार रस प्रधान काव्य माना है। डा० शम्भूनाथसिंह का कथन है कि "यदि जायसी का लक्ष्य लौकिक प्रेम-पंथ के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम-पंथ का निरूपण है और इसके लिए यदि उन्होंने प्रतीक और संकेत पद्धति-द्वारा-आध्यात्मिक प्रेम की स्पष्ट व्यंजना भी की है। तो उसमें रहस्यवाद की दृष्टि से श्रृंगार रस को नहीं, शान्त रस को ही प्रधान मानना पड़ेगा। अन्तिम दृश्य में जो रस व्यंजित होता है वह उसी अप्रस्तुत पक्ष के शान्त रस की अंतिम परिणति है। जिस तरह सूर, मीरा और कबीर श्रृंगारिक वर्णन शान्त रस के अंतर्गत माने जाते हैं उसी तरह पदमावत का समग्र प्रभाव शान्त रस समन्वित है, श्रृंगार रस वाला नहीं। अतः लौकिक कथा की दृष्टि से पदमावत में विप्रलम्भ श्रृंगार अंगी है और आध्यात्मिक दृष्टि से वह शान्त रस प्रधान काव्य है।"[३]

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रंथावली (भूमिका) पृ० ६८।

२—वही, पृ० ७१।

३—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, डा० शम्भूनाथ सिंह, पृ० ४७७।

ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जायगा कि जायसी ने कहीं-कहीं कथा के बीच में अवसर आने पर अलौकिक सत्ता की ओर संकेत किया है, पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि इसमें प्रस्तुत कथा ही गौड़ है। वस्तुत: रतनसेन और पद्मावती रानी की कहानी ही इसमें प्रधान है और इसमें शृंगार रस की ही प्रधानता है। इसमें शृंगार रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। संयोग और वियोग दोनों के सुन्दर चित्र पदमावत में दर्शनीय हैं। वियोग शृंगार के वर्णन में जायसी एक महान् कलाकार के रूप में पूर्ण सफल हैं। रतनसेन-नागमती, रतनसेन-पद्मावती को आलम्बन मानकर कवि ने संयोग शृंगार के कुछ चित्र उपस्थित किए हैं। षटऋतु वर्णन की योजना संयोग शृंगार के उद्दीपन के रूप में है। चित्तौड़ आने पर नागमती का मान और रतनसेन की मधुर भर्त्सना में संयोग शृंगार का ही सौंदर्य है। विवाह के अनंतर रतनसेन-पद्मावती-समागम का चित्र भी संयोग शृंगार का ही है।

विप्रलम्भ शृंगार में जायसी ने अपनी प्रतिभा का सुन्दर प्रयोग किया है। नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी विप्रलम्भ शृंगार की एक अनमोल निधि है। इस विरह वर्णन में गम्भीरता है और है विरह-व्यथा की सच्ची अनुभूति। पदमावत का बारहमासा वियोग शृंगार के उद्दीपन विभाव के रूप में वर्तमान है।

रतनसेन के चित्तौड़ से सिंहल की ओर विदा होते समय उसकी माता और अन्य रानियों का क्रन्दन एवं उनकी शोक-विह्वल दशा करुण रस के अन्तर्गत हैं। 'सिंहल से रतनसेन की विदाई' भी करुण-रस कारक सुन्दर स्थल है। लक्ष्मी समुद्र खंड में भयानक रस मिलता है। युद्ध के प्रसंगों में वीर रस की प्रधानता है। यद्यपि जायसी मुख्य रूप से शृंगार के कवि हैं, फिर भी पदमावत में अन्य रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। अलाउद्दीन के साथ युद्ध में गोरा की मृत्यु, तथा देवपाल के साथ रतनसेन की मृत्यु की घटनाओं में पाश्चात्य ढंग की निगति की अवस्था दिखाई पड़ती है और अन्त में नागमती-पदमावती का सती होना, स्त्रियों का जौहर, बादल की मृत्यु और चित्तौड़ पर अलाउद्दीन का अधिकार आदि घटनाओं में पाश्चात्य ढंग की अंतिम कार्यावस्था-अवसान का रूप दिखाई पड़ता है। इस तरह पदमावत का अंत पाश्चात्य महाकाव्य के ढंग का है उसमें पाश्चात्य नाटकों के ढंग की प्रभावान्वित मिलती है। इस प्रभावान्विति में पाश्चात्य काव्यों की तरह उद्वेग और अशान्ति मूलक तीव्रता और स्तब्ध कर देनेवाली वेदना नहीं है, बल्कि शान्तिपूर्ण गम्भीरता और चिरस्थायी निर्मलता और पवित्रता है, जो पाठकों के चित्त को अभिभूत कर उन्हें असाधारण भावलोक में पहुंचा देती हैं। इस तरह उसमें रसात्मकता के साथ गम्भीर प्रभावान्विति भी मिलती है।"[1]

१—डा० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४७८।

वस्तु–वर्णन

युग जीवन का एक सम्पूर्ण और जीवन्त चित्र उपस्थित करने के लिए महा-काव्य में जीवन के अनेक प्रसंगों और प्रकृति के विविध रूपों का विशद, कलात्मक और प्रभविष्णु वर्णन होता है । ये वर्णन-वैविध्य रसाभिव्यक्ति एवं भावोद्रेक के सहायक होकर आते हैं।

पदमावत में वस्तु-वर्णन के प्रसंगों में जायसी ने अपनी साधारण वर्णन-शक्ति का परिचय दिया है। सिंहल द्वीप, जलक्रीड़ा, सिंहलद्वीप-यात्रा, समुद्र, विवाह, युद्ध, नखशिख, आदि के माध्यम से जायसी ने पदमावत में विविध वस्तुओं के वर्णनों की योजना करते हुए अपने काव्य-कौशल का परिचय दिया है। सिंहलद्वीप वर्णन के अन्तर्गत अमराई, सरोवर, कुएं, नगर हाट, दुर्ग प्रभृत्ति वर्णनों का समावेश है। अमराई, सरोवर, नगर और दुर्ग के वर्णनों में पर्याप्त सजीवता और जीवन्तता है। सिंहल के पनघट का हुलसित वर्णन और वहां की पनिहारिनियों का विलसित सौन्दर्य जायसी की कवित्व शक्ति और वर्णन की कुशलता एवं सुन्दरता के परिचायक हैं। 'मानसरोदक खंड' में 'जल-क्रीड़ा' वर्णन के साथ ही पद्मिनी के रूप का अनुपम चित्रण किया गया है।

सरवर तीर पद्मिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकुलाई ॥
ससि-मुख अंग मलयगिरि बासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँपासा ॥
ओनई घटा परी जग छाहां। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहां ॥
छपि गै दिनहिं भानु के दसा। लेइ निसि नरवत चांद परगसा ॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महं चन्द देखावा [1] ॥

सात समुद्रों के काल्पनिक वर्णन भी मनोरम हैं। भीषणता, दुस्तरता, ताड़-पहाड़ की तरह लहरें आदि के चित्रण बन पड़े हैं। रत्नसेन-पदमावती के विवाह वर्णन के प्रसंग में हिन्दुओं में प्रचलित विवाह-पद्धति का सुन्दर वर्णन किया गया है।[2] युद्ध-वर्णन अत्यन्त जीवन्त हैं। सैनिकों का भिड़ना, शस्त्रों की झनकार, हाथी-घोड़ों की चिग्घाड़, शस्त्र-प्रहार, रुण्ड-मुण्ड का गिरना, रक्त-स्राव प्रभृति वर्णनों में पूर्णतः सजीवता वर्तमान है।

इस प्रकार पदमावत में वस्तु वर्णन का वैविध्य और विस्तार दिखाई पड़ता है। नगर, दुर्ग, यात्रा, मंत्रणा, जल-क्रीड़ा, दूत, युद्ध, पुत्रोदय, विवाह, विरह, संयोग, आदि के वर्णनों से एक युग का समग्र रूप चित्रित हो गया है। इन

१—जा० ग्रं० पदमावत, मानसरोदक, खंड दोहा ४ ।

२—शिवसहाय पाठक : पदमावत का काव्य–सौंदर्य, ।

वर्णनों में यद्यपि कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार लक्षित होता है, फिर भी इनसे कथा में रसात्मकता और सौन्दर्य की निष्पत्ति होती है।

महत्कार्य

भारतीय लक्षण ग्रन्थकारों के मतानुसार महाकाव्य का कार्य महत् होना चाहिये। पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि पदमावत में कार्य है 'पद्मावती का सती होना।'[१] रामकृष्ण शिलीमुख[२] का कथन है कि पदमावती की प्राप्ति ही कार्य है। डा० शम्भूनाथसिंह[३] का कथन है कि पदमावत, पृथ्वीराज–रासो या आल्ह खंड में 'महत्कार्य' ढूढ़ना बेकार है। उनका कथन है कि पदमावत में पाश्चात्य देशों के नाटकों की तरह 'कार्य-क्षय' या 'नायक का विनाश' दिखाया गया है।

यह स्पष्ट है कि जायसी का लक्ष्य है प्रेम-पंथ का निरूपण। दृश्यकाव्यों की ही भांति प्रबंध काव्य के विन्यास में भी 'कार्य' महत्वपूर्ण होता है। अरस्तू ने इसे 'युनिटी आव ऐक्शन' (कार्यान्वय) की संज्ञा दी है। शुक्लजी का कथन ठीक ही है कि 'पदमावत' का कार्य है पदमावती का सती होना। समस्त घटनायें और वृत्तान्त 'कार्य' तक पहुँचाने में सहायक हैं। इसी दृष्टि से हीरामन शुक और राघव चेतन का उतना ही वृत्त आया है, जितने का कार्य की ओर अग्रसर करने में योग है। पदमावत की समस्त घटनायें कार्य से सम्बद्ध हैं।

प्राचीन विद्वानों की यह मान्यता थी कि कार्य महत्वपूर्ण होना चाहिए। नैतिक, सामाजिक या धार्मिक प्रभाव की दृष्टि से कार्य बड़ा होना चाहिए, जैसा 'रामचरितमानस' में रावण का बध है और 'पदमावत' में पद्मिनी का सती होना। आधुनिक काव्य-मर्मज्ञ यह बात नहीं मानते। आर्नल्ड ने प्राचीन आदर्श का समर्थन किया है। जो हो, जायसी का भी यही आदर्श है। उन्होंने अपने कार्य के लिए महत्कार्य चुना है जिसका आयोजन करने वाली घटनाएं भी बड़े डीलडौल की हैं, जैसे बड़े-बड़े कुंवरों और सरदारों की तैयारी, राजाओं और बादशाहों की लड़ाई इत्यादि। इसी प्रकार दृश्य वर्णन भी ऐसे आते हैं, जैसे गढ़, वाटिका, राजसभा, राजसी भोज और उत्सव आदि के वर्णन।[४]

१–पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० ७३–७४।

२–रामकृष्ण शिलीमुख : सुकवि–समीक्षा, पृ० ७१ (हिन्दी महाकाव्यों के स्वरूप-विकास में उद्धृत)।

३–डा० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप–विकास, पृ० ४३५।

४–पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ७४–७५।

उदात्त भाषाशैली

महाकाव्य में भाषा-शैली की गरिमा आवश्यक है। महान् विषय के प्रतिपादन और उदात्त भावों की उत्कृष्ट व्यंजना के लिए महाकाव्य की भाषा और शिल्प–विधान में भी गरिमा आवश्यक है। विद्वानों का कथन है कि 'पदमावत' में महाकाव्यों (संस्कृत के) चरित काव्यों (अपभ्रंश के) और मसनवी काव्यों के तत्वों का सुन्दर समावेश हुआ है। इसीलिए पदमावत की शैली में इन तीनों प्रकार के काव्यों की गरिमामयी शैली के दर्शन होते हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है कि पदमावत में खंडों या सर्गों का विभाजन नहीं है। कथा आद्यन्त धारा-प्रवाह रूप में लिखी गई है। इसी कारण यदि कोई कहे कि पदमावत सर्ग बन्ध रचना नहीं है, तो यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि पदमावत की अनेक प्राचीन प्रतियों में कथा को खंडों में विभाजित किया गया है। ग्रियर्सन, शुक्लजी, डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल आदि विद्वानों ने अपने संस्करणों में भी खण्डों की व्यवस्था की है, और जब तक कोई अत्यन्त प्राचीन, कवि की समसामयिक या उसकी मूलप्रति नहीं मिलती, जिसमें 'खंड' विधान न हो तब तक यह बात स्वीकार्य नहीं है। दूसरे प्राकृत अपभ्रंश में बिना खण्ड-विधान या सर्ग विधान के भी प्रबन्ध काव्य लिखे गए हैं। तीसरे यदि सर्गबद्धता महाकाव्य का स्थिर और अन्तरिक लक्षण नहीं है। अत: 'खंड' —विभाजन न होने पर भी पदमावत के महाकाव्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित होती। अन्य वाह्य लक्षणों में प्रारम्भ में नामस्क्रिया, आशीर्वचन वस्तु-निर्देश आदि के विधान पदमावत में मिलते हैं। गउड़बहो की भांति इसका भी मंगलाचरण बहुत लंबा है। समासोक्ति, प्रतीक, संकेत और रोमांचक शैलीजन्य सौन्दर्य पदमावत में दर्शनीय हैं। पदमावत की भाषा ठेठ अवधी है। उसमें बीच-बीच में पुराने अपभ्रंश-प्रयोग भी मिलते हैं। उसमें सर्वत्र व्याकरण-समस्त ठेठ अवधी भाषा का निराला माधुर्य भरा हुआ है। मुहावरे, सूक्तियां–लोकोक्तियां कहावतें उसके सौन्दर्य–वर्द्धन के लिए अत्यन्त स्वाभाविक रूप में सुप्रयुक्त हैं। जायसी की भाषा भावाभिव्यंजना में सर्वत्र पूर्णत: समर्थ, स्वाभाविक और सरस है।

पदमावत में आद्यंत दोहा–चौपाई की कड़बक पद्धति अपनाई गई है। अपभ्रंश के अनेक चरित काव्यों में भी इसी प्रकार की कड़बक-पद्धति के दर्शन होते हैं। पदमावत में जायसी ने प्रत्येक कड़बक में सात अर्द्धालियां साढ़े तीन चौपाइयां रखी हैं—उन्होंने सभी कड़बकों में चौपाई छन्द का और कड़बकात में घत्ता रूप में दोहा छंद का प्रयोग किया है।

पदमावत में कहने की शैली अत्यन्त अकृत्रिम, प्रवाहपूर्ण, सरस और प्रभविष्णु है। "अत: सरल किन्तु गंभीर, सहज किन्तु उदात्त, माधुर्यपूर्ण किन्तु गरिमा-

मयी शैली के प्रयोग की दृष्टि से पदमावत हिन्दी में अपने ढंग का सर्वश्रेष्ठ महा-काव्य है।"[१]

महान् उद्देश्य

महाकाव्य के निर्माण के मूल में महान् उद्देश्य का होना आवश्यक है। 'चतुर्वर्ग' में से किसी एक की प्राप्ति को भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य का उद्देश्य स्वीकार किया है। आत्म-परिष्कार और मानव–जीवन का उत्थान भी महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य माना गया है सत् की असत् पर न्याय की अन्याय पर, पुण्य की पाप पर विजय का चित्रण करता हुआ महाकाव्यकार 'शिवम्' 'लोकमंगल' को ही साध्य मानता है।

डा० शम्भूनाथ सिंह का विचार है कि पदमावत के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उसका उद्देश्य महान् है। "वह कवि की महती काव्य-प्रतिभा से पुष्ट होकर इस काव्य को हिन्दी के अन्य सभी प्रबन्ध काव्यों से भिन्न एक निराले और उच्च पद पर बिठा देता है। काम मोक्ष की प्राप्ति उसका उद्देश्य है। यह अवश्य है कि पदमावत का कवि लौकिक प्रेम कथा के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अनुभूति का आभास भी देता चलता है। अत: मोक्ष-प्राप्ति ही पदमावत का प्रधान फल है। – – अत: अप्रत्यक्षत: पदमावत का फल मोक्ष है।"[२] भले ही अप्रत्यक्ष रूप से पदमावत का उद्देश्य मोक्ष हो, पर जायसी ने प्रत्यक्ष रूप से 'काम' की ही प्रतिपादना की है सिद्धान्त- प्रतिपादन, आध्यात्मिकता आदि की बातें पदमावत में मिल सकती हैं, पर है वह काव्य-ग्रन्थ-श्रृंगार–प्रधान ग्रन्थ–जिसमें मुख्य रूप से काम ही साध्य है।

व्यावहारिक और कलात्मक दृष्टिकोणों से देखने पर भी पदमावत का उद्देश्य महान् दिखाई पड़ता है। "पदमावत में मानवता के उस सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया गया है, जो प्रेम, उदारता, त्याग, साहस, सहिष्णुता और बलिदान की व्यापक भूमिका पर प्रतिष्ठित है। अत: उसका उद्देश्य व्यापक और उदार मान-वता का प्रसार और मानव-हृदय का विस्तार और परिष्कार करना है। मनुष्य इस काव्य-सरोवर में स्नान करके स्वाभाविक और विशुद्ध मानव बनकर निकलता है। उसका हृदय कोमल उदार और प्रशस्त बन गया रहता है।" शुक्लजी का कथन है कि "एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है, जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप-रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव

१—डा० शम्भूनाथसिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४७६।
२—वही, पृ० ४२६।

करने लगता है। "जायसी ने अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसी गुप्त तार को झंकृत करके मनुष्यमात्र[१] के, चाहे वह जिस जाति, धर्म या वर्ग का हो हृदय को जागृत और प्रेम-प्लावित करने का प्रयत्न किया है।

इस उद्देश्य के लिये उन्होंने मानव की रागात्मिका वृत्ति—काम-को व्यापक अर्थों में गृहीत किया है। इसी के माध्यम से जायसी ने प्रत्यक्ष-जीवन की एकता का दृश्य उपस्थित किया। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान के बीच की दूरी को स्नेहामृत से भर कर एकत्व की प्रतिष्ठा की है। इसीलिये जायसी के अध्यात्मवाद के अन्तराल में उदार और प्रेम-प्रवण मानवतावाद की सरस्वती प्रवाहित हो रही है। इस प्रकार मानवतावाद की प्रतिष्ठा-जाति, धर्म आदि की कृत्रिम दीवालों को तोड़ कर मानव मात्र को एक सूत्र में बांधना ही पदमावत का उद्देश्य है और जायसी अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में पूर्ण सफल हुए हैं।

महती प्रतिभा, मार्मिक प्रसंगों की सृष्टि एवं तज्जन्य गांभीर्य

महती प्रतिभा-संपन्न कवि जब किसी महत्शक्तिमयी प्रेरणा से उद्वेलित और अभिभूत होता है तो वह महाकाव्य की सर्जना में प्रवृत्त होता है। महाकवि मार्मिक स्थलों का सुन्दर विधान करता चलता है। वह जीवन के मर्मस्पर्शी प्रसंगों का पारखी होता है। ये मर्मस्पर्शी चित्रण मानव हृदय की रागात्मिका वृत्ति को जागृत कर देते हैं। महाकवि के प्रबन्ध रस से नीरस पद्यों में भी रसवत्त आ जाती है—

> रसवत्पद्यान्तर्गत नीरस पदानामिव पद्यरसेन प्रबन्ध सेनैवतेषां
> रसवत्ताङ्गीकारात।[२]

पदमावत के घटनाचक्र के अन्तर्गत ऐसे स्थलों का पूरा सन्निवेश है, जो मानव की रागात्मिका वृत्ति को उद्बोधित कर देते हैं, उसके हृदय को भाव-मग्न कर देते हैं। जायसी ने वस्तु–वर्णन के रूप में और पात्र द्वारा भाव-व्यंजना के रूप में इन प्रसंगों को कथा-प्रवाह के बीच रखा है। वस्तुतः कथावस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने के लिए होती है। पदमावत में ऐसे स्थल अनेक हैं जैसे मायके में कुमारियों की स्वच्छंद क्रीड़ा, रत्नसेन के प्रस्थान पर नागमती आदि का शोक, प्रेम-मार्ग के कष्ट, रत्नसेन को शूली की व्यवस्था, उस दण्ड के संवाद से विप्रलंभ की दशा में पदमावती की करुण सहानुभूति, रत्नसेन और पदमावती का संयोग, सिंहल से लौटते समय सामुद्रिक दुर्घटना से दोनों की विह्वल स्थिति,

---

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल : जा० ग्रं० भूमिका, पृष्ठ २।
२—विश्वनाथ : साहित्य-दर्पण।

नागमती की विरह-दशा, वियोग–संदेश, रत्नसेन की प्रणय-स्थिति अलाउद्दीन के संदेश पर रत्नसेन का गौरवपूर्ण रोष और युद्धोत्साह, गोरा बादल की स्वामिभक्ति और क्षत्रतेज से भरी प्रतिज्ञा, अपनी सजल नेत्रा भोली भाली वधू की ओर वे पीठ फेर कर बादल का युद्ध के लिए प्रस्थान, देवपाल की दूनी के आने पर पद्मावती द्वारा सतीत्व गौरव की अपूर्व व्यंजना, पद्मावती और नागमती का उत्साहपूर्ण सहगमन, चित्तौर की दशा आदि। इनमें से पांच स्थल तो बहुत ही अगाध और गम्भीर हैं। नागमती-वियोग, गोरा-बादल-प्रतिज्ञा, कुंवर बादल का घर से निकल कर युद्ध के लिए प्रस्थान, दूती के निकट पद्मावती द्वारा सतीत्व-गौरव की व्यंजना और सहगमन। ये पांचों ग्रंथ के उत्तरार्द्ध में हैं। पूर्वार्द्ध में तो प्रेम ही प्रेम है, मानव जीवन की और उदात्त वृत्तियों का जो कुछ समावेश है, वह उत्तरार्द्ध में है।[१] ये प्रसंग अत्यन्त मार्मिक, सरस और प्रभविष्णु हैं।

सचमुच जायसी की प्रतिभा महनीय थी। उन्होंने ब्रह्म, जीव और संसार की गुत्थी को सुलझाने के लिए जिस जीवन्त कथानक की कल्पना की है और उसमें अत्यन्त मर्मस्पर्शी स्थलों का चुनाव करके हृदय का समग्र रस निचोड़ कर जिस प्रकार अपने काव्य को आकर्षक और रसमय बना दिया है और साथ ही लौकिक शक्ति की अनुभूति को उन्होंने जिस कुशलता से ऊर्ध्वगामी बनाकर आध्यात्मिक जगत की ओर अग्रसर किया है, वैसा सामान्य प्रतिभा वाला कवि नहीं कर सकता है। काव्य-रचना का उद्देश्य तो कुतबन, मंझन, उसमान आदि सबका वही था जो जायसी का था, किन्तु उन कवियों में जायसी जैसी स्वाभाविक और शक्तिमती काव्य-प्रतिभा नहीं थी। जायसी की काव्य-प्रतिभा के दर्शन सबसे अधिक पदमावत के रूप-सौंदर्य और विरह की मनोदशाओं के वर्णन में होते हैं। जिनमें उन्होंने परम सत्य के चिरंतन, अनन्त और अनिर्वचनीय सौन्दर्य को मानव–जगत में प्रतिबिम्बित करके भी उसकी विराटता और अनन्तता को नष्ट नहीं होने दिया, साथ ही उस अनिर्वचनीय वर्ण्यवस्तु की आभा को पूर्णतः झलका भी दिया है। समासोक्ति एवं प्रतीकात्मक शैली की अभिव्यक्ति विराट् काव्य चेतना की ही देन हो सकती है।

पदमावत में प्रेम, उत्साह, वैराग्य, शोक, करुणा, भक्ति, भय आदि स्थायी भावों की गम्भीर अभिव्यंजना हुई है। क्या वैविध्यपूर्ण मनोदशाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति और क्या अनुभूतियों की सच्चाई–गहराई, क्या अभिव्यक्ति की मर्मस्पर्शिता और क्या तीव्रता–प्रभविष्णुता, क्या प्रेम-प्लावित भाव और क्या तीव्र सौन्दर्य-चेतना की विराट्ता–प्रातिभासिकता, क्या दार्शनिक-आध्यात्मिक अनुभूतिजन्य गुरुत्व और क्या उदाराशयता–समन्वयात्मकता, क्या कथा की लौकिकता और क्या

१–पं० रामचन्द्र शुक्ल ; जा० ग्रं०, भूमिका, पृ० ६९-७०।

समासोक्ति-पद्धतिजन्य आध्यात्मिकता—गूढ़ता, क्या परमसत्ता के दर्शन के लिये व्याकुलता और क्या तड़पन-जन्य प्राणशक्ति—मार्मिक अनुभूति और प्रियतम के प्रर्शन इत्यादि महान् तत्वों ने पदमावत में गुरुता—गम्भीरता और महाकाव्य के उपयुक्त महत्ता की प्राण-प्रतिष्ठा की है।

सूफी विद्वान् और सन्त पदमावत का आदर पुराण[1] की भाँति करते रहे हैं। सोलहवीं शताब्दी से ही विविध भाषाओं में इसका अनुवाद होने लगा था। इसकी अनेकानेक प्रतियां फारसी, अरबी, उर्दू, नागरी आदि में लिखी गईं। इस ग्रंथ के अनेक संस्करण भी प्रकाशित हुए हैं। इसकी अनेक टीकायें भी लिखी गईं हैं। इन बातों से स्पष्ट है कि 'व्यापक प्रभाव ओर लोकप्रियता की दृष्टि से भी देखने से रामचरितमानस के बाद पदमावत का ही नाम आता है।

महाकाव्य की अमरता उसकी आन्तरिक प्राणशक्ति, सशक्त प्राणवत्ता और अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति के कारण भी होती है। गम्भीर जीवनदर्शन, मौलिकता महान् उदार-सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक प्रेम-सन्देश, लोक-प्रवृत्तियों का अन्तः स्पन्दन, लोकभाषा का पूर्ण निखार, लोकमंगल की भावना, आध्यात्मिक साधना, मानवतावाद आदि ने पदमावत में एक महान् जीवन-दर्शन और सशक्त प्राणवत्ता का उपस्थापन किया है। उस युग की साधना का शाश्वत अमर संदेश पदमावत में मूर्तिमान है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—

"जीवन के अनेक स्वरूपों और उनकी अनेक स्थितियों को महाकाव्य में स्थान मिलता है। चरित्रों के विभिन्न आदर्श उसमें रहा करते हैं। कहाकाव्यों में स्वभावतः वस्तु-चित्रण की प्रधानता होती है। प्रकृति के सौंदर्य का वर्णन भी वस्तु रूप में ही होता है।"[2]

इन बातों का उल्लेख करते हुए आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि "परम्परागत महाकाव्यों के लक्षणों की पूर्ति न करने पर भी कामायनी को नये युग का प्रतिनिधि काव्य कहने में कोई हिचक नहीं होती।"[3]

यही बात थोड़े से परिवर्तन के साथ हम पदमावत के लिए भी कह सकते हैं कि पदमावत में महाकाव्य के कतिपय परम्परागत लक्षण भले ही न मिलें, फिर भी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि पदमावत हिन्दी के श्रेष्ठतम महाकाव्यों में हैं।

१—पदुमावति, सं० ग्रियर्सन और सुधाकर द्विवेदी (रा० ए० सो० संस्करण भाग १) टीका पृष्ठ २

२—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य पृष्ठ ७८

३— " " पृष्ठ ८०

६

चरित्र रचना

"प्रबन्ध काव्य में स्वभाव की व्यंजना पात्रों के वचन और कर्म द्वारा ही होती है। उनके स्वगत भावों और विचारों का उल्लेख बहुत कम मिलता है। पद्‌मावत में प्रबन्ध के आदि से लेकर अन्त तक चलने वाले तीन पात्र मिलते हैं– मद्‌मावती, रत्नसेन और नागमती। इनमें से किसी के चरित्र में कोई ऐसी व्यक्तिगत विशेषता कवि ने नहीं रखी है जिसे पकड़ कर हम इस बात का विचार करें कि उस विशेषता का निर्वाह अनेक अवसरों पर हुआ है या नहीं। इन्हें हम प्रेमी और पति-पत्नी के रूप में ही देखते हैं। हम इन्हें अपनी किसी व्यक्तिगत विशेषता का परिचय देते नहीं पाते। अत: इनके सम्बन्ध में चरित्र-निर्वाह का एक प्रकार से प्रश्न ही नहीं रह जाता।"[१]

इसके साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त तीनों पात्र प्रेम के विविध आयामों के प्रतीक हैं। तीनों प्रेममय हैं और तीनों के रूप-शील का अत्यन्त आकर्षक और भव्यतम विन्दु प्रेम है। तीनों का सम्पूर्ण कार्य कलाप प्रेम से ही परिचालित है। इसी महत् वैशिष्ट्य का जायसी ने इस काव्य में पूर्णत: निर्वाह और अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से विकास भी किया है।

पदमावत का चरित्र विधान

सूफी साधना में प्रेम ही सब कुछ है। हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों के प्रेमियों के चरित्र का विकास इसी पृष्ठभूमि में हुआ है। प्राय: सभी नायक प्रेम-साधना में लीन चित्रित किये गये हैं।

पदमावत के चरित्र-विधान या स्वभाव-चित्रण को अध्ययन की सुविधा के लिए पांच रूपों में विभक्त किया जा सकता है–

(१) आदर्श रूप में,

१–पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली। (भूमिका), पृ० १२०

(२) जाति–स्वभाव के रूप में,
(३) व्यक्ति–स्वभाव के रूप में,
(४) सामान्य स्वभाव के रूप में,
(५) प्रतीक के रूप में और अलौकिक स्वभाव के रूप में ।

जायसी का प्रतिपाद्य था प्रेम का वह उत्कर्ष दिखाना, जिसके द्वारा साधक अपने अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त कर सकता है । रत्नसेन एक उत्कृष्ट प्रेमी के रूप में चित्रित है । वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए राज-पाट सुख-भोग किंबहुना अपना सर्वस्व त्याग देने को प्रस्तुत है । वह प्रेम-पंथ का सच्चा पथिक है । प्रेम-पंथ पर चलते हुए वह युद्ध पसन्द नहीं करता । साथी राजकुमारों के आग्रह करने पर भी वह गन्धर्वसेन की सेना से लड़ना नहीं चाहता, पर अलाउद्दीन का पत्र पाकर वह युद्ध के उत्साह से भर उठता है । पदमावती एक आदर्श प्रेयसि है । 'प्रियतम को शूली का दण्ड मिला है' इस समाचार को सुनकर वह उसी के साथ प्राण-त्याग करने को बद्ध परिकर है (जियँ तजियौं मरौं ओहि साथा) । चित्तौर आगमन और उसके पश्चात् भी वह एक त्यागमूर्ति प्रेयसि के रूप में चित्रित है, किन्तु उसमें भी सपत्नी के प्रति ईर्ष्या की प्रबल वृत्ति है । उसके रूप, शील और चरित्र के द्वारा जायसी ने एक अलौकिक चरित्र की भी सृष्टि की है । इसी प्रकार नागमती को ही लें, तो स्पष्ट हो जाता है कि 'आदर्श रूप में, प्रतिप्राणा भारतीय गृहिणी है । पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि सामान्य स्वभाव के रूप में चरित्र-विधान तो चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत नहीं, वह सामान्य प्रकृति वर्णन के अन्तर्गत है, जिसे पुराने ढंग के आलंकारिक स्वभावोक्ति कहेंगे । आदर्श चित्रण के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की यह है कि जायसी का आदर्श चित्रण एक देशव्यापी है । तुलसीदास जी की तरह सर्वाङ्गपूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है । रत्नसेन प्रेम का आदर्श है, गोरा बादल वीरता के आदर्श हैं, पर एक साथ ही शक्ति वीरता, दया, क्षमा, शील, सौंदर्य और विनय इत्यादि सबका कोई एक आदर्श जायसी के पात्रों में नहीं है । गोस्वामी जी का लक्ष्य था मनुष्यत्व के सर्वतोमुख उत्कर्ष द्वारा भगवान् के लोक-पालक–स्वरूप का आभास देना । जायसी का लक्ष्य था प्रेम का वह उत्कर्ष दिखाना जिसके द्वारा साधक अपने विशेष अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त कर सकता है ।''[१] पदमावत में आदि से लेकर अन्त तक चलने वाले तीन ही पात्र हैं रत्नसेन, पद्मावती और नागमती । पद्मावत के चरित्र-चित्रण पर प्रकाश डालते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है 'पात्रों का चरित्र-चित्रण हिन्दू जीवन के आदर्शों से पूर्ण सामंजस्य रखता है । रत्नसेन में प्रेम का आदर्श है । वह

१–पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० १२१ ।

सम्पूर्ण रूप के धीरोदात्त दक्षिण नायक है। धीरोदात्त नायक में जितने गुण होने चाहिए वे सभी गुण रत्नसेन में हैं। पद्मावती स्त्री–धर्म की मर्यादा में दृढ़ और प्रेम करने वाली है। नागमती भी प्रेम के आदर्श में दृढ़ है, 'मोहिं भोग सों काज न बारी। सौंह दीठि का चाखनहारी॥'' में उसका उत्कृष्ट नारीत्व निहित है। – – सतोगुणी और तमोगुणी दोनों वर्गों के पात्रों में युद्ध होता है और अन्त में सतोगुण की विजय होती है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में हिन्दू संस्कृति का प्रभाव पूर्ण रीति से है।[1] पदमावत का एक बहुत बड़ा महत्व पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण में है।

रत्नसेन

हिन्दी सूफी काव्यों के नायकों में प्रेम के वे सभी लक्षण पाए जाते हैं जिन्हें सूफी साधकों के लिए आवश्यक कहा जाता है। इनमें सौन्दर्य के प्रति तीव्र आकर्षण है। उनका प्रेम ईश्वर–प्रदत्त है। ये नायक धीर हैं, गंभीर हैं, सहिष्णु हैं, त्यागी हैं, भोगी–योगी हैं, तपस्वी और उत्साही हैं, प्रेम के असीम आनन्द ही उन्हें कर्म-पथ पर आगे बढ़ाता है।

जायसी ने रत्नसेन से चरित्रांकन में आदर्श प्रतिष्ठापक व्यवहारों का ही प्राधान्य दिखाया है। वह एक गहरे सच्चे प्रेमपंथ का आदर्श पथिक है। महाकवि रत्नसेन के माध्यम से पदमावत में प्रेम की साधनावस्था का भी प्रवेश किया है। सूफी प्रेमाख्यानों के नायक प्रेम में अपने गृहस्थ जीवन में रुचि नहीं लेते, वे अपनी विवाहिताओं की उपेक्षा करते हैं, किन्तु तभी तक जब तक कि उनकी प्रेयसी प्राप्त नहीं हो जाती। पश्चात् वे पूर्व-विवाहिता की उपेक्षा नहीं करते।

रत्नसेन हीरामन सुआ से पद्मावती के अप्रितम रूप का गुणगान सुनकर उसकी प्राप्ति के लिए चल पड़ा। उसने राज–पाट, घर–द्वार सब कुछ छोड़ दिया। वह जोगी वेश में चल पड़ा। चित्तौड़ में करुणा-क्रन्दन मच गया। माता व्यर्थ रोती–कलपती रह गई। पतिप्राणा रानियां बालों को नोंच कर खलिहान करती रह गईं पर रत्नसेन न रुका। उसके हृदय-प्रदेश को तो पद्मावती की प्रेमधारा ने आप्लावित कर दिया था। उसे ज्ञात था कि प्रेम-पंथ तो असिधार है, मझधार का संघर्ष है, वह जानता था कि उसका लक्ष्य सात सागर पार है, उसे पाना अत्यन्त साधना का काम है, किन्तु वह यह भी जानता था कि प्रेम–साधना की राह में शूल भी फूल हो जाते हैं 'क्लेष: फलेन हि पुनर्वतां बिधते' की चरितार्थता होती है। वह साधना के पथ पर चलता है, कहीं भी विचलित नहीं होता। वह अपनी प्रेयसि में ही ईश्वरीय सौंदर्य के दर्शन करता है।

१—डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३१७।

कुछ लोग इस बात को धार्मिक और नैतिक दृष्टकोणों से आंकते हुए रत्नसेन के कार्य को निन्दनीय कहते हैं। उनका कथन है कि अपनी विवाहिता पत्नी का परित्याग, घर–द्वार छोड़कर सात सागर पार पराई स्त्री के लिए जोगी बनना, सिंहल गढ़ के भीतर चोरों की तरह सेंध देना प्रभृति बातें लोक दृष्टि से निन्द्य हैं। "बात–बात में सदाचार का दम्भ भरने वाले तो इसे 'बहुत बुरी बात' कहेंगे। पर प्रेम–मार्ग की नीति जानने वाले चोरी से गढ़ में घुसने वाले (साधक) रत्नसेन को कभी चोर न कहेंगे। वे इस बात का विचार करेंगे कि वह प्रेम के लक्ष्य से कहीं च्युत तो नहीं हुआ। उनकी व्यवस्था के अनुसार रत्नसेन का आचरण तब निंदनीय होता, जब वह अप्सरा के वेश से आई हुई पार्वती और लक्ष्मी के रूप-जाल और बातों में फंस कर मार्गभ्रष्ट हो जाता। पर उस परीक्षा में वह पूरा उतरा।"[१] मृत्यु की चिन्ता भी उन्हें डिगा नहीं पाती। "पदमावती का पिता गन्धर्वसेन रतनसेन को शूली पर चढ़ाने की आज्ञा देता है। रत्नसेन विचलित न होकर उसी प्रकार हँसता रहता है जिस प्रकार सूली पर चढ़ते हुए मंसूर प्रसन्न था।"[२] वह तो पद्मावती के प्रेम में सूली का भी हँसते-हँसते स्वागत करता है —

"जाकर जीव मरै हर बसा। सूरी देख सो कस नहिं हंसा॥
आजु नेह सोंहोइ तवेरा। आजु पुहुमि तजि गगन बसेरा॥"

इस स्थल पर करणीय–अकरणीय और रत्नसेन के स्वभाव की दुर्बलता के प्रश्न उठाए जा सकते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रेम की साधनावस्था में ये कार्य उसके शील में परम भूषण हैं। स्पष्ट है कि वह अद्भुत साहसी और कष्ट सहिष्णुता उसका सम्बल है, अनुराग उसकी निधि है और प्रेम-जन्य विराग उसका साधक, रानियों का रोना और सात सागर पंथ के प्रत्यूह हैं। यह अवश्य है कि वह पद्मावती के लिए अधीर हो उठता है, स्वयं को भिखारी बताता है, इष्ट के लिए दुराग्रह करता है चोरी करता है, सेंध लगाता है। प्रेम–जन्य होने के कारण ये सब वस्तुयें उसके शील में दूषण रूप में नहीं, अपितु भूषण रूप में आई हैं। उसके लिए पद्मावती एक सामान्य नारी नहीं है। वह उसमें विराट सत्ता का दर्शन करता है। वह उसके रक्त की बूंद–बूंद में बसी हुई है, रोम-रोम में बसी हुई है, हाड़-हाड़ में उसी का शब्द है, नस-नस के उसकी ध्वनि है।" रत्नसेन – पद्मावती का संयोग भी विवाह के अनंतर ही होता है। इस प्रकार जायसी ने स्वथ्य सामाजिक प्रेम का चित्रण किया है। चन्दायन की तरह पर-पत्नी उढ़ारने का उन्होंने चित्रण कहीं नहीं किया है।

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी–ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० १२२–२३।
२—जा० ग्रं० ना०प्र० स० काशी। जस मारै कहँ बाजातूरु। सूरी देखि हँसा मंसूरू॥"

यह एक प्रकार की लोक-धारणा और उपदेश की बात है कि बहुत अधिक सम्पत्ति के समक्ष बड़े-बड़े त्यागियों को भी लोभ हो जाता है और इसीलिए सिंहल द्वीप से लौटते समय का रत्नसेन का अर्थलोभ उसके व्यक्तिगत स्वभाव के अंतर्गत नहीं आता।

जाति–स्वभाव के रूप में रत्नसेन एक क्षत्रिय वीर के रूप में उपस्थित होता है। उसका स्वभाव उग्र है और संकल्प अत्यन्त दृढ़। अपने लक्ष्य के लिए प्राणों की बाजी लगाकर सात समुद्र पार जाना उसके प्रेम और आदर्श स्वभाव के साथ जाति स्वभाव का परिचय क्षत्रिय होने के नाते अभिमान एवं पौरुष से उसका व्यक्तित्व ओत–प्रोत है। राघव चेतन से पद्मावती की रूप-चर्चा सुनकर अला-उद्दीन से रत्नसेन के पास पद्मावती के लिए दूत भेजा – उस समय उसके मुख से नि:सृत वाक्य उसके संस्कार और जातीय अभिमान को अत्यन्त गौरव एवं ओज-पर्ण शब्दों में व्यक्त करते हैं —

"सुनि अस लिखा उठा जरि राजा। जानहु देव तरपि घन गाजा ।।
भलेहिं साह पुहुमी पति भारी। मांग न कोउ पुरुष कै नारी ।।
को मोहिं तें अस सूर अपारा। चढ़ै सरग, खसि परै पतारा ।।
हौं रनथंभउर नाह हमीरू । कलपि माथ जेइ दीन्ह सरीरू ।।
हौं तौ रतनसेन सक–बंधी । राहु वेधि जीती सैरिंधी ।।
हनिवंत सरिस भारु मैं कांधा। राधौं सरिस समुद हठि बांधा ।।
बिक्रम सरिस कीन्ह जेइँ साका। सिंहलदीप लीन्ह जौं ताका ।।
ताहि सिंघ कै गहै कौ मोछा । जौं अस लिखा होइ नहिं ओछा ।।

— — — — — —

तुरुक, जाइ कहु मरै न धाई । होइहि इसकंदर कै नाई ।।

— — — — — —

महूँ समुझि अस अगुमन, संचि राखा गढ़ साजु ।।
कालिह होइ जेहि वना, सो चढ़ि आबौ आजु ।।"[१]

रत्नसेन ने अलाउद्दीन के दूत को जो उपर्युक्त उत्तर दिया था, वह उसके चरित्र पर अधिक तीव्र आलोक डालता है। इस प्रकार के अनेक कथोपकथनों के विधान द्वारा जायसी ने रत्नसेन के स्वभाव का उद्घाटन किया है।

दिल्ली से लौटने के अनन्तर देवपाल की दुष्टता और दूती की करतूत की

१–पदमावत (बादशाह - चढ़ाई - खण्ड), दोहा १, ३, ५ (४९१–४९३) (सं० डा० अग्रवाल) पृ० ५१०—११।

बातें पद्मिनी से सुनकर वह क्रोधाभिभूत हो उठा। वह प्रातः ही देवपाल को बन्दी बनाने की प्रतिज्ञा करके कुंभलनेर पर टूट पड़ता है। पेट में सांग घुस जाने पर भी देवपाल पर सांघातिक आक्रमण करके उसे मार कर बांध लेता है। प्रतिकार की यह प्रबल वासना राजपूतों का जातिगत लक्षण है।[1]

रत्नसेन के चरित्र की व्यक्तिगत विशेषतायें भी अनेक स्थलों पर मिलती हैं। गोरा-बादल उसे चेतावनी देते हैं, किन्तु वह अलाउद्दीन के कपटाचार पर शंका नहीं करता, वह उसके साथ गढ़ के बाहर पहुँचाने चला जाता है। दूसरे पर छल का सन्देह न करने से राजा के हृदय की उदारता तथा सरलता तथा नीति की दृष्टि से अपनी रक्षा का पूरा ध्यान न रखने में अदूरदर्शिता, प्रकट होती है। वह व्यक्तिगत रूप से दोनों पत्नियों से समान प्रेम करता है। सिंहल में पक्षी से नागमती का सन्देश पाकर चित्तौड़ जाने के लिए वह गन्धर्वसेन से झूठ बोलता है।

रत्नसेन का व्यक्तित्व एक साधक का व्यक्तित्व है। कहीं वह अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है और कहीं ब्रह्मसाधना में लीन–

'चला भुगुति मांगै कहं, साजि कयातप जोग।
सिद्धि होउं पद्मावति पाएं, हिरदय जेहिं क वियोग॥

ये 'सिद्ध' और 'वियोग' विशिष्ट अभिप्राय व्यंजक शब्दों के रूप में प्रयुक्त हैं। रत्नसेन काया है और पदमावती जीव है – दोनों अभिन्न हैं –"अब तुम जीव कया वह जोगी। कया करोग जीव पै रोगी।"[2]

सरग सीस धर धरती हिया सो प्रेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लै लै उठहिं सो बुंद॥

रत्नसेन पदमावती का भिखारी है, क्योंकि ईश्वरीय रूप उसमें अभि- व्यक्त है।

रत्नसेन के व्यक्तित्व के इस आध्यात्मिक या साधनात्मक पहलू की ओर भी कवि ने समासोक्ति पद्धति से अनेक स्थलों पर इंगित किया है।

योगी रूप में संकटों की परवाह न करने में, सच्चे साधक के रूप में, युद्ध-कला – प्रवीण रूप में, स्वच्छ निष्कपट हृदय वाले व्यक्ति के रूप में, क्षत्रियोचित गौरवशाली रूप में एवं सर्वोपरि आदर्श प्रेमी के रूप में उसके स्वभाव में निष्ठा, त्याग, लगन, उदात्तता और आत्म बलिदान प्रभृति आकर्षण के केन्द्र हैं।

पद्मावती

पदमावती का चरित्र-विधान-रूप और शील–पदमावत में अत्यन्त विशद रूप में चित्रित हुआ है। प्रधान नायिका होने से उसके चरित्र में भी आदर्श का ही प्राधान्य

१–पं० रामचन्द्र शुक्ल, जा० ग्रं०, पृ० १२४।
२–जा० ग्रं० हि० एके०, २५६।

न्य है। मूलत: उसके रूप और शील के दो आशय हैं–

(१) लौकिक और (२) अलौकिक।

पद्मावती पदमावत में केन्द्र स्वरूपा है। इसी का आश्रय लेकर समस्त घटनाओं का स्रोत फूटा है। वह सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की राजकुमारी है। चित्तौड़ आगमन के पूर्व एक सच्ची और आदर्श प्रेमिका के रूप में चित्रित हुई है। वह एक आदर्श निष्ठामयी सुदृढ़ प्रेमिका और व्यवहार कुशल नायिका है। 'रत्नसेन के लिए सूली की आज्ञा' की सूचना पाकर वह व्याकुल हो उठती है। अपने प्रियतम के ही साथ वह प्राण त्याग देने को उद्यत है।

'काढ़ि प्रान बैठों लेइ हाथा। मरे तो मरों जियौं एक साथा॥"

प्रारम्भ में वह कुछ कठोर अवश्य थी, पर जब उसे रत्नसेन के सच्चे प्रेम की प्रतीति हो गयी, तब उसने आत्मसर्मपण किया। उसके कोमल और प्रेम प्रवण हृदय की ही अभिव्यक्ति है – "यदि अपना प्राण जलाने से प्रियतम मिले, तो मैं अपना प्राण जला दूँ।"[१] सिंहल से चित्तौड़ आते समय समुद्र में जलयान – ध्वंस हुआ, हाथी, घोड़े, कोश आदि सब नष्ट हो गये। लक्ष्मी-समुद्र से विदा पाकर वे चलने लगे, तब राजा को समुद्र ने हंस, शार्दूल आदि पांच अलभ्य वस्तुयें दीं और रानी को लक्ष्मी ने पान के बीड़े के साथ कुछ रत्न दिये। पुरी में आने पर राजा ने देखा कि हंस, शार्दूल आदि पांच वस्तुओं के अतिरिक्त उसके पास पाथेय कुछ नहीं है। पद्मावती ने तुरन्त उन रत्नों को बेचने के लिए प्रस्तुत कर दिया, जो विदा के समय लक्ष्मी के द्वारा छिपाकर दिए गए थे। यहां पर उसका चरित्र एक संचयशीला, बुद्धिमती और आदर्श गृहणी के रूप में निखर उठता है–

"लछमी अहा दीन्ह मोहिं बीरा। भरि कै रतन पदारथ हीरा॥
काढ़ि एक नग बेगि भँजावा। बहुरी लच्छि फेरि दिन पावा॥"[२]

तुलसीदास ने भी गंगातट पर केवट के प्रसंग में सीता के प्रत्युत्पन्नमतित्व और 'मणि मुँदरी' देने की बात के द्वारा सीता के गृहणीत्व को निखारने का प्रयत्न किया है–

"पिय हिय की सिय जाननि हारी। मनि मुँदरी मन मुदित उतारी॥"[३]

राघव-चेतन को रत्नसेन ने देश से निकल जाने की आज्ञा दी थी। पदमावती सच्चे अर्थों में रानी थी। उसने सोचा कि राघव-चेतन पण्डित है, गुणी है, जादू टोने में प्रवीण यक्षिणी सिद्ध है। यदि वह थोड़ा मिथ्याचारी है तो क्या हुआ?

१—पदमावत छन्द ४०१।

२—पदमावत (लक्ष्मी-समुद्र-खण्ड) २८।५—६।

३—रामचरितमानस, काशिराज संस्करण, पृ० १८२ (१०२।३)।

है तो वह पण्डित। हार तो जाते हैं उसके समक्ष सब लोग। है तो वह दरबार की शोभा। ऐसे प्रवींण सभा-पण्डित को इस समय दण्ड दिये जाने का परिणाम बुरा होगा। जो यक्षिणी के प्रभाव से दूज न होने पर भी दूज का चन्द्रमा दिखा सकता है वह इस सूर्य (रत्नसेन) के स्थान पर दूसरा सूर्य भी उपस्थित कर सकता है। कवियों और पण्डितों की जीभ तो तलवार है – इसमें आग भी है और पानी भी –

ज्ञान दिस्टि धनि अगम बिचारा। भल न कीन्ह अस गुनी निसारा॥
जेइ जखिनी पूजि ससि काढ़ा। सूर के ठाव करै पुनि ठाढ़ा॥
कवि कै जीभ खरग हर द्वानी। एक दिसि आगि दुसर दिशि पानी॥
जनि अजगुत काढै मुख भोरें। जस बहुतें अपजस होइ थोरें॥[1]

पद्मावती अपने हाथ के कंगन-दान से राघव-चेतन को संतुष्ट-प्रसन्न करने का प्रयत्न करती है। इस स्थल पर उसकी दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता का स्पष्ट परिचय मिलता है। रानी होने पर भी वह अत्यन्त निरभिमान थी। अलाउद्दीन दुर्ग के भीतर प्रविष्ट हुआ। उसकी चेष्टाओं से गोरा-बादल ने उसके कपटाचार को भाँपकर राजा को उससे मित्रता न करने की सलाह दी। रत्नसेन अपने निश्चय पर अडिग रहा। गोरा-बादल रुष्ट होकर चले गए। अलाउद्दीन ने छलपूर्वक रत्नसेन को बन्दी बना लिया। गोरा-बादल को अपना सच्चा हितैषी समझ कर राजसी अभिमान छोड़कर उनके पास जाकर और बन्दी राजा को छुड़ाने का सफल अनुरोध करके रानी ने बुद्धिमत्ता का ही परिचय दिया है। पति को बन्धनमुक्त करने के लिए उसने गोरा-बादल को जिन उन्मुक्त ओज-भरे शब्दों में ललकारा है, वह क्षत्रिय नारी के उपयुक्त उसके साहसपूर्ण उद्योग का पारिचायक है। उसने कहा था –

"प्रिय जहँ बन्दि जोगिन होइ धावौं। हौं होइ बन्दि पियहिं मोकरावौं।"[2]

जायसी ने पद्मावती के स्वभाव की जातिगत विशेषताओं को भी अत्यन्त मनमोहक रूप में उपस्थित किया है। स्त्री में प्रेम-गर्व और सपत्नी के प्रति ईर्ष्या की वृत्तियां स्वाभाविक हैं। नागमती की बारी आज प्रफुल्लित है, राजा ने उसे सुशोभित किया है–ये बातें सुनकर पद्मावती जल उठती है, वह वहां पहुँचकर नागमती से बाद-विवाद करती है, इस विवाद में पद्मावती रत्नसेन के प्रेम का गर्व भी व्यक्त करती हैं। स्त्री जाति के सामान्य स्वभावांग (ईर्ष्या, गर्व, प्रेम, मान असूया प्रभृत्ति वृत्तियां) पदमावती के स्वभाव में (इस स्थल पर) दर्शनीय हैं। नागमती–पद्मावती के विवाद को दृष्टि में रखते हुए शुक्ल जी ने एक बड़े ही मार्मिक तथ्य की ओर इंगित किया है। "यह ईर्ष्या और यह प्रेम-गर्व स्त्री जाति के

१–पदमावत (राघव-चेतन देश निकाला खण्ड) ४५० (३८), २—३—५—६।
२–वही, छन्द ६०९।

सामान्य स्वभाव के अंतर्गत माना जाता है, इसी से इनके वर्णन में रसिकों को एक विशेष प्रकार का आनन्द आया करता है। ये भाव व्यक्तिगत दुष्ट प्रकृति के अन्तर्गत नहीं कहे जा सकते। पुरुषों ने अपनी जबरदस्ती से स्त्रियों के कुछ दु:खात्मक भावों को भी अपने विलास और मनोरंजन की सामग्री बना रखा है। जिस दिलचस्पी के साथ वे मेढ़ों की लड़ाई देखते हैं उसी दिलचस्पी के साथ अपनी कई स्त्रियों के कलह को। नवोढ़ा का 'भय और कष्ट' भी नायिका भेद के रसिकों के आनन्द के प्रसंग हैं। इसी परिपाटी के अनुसार स्त्रियों की प्रेम-संबन्धिनी ईर्ष्या का भी शृंगार रस में एक विशेष स्थान है।"[1]

पद्मावती का सतीत्व हिन्दू नारी के चरम उत्कर्ष का निदर्शन है। इसीलिए कहा जा सकता है कि 'सबसे उज्ज्वल रूप जिसमें हम पद्मिनी को देखते हैं वह सती का है। "देवपाल और अलाउद्दीन द्वारा प्रेषित दूतियों की परीक्षा की अग्नि में तप कर उसका सतीत्व स्वर्ण-सदृश प्रभाविकीर्णकारी हो गया है। ऐसे लोकोत्तर और दिव्य प्रेम की परीक्षा के लिए तैयार की गई कसौटी कदापि उसके महत्व के उपयुक्त नहीं है, किन्तु इतना अवश्य है कि सतीत्व की इस परीक्षा द्वारा उसके चरित्र की उज्ज्वलता और महानता की ही व्यंजना हुई है। रत्नसेन की मृत्यु के अनन्तर वह अपनी सपत्नी के साथ चिता पर बैठकर 'सती' हो जाती है। पदमावती और नागमती का सती होना 'जौहर' के रूप में नहीं कहा जा सकता है। (वे तो 'सती' हुई और अन्य क्षत्राणियों ने 'जौहर' व्रत का सम्पादन किया)। सती होकर इन दोनों रानियों ने अपने प्रेम की अनन्यता की चरितार्थता ही कर दी है। सती होते समय उनके उल्लास का पारावार उमड़ रहा था—

'नागमती पदमावति रानी। दुवौ महा सत सती बखानी।
दुवौ सवति चढ़ि खाट बईठीं। औ सिवलोक परा तिन्ह दीठी॥
आजु सूर दिन अथवा, आजु रैनि ससि बूढ़।
आजु नाचि जिउ दीजिए, आजु आगि हम्ह जूड़॥"[2]

— — — — — —

एहि दिवस हौं चाहति नाहा। चलौं साथ पिउ देइ गलबांहा॥
लागीं कण्ठ आगि देइ होरी। छार भई जरि अंगन मोरी॥[3]

यह एकनिष्ठ प्रेम पद्मावती के स्वभाव को अन्यतम निखार प्रदान करता है।

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी—ग्रन्थावली, (भूमिका) पृ० १२५।
१—पदमावत (पदमावती—नागमती—सती खंड), (५७।२)
२—वही (५७।१, ५७।३)

पदमावती के रूप और शील की अभिव्यंजना में जायसी ने प्रायः उसकी अलौकिकता की ओर भी इंगित किया है। उसके रूप वर्णन के प्रसंग में आध्यात्मिक संकेत मुखरित हैं —

'बेनी छोरि झार जो बारा। सगर पतार होइ उजियारा ।।
सिर हुति सोहरि परहि भुइं बारा। सगरे देस होइ अंधियारा ।।''

इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलों पर भी कवि ने पद्मावती के रूप सौन्दर्य वर्णन और उसके स्वभाव के माध्यम से उसकी लौकिकता के साथ ही अलौकिकता की ओर भी इंगित किया है।

नागमती

नागमती के स्वभाव-शील में उप-नायिका के प्रायः सभी गुणधर्म मिल जाते हैं। वह रत्नसेन की प्रथम विवाहिता पत्नी है (नागमती तू पहिलि बियाही)। अत्यन्त सुन्दरी और श्यामवर्ण नागमती को अपने रूप-सौन्दर्य पर गर्व है, यह स्त्रियों का सामान्य स्वभाव भी है। सुए से अपने रूप की भर्त्सना सुनकर वह सशंक और क्रोधपूर्ण हो जाती है। रत्नसेन राज-पाट और घर-द्वार त्याग कर सिंहल जाने लगा, तो नागमती ने साथ चलने का अनुरोध किया। उसने तर्क भी दिया—

'अब को हमहिं करहि भौगिनी। हमहूँ साथ होब जोगिनी ।।
की हम्ह लावहु अपने साथा। की अब मारि चलहु एहि हाथा ।।
तुम अस बिछुरे पीउ पिरीता। जहंवां राम तहां संग सीता ।।
जौ लहि जिउ संग छांड़ न काया। करिहौं सेव पखरिहौं पाया ।।

— — — — —

राज करहु चितउर गढ़ राखहु पिय अहिबात ।।''[1]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि नागमती सीता की भांति पतिप्राणा थी। उसका अनुरोध रत्नसेन की तर्कधारा में बह जाता है—

राघव जो सीता संग लाई। रावन हरी कवन सिधि पाई ।।

रत्नसेन नागमती को रोता छोड़कर चला जाता है।

पति सिंहलद्वीप गए। सुदीर्घ काल बीत गया। उसने अपनी गृहिणी की सुधि तक न ली। उस रोती कलपती और विरह में विसूरती रानी ने रत्नसेन और पद्मावती को पंछी-दूत द्वारा संदेश प्रेषित किया —

'हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भईं सब तांति।
रोवं रोवं ते धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भांति ।।

— — — — —

१—जा०ग्रं० (पदमावत : नखशिख खंड, दो० ६) पृ० ५५।

मोहिं भोग सों काज न बारी। सौंह दीठि कै चाखन हारी॥

पति से बिछोह कराने वाली के प्रति उसके मन में क्रोध है, परनारी के वश में होने वाले के प्रति उपालंभ है। प्रथम विवाहिता होने का उसे गर्व है। फिर भी उसकी वेदना-संवेदना में विनम्रता भरी हुई है –

सवति न होसि तू बैंरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पायं मोर माथ॥

यहां पर उस बिरहिणी का निःस्वार्थ पातिव्रत्य और उज्ज्वल चारित्र्य विशेष दर्शनीय है। इस स्थल पर उस आदर्श एक निष्ठ पतिप्राणा के पत्नीत्व का शीलकमल अपना पूरा परिमल बिखेर रहा है। भवभूति की सीता, सूर की राधा और जायसी की नागमती भारतीय वाङ्मय की करुण-विरह-प्लावित आदर्श और अन्यतम विरहिणियां हैं। बारहमासा-वर्णन द्वारा जायसी ने विरहिणी नागमती के चरित्र को अधिक उदात्त बनाने का सफल प्रयत्न किया है। नागमती के कण्ठ में उन्होंने अपना सम्पूर्ण हृदय दलित द्राक्षा की भांति निःशेष भाव से उड़ेल विरहगान किया है। उसका चरित्र विरह की अग्नि में तपकर स्वर्ण सदृश कान्ति विकीर्ण कर रहा है। (ऐंड लव इज लवलिएस्ट ह्वेन इम्वाल्म्ड इन टीयर्स) उसकी वियोग–दशा द्वारा पति के प्रति उसके–गूढ़-गम्भीर और महत् प्रेम की व्यंजना हुई है। प्रेम के अश्रुमय स्वरूप का नागमती के चरित्र द्वारा सुन्दर काव्यात्यक निरूपण हुआ है। कालिदास की शकुन्तला, भवभूति की सीता, सूर की राधा और जायसी की नागमती सचमुच भारतीय वाङ्मय की सर्वश्रेष्ठ रूप और शीलयुक्त विरहिणियां हैं। संवेदनशील नारी के रूप में नागमती पदमावती से भी अधिक सशक्त चरित्र है। उसमें नारी हृदय की सारी दुर्बलताएं सारी शक्तियाँ भरी हुई हैं। नारी का शुद्ध मानवीय रूप उसमें ही प्रकट हुआ है।

पद्मावती का विमान आया, नागमती के हृदय में अन्य रस की निष्पत्ति हुई। वह सपत्नी की ज्वाला नहीं सह सकती, अत: दूसरे मंदिर में उसे उतार दिया- जब नागमती की 'बारी पलुही' तब पद्मावती उसे सहन न कर सकी और दोनों का वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। रत्नसेन वहां इस लड़ाई (मेढ़ों की लड़ाई–शुक्ल जी) का आनन्द लेने लगा। इस स्थल पर भी ईर्ष्या की मात्रा सामान्य से अधिक बढ़ी हुई हम नहीं पाते हैं जिससे उसकी विशेष ईर्ष्यालु प्रकृति का अनुमान कर सकें। पति की हित-कामना ही उसकी ईर्ष्यावृत्ति है। रत्नसेन के बन्दी होने पर उसने रोते हुए कहा था–

पदमिनि ठगिनि भई कित साथा। जेहि ते रतन परा पर हाथा॥

संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि उसके हृदय में प्रियतम के प्रति अपार अनुराग है, करुणा उसका आभूषण और क्षमा उसका निलय है, विरहजन्य

वेदना उसका संबल है और एक निष्ठ पातिव्रत्य उसका जीवन धन । प्रियतम के सुख के लिए त्याग उसका संकल्प है और सेवा और मंगल कामना उसका व्रत । वह नारीत्व की सात्विक एवं शाश्वत प्रवृत्तियों की जीवन्त प्रतीक है और है नारी-सुलभ समस्त हृदय की उदार वृत्तियों की साकार मूर्ति । उसमें सहज नारीत्व है, द्वेष हैं ईर्ष्या है, सौतिया डाह है, और अपने रूप पर गर्व है, और है प्रथम विवाहित होने का अभिमान । उसका पारिवारिक दृष्टि से भी चरित्र अत्यन्त सुन्दर, मधुर और प्रेम-प्लावित है । 'पति परायणा नागमती जीवनकाल में अपनी प्रेम-ज्योति से गृह को आलोकित करके अन्त में सती की दिगन्त-व्यापिनी प्रभा से दमक कर इस लोक से अदृश्य हो जाती है ।

अलाउद्दीन

शास्त्रीय दृष्टि से अलाउद्दीन को पदमावत में खल नायक कहा जा सकता है । प्रतिनायकों में प्रायः छल और वासना के तत्व विशेष रूप से दिखाये जाते हैं । इनका चित्रण इस प्रकार किया जाता है कि पाठक पढ़ते ही उनसे घृणाकर उठे, किन्तु अलाउद्दीन के प्रति अरुचि-विरक्ति या घृणा के भाव पैदा नहीं होते । कुछ लोगों ने इसका कारण 'माया अलाउद्दीं सुलतानू' कह कर स्पष्ट किया है। अलाउद्दीन को माया कहना ठीक नहीं जंचता । यह अवश्य है कि परनारी के लिए आक्रमण करने वाले व्यक्ति को लोक में शैतान कहा जाता है और इस दृष्टि से वह महान् शैतान है ।

नैतिक दृष्टि से भी उसका आचरण ठीक नहीं कहा जा सकता । पराई स्त्री की मांग पेश करना कहां की शिष्टता है ? क्या जायसी उसके इह प्रकार के व्यवहार के प्रति उदासीन है ? इसका एक मात्र उत्तर है, नहीं । जायसी ने सर्वत्र उसके 'खलनायकत्व' की ही व्यंजना की है । रत्नसेन से उसका अधिक शौर्य-प्रताप दिखाना उचित ही है, क्योंकि वह भारत के एक बड़े प्रदेश का सुलतान था । यह अवश्य है कि जायसी ने राजपूतों की शूरता-वीरता को बादशाह के बल-प्रताप से बढ़-चढ़कर चित्रित किया है । आठ वर्ष तक घेरे रहने के बाद भी वह गढ़ को न ले सका । जायसी ने अलाउद्दीन के हाथों रत्नसेन की मृत्यु का भी चित्रण नहीं किया है । कवि ने सर्वत्र रत्नसेन के मान-सम्मान की रक्षा की है । अतः इसे जायसी का मौन या मुसलमानत्व के प्रति पक्षपात भी नहीं कहा जा सकता । रूप सौन्दर्य वर्णन के श्रवण मात्र ने ही रत्नसेन पदमावती से प्रेम कर उठा था, वह योगी बन कर निकल पड़ा था, उसी रूप सौन्दर्य से प्रेरित हो कर अलाउद्दीन भी पद्मिनी की ओर आकृष्ट हुआ है । रत्नसेन सच्चा प्रेमी था, उसने योगी होकर उसे प्राप्त करना चाहा था । अलाउद्दीन ने मध्ययुगीन शासकों की भांति सेना को साथ में लेकर आक्रमण किया था । और यही कारण है कि अलाउद्दीन लेखक और पाठक दोनों की कुत्सा का पात्र बना ।

रूप-लोभ, राघव चेतन से पद्मावती के सौंदर्य का गान सुनकर पहले तो उसे बुरा लगा कि मेरे हरम में सैकड़ों रानियां हैं, जो रूप-गुण में अद्वितीय हैं, किन्तु जब राघव ने चार प्रकार की स्त्रियों के भेद बताकर पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का विस्तृत वर्णन किया, तो उसे रूप–लोभ और वासना ने आ घेरा। उसने तुरन्त चित्तौड़ में दूत भेजकर पद्मिनी को मांगा।

वीरता

अलाउद्दीन शूर-वीर के रूप में भी वर्णित है। वह वीरों का सम्मान करता था। अलाउद्दीन की संधि का प्रस्ताव जब रत्नसेन ने स्वीकृत कर लिया, तो सरजा ने अलाउद्दीन की चापलूसी करते हुए राजपूतों को 'काग' कह दिया। अलाउद्दीन ने उसे खूब फटकारा और कहा, 'वे काग नहीं हैं, काग हो तुम–जो धूर्तता किया करते हो और इधर की बात उधर और उधर की बात इधर लगाया करते हो। काग धनुष पर चढ़ा हुआ बाण देखकर भाग जाते हैं। पर राजपूत युद्ध के लिए टूट पड़ते है। ''अलाउद्दीन रूप लोभी है, छली-कपटी है, शूर-वीर है, व्याही नारी की कामना करने वाला है, साधक है (जिसके हाथ में वासना के कारण मात्र छार ही आती है और तब उसे ज्ञात होता है कि पृथ्वी झूठी हैं) वीर है, वीरों का सम्मानकर्त्ता भी है, प्रतापी है और हैं एक सुन्दर खलनायक।

राघव–चेतन

खल-चरित्र ''राघव चेतन भूत प्रेत, यक्षिणी आदि की पूजा करने वाले वाम मार्ग के प्रतिनिधि और प्रेम-मार्ग के बाधक के रूप में आया है। इसका स्वरूप तत्कालीन समाज की उस भावना का परिज्ञान कराता है जो लोकप्रिय वैष्णव धर्म के कई रूपों में प्रचार के कारण शाक्तों तांत्रिकों या वाममार्गियों के विरुद्ध हो रही थीं। वह महान् विद्वान्, ज्योतिषी और तांत्रिक-मांत्रिक है। वह स्वभाव से उग्र और हिंसात्मक है। मानों उसके हृदय में कोमल वृत्तियों के लिए स्थान ही नहीं है। उसके हृदय में उदात्त भावों का अभाव है। विवेक का उसमें लेश भी नहीं है। ऊँची कोटि का पंडित होने के बावजूद उसमें उत्तम संस्कार न थे वह पाखंडी है। वह कविता में व्यास के सदृश और पांडित्य में सहदेव के समान था।[१] योगिनी-यक्षिणी के बल से उसने अमावस्या के दिन दूज का चांद दिखा दिया, किन्तु वास्तविकता ज्ञात होने पर उसे देश से निष्कासन का दण्ड दिया गया।

वाममार्गी सम्प्रदाय की सहज प्रवृत्ति के कारण उसमें अहंकार का प्राबल्य था। वह औरों से अपने को श्रेष्ठ दिखाना चाहता था। जो बात सब लोग कहते

१–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १९९।

थे उसके प्रतिकूल कहकर वह अपनी धाक जमा देता था।

उसमें कृतघ्नता के भाव भी भरे हैं। देश से निकाले जाते ही उसकी प्रतिशोध की अहंवृत्ति प्रदीप्त हो उठी। उसने बदला लेने का दृढ़ संकल्प किया। पद्मिनी ने अपने कर-कंगन से उसे संतुष्ट करने का असफल प्रयत्न किया। स्वामी रत्नसेन और उसकी पत्नी के प्रति बुरे भाव उसकी घोर नीचता एवं विवेकहीनता के परि–चायक हैं। स्पष्ट है कि जिस राजा के यहां रहा उसी के प्रति उसके मन में अकृतज्ञता के भाव भरे हैं। उसने अलाउद्दीन के द्वारा चित्तौर को ध्वस्त करा देने का प्रयत्न किया। धन लोभ, प्रतिकार, वासना, हिंसावृत्ति, अहं प्रवृत्ति, और स्वामी के प्रति नीच विचारों से उत्प्रेरित होकर वह अलाउद्दीन के पास गया। उसे लज्जा भी नहीं आई। आखिर क्यों? वह निर्लज्ज भी तो प्रथम श्रेणी का का था। अलाउद्दीन के साथ वह रत्नसेन के दुर्ग में भी जाता है। उसकी जघन्य नीच वृत्ति की पराकाष्ठा तब आती है जब वह किले के बाहर निकलने पर रत्नसेन को बन्दी बनाने का इशारा करता है। सारांश यह कि वह अहंकार, कृतघ्नता, पाँडित्य, वाममार्गिता, लोभ, निर्लज्जता और हिंसा का जीवन्त विग्रह है। वह समाज के देशद्रोही एवं धर्म-द्रोही अंग का प्रतिनिधित्व करता है।

गोरा–बादल

इन नर शार्दूलों के रूप में क्षत्रिय-वीरता का निर्मल आदर्श साकार हो उठा है। ये अबलाओं के रक्षक हैं, अपूर्व स्वामिभक्ति, गौरव और वीरता के जीवन्त विग्रह हैं। ये सर्वत्र स्पष्टभाषी हैं। इनके व्यक्तिगत गुण दूरदर्शिता, आत्मसम्मान का भाव, स्वामिभक्ति आदि किसी भी देश के लिये गौरव की वस्तु हैं।

इनकी दूरदर्शिता उस स्थल पर निखर आई है जिस समय इन्होंने अलाउद्दीन को गढ़ में घूमते हुए देखकर छल का संकेत किया। इन्होंने राजा को तुरन्त साव-धान रहने का संकेत किया था। राजा ने इनकी बात न मानी। अतः आत्मसम्मान की रक्षा के लिए ये रूठ गए। मंत्रणा देने के कर्तव्य से मुक्ति लेकर ये शस्त्र-ग्रहण की बाट जोहने लगे। रानी पद्मावती, रत्नसेन के कैद हो जाने पर पैदल इनके घर पहुंची। वह बहुत रोई। उसने राजा को छुड़ाने की प्रार्थना भी की। ये दोनों 'वज्रादपि कठोर और कुसुमादपि कोमल' थे। 'गोरा बादल दुबौ पसीजे। रोवत रुहिर बूड़ि तन भीजे॥' उनका द्रवित होना उनकी लोक-रक्षणकारी वृत्ति का परि-चायक है। उन्होंने क्षत्रियोचित प्रतिज्ञा की और पद्मावती ने साधुवाद दिया—

"तुम टारन भारन्ह जग जाने। तुम सु पुरुष जस करन बखाने॥"

सचमुच गोरा-बादल संसार का भार उतारने वाले, विपत्ति-ग्रस्तों का उद्धार करने वाले और अन्याय–अत्याचार का विरोध करने वाले शूर–वीर थे।

एक तो बादल की छोटी आयु, दूसरे गौने में आई नवल बधू ! कर्तव्य की उपस्थित भीषण कसौटी ! जायसी ने इस मार्मिक प्रसंग को अत्यन्त प्रभविष्णु और सुन्दर बनाकर उपस्थित किया है। स्नेहमयी मां ने युद्ध की विभीषिका दिखाकर रोकना चाहा, पर उसे अपने शौर्य पर विश्वास था। उसने माता के आग्रह को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। बादल ने नवागता वधू को सामने देखकर मुँह फेर लिया। यह उसके हृदय की कठोरता नहीं थी यह तो कर्तव्य की विवशता थी। स्त्री ने फेंटा पकड़ लिया, किन्तु बादल ने उसे समझाया—

जो तुइ गवन आइ गज गामी। गवन मोर जहंवा मोर स्वामी ॥[१]

क्षात्र-धर्म के कर्तव्य की कठोरता कितनी सुन्दर मर्मस्पर्शिनी है !

युद्ध-कला में अद्भुत वीरता दोनों का वैयक्तिक गुण है। सोलह सौ पालकियों में राजपूतों को भरकर दिल्ली ले जाना उनकी राजनीतिक चतुराई का नमूना है। वृद्ध वीर गोरा ने सहस्र साथियों के साथ बादशाही फौज को तब तक रोक रखा, जब तक बादल के छः सौ साथी चित्तौड़ नहीं पहुँच गए। बादल लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। चारण ने तुरन्त धन्य-धन्य कहा—

भाँट कहा 'धनि गोरा, तू भा रावन राव।
आँति समेटि बांधि कै, तुरग देत है पाव ॥

बादल भी रत्नसेन की मृत्यु के अनन्तर चित्तौर दुर्ग के फाटक पर मारा गया। इन दोनों क्षत्रिय वीरों के उज्ज्वल चारित्र्य-विषयक पं० रामचन्द्र शुक्ल के ये शब्द उल्लेख्य हैं, "अबलाओं की रक्षा से जो माधुर्य योरप के मध्ययुग के नाइटों की वीरता में दिखाई पड़ता था, उसकी झलक के साथ ही साथ स्वामि-भक्ति का अपूर्व गौरव इनकी वीरता में देखकर मन मुग्ध हो जाता है। जायसी की अंतर्दृष्टि धन्य है जिसने भारत के इस लोक-रंजनकारी क्षात्र-तेज को पहचाना।"[२]

१—द्रष्टव्य, पदमावत का काव्य-सौंदर्य, पृ० १८६–१८९।
२—पं० रामचंद्र शुक्ल, जा० ग्रं०, भूमिका, पृ० १२८।

७

प्रकृति--चित्रण

प्रकृति का अर्थ और काव्य

व्यावहारिक रूप से तो जितनी मानवेतर सृष्टि है उसको ही प्रकृति कहा जाता है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से हमारा शरीर और मन, उसकी ज्ञानेद्रियां--मन, बुद्धि, चित, अहंकार आदि सूक्ष्म तत्व प्रकृति के अन्तर्भूत हैं। यह सांख्य की प्रकृति सारी सृष्टि का कारण है। सांख्यवादियों ने जिसको प्रकृति कहा करीब-करीब उसको ही वेदान्तियों ने माया कहा है, 'मायान्तु प्रकृति विद्यात्।' भेद इतना ही है कि सांख्यवादी प्रकृति को सद् मानते हैं और वेदान्तवादी उसको सद्-असद् से विलक्षण और अनिर्वचनीय मानते हैं। आस्तिक दर्शनों में न्याय और वैशेषिक जीव, प्रकृति और परमात्मा को तीन स्वतंत्र सत्ताए मानते हैं, किन्तु सांख्य में बिना पुरुष के वह कुछ नहीं कर सकती है।[1]

प्रकृति के महत्तत्व, उससे अहंकार, और अहंकार से षोडश पदार्थों का समूह उत्पन्न होता है। इन षोडश पदार्थों में पंचतन्मात्राए भी हैं जो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की मूल रूपा हैं। वेदान्तियों के अनुसार प्रकृति परमार्थत: असत् है। शंकर मत से वह माया रूप से अनिर्वचनीय है। विशिष्टाद्वैत में वह अचित रूप से ब्रह्म का एक विशेषण है और इस मत से भी वह सत्य मानी गई है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रकृति से हमारा अभिप्राय मनुष्येतर जगत से है जिसमें नदी, पर्वत, वन, कछार, आकाश, चन्द, ज्योत्स्ना, सूर्य, रंग-विरंगी-छटायें आदि सभी सम्मिलित हैं। प्रकृति या प्राकृतिक का अर्थ है स्वभाव या स्वाभाविक, अत: प्रकृति के अन्तर्गत वही वस्तुए आती हैं, जिन्हें मनुष्य के हाथों ने संवारा या सजाया

१--डा० किरणकुमारी गुप्ता : हिन्दी काव्य में प्रकृति--चित्रण, पृ० ८।

नहीं है और जो स्वयं ही अपनी नैसर्गिक छटा से हमें आकर्षित करती है। ईश्वर की कारीगरी को हम प्रकृति और मानव की कारीगरी को कला कहते हैं। सृष्टि के आदिकाल से ही मानव हृदय प्रकृति के अहरह परिधान परिवर्तित करने वाले और क्षण-क्षण नवीनता प्राप्त करने वाले रमणीय रूप-सौंदर्य से अभिभूत – सिक्त और आप्यायित होता रहा है। जन्म से मृत्यु तक मानव प्रकृति के प्रांगण में ही सांस लेता है। 'आरम्भ से प्रकृति अपनी ममतामयी क्रोड़ में मानव को धारण करती और उसका पोषण करती है। पवन व्यजन करता है, निर्झर अपने कल-कल स्वर से संगीत सुनाते हैं, नक्षत्रगण उसके दुख-सुख के साक्षी हैं, कलियां चिटक कर उसे परिमल देती हैं, दुग्ध-धौत ज्योत्स्ना उसे सुधा-स्नात कराती है, सूर्य ज्योति विकीर्ण करता और उसे जीवन देता है। प्रकृति की गोद में मानव सुख का अनुभव करता है। और साहचर्य – जन्य मोह का स्वाभाविक रूप से उसके हृदय में प्रादुर्भाव हो जाता है। इस प्रकार आलम्बन रूप से प्रकृति मानव को प्रभावित करती और उसे आकर्षित करती है। प्राकृतिक दृश्य आलम्बन के भावों को उदीप्त करने में सहायक होते हैं। प्रकृति प्रेमी सहृदय कवि प्रकृति में चेतना, प्रतिस्पंदन एवं संवेदनशीलता के दर्शन करता है। इसी चेतना के अनुभव के फलस्वरूप आदि कवि को सीता-विरह में पर्वत श्रेणियां अश्रु बहाती हुई प्रतीत हुई थीं और इसी चेतना के अनुभव के कारण अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ को प्रकृति में मानव से अधिक संवेदनशीलता प्राप्त हुई थी।'

भारतवर्ष के प्राचीन कवियों ने प्रकृति के विराट्, सुन्दर और भयंकर सभी रूपों का विशद वर्णन किया है। उन्होंने प्रकृति देवी के उन्मुक्त प्रांगण में स्वच्छन्द विहार किया था। उन्होंने प्रकृति देवी के प्रत्येक अंग का सूक्ष्म निरीक्षण किया था। स्पष्ट ही उनका ज्ञान प्रत्यक्ष-अनुभव-जन्य था।

वैदिक ऋचाओं में हम तत्कालीन मनीषा को उषा, वरुण आदि के समक्ष श्रद्धावनत और इन्द्रादि के कोप के कारण विनत तथा भयातंकित पाते हैं। सचमुच भारतीय मनीषा को प्रकृति के मनोहर और मनोयम रूप से जितनी प्रेरणा मिली है, हृदय को जितनी सौंदर्यानुभूति की उपलब्ध हुई है, और मस्तिष्क को जितना चिन्तन का विस्तार मिला है, उतना सृष्टि के किसी अन्य तत्व से नहीं।

कालिदास, भवभूति आदि ने प्रकृति को बड़े ही व्यापक रूप में गृहीत किया है।

हिन्दी के आदि कालीन और भक्तयुगीन साहित्य में प्रकृति चित्रण को विशेष महत्व नहीं दिया गया। चन्दवरदायी का प्रकृति-वर्णन प्रायः परम्परा प्राप्त है। भक्ति काल की प्राकृति पर देवताओं का व्यक्तित्व भी आरोपित किया गया है। रीतिकाल में वह आलम्बन के स्थान पर उद्दीपन बनकर रह गई।

जायसी भक्तियुग के एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया था। पदमावत में उन्होंने एक ओर संस्कृत साहित्य की रूढ़िवत भारतीय परम्परा का अनुवर्तन किया है दूसरी ओर अपभ्रंश भाषा और जनकंठ की परम्परा से सीधे चले आते हुए लोकगीतों, लोक उपमाओं और लोकदृष्ट जीवन के तत्वों के माध्यम से प्रकृति चित्रण किया है। उन्होंने जनकण्ठ से मुखरित होने वाले विरहा–गान, बारह-मासा, आदि के लोकगान पद्धति में समादृत प्रकृति–चित्रण–शैली को भी गृहीत करके पदमावत के काव्य-सौंदर्य का सम्बर्द्धन किया है।[1]

जायसीकृत प्रकृति–वर्णन के विविध रूप

यद्यपि आलम्बन, उद्दीपन और अलंकरण रूपों के ही अन्तर्गत प्रकृति–चित्रण के रूप वैविध्य को समेटा जा सकता है, किन्तु यहां हम जायसी द्वारा किए गए प्रकृति–चित्रण को अध्ययन की सुविधा से लिए निम्नलिखित विभागों के अन्तर्गत रख सकते हैं —

(१) उपमान रूप में किया गया प्रकृति-चित्रण (अलंकरण रूप)।
(२) वातावरण की निर्मिति (संघटना-वर्णन के रूप)।
(३) आध्यात्मिक अभिव्यक्ति और ईश्वरीय वैभव के स्पष्टीकरण के रूप में किया गया प्रकृति-चित्रण।
(४) उपदेश और नीति के रूप में किया गया प्रकृति–चित्रण।
(५) मानवीय हर्ष–विषादादि की अभिव्यंजना के लिए किया गया प्रकृति–वर्णन।
(६) उद्दीपन रूप और विप्रलंभ श्रृंगार।

(१) उपमानों के रूप में किया गया प्रकृति–चित्रण

अपनी भावाव्यक्ति के चरमोत्कर्ष के लिए प्राय: कवि प्रकृति के उपादानों को अलंकार रूप में ग्रहण करते हैं। ऐसा करके वे प्रकृति-ग्रहीत उपमानों के माध्यम से सौंदर्य को अधिक तीव्र, गाढ़, मार्मिक और प्रभविष्णु अभिव्यक्ति देने में समर्थ हुए हैं। कवि उपमा, उत्प्रेक्षा रूपकादि के द्वारा अपने प्रतिपाद्य विषय में सौंदर्य लाने के लिए सारी सृष्टि को छान डालता है। वह चन्द्रिका-चर्चित चन्द्रमा में सुन्दर मुख का-सा सुधा–स्नात शैल्य-पावनत्व भाव पाता है, मृग-शावक के सुदीर्घ नेत्रों में मुग्ध-सारल्य का अनुभव करता है, मदमस्त कुंजर की मंथर गति में प्रियतमा की गति का प्रत्यक्षीकरण करता है, सावन की कजरारी घन घटा में घुंघराली केश-राशि को आलुलयित देखता है। इस प्रकार उपमानों की सहायता से जड़ प्रकृति में

१—पदमावत का काव्य–सौंदर्य, तीसरा अध्याय, पृ० ९५।

चेतन सौंदर्य का जीवन्त और स्पन्दनशील आरोप किया जाता है। प्रकृति-क्षेत्र से गृहीत उपमानों के सहारे जब जायसी सौंदर्य की तीव्र और गाढ़ व्यंजना करने लगते हैं, तब उनमें प्रायः तीन प्रकार के उपमान परिलक्षित होते हैं।

(अ) परम्परा–प्रचलित रूढ़िबद्ध उपमान,

(ब) लोक–गृहीत उपमान

(स) मौलिक उपमान।

लोक–गृहीत एवं मौलिक उपमानों के निदर्शन के लिए निम्नलिखित दोहा पर्याप्त होगा। विरह में सूखते और विहरते हुए हृदय का उपमान-सरोवर—

'सखर हिया घटत नित जाई। टूक–टूक ह्वै कै विहराई।।
विहरत हिया करहु पिउ टेका। दीठि दंवगरा मेरवहु एका।।'[1]

इन पंक्तियों में विरह-विदीर्ण नागमती के हृदय की उपमा सूखते हुए सरोवर से दी गई है। स्पष्ट ही यहां दो जीवंत चित्रों की अवतारणा की गई है (१) पानी सूखने के साथ ही साथ तालाब की मिट्टी का फटते जाना, (२) प्रथम वर्षा होने पर इन दरारों का सिमट कर एक हो जाना या समाप्त हो जाना। ग्राम्य-जीवन के सूक्ष्म पारखी जायसी ने 'विहरता हुआ सरवर हिया' और 'दवंगरा' को बड़े निकट से देखा था। प्रियतम के स्नेहाभाव की व्यथा में नागमती का हृदय उसी प्रकार 'विहरता' जा रहा है, जिस प्रकार पानी के अभाव में सरोवर का हृदय। ये दरारें रत्नसेन की कृपादृष्टि (वर्षा) की बाट जोह रही हैं। इन मौलिक उपमानों से काव्य–सौंदर्य-वर्द्धन तो होता ही है, साथ ही कवि की सूक्ष्म लोक-ग्राहिणी दृष्टि के भी स्पष्ट दर्शन होते हैं। इन उपमाओं की प्रभविष्णुता, हृदय–स्पर्शिता आदि भी द्रष्टव्य है। इसी प्रकार–

'तोर जोबन जस समुद हिलोरा। देखि–देखि जिय बूड़े मोरा।।'

में उन्मत्त यौवन के लिए कल्लोल भरे सागर के उपमान का विधान किया गया है, जो पाठकों के समक्ष एक व्यापक और जीवन्त रसमय चित्र प्रस्तुत कर देता है।

परम्परा–प्रचलित और रूढ़िबद्ध उपमान

जायसी ने संस्कृत-अभ्रंशादि एवं फारसी साहित्य में प्रयुक्त उपमानों के माध्यम से प्रकृति का चित्रण किया है। अध्ययन की सुविधा के लिए इस उपमान रूप को तीन प्रमुख उप-विभागों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

(क्ष) नखशिख–वर्णन के उपमान,

(त्र) मानवी भावनाओं के वर्णन में प्रयुक्त उपमान, और

१—जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १५६।

(ज्ञ) अन्य वस्तुओं एवं कार्यों के उपमान।

(क्ष) नखशिख–वर्णन में प्रकृति के उपमान

'रूप-सौंदर्य का वर्णन करते हुए पदुमावती के लौकिक और अलौकिक आयामों की गाढ़ सौंदर्याभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के उपमानों द्वारा अपनी समर्थ तूलिका से मार्मिकता और सरसता से संवलित काव्यात्मकता का ही चरम उत्कर्ष प्रदर्शित किया है।' ('नखशिख-वर्णन' के उपमानों का सविस्तर अध्ययन' अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत किया गया है[1]) । यहां पर तीनों प्रकार के उपमान-रूपों के संक्षिप्त विवेचन पर्याप्त होंगे—

सहस किरिन जो सुरुज दिपाई। देखि लिलार सोउ छिपि जाई।[2]
कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महं दामिनि परगसी॥[3]
फूल दुपहरी जानौं राता। फूल झरहिं ज्यों–ज्यों कहबाता।[4]

(त्र) मानवी भावनाओं के वर्णन में प्रयुक्त उपमान

प्रकृति क्षेत्र से गृहीत मानवीय भावों की अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त उपमानों ने वर्णन को अत्यन्त मार्मिक और सजीव बना दिया है, जैसे—

"काह हँसौ तुम मोसौं किएउ और सों नेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी, मोहिं मुख बरसैं मेह॥"[5]

रत्नसेन सिंहल से लौट आया है। पद्मावती की प्राप्ति के कारण, उसके हर्ष की कोई सीमा ही नहीं है, बेचारी नागमती के लिए तो अश्रु–प्लावित विरह के दिन ही देखने पड़ रहे हैं। रत्नसेन के हर्षातिरेक पर ही उसने यह कहा है। रत्नसेन के मुख में विद्युत कौंध रही है और नागमती के नयनों से मेघ की झड़ी लगी है। "बिजली का चमकना" और 'मेह का बरसना' के द्वारा व्यंजना अत्यन्त मार्मिक हो गई है—

कंवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गएउ सुखाय।
कबहुं बेलि पुनि पलुहै, जौ पिउ सींचै आइ॥[6]

नागमती के विरहगान का यह प्रख्यात दोहा नागमती की व्यथा को अधिक जीवन्त

१—देखिये, इसी प्रबन्ध में 'अप्रस्तुत विधान।'
२—जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० ४२।
३—वही, पृ० ४१।
४—वही, पृ० ४३।
५—वही, पृ० २१७।
६—वही, पृ० १७८

रूप में प्रस्तुत करता है । इस जीवन्तता के मूल में कमल, मानसर, जल के उपमानों के साथ ही प्रकृति का प्रस्तुत सजीव चित्र भी है ।

'आजु सूर दिन अथवा, आजु रैनि ससि बूड़ ।
आजु नाचि जिउ दीजिये, आजु आगि हम्ह जूड़ ॥'[1]

इन पंक्तियों में पद्मावती-नागमती के सती होने के समय की भावनायें भी प्रकृति के ही माध्यम से अभिव्यक्त हुई हैं, सूर्य, चन्द्र, दिन और रात मानवीय हर्ष-विषादादि की अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त हुए हैं (सूर-से रत्नसेन का तात्पर्य है)।

यह जायसी की एक वहुत बड़ी विशेषता है कि उन्होंने अपनी कविता में प्रायः मानवी सुख-दुखों का वर्णन प्रकृति के उपमानों के माध्यम से किया है।

(ञ) अन्य वस्तुओं और कार्यों के प्रकृतिक्षेत्र से गृहीत उपमान

इस प्रकार के उपमान भी पदमावत में मिल जाते हैं—

खड़ग बीजु चमकै चहुं ओरा । बुंदबान बरसहिं घनघोरा ।'[2]
ओनई घटा चहूं दिसि आई । छूटहिं बान मेघ झरि लाई ॥[3]

यहां पर प्रथम पंक्ति में 'खड़ग-बीजु' और 'बुन्दबान' का सौंदर्य दर्शनीय है । द्वितीय पंक्ति में बाणों के लिए उपमान 'मेघ की झड़ी' और लगातार बाण छूटने का उपमान 'मेघ की झड़ी लगना' है ।

(२) वातावरण की विनिर्मित और घटना वर्णन के लिये किया प्रकृति वर्णन—

आलंबन रूप में प्रकृति कवि के लिये साधन न बनकर साध्य बन जाती है । कवि प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करता है, उसके सूक्ष्मतम तत्वों के प्रति आकृष्ट होता हैं और प्रत्येक वस्तु को एकत्र करके संश्लिष्ट वर्णन करता है । उसका प्रकृति-चित्रण प्रत्यक्ष दर्शन का-सा आनन्द प्रदान करने वाला होता है । संस्कृत के वाल्मीकि कालिदास, भवभूति आदि कवियों ने प्रकृति के आलंबन रूप का वर्णन प्रचुर मात्रा में किया है । तुलसीदास ने प्रकृति का आलंबन रूप में चित्रण किया है, किन्तु वह चित्रण भी राम-माहात्म्य से ओत-प्रोत है, प्रकृति वर्णन गौण हो जाता है—

''सब दिन चित्रकूट नीको लागत ।
वर्षा ऋतु प्रवेश विशेषगिरि देखत मन अनुरागत ॥ इत्यादि ।
चहुँ दिसि वन संपन्न विहंग मृग बोलत सोभा पावत ।

१—जा० ग्र०, (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० २६६ ।
२—वही, पृ० १५२ ।
३—वही (गोरा-बादल युद्ध खंड), पृ० २८६ ।

जनु सुनरेश देश पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत ।।[१] इत्यादि

जायसी ने अनेक स्थलों पर प्रकृति के चित्रों का शुद्ध प्रकृति-वर्णन के रूप में भी चित्रण किया है। वे जब वातावरण विनिर्मित के लिए प्रकृति चित्रण करने लगते हैं, तब ग्रामीण उन्मुक्त दृश्यों के रूप में प्रकृति का आलंबनगत रूप ही प्रमुख हो उठता है। सिंहल द्वीप के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन सिंहल के वैभव-चित्रण की पृष्ठभूमि के रूप में किया गया है। चतुर्दिक सघन अमराई, सुहावन मलय पवन, उस छाया में भी जाड़ा लगना, हरा-हरा आकाश, आम, खिरनी, जामुन महुआ आदि के द्वारा वैभवमय वातावरण का निर्माण किया गया है। ये सभी प्रकृति के शालीन रूप की झाँकी प्रस्तुत करते हैं–

घन अँबराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुत लागि अकासा ।।
तरिवर सबै मलयगिरि लाए। भैं जग छांह रैनि होइ छाए ।।
मलय समीर सोहावन छाहां। जेठ जाड़ लागै तेहि माहां ।।
ओही छांहं रैनि होइ आवैं। हरियर सबै अकास दिखावै ।।
पंथिक जौं पहुँचै सहि घामू। दु:ख बिसरै सुख होइ बिसरामू ।।[२]

अमराई का वर्णन करते हुए कवि ने फलों का भी संश्लिष्ट वर्णन किया हैं–

फरे आंव अति सघन सोहाए। औ जस फरे अधिक सिर नाए ।।
कटहर डार पींड सनि पाके। बड़हर सो अनूप अति ताके ।।
खिरनी पाकि खांड अस मीठी। जामुन पाकि भंवर अस डीठी ।।
पुनि महुआ चुअ अधिक मिठासू। मधु जस मीठ पुहुप जस बासू ।।[३]

इन पंक्तियों में फलों की मधुरता, स्वाद, स्वरूप, रस औय गंध के अनुरूप ही उनके खांड़, भंवर, मधु और पुष्प आदि उपमान दिए गए हैं। वृक्षों और फलों का वर्णन करने के अनन्तर कवि ने पक्षियों की भी एक सजीव और सोद्देश्य सूची दी है –

बसहिं पांखि बोलहिं बहुभाखा। करहिं हुलास देखि कै साखा ।।
भोर होत बोलहिं चुहचूही। बोलहिं पांडुक एकै तूही ।।
पीव पीव कर लाग पहीहा। तुही तुही कर गडुरी जीहा ।।
कुहू कुहू कर कोइल राखा। औ भिंगराज बोल बहु भाखा ।।
दही दही कर महरि पुकारा। हारिल बिनवैं आपन बारा ।।

१–तुलसीदास गीतावली, अयोध्याकांड, ५० ।

२–पदमावत (सिंहलद्वीप-वर्णन-खण्ड), दोहा २।२–६ ।

३–जायसी ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० ११ ।

जावत पंखी जगत के, भरि बैठे अमराउं ।
आपनि आपनि भाखा, लेहिं दई कर नाउं ।।[1]"

लगभग एक दर्जन दी गई और 'जावत पंखी जगत के' द्वारा इंगित की गई पक्षियों की इस सूची से जायसी का वक्तव्य इतना ही है कि सभी पक्षी उस परम सत्ता की ओर उन्मुख हैं। कोई पक्षी 'एकै तूही' कह रहा है, तो कोई 'पीव-पीव' इसी प्रकार 'दही–दही' 'कुहू-कुहू' शब्द भी पूर्णतः सोद्देश्य प्रयुक्त हैं।

फलों और फूलों की भी जायसी ने सूचियां दी हैं। शुक्ल जी ने इन सूचियों के विषय में लिखा है, "सूची मात्र देने का काम तो कोई बहेलिया भी कर सकता है।"[2] शुक्लजी का यह कथन पर्याप्त अंशों में ठीक है, किन्तु कई दृष्टियों से इन सूचियों का बड़ा महत्व है—

(१) हमारे साहित्य में इस प्रकार की परिगणन-शैली संस्कृत अपभ्रंश और हिन्दी के प्राचीन काल में 'रूढ़ि' बन गई थी। फलों, वृक्षों घोड़ों आदि का सविस्तार वर्णन अनेक काव्यों में मिलता है। महाकाव्य में ये संश्लिष्ट और सांगोपांग वर्णन आवश्यक माने गए हैं।

(२) इन सूचियों द्वारा आलंबनगत शुद्ध प्रकृति वर्णन किया गया है। सोद्देश्यतः परोक्ष सत्ता की ओर 'पीव-पीव' 'एकै तूही' 'प्रभृति शब्दों द्वारा इंगित भी किया गया है।

(३) ये सूचियां विशेष वैज्ञानिकता के साथ नहीं दी गई हैं,[3] बात समझ में नहीं आती कि विशेष वैज्ञानिकता का क्या अर्थ है। भले ही इस सूची के विषय में कुछ कहा जाय, पर इतना सत्य है कि इनमें काव्यात्मक सरसता विद्यमान है। बहेलिया और जायसी की सूचियों में काव्य–दृष्टि का अंतर सदा रहेगा। बहेलिया हारिल, महरि, कोइल आदि की परिगणना करा के विरक्त हो जायगा, किन्तु श्लेष के आचार्य और समासोक्ति के प्रकाण्ड पंडित, जायसी 'हारिल', महरि,' 'कोइलि' और उनकी बोलियों के द्वारा चमत्कार एवं परम सत्ता की ओर संकेत भी करते चलते हैं। (दह–दही–दग्ध हुई–दग्ध हुई, हे प्रियतम, मैं तुम्हारे विरह में जली–जली, कुहू-कुहू—कहां–कहां–हे प्रियतम, तुम कहाँ हो ? या मैं कहां हूँ?) ये वर्णन जायसी की भाषा के सामर्थ्य के भी द्योतक हैं।

फूले हुए श्वेत 'कुमुदों' से अलंकृत ताल और तालाब ग्राम्य-श्री और ग्राम्य जीवन के जीवन्त और वैभववन्त अनुपम चित्र हैं। इनमें ग्राम्य-शोभा मुखरित होती

१—जायसी ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० ११।
२—पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि भाग २, (१९४५)।
३—डा० कमलकुल श्रेष्ठ ; मलिक मुहम्मद जायसी (१) पृ० २७१।

है। जायसी ने उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से छिछली तलैयों और तालाबों में प्रफुल्ल कुमुदों के सौन्दर्य को अधिक प्रभविष्णु बना दिया है। मेघों का उतरना, पानी लेकर चढ़ना और विद्यु त् की कौंध की सजीव प्रक्रियाएं भी द्रष्टव्य हैं—

"ताल तलाब बरनि नहिं जाहीं। सूझै वार पार किछु नाहीं ॥
फूले कुमुद सेत उजियारे। मानहुँ उए गगन महं तारे।
उतरहिं मेघ चढ़हिं लेइ पानी। चमकहिं मच्छ बीजु कै बानी ॥"[१]

उपर्युक्त उद्धरण जायसी की सूची और आचार्य शुक्ल कथित बहेलिए की सूची में पार्थक्य दिखलाने के निमित्त पर्याप्त होंगे। इन उद्धरणों में श्लेष, उपमा उत्प्रेक्षा, परिकरांकुर आदि अलंकारों और समासोक्ति शैली के द्वारा महाकवि ने काव्योपयुक्त रसमयता का आनयन किया है। जायसी की दृष्टि में कविलास का स्वप्निल ऐश्वर्यमय वातावरण झूल रहा था—

"जबहिं दीप नियरावा जाई। जनु कबिलास नियर भा आई ॥"

जायसी ने अन्य कई स्थलों पर भी आलंबनगत प्रकृति-चित्रण किया है। इन सभी स्थलों पर उनका प्रकृति-चित्रण काव्यात्मक है।

(४) आध्यात्मिक अभिव्यक्ति और ईश्वरीय वैभव के स्पष्टीकरण के लिए किया गया प्रकृति चित्रण—

रहस्यवादी प्रकृति में परम तत्व के दर्शन करता है। और इस प्रकार प्रकृति विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में कबीर और जायसी में यह सर्ववाद मूलक भावना मिलती है 'कबीर ने अमर तत्व को अन्तर में व्याप्त और 'पल भर की तालास में' मिलने वाला बताया है। 'ब्रह्मवाद' की भावना से अभिभूत कबीर ने निखिल विश्व में उसी परम सत्ता के दर्शन किए हैं "लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल' के अनुसार सम्पूर्ण जगत् उसी शक्ति से अनुरंजित प्रतीत होता है। जहां तक दृष्टि जाती है कबीर को उसी परम सत्ता का ही सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है।

जायसी के लिए भी आत्मा और परमात्मा की एकता एक अनुभूत सत्य है। परमात्मा प्राण रूप में हृदय में ही व्याप्त है। आश्चर्य की बात है कि भेंट नहीं होती। जायसी भेंटने के लिए विकल हैं—

"पिउ हिरदय महं भेंट न होई। कोरे मिलाव कहौं कहि रोई ॥"[२]

वे केवल हृदय में ही नहीं, उस अखंड ज्योति के सब लोकों में भी दर्शन करते हैं—

१—जा०ग्रं० (ना०प्र० सभा, काशी), पृ० १३।
२—जा० ग्र० (ना०प्र० सभा, काशी), ।

बहुतै जोति जोति ओहि भई

रबि-ससि नखत दिपैं ओहि जोती । रतन पदारथ मानिक मोती ।।

मध्य युगीन सूफी प्रेम-काव्यों में एकेश्वरवाद का ही स्वर प्रधान है । ये विचार और भावना-प्रवण मनीषी प्रकृति की विभूतियों में सृष्टा और नियामक की भावना को सर्वोपरि मानते हैं । जायसी ने भी विश्व के मूल उस आदि एक करतार की वंदना की है–

"सुमिरौं आदि एक करतारू । जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ।।

कीन्हेसि अगिनि पवन जल खेहा । कीन्हेसि बहुतै रंग उरेहा ।।

कीन्हेसि धरती सरग पतारू । कीन्हेसि बरन-बरन औतारू ।।[1]

जायसी ने इस प्रकार की ईश्वर स्तुति का विधान पदमावत, अखरावट, आखिरी-कलाम, कहरानामा चित्ररेखा और मसला (अब तक प्राप्त) नामक ग्रन्थों के प्रारम्भ में किया है । सृष्टि को उसी करतार ने 'किया' है । सृष्टि और प्रकृति के विविध उपादान-प्रकाश, तारे, सूर्य, चन्द्र, धरती, पर्वत मेघ, धूप, छांह आदि इस स्तुति के माध्यम हैं । जायसी के पूर्ववर्ती मुल्ला दाऊद ने चंदायन के प्रकार का प्रारम्भ में भी इसी प्रकार का स्तुति-विधान किया है–

पहले गाऊँ सिरजनहारू । जिन सिरज्या यह दिव्य बयारू ।।

सिरजसि धरती औ आकासू । सिरजसि मेहुमदर कबिलासू ।।[2]

इत्यादि ।

नूर मुहम्मद[3] ने भी इसी प्रकार की स्तुति द्वारा 'सिरजनहार' की वंदना की है—

"धन्य आपु जग सिरजनहारा । जिन बिनुखम्भ अकास संवारा ।।

गगन की सोभा कीन्ह सितारा । धरती सोभा मनुस संवारा ।।"

प्रायः सभी सूफी कवियों ने इसी प्रकार की वन्दना का विधान किया है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रकृति के मूलभूत तत्वों और विभूतियों के माध्यम से एकेश्वरवाद का संदेश-निर्देश प्रायः सूफी प्रेमाख्यानक परम्परा के सभी कवियों के काव्य-सौंदर्य का एक वैशिष्ट्य है ।

प्रायः सूफी प्रेमाख्यानों में प्रकृति के माध्यम से (१) आध्यात्मिकता और (२) प्रेम की अभिव्यञ्जना – दोनों का स्पष्ट और अभिभाज्य रूप प्रस्तुत किया गया है । जायसी ने सिंहलद्वीप का वर्णन करते हुए प्रकृति के अत्यन्त विलसित और

१–जा० ग्रं० (ना०प्र० सभा, काशी), पृ० १ ।

२–मुल्ला दाउद चंदायन । (डा० परमेश्वरी लाल गुप्त) हि० ग्रं० रत्नाकर बम्बई ।

३—नूर मुहम्मद, इन्द्रावती, स्तुति खंड, दोहा १२ ।

सुन्दर वातावरण द्वारा आध्यात्मिक शान्ति और परम आनन्द की ओर इंगित किया है- "उस द्वीप के निकट पहुँचने पर ऐसा लगता है मानो स्वर्ग निकट आ गया है। उसके चारो ओर सघन अमराई है" —

"पथिक जौ पहुँचे सहिकै घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू ॥
जेइ वह पाई छांह अनूपा। फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा ॥[1]

प्रस्तुत उद्धरण से यह अभीष्ट है कि जायसी ने ऐसे अनेक स्थलों पर प्रकृति की निःसीम व्यापकता, सघनता, चिरन्तनता, परम आनन्दत्व और स्वर्गीय रमणीयत्व की भी कल्पना को सजीव रूप में उपस्थित किया है।

मानसरोवर-वर्णन में भी उन्होंने लौकिक वातावरण के साथ अलौकिक वातावरण प्रस्तुत करते हुए परमसत्ता के सौंदर्य की अभिव्यक्ति का प्रयत्न किया है—

देखि रूप सरवर कै, गइ पियास औ भूख
जौ मरजिया होइ तहं, सो पावै यह रूप।"[2]
जौ मरजिया होइ तहं, सो पावै यह सीप।"[3]

जायसी ने प्रकृति के उल्लसित और क्रियाशील रूप के भी चित्रण किये हैं। पक्षियों की बोली 'पीउ-पीउ', 'कुहू-कुहू', 'दही-दही' शब्द श्लेषात्मक और सोद्देश्य हैं। सभी पक्षी अपनी-अपनी भाषा में 'दई' का नाम लेते हैं — इस प्रकार समग्र प्रकृति प्रेम तत्व के माध्यम से ईश्वर की ओर प्रेमोन्मुख है।

जायसी ने बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव द्वारा भी प्रकृति वर्णन किया है। 'राजा सुआ-संवाद खण्ड' में प्रकृति मानवी प्रेम–विरह के प्रतिबिम्ब रूप में आध्यात्मिक प्रेम की पृष्ठभूमि बन जाती है। प्रायः सभी सूफी कवियों ने संसार के सौंदर्य को प्रिय के प्रातिभासिक सौंदर्य के रूप में देखा है। अतः इनकी साधना में लौकिक भी अलौकिक हो गया है। इसी प्रकार दृश्य प्रकृति भी अलौकिक तत्व का ही प्रति–बिम्ब है और वह भी उसी की ओर उन्मुख है।

जायसी पद्मावती के रूप में अलौकिकता का अनुभव करते हुए उसके सौंदर्य के प्रभाव में अत्यधिक तीव्रता लाना चाहते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण प्रकृति को उसी के सौंदर्य से अनुरञ्जित बताया है—

हंसत दसन अस चमके, पाहन उठे झरक्कि।
दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि ॥[4]

१–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १२ (१३।५।७)।
२–वही, पृ० १२ (दोहा ७)।
३–वही, पृ० १३ (दोहा ९)।
४–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० ४४ (दोहा ९)।

यहां पर पद्मावती की दन्त-प्रभा से पत्थर के हीरा होने का वर्णन है।

बेनी छोरि झार जौं बारा। सरग पतार होइ उजियारा ॥[1]

गगन नखत जौ जाहिं नगने। वै सब बान ओहि के हने ॥

धरती बान बोधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥[2]

इन पंक्तियों में स्पष्ट ही पद्मावती के केश और 'बरुनी' के विश्व व्यापी प्रभाव में आध्यात्मिक संकेत मिलते हैं। प्रेमोपासक जायसी के प्रियतम प्रकृति में व्याप्त हैं। इन्होंने समस्त चराचर प्रकृति में उसी की व्याप्ति का अनुभव किया है। अलंकार और उद्दीपन रूप में भी प्रधानता आध्यात्मिक पक्ष की ही है। उन्होंने अपने प्रेमास्पद का प्रतिबिम्ब समस्त प्रकृति में देखा। इन्होंने प्रियतम को अपने दृश्य में तो व्याप्त पाया ही, साथ ही प्रेमाधिक्य और प्रेम की अनन्यता के कारण उसको समस्त जड़ और चेतन प्रकृति में भी व्याप्त देखा है।"[3]

उपदेश और नीति के माध्यम के रूप में प्रकृति-चित्रण

मानव ने प्रकृति के कार्य-कलाप को अनेक रूपों में आदर्श मानकर शक्ति, ज्ञान और सान्त्वना प्राप्त की है। प्रकृति के नियम अत्यन्त स्थिर, शुभ और उत्तम हैं। मानव अपने जीवन के नीति, नियम आदि की अस्थिरता की स्थिति में प्रकृति से प्रेरणा और विचार ग्रहण करता रहा है। 'पर्वत चारित्रिक दृढ़ता के, पवन अनवरत सेवा-वृत्ति का, सरिता और वृक्ष परोपकार, मुक्तदान और समदृष्टि के आदर्श उपस्थित करते हैं।

श्रीमद्भागवत में प्रकृति को नीति और उपदेश के माध्यम के रूप में गृहीत किया गया है। उसी से प्रभावित होकर तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के किष्किंधाकाण्ड में नीति और उपदेश के लिए प्रकृति को गृहीत किया है।"[4]

नीति और उपदेश की प्रधानता होने के कारण प्रकृति का स्थान गौण हो जाता है।

सिंहल के पक्षी ईश्वर के नाम-स्मरण का उपदेश व्यञ्जित कर रहे हैं—

"पीव-पीव कर लाग पपीहा। तुही तुही कर गडुरी जीहा ॥"

यहां पर प्रकृति उपदेशदातृ के रूप में व्यञ्जित है।

१—वही, पृ० ४३ (६—५—७)।

२—वही, पृ० ४३, (६।६)।

३—डा० किरणकुमारी गुप्ता : हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण, पृ० ११५।

४—श्रीमद्भागवत — स्कन्ध १०, अध्याय २० (श्लोक १५—९६—१७—३३) और रामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, दोहा १६, १७।

कहीं-कहीं दृष्टान्त के रूप में जायसी ने प्रकृति द्वारा उपदेश की अभिव्यक्ति भी की है–

मुहमद बाजी पेम कै ज्यों भावै त्यों खेल।
तिल फूलहि के संग ज्यों, होय फुलायल तेल ।।

नीति और उपदेश के रूप में किए गए प्रकृति वर्णन का काव्य-सौंदर्य-वर्द्धन की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं है। ऐसे वर्णनों में कवि का उपदेशक रूप मुखर हो उठता है और कथा-प्रवाह में शैथिल्य आ जाता है।

(५) मानवीय हर्ष-विषाद की अभिव्यञ्जना के रूप में किया गया प्रकृति चित्रण (मानवीकरण से संबद्ध प्रकृति-चित्रण)।

कवि का प्रकृति-प्रेम प्रकृति-सुन्दरी के क्रिया-कलाप तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु उसको वह अनुराग, विराग, क्षोभ, हर्ष, विषाद आदि के भावों से पूर्ण देखता है। प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप ही मानवीकरण (परसानिफिकेशन) है। कालिदास ने मेघ को दौत्यकर्म सौंपते हुए मेघ पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप किया है। आदि कवि वाल्मीकि ने 'रे रे वृक्षाः पर्वतस्था गिरि गहनलता वायुना वीज्यमाना' और 'सीतेव शोकसंतप्ता मही वाष्पंविमुंचति' के द्वारा प्रकृति पर चेतना का आरोप किया है।'[१]

पद्मावत में हर्ष-विषादादि के भाव-प्रभाव प्रकृति पर भी दिखाए गए हैं। ऐसे स्थलों की मुख्यतः दो विशेषताय हैं–

(१) सुख-दुःख के प्रभाव-स्वरूप प्रकृति को संवेदनशील रूप में चित्रित किया गया है, और

(२) मानव मनोभावों की अभिव्यक्ति की गयी है।

जायसी ने प्रकृति को विरह-व्यथिता नागमती के विरह–दुःख से अनुतप्त रूप में चित्रित किया है–

तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते ।।
रातैं बिम्ब भीजि तेहि लोहू। पखर पाक फाट हिय गोहूं ।।[२]

नागमती की विरह-व्यथा से प्रकृति के अचेतन पदार्थ भी अत्यन्त दुःखी हैं। पलाश-पत्र-शून्य होकर श्री हीन हो गया है, सरोवर तक का हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया है।

'सखर हिया घटत नित जाई। टूक टूक ह्वै कै बिहराई ।।[३]

१–बाल्मीकि रामायण, किष्किंधाकाण्ड (सर्ग २८।७)।
२–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १५८ (दोहा १६।५–६)।
३–वही, पृ० १५६।

'मानसरोदक खण्ड' में पद्मावती के अप्रतिम रूप से मानसरोवर तरंगायित हो रहा है –

सरवर रूप विमोहा, हिए हिलोरहिं लेइ ।।
पांव छुवैं मकु पावौं, एहि मिस लहरहिं देइ ।।[१]

पद्मावती के 'खोंपा' छोड़ने और 'केश मुकुलाने' पर विश्व तिमिराच्छन्न हो उठता है, और –

'चकई बिछुरि पुकारै कहां मिलौ हो नाह ।
एक चांद निसि सखा महं दिन दूसर जल माह ।।[२]

कवि-समय-सिद्ध प्रसिद्ध है कि रात्रि में चक्रवाक-युग्म एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं और वे दिन में साथ रहते हैं। जायसी ने इसी प्रसिद्ध कवि-समय के आधार पर उपर्युक्त दोहा लिखा है। चक्रवाकों के दिन के मिलन और रात्रि-वियोग वाले कवि-समय की प्रसिद्धि प्राय: प्राचीन भारतीय (और हिन्दी के भी) कवियों की कंठहार रही है –

चकवी बिछुटी रैणि की आइ मिली परभाति
जे जन बिछुटे राम सूं; ते दिन मिले न राति ।।[३]
"राति जु सारस कुर लिया, गुंजि भरे सब ताल ।
जिणकी जोड़ी बीछिड़ी, तिणका कवण हवाल ।।"[४]

प्रकृति में मानवीकरण की भावना हमें आदि कवि वाल्मीकि के ही काव्य से प्राप्त होती है। कवियों ने प्रकृति से तादात्म्य का स्थापन करते हुए उसमें प्रतिस्पन्दन का आभास पाया है और उसे मानव-भावनाओं को समझने में समर्थ समझा है। जायसी ने प्रकृति में संवेदनशीलता का तो अनुभव किया ही है, इसके अतिरिक्त उन्होंने मानव क्रिया-कलापों से भी प्रकृति को पूर्ण पाया है।

'नवल सिंगार वनस्पति कीहा। सीस परासहि सेंदुर दीन्हा ।।[५]

वसन्त ऋतु में प्रकृति ने अभिनव श्रृंगार किया है और पलाश ने मांग में 'सेंदुर' दिया है। प्रकृति को कवि ने एक श्रृंगार – मण्डित सौभाग्यवती नारी के रूप में चित्रित किया है।

१–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० २४ (दोहा ४)
२–वही, पृ० २४ (दोहा ५)।
३–कवीर ग्रंन्थावली (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० ३।३।
४–ढोला मारूरा दूहा, (ना० प्र० सभा, काशी)।
५–जायसी ग्रंथावली ना० प्र० सभा, काशी।

(६) उद्दीपन रूप और विप्रलंभ शृंगार

उद्दीपन रूप में प्रकृति को शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में वर्णित किया गया है । उद्दीपन विभाव का शास्त्रीय स्वरूप यही है कि संयोगावस्था में प्रकृति का विलास सुख-संवर्द्धक और वियोगावस्था में विषादप्रद हो । संयोग में मलय पवन, चन्द्रिका-चर्चितयामिनी, मंजरित अमराई आदि पारस्परिक आकर्षण को बढ़ाते हैं, किन्तु वियोग में प्रकृति के ये समस्त आकर्षण विरही जनों को दग्ध-कारक प्रतीत होते हैं। वियोग तीन प्रकार का माना गया है—मानजन्य, प्रवासजन्य और मृत्यु-जन्य । प्रिय की मृत्यु पर करुण रस का आविर्भाव होता है । मान क्षणिक होता है, अतः उसमें अपेक्षाकृत तीव्रता की कमी होती है। वस्तुतः प्रवास-जन्य वियोग ही पूर्ण और प्रभावशाली होता है । विरह की दस अवस्थायें मानी गई हैं अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग-उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। प्रकृति का उद्दीपक वर्णन भी प्रायः दो रूपों में मिलता है । प्रथम के अन्तर्गत वह वर्णन आता है जिसमें उद्दीप्त भाव आगे आ जाता है और प्रकृति का रूप पीछे पड़ जाता है । दूसरे प्रकार के वर्णन में प्राकृतिक दृश्य एवं व्यापार अपना वास्तविक स्वरूप सुरक्षित रखते हुए भी भावोद्दीपन में सहायक होते हैं। पदमावत में प्रथम प्रकार के वर्णन का प्राधान्य है ।

संयोग शृंगार के प्रमुख रूप से दो उपयोग हैं। एक तो प्रकृति मानसिक उल्लास की अभिवृद्धि करती है और दूसरे शारीरिक उपयोग की वस्तु बन जाती है। संयोगावस्था में प्रकृति के दृश्य पारस्परिक आकर्षण में संवृद्धि करते हैं। शीतल-परिमलमय पवन, ज्योत्स्ना, निर्झर, कल्लोलिनी, उपवन, खग-कूजन, तारक विखचित गगन आदि प्रेमी-प्रेमिका के आकर्षण में एक विशिष्ट प्रकार की तीव्रता, सरसता और मधुरता का संचार कर देते हैं। सर्वत्र उसे आकर्षण, उल्लास, आनन्द, मिलन-उमंग, प्रेम आदि के ही दर्शन होते हैं, किन्तु विरहावास्था में ये सभी आकर्षण विकर्षण में परिणत हो जाते हैं। विरही मनःस्थिति में कोकिल की कूक–हूक बन जाती है, विकच पुष्प अंगार बन जाता है, चांद वर्फानी किरणों वाला न होकर अग्नि की किरणों वाला हो जाता है,[१] 'किसुक गुलाब औ अनारन की डारन पै' 'अंगारन के पुञ्ज डोलते दिखाई देते हैं ।[२] विरहिणी की विरह–दग्धावस्था के भी बड़े ही अतिशयोक्तिपूर्ण चित्र कवियों ने दिए हैं ।

डा० किरणकुमारी गुप्ता का कथन है कि उद्दीपन में प्रकृति का अपना महत्व नहीं है, संयोग अथवा वियोग दोनों अवस्थाओं में प्रकृति का एक ही

१–राजा लक्ष्मणसिंह, शकुंतलना नाटक, 'हिमांसु चंदांसु कुसुमसर तोसों कहत क्यों।'
२–पद्माकर पंचामृत, पृ० १५८ ।

उपयोग है—मनोगत भावों को उद्दीप्त करना ,"[1] वस्तुतः मनोगत भावों को उद्दीप्त करना ही प्रकृति का अपना महत्व है और बिना प्रकृति के अपने महत्व के भले ही भाव उद्दीप्त हो जाएं, पर उनमें अपेक्षित, तीव्रता, सरसता और प्रभविष्णुता का अभाव रहेगा। जायसी ने शृंगार से उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत जो प्रकृति-चित्रण किया है, उसमें संस्कृत साहित्य से अविच्छिन्न भाव से चली आती हुई षड्-ऋतु वर्णन की प्रणाली एवं जनगीतों की बारहमासा, विरहागान आदि की लोक प्रणाली के भी दर्शन होते हैं। जायसी ने उद्दीपक प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है—

बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोरि दुइ नैन चुवैं जस ओरी।[2]

प्रस्तुत पंक्ति में प्रकृति के 'मघा नक्षत्र में झकोर-झकोर कर बरसने वाले खण्ड दृश्य के द्वारा विरहिणी नागमती की करुण मूर्ति का जीवन्त रूप चित्रित कर दिया गया है।

वियोग-क्लान्ता नागमती अपने रानीपन को विस्मृत करके प्रकृति के उपकरण पशु-पक्षी आदि के साथ तादात्म्य का अनुभव करती है। वह अपने प्रियतम के यहाँ विरह के धुएं से काले पड़े काग और भ्रमर से संदेश भेजती है–

'पिउ सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुवां हम्ह लाग॥'[3]

उद्दीपन रूप के अन्तर्गत संयोगावस्था में षट्ऋतु और वसन्त वर्णन तथा वियोगावस्था में बारहमासा वर्णन के काव्य–सौंदर्य की दृष्टि से विशेष महत्व है। जायसी ने प्रकृति को प्रियतम के प्रेम-वाणों से बिद्ध-रूप में चित्रित किया है। सम्पूर्ण प्रकृति प्रियतम के समागम के लिए उल्लासपूर्ण उत्कंठित है। उसके वियोग में व्यथा से व्याकुल है। प्रियतम का रूप-सौंदर्य अप्रतिम है। कोई भी प्रकृति का तत्व उसके अनन्त सौंदर्य से मुक्त नहीं रह सकता—

'उन बानन्ह अस को जो न मारा ? बेधि रहा संगरों संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वे सब वान ओही के हने॥
बरुनि बान अस ओपहं, बेधे रन बन–ढांख।
सौजहिं तन सब रोवां, पंखिहि तन सब पांख॥'[4]

इस प्रकार प्रियतम के प्रेम वाणों से विधी हुई सम्पूर्ण प्रकृति उसके वियोग में व्याकुल है।

१–डा० किरणकुमारी गुप्ता : हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण, पृ० ५३।
२–जायसी ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १५३।
३–जायसी ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० ४३ (दोहा ६)।
४–वही।

बूड़ि उठे सब तरि वर पाता । भीजि मजीठ टेसू बन राता ।।[१]

वृक्षों के पत्ते और पुष्प भी उसी के वियोग में रक्त (अनुरक्त) हो गए हैं । इस अखण्ड ज्योतिरूप प्रियतम से मिलन होने पर प्रकृति उल्लास से आन्दोलित हो उठती है, विरह की दारुण व्यथा से क्लांत प्रकृति अनुराग के रंग में रंग उठती है–

"भा वसंत राती बनसपती । औ राते सब जोगी जती ।।
राती सती अगिनि सब काया । गगन मेघ राते तेहि छाया "

वनस्पति, मेघ आदि उसी के प्रेमोल्लास के ही कारण अनुरक्त हो उठे हैं ।

षड् ऋतु वर्णन

प्रकृति के उद्दीपन के अन्तर्गत षड्ऋतु और बारहमासा के माध्यम से शृंगार निवेदन करना भारतीय कवियों की एक अत्यन्त प्राचीन प्रथा है । षड्ऋतु वर्णन मिलनजन्य आनन्द में उद्दीपन का संचार करता है ।[२] इसके द्वारा कहीं-कहीं विरह-जन्य दुःखबोध को अधिक गाढ़ और मार्मिक बनाने का भी कार्य लिया जाता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि 'कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले ही से दृश्य–वर्णन के सम्बन्ध में कवियों ने दो मार्ग निकाले । स्थल–वर्णन में तो वस्तु-वर्णन की सूक्ष्मता बहुत दिनों तक बनी रही, पर ऋतु–वर्णन में वस्तु–चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया, जितना कुछ इनी–गिनी वस्तुओं का कथनमात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन । –– जान पड़ता है कि ऋतु–वर्णन वैसे ही फुटकर पद्यों के ही रूप में पढ़े जाने लगे जैसे बारममासा पढ़ा जाता है । अतः उनमें अनुप्रास और शब्दों के माधुर्य आदि का ध्यान अधिक रहने लगा[३] ।' संस्कृत साहित्य में 'ऋतु वर्णन' का एक भव्य रूप 'ऋतु संसार' में देखने को मिलता है ।

कभी–कभी कवियों ने पात्रों के मुख से ऋतु सौंदर्य का उद्घाटन करवाया है । 'कर्पूर मंजरी' में इस प्रकार के कई सुन्दर श्लोक मिलते हैं[४] । १४वीं शताब्दी की पुस्तक 'वर्ण रत्नाकर' में छहों ऋतुओं का विधान बताया गया है । उसमें प्रत्येक ऋतु की वे मुख्य–मुख्य विशेषताएं दी गई हैं, जिन्हें उस ऋतु का वर्णन करते समय कवियों को नहीं भूलना चाहिए । उदाहरणार्थ वसन्त–वर्णन में वृक्ष की नवी-नता, पल्लव का उद्गम, कुमुद का संभार, मलयपवन कोकिल का कलरव, भ्रमर की रुनझुनी, काम की क्रीड़ा, विरहणी की उत्कंठा–व्यग्रता, नायक का हर्ष, नायिका

१—जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० ४३ (दोहा ६) ।
२—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ८४ ।
३—पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, काव्य में प्राकृतिक दृश्य, भाग २ ।
४—राजेश्वर : कर्पूर मंजरी, १।७ ।

की अभिलाषा इत्यादि के वर्णन का विधान बताया गया है[1]।

संदेश रासक में अद्दहमाण[2] ने ऋतु वर्णन की परम्परा का उपयोग नायिका के विरह को अपेक्षाकृत गाढ़तर रूप में प्रकट करने के लिए किया है। चंदबरदायी ने भी 'पृथ्वीराजरासो[3]' से ६१ वें समय के षड्ऋतु वर्णन की नियोजना की है।

संस्कृत साहित्य के आदि कवि वाल्मीकि[4] से अनवच्छिन्न भाव से चली जाती हुई षड्ऋतु वर्णन की परम्परा अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी साहित्य में भी चली आई है। इस परम्परा में कालिदास के ऋतु संहार में षड्ऋतु वर्णन का भव्य, अनाविल और जीवन्त सुन्दर रूप दर्शनीय है। जायसी ने भी इसी परम्परा से रत्नसेन और पद्मावती के संयोग श्रृंगार के उद्दीपन–रूप में षड्ऋतु वर्णन खण्ड का नियोजन किया है।

पदमावत का षड्ऋतु वर्णन नूतन परिणीता पद्मावती के हर्षातिरेक का चित्रण करता है।

'नवल वसन्त ऋतु पदमावती' के लिए अभिनव जीवन का संदेश देते हुए आई है, नवल वसंत, नवल ऋतु, चैत और वैशाख की श्री सम्पन्नता, चन्दन, चीर पुष्पहार, परिमल–सुवास, भौंरों की पुष्प के संग क्रीड़ा, फाग खेलना, चांचर धामरी, प्रभृति उद्दीपक व वस्तुएं पद्मावती के यौवन में अभिनय उल्लास का संचार करती हैं, सर्वोपरि बात तो यह है कि कांत घर में है, ऋतु सुहावनी है, आया न करे वसंत पुनः पुनः नित्य प्रति !'[5]

जहाँ ज्येष्ठ–आषाढ़ से कान्त घर में ही है वहां 'ग्रीष्म ऋतु की तपन कहां रह सकती है ? धन्या ने सुरंगी झीना परिधान पहन रखा है, परिमल और मद से उसका तन मह–मह हो उठा है, एक तो पद्मावती का शरीर यों ही शीतल और सुवासित था, दूसरे नैहर में पिता का राज्य – उसमें भी कान्त का प्राप्त सुसान्निध्य, उसका अधर ताम्बूल और भीमसेनी कपूर से लाल था, वह चन्दन–चर्चित शरीर में खश लगाती थी, अंगूर अनार और ग्रीष्म के सदाफर आम्र आदि के रसास्वादन से उसके सम्भोग–सुख में तीव्रता ही आती है।'[6]

'पावस ऋतु में बाला का कान्त के साथ विलास, सावन–भादों का अधिक

१—वर्णरत्नाकर, चतुर्थ कल्लोल, पृ० १८–१९।
२—संदेश रासक (सं० पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी)।
३—डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी, चन्दबरदायी और उनका काव्य, पृ० १०६।
४—वाल्मीकि रामायण : किष्किन्धा काण्ड, सर्ग १, श्लोक २२–३१।
५—जायसी ग्रंथावली (पदमावत) पृ० १४८, (दोहा ५)।
६—पदमावत डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३३५, दो० ३३६।६

सुन्दर लगना, कोकिल की मधुकलित काकली, सुहाना गगन, सुहानी धरती, मेघमय असमान में बकपंक्ति-गमन, लालिम परिधानावृता धन्याओं का ऐसे निकलना जैसे बीर-बहूटियां हों, विद्युत की कौंध — उसमें धारासार झड़ी का स्वर्ण–सदृश दृष्टिगोचर होना, दादुर और मयूरों के अति सुन्दर शब्द, प्रियतम के संग रति-रंग में जागी अनुरागिणी धन्या, गगन-गर्जन से चौंक कर उसका कंठालिगन करना, हरा भरा संसार, हरित भूमि, कुसुंभी वस्त्र, धन्या का प्रियतम के साथ हिंडोले का आयोजन, पवन झकोरे, बतास का शीतल लगना, धन्या से पवन और पवन से धन्या परिमल और सुवास प्राप्त करके धन्य-धन्य होना चाहते हैं ।[1]

इस प्रकार वर्षा ऋतु के सुहाने तत्व संभोगिनी पद्मावती को हर्षा-तिरेक प्रदान करते हैं । कवि ने प्रकृति के उपादानों के द्वारा भावों के संदेश और तादात्म्य-सम्बन्ध का भी उपस्थापन किया है—

रँग–राती पियसँग निसि जागै । गरजै चमकि चौंकि कँठ लागै[2] ।'

गगन गरजता है, तो धन्या चौंक कर प्रियतम के गले से लिपट जाती है । यहां पर प्रकृति और मानव भावों का सामंजस्य स्थापित किया गया है जिसमें प्रकृति भावों को आधार प्रदान कर रही है ।

'अत्यन्त सुहानी कुआर-कार्तिक की अभिनव उजियाली, पूर्णिमा की पूर्णकला षोडश शृंगार, नक्षत्रों से भरा आकाश, प्रांजल धरती-आकाश, पुष्प-विखचित पर्यंकिका, स्वर्णिम फूलों से फूली पृथ्वी, खंजन, सारस-युग्म का विहार आदि शरद ऋतु के उपकरण प्रियतम के गले में आलिंगित धन्या और धन्या के गले–लगे प्रियतम के सुख-विलास को संवर्धित करते हैं ।'[3] केशवदास ने शरद ऋतु के वर्ण्य-उपकरणों की सूची इस प्रकार दी है—

अमल अकास, प्रकास ससि, मुदित कमल कुल कांस ।
पंथी पितर पयान नृप, सरद सुकेसवदास ॥[4]

यहां यह द्रष्टव्य है कि जायसी का शरद-वर्णन सोद्देश्य है, वह मात्र परंपरा पालन के ही लिए नहीं है । इस वर्णन की कतिपय पंक्तियाँ अर्थ-व्यंजना, और उत्कृष्ट काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से अतुलनीय हैं—'पदमावति में पूनिवं कला । चौदह चांद उए सिंघला ॥ सोरह करा सिंगार बनावा । नखतन्ह भरे सुरुज ससिपावा ॥'[5]

१—पदमावत डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ३३६, दोहा ३३७।७ ।
२—पद्मावत (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,) पृ० ३३६ (दोहा ३३७।४) ।
३—जायसी ग्रन्थावली, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १४६ (दोहा ८) ।
४—केशवदास, प्रियाप्रकाश ३३वां दोहा, पृ० १४३ ।
५—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत पृ० ३३७ (टिप्पणी और अर्थ) ।

इन पंक्तियों की अर्थ-समर्थता, व्यंजना और जीवन्त चित्रात्मकता आदि के सौन्दर्य दर्शनीय हैं।

हेमन्त और शिशिर वर्णन में कवियों को प्रकृति का बहुत कम ध्यान रहता है। इन ऋतुओं का वर्णन करते समय उसका ध्यान मानव-व्यापारों पर ही अधिक केन्द्रित रहता है।

"अगहन-पूस' में जिस घर में प्रिय हो, वहाँ सर्दी तो होती ही नहीं। धन्या और प्रियतम के बीच में तो यह शिशिर ऋतु सोहागे का काम करती है। मन से मन, शरीर से शरीर और हृदय से हृदय ऐसे मिले कि हार भी नहीं रहा, चंदन की भांति शीत भी नहीं। हंसयुग्म की भांति रत्नसेन और पदमावती क्रीड़ा-रत थे। शीत जो प्रिया के अंग में था, वहां से भगाए जाने पर (चकवे के रूप में) अलग खड़ा पुकार रहा था, मानों उसे किसी चकवी का विछोह हुआ है।[1] हेमन्त ऋतु में रत्नसेन के पास पाला नहीं लगता। शीत भी सुखकर है। भला जहां बाला और पति एक साथ हों वहां शीत कहाँ? वहां से शीत ऐसे भागता है जैसे बाण देख कर काग। बेचारे शीत ने भाग कर इन्द्र-दरबार में अपना देश-निकाला वाला दुखड़ा निवेदित किया 'इस ऋतु में मैं उसके संग शयन करता, अब तो मुझे उसके दर्शन भी दुर्लभ हो गए हैं। अब तो शशि-सूर्य से भेंट हो गई है—शीत का देश निकाला हो गया है। इन्द्र ने भी कहा कि यह तो वही नियम है कि कभी किसी की बारी है और कभी किसी की।"[2]

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृतिक उपादानों द्वारा नव दंपति के हर्ष और सुख विलास को उद्दीप्त करने के मिस षड्ऋतु-वर्णन की योजना द्वारा काव्य-सौन्दर्य का वर्णन किया गया है।

पृथ्वीराज रासो[3], संदेश रासक[4], ढोला मारू रा[5] दूहा और पदमावत में ऋतु वर्णन के अन्तर्गत प्रकृति वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थों में ऋतु वर्णन का प्रसंग प्रायः उद्दीपन के ही रूप में आया है। जायसी ने पूर्ण मनोयोग के साथ प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की अकृत्रिम मनोरम झाकियाँ दिखाकर नायक–नायिका के भावों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुये प्रेम-विरह की व्यंजना की है।

१—जायसी ग्रन्थावली (हिन्दुस्तानी एकेडेमी), दोहा ३३९।

२—वही, दोहा ३४०।

३—पृथ्वीराज रासो (कई समयों में), मुख्य रूप से 'शशिवृत्ता विवाह समय' और कनवज्ज समय।

४—संदेश रासक प्र० २, ३।

५—ढोला मारू रा दूहा, पृ० २४०—४१—४२।

बारहमासा और उसका सौन्दर्य

बारहमासा वर्णन की परम्परा संस्कृत साहित्य में नहीं मिलती। संभवत: लोकजीवन से गृहीत यह परम्परा हिन्दी साहित्य की अपनी वस्तु है। बारहमासे के द्वारा प्रत्येक महीने की प्रकृति के विरही और विरहिणियों पर पड़े हुए प्रभाव-वैविध्य के माध्यम से प्रकृति-चित्रण किया जाता है। संभवत: इस परम्परा का मूल उत्स अपभ्रंश-कालीन जनगीतियों का उन्मुक्त क्षेत्र है। जनगीतियों की भाव-धारा में वियोगिनी की व्यथा के साथ परिवर्तित-नर्तित काल का रूप और उसकी प्रतीक्षा मिलकर आई है। प्रत्येक मास की प्रमुख प्रकृति की रूप रेखा के आधार पर वह अपने प्रियतम को याद कर लेती है और उसके लिए विकल हो उठती है।[1] वर्ष का प्रत्येक मास व्यथा कातरा विरहिणी के भावों को उद्दीप्त करता है। कान्त के वियोग में वसन्त उसे उन्मत्त बना देता है, तो ज्येष्ठ की प्रचंड गर्मी उसे जला डालती है, भूधराकार घनों की घमंड–गर्जना से वह संत्रस्त हो उठती है, तो शरद की ज्योत्सना अग्नि बरसाती प्रतीत होती है।

हिन्दी साहित्य में बारहमासा-वर्णन आदिकाल से ही मिलने लगता है। नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेवरास में वियोगिनी राजमती का बारहमासा ही प्रमुख प्रतिपाद्य है।[2] विद्यापति ने भी बारहमासे का वर्णन किया है (मोर पिया सखि गेल दुर देस। — – भइन विद्यापति बारहमास[3])। मंझन[4], उसमान, दुखहरन-दास, बोधा आदि कवियों ने भी अपनी भाव-लड़ियां बारहमासा वर्णन से गूंथी हैं। जायसी के पदमावत में भी प्रकृति के प्रत्येक मास के रूप का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। प्रकृति के बारहो महीने के रूप और उनके साथ नागमती के विरह-दग्ध हृदय की अनुभूतियों का भी उन्होंने मार्मिक और करुणापूरित चित्रण किया है।

जायसी के बारहमासा वर्णन का लक्ष्य है नागमती का विरहोद्दीपन एवं स्वाभाविक प्रकृति-चित्रण द्वारा विरहिणी नागमती की विरहजन्य वेदना का हृदय-स्पर्शी निरूपण : इस बारहमासा का मूल आधार नागमती का विरह निवेदन ही

१–डा० रघुवंश : प्रकृति और हिन्दी-काव्य, मध्ययुग, पृ० ४०६।

२–क (सं०) डा० माताप्रसाद गुप्त, बीसले देव रास।

ख बीसलदेव रासो (ना०प्र० सभा, काशी), तृतीयसर्ग, पृ० ६७–७०।

३–रामवृक्ष बेनीपुरी : विद्यापति पदावली, पद २०८ (५० पंक्तियों में) पृ० २७१–७३।

४–मंझन कृत मधुमालती (हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय), पृ० १२०–२३।

५–डा० रघुवंश : प्रकृति और हिन्दी काव्य, पृ०३५१–५४।

है। परम्परा प्रचलित प्रकृति के उपमान, नवीन मौलिक उपमान एवं मार्मिक उक्तियों से युक्त इस बारहमासे में क्षण-क्षण नवीनता और उत्कृष्ट सौन्दर्य प्रदान करने वाली ताजगी विद्यमान है।

एक तो दूसरी स्त्री के लिए पति के जोगी होकर घर से चले जाने की विरह-व्यथा दूसरे प्रत्येक महीने की विरह-व्यथा को तीव्र करने वाली प्रकृति बेचारी जिए भी तो कैसे ?

"पुष्य नखत सिर, ऊपर आवा। हौं बिनु नाह मंदिर को छावा ।।"[१]

नागमती है तो चित्तौड़ की पटरानी, किन्तु वह चिन्तना में सामान्य 'विरहिणी बाला' के रूप में उपस्थित होती है। कान्त घर में नहीं है, भला उसके बिना मेरी टूटी कुटिया को कौन छाएगा ? (श्लेष से) कान्त के अभाव में इस शून्य राजप्रसाद या (मन मंदिर) को कौन अलंकृत करेगा ? सावन का सुहावना महीना-ग्रामीण संयोगिनियों के हर्ष का पारावार तरंगित होता ही रहता है। वे हिंडोले पर झूलती हैं, गाती हैं, पर विरहिणी को तो ये सब वस्तुयें प्रियतम की सुधि में विसूरने को बाध्य करती हैं। 'सखिन रचा पिउ संग हिंडोला' 'पूस जाड़ तन थर-थर कांपा' प्रभृत्ति पंक्तियों में प्रकृति के यथार्थ चित्रण के साथ ही ग्राम्य जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति हुई है। ये पंक्तियां अत्यन्त स्वाभाविक हैं।

जायसी ने इस वर्णन में प्रकृति के उद्दीपन विभाग के अंतर्गत आने वाले रूपों की दृष्टि से अधिक उन्मुक्त वातावरण का सर्जन किया है। परवर्ती रीति-कालीन कवियों में भाव-व्यंजना एवं वेदना की अनुभूतियों की अभिव्यंजना के स्थान पर वेदना के वाह्य अनुभवों और विलास के क्रीड़ा-कलापों का संवर्धन होता गया है। किन्तु जायसी ने ऋतु के बदलते हुए विभिन्न दृश्य रूपों को विरहिणी के मार्मिक भावों के सम पर ही उद्दीपक बनाया है। इसमें विरहिणी के विरह-प्रसंग को लेकर प्रकृति को अत्यन्त सहज संबन्ध में चित्रित किया गया है। विरह-कातरा नागमती प्रत्येक मास के परिवर्त-मान प्राकृतिक वातावरण के साथ अपनी विरह-वेदना को सम अथवा विरोध पर रखकर अधिक वैकल्य का अनुभव करती है। प्रियतम की प्रवासजन्य वेदना के ऊपर से ऋतुएं भी उसे महत् कष्ट दे रही हैं।

'आषाढ़ मास के धूम्र, श्याम और ध्वजा वर्ण के धावमान बादल, श्वेत-धवल रूपी बकपंक्ति गमन, तलवार की भांति विद्युत की कौंध, बूंदों की धारासार बाण-वर्षा, घटा का जलभार से झुकना, दादुर की टर्र-टर्र, कोकिल की काकली, पपीहा की 'पी-पी', विद्युत का गिरना और ऐसे गाढ़े समय में कान्त का 'बाहर' रहना

१—जा० ग्र०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १५२।

बेचारी नागमती का सब सुख विस्मृति प्राय है।[1]

सावन महीने की प्रकृति के उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत भी प्रकृति और विरहिणी के भावों का सामँजस्य स्थापित किया गया है। 'सावन में अपार पानी बरस रहा है, चारो ओर 'भरन' पड़ी है, फिर भी विरहिणी सूखती जाती है, वह रक्त के आंसू रोती है जैसे बीर बहूटियां रेंग चली हैं, सखियों ने हिंडोले का निर्माण किया है किन्तु उसका हृदय तो स्वयं दोलायमान हो रहा है, सारा सँसार जलमय हो रहा है और उसकी नाव खेवक के बिना ठहरी हुई हैं। विरहिणी के पास न पांव हैं, न पंख, प्रियतम और उसके बीच पर्वत, समुद्र, बीहड़ बन और घने ढाख के जंगल हैं, वह उससे कैसे मिले ?''[2]

इसी प्रकार जायसी ने प्रत्येक महीने की उद्दीपक प्रकृति के यथार्थ और मर्मस्पर्शी सुन्दर चित्रों द्वारा भी नागमती के विरह निवेदन को अधिक तीव्र, मार्मिक और प्रभविष्णु बनाया है—

गर्जमान बादलों के साथ आषाढ़ चढ़ा है	: प्रिय बचाओ, मैं काम आक्रान्ता हूं।"
बिजली गिरती है	: घट में जीव नहीं रह जाता।
पुष्य नक्षत्र सिर के ऊपर आ गया है	: स्वामी के बिना कौन मेरा मंदिर छायगा।
आर्द्रा लगते ही बिजली चमक कर भूमि छूने लगी	: मुझे प्रिय के बिना कौन आदर देगा ?
सावन में पानी खूब बरस रहा है, भरन पड़ी है	: मैं सूख रही हूँ।
संसार जल से आप्लावित है	: मेरी नाव खेवक बिना थकी हैं।
मघा में बादल झकोर-झकोर कर बरसता है	: विरहिणी के नयनों से धारासार अश्रु- : वर्षा हो रही है।

स्पष्ट है कि इस बारहमासे में प्रकृति और विरहिणी की भावनाओं का सामंजस्य अत्यन्त सरस एवं मनोमय ढँग से उपस्थित किया है। प्रकृति का स्वाभाविक रूप भावों को आधार प्रदान करता हैं और भावों की सहज स्थिति प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करती है। इसके साथ ही प्रकृति के विविध क्रिया-व्यापारों में भावों की व्यंजना का सन्निविष्ट रूप भी बारहमासे का एक आकर्षक और सौंदर्य-वर्द्धक तत्व है। वियोगिनी के भावों और अनुभावों के साथ ही प्रकृति से तद्रूपता का भी उपस्थापन किया गया है। 'यदि मघा में झकोर-झकोर कर वर्षा होती है, तो उसके

१—जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा काशी), पृ० १५२ (दोहा ४)।
२—जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १५२ (दोहा ६)।

नयनों से भी अनिमेष आंसुओं की झड़ी लगी है, यदि अन्धकार अथाह और गम्भीर है, तो उसका मन भी भ्रमित है।"

बारहमासे का रेखांकन

जायसी ने बारहमासे में शब्दों के सुंगुंफन का ऐसा उत्कृष्ट विधान किया है कि वर्ण्य-वस्तु का आकृति–चित्र पाठक की आंखों के समक्ष झूलने लगता है।

'जेठ में संसार जल उठता है, लू चलने लगती है, बवंडर उठते हैं, अंगार बरस पड़ते हैं, विरह गरज कर हनुमान की तरह जागा हैं और शरीर में लंका दहन कर रहा है, चारो ओर से चलकर पवन अग्नि को प्रदीप्त कर देता है, वह अग्नि लंका को जलाकर पर्यंकिका में लग गई है, आग उठती है, आंधी आती है और नयनों से नहीं सूझता, हाय, मैं बिरह दुःख में बंधी मरती हूँ।' जायसी ने प्रकृति के इस चित्र में रेखाओं को खूब उभार कर अपनी सूक्ष्म काव्य कला-शक्ति का परिचय दिया है। प्रकृति के दृश्य खण्ड की योजना की यथार्थता, प्रकृति और मानवीय भावों का सहज तादात्म्य सम्बन्ध और शब्दों के माध्यम से रेखांकन इन पंक्तियों के विशिष्ट आकर्षण के केन्द्र हैं।

'कातिक में शरच्चन्द्र की उज्ज्वलन्त में जग शीतल हो रहा है और मैं विरह में जल रही हूं। पूनम की कला से संयुक्त चन्द्र प्रकाशित है, मुझे लगता है मानो धरतीआकाश सब जल रहे हैं, मेरे तन और मन में सेज अग्निदाह उत्पन्न करती है। सबके लिए यह चांद है, पर मेरे लिए तो राहु हो गया है। घर में कान्त नहीं हैं, मेरे लिए चतुर्दिक अंधियाला ही है। अरे ओ 'निठुर' अब भी तो इस शुभ दिन घर आओ, जब संसार में दीवाली का पर्व मनाया जा रहा है। अंगों को मोड़–मोड़ कर बल खा-खाकर सखियां झूम-झूम कर झूमक गा रही हैं और मैं झंखती-सूखती हूँ कि मेरी जोड़ी बिछुड़ गई है। जिसके घर में प्रिय है, वह पूजा कर रही हैं, मुझे एक तो विरह का दुख, ऊपर से सपत्नी की चिन्ता भी हैं।[2]

नागमती अपनी विरह-व्यथा का निवेदन परिवर्तित ऋतु रूपों के माध्यम से करती हैं। उसकी विरहाभिव्यक्ति के मूल में प्रकृति से अधिकाधिक सहृदयता स्थापित करने की भावना भी अनुस्यूत हैं। इन वर्णनों में प्रकृति का भी जीवन्त रूप समक्ष उपस्थित हो जाता है—

सावन में—'जग जल बूड़ि जहाँ लगि ताकी। मांरि नाव खेवक बिनु थाकी।

१–जा०ग्रं० (ना०प्र० सभा, काशी), पृ० १४६ (दोहा १५)।
२–वही पृ० १५३-५४ (दोहा ८)।

भादों में —'धनि सूखे भरे भादों माहां । अबहुं न आएन्हि सीचेन्हि नाहां ।।'

'चित्रा का मीत चन्द्र मीन राशि में आ गया, पपीहा ने 'पिउ पिउ' पुकारते हुए मानो अपने सखि को पा लिया, अगस्त उदित है, स्वातिबूंद चातक के मुख में पड़ गया, सरोवर का स्मरण करके हंस लौट आए, सारस कुरलित एवं क्रीड़ाशील हैं, खंजन दिखाई पड़ते हैं, कांस फूल गए हैं– ये समस्त उल्लास तो आए, पर हे कांत, तुम नहीं लौटे, विदेश में ही भूल रहे[1] ।

इन वर्णनों, दृश्यों और प्रकृति के चित्रों के साथ ही जायसी ने ग्राम्य-प्रकृति के अनेकशः सुरम्य चित्रों को अत्यन्त जीवन्त रूप में उपस्थित किया है –

(भादों में) बरसै मघा झकोरि–झकोरी । मोरि दुई नैन चुवैं जस ओरी[2] ।
(क्वार में) भा पर गास, कांस बन फूले । कंत न फिरे, विदेसहिं भूले[3] ।'
(कार्तिक में) सखि झूमक गावैं अंग मोरी । हौं झुरावं, बिछुरी मोरी जोरी[4] ।।'
(अगहन में) कांपै हिया जगावै सीऊ । तो पै जाइ होइ संग पीऊ ।''

अतः "पिउ सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग ।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुवां हम्ह लाग[5] ।''

(यहां पर नागमती की सम्पूर्ण विरह-वेदना का अत्यन्त कारुणिक और संवेदनीय रूप दर्शनीय है) ।

(पूस में) 'पूस जाड़ थर–थर तन कांपा । सुरुज जड़ाइ लंक दिसि तापा[6] ।'
(माघ में) 'लागेउ माघ, परै अब पाला । बिरहा काल भएउ जड़काला[7] ।।'
(फागुन में)'फागु करहिं सब चाँचरि जोरी । मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी ।।
यह तन जारौं छार कै कहौं कि 'पवन उड़ाव ।'
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहं पाव[8] ।।
(चैत में) 'चैत बसंता होइ धमारी । मोहि लेखे संसार उजारी[9] ।'
(वैशाख में) 'लागिउ जरै जरै जस भारू । फिर फिर भूंजेसि तजिउं न बारू ।।

१–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १५३ (दोहा ७) (पदमावत, डा० अग्रवाल, पृ० ३४७, दोहा ३४७।४)
२–वही, पृ० १५३ (दोहा ६।५) ।   ३–वही, पृ० १५३ (दोहा ७।७) ।
४–वही, पृ० १५४ (दोहा ८) ।
५–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), दोहा ९ ।
६–पद्मावत (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल), पृ० ३४९ (१०।१)
७–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १५४ (दोहा ११।१) ।
८–वही, पृ० १५५ (दोहा १२) ।   ९–वही, पृ० १५५ (दोहा १३।१) ।

सरवर हिया घटत नित जाई । टूक टूक ह्वै कै बिहराई ॥
बिहरत हिया करहु पिउ टेका । दीठि दवंगरा मेरवहु एका ॥
कवँल जो विगसा मानसर बिनु जल गएउ सुखाइ ।
कबहुं बेलि पुनि पलुहै जौ पिउ सींचै आइ[1] ॥

नागमती के हृदय की उपमा कवि ने सूखते हुए सरोवर से दी है । उसकी व्यथा प्रस्तुत चित्र में साकार हो उठी है । यह चित्र ग्राम्य जीवन महान् पारखी कवि जायसी की ही लेखनी से सम्भव थे । इन पंक्तियों के विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन विशेष रूप से उल्लेख्य है – 'मैं तो समझता हूँ इसके जोड़ की सुन्दर और स्वाभाविक उक्ति हिन्दी काव्यों में बहुत ढूँढ़ने पर शायद ही कहीं मिले तो मिले[2] । 'सचमुच ये पंक्तियां ही जायसी को अमर महाकवि सिद्ध करने को यर्याप्त हैं । यहां पर प्रकृति के आलम्बन रूप के माध्यम से मानव की रागात्मिका वृति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया गया है । समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि 'नागमती का बारहमासा' प्रकृति सौंदर्य, विरह–वेदना की अन्यतम अभिव्यक्ति और उत्कृष्ट काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का एक महार्घ रत्न है ।

'बारहमासे के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा हो सकती है कि कवि ने वर्णन का आरम्भ आषाढ़ से क्यों किया है, चैत से क्यों नहीं किया ? बात यह है कि राजा रत्नसेन ने गङ्गा–दशहरे को चित्तौड़ से प्रस्थान किया था जैसे कि इस चौपाई से स्पष्ट है –

"दसवं दांव कै गा जो दसहरा । पलटा सोइ नाव लेइ महरा ॥"

यह बचन नागमती ने उस समय कहा है जब राजा रत्नसेन सिंहल से लौट कर चित्तौर के पास पहुंचा है । इसका अभिप्राय यह है कि जो केवट दशहरे के दिन मेरी दशम दशा (मरण) करके गया था, जान पड़ता है कि वह नाव लेकर आ रहा है । दशहरे के पांच दिन पीछे ही आषाढ़ लगता है, इससे कवि ने नागमती की वियोग दशा का आरम्भ आषाढ़ से किया है[3] ।'

वैशिष्ट्य

जायसी ने ऋतु वर्णन में परवर्ती रीतिकालीन कवियों जैसी बेमेल ठूंसठांस या उक्ति चातुर्य की कलाबाजियों का भद्दा प्रदर्शन नहीं किया है । इनके वर्णन की सबसे

१—जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० १५६ (दोहा १४) ।
२—जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी) भूमिका, पृ० ८६ ।
३–वही, पृ० ८६ ।

बड़ी विशेषता है व्यंजना का सारल्य और लोक जीवन के विविध रूपों की सीधी, सहज किन्तु अत्यन्त मार्मिक, समर्थ, अर्थपूर्ण और प्रभविष्णु अभिव्यक्ति। लोक जीवन और उसके उपादानों के यथार्थ वर्णन में जायसी सिद्धहस्त थे। इसे स्पष्ट करने के लिए दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे —

"चमक बीजु बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना"
(विद्युत की कौंध में धारासार वर्षा की बूंदों का सुवर्ण के समान चमकना)।
'पिउ संजोग धनि जोबन बारी। भौंर पुहुप संग करहिं धमारी ॥
होइ फाग भलि चांचरि जोरी। विरह जराइ दीन्हि जस होरी ॥
जिन्ह घर कंता ऋतु भली, आव वसंत सोनित्त।
सुख भरि आवहिं देवहरैं, दुःख न जानै कित्त[1] ॥
पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह मंदिर को छावा ॥
बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोरि दुइ नैन चुवैं जस ओरी[2]।
सरवरहिया घटत निति जाई। टूक टूक ह्वै कै विहराई[3] ॥
विहरत हिया करहु पिउ टेका। दीठि दंवगरा मेरवहु एका ॥
——जायसी

कंत बिन बासर बसंत लागे अंतकसे
तीर ऐसे त्रिविध समीर लागे लहकन"
—देव

'चेतैगी कहीं तौ चांदनी में चरि जायेगी।'
'बनन में, बागनि में बगर्‍यौ वसन्त है।'
—पद्माकर।

स्पष्ट है कि रीतिकालीन कवियों ने शब्दों और अलंकारों के व्यामोह में प्रकृति का निरीक्षण नहीं किया और सहज ही सौंदर्य समाप्त हो गया, किन्तु जायसी के सहज शब्दों से उनका सूक्ष्म निरीक्षण और मार्मिकता तथा अर्थपूर्ण भाषा-समर्थता सीधे हृदय को स्पर्श कर लेती हैं।

समष्टि रूप में हम कह सकते हैं कि पद्मावत का बारहमासा उद्दीपन रूप में प्रकृति के अवसादमय रूप का चित्रण करता है (उद्दीपन रूप में प्रकृति के हर्षमय तथा सुखमय स्वरूप का चित्रण वसंत वर्णन और षड्ऋतु वर्णन खंड में हुआ है।

'जग जल बूड़ि जहां लगि ताकी' आदि का औचित्य —

ध्यानपूर्वक विचार करने पर पता लगता है कि जायसी नागमती के प्रवह-

१—जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० १४८।
२—वही, पृ० १५२,१५३। ३—वही, पृ० १५६।

मान आंसुओं में बह गए हैं। उन्होंने देश का ध्यान भुला दिया है। आलोचकों का यह आक्षेप है कि चित्तौड़गढ़ निवासनी नागमती के मुख से यह कहवाना उचित नहीं है –

'जग जल बूड़ि जहां लगि ताकी। मोरि नाव खेवक बिनु थाकी ॥
सावन बरस मेह अति पानी। भरित पड़ी हौं विरह झुरानी ॥
धनि सूखे भरें भादौं माहां।''
जल थल भरे अपूर सब धरति गगन मिलि एक''

कहा जा सकता है कि उनकी नागमती जायस में गङ्गा जमुना के दो आबे में या चेरापूंजी के निकट नहीं है, वह तो चित्तौर में है जो मरुभूमि है। सम्भवतः परम्परा और वर्णन के झोंक में कवि को यह ध्यान ही नहीं रहा। कुछ लोगों ने इस भूल का मार्जन इस तर्क से किया है कि ''तन चितउर मन राजा कीन्हा ॥', आदि – इस रूपक को ध्यान में रखने पर उपरोक्त भूल भूल नहीं रह जाती, क्योंकि तन ही चित्तौर है और मन ही राजा और नागमती दुनियां धन्धा है। किन्तु मैंने इस रूपक के औचित्य पर 'कथानक की सांकेतिकता' के अन्तर्गत विचार किया है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने सिद्ध कर दिया है कि यह रूपक प्रक्षिप्त है। अतः इस प्रकार के तर्क कपोल कल्पित हैं जिनका कोई महत्व नहीं है।

यदि हम सहानुभूत्यात्मक दृष्टिकोण से इन पंक्तियों के औचित्य पर विचार करें, तो ज्ञात होता है कि जायसी का वक्तव्य सार्वकालिक और सार्वदेशिक है, एक देशीय नहीं। हमें जायसी के दृष्टिकोण से उनके कथन पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करना चाहिए। यहां पर नागमती के माध्यम से जायसी का कथन है 'जहां तक देखती हूँ संसार जल में डूबा है।'

पुनः नागमती तो 'जग जल बूड़ि जहां लगि ताकी' कह रही है। वह यह नहीं कहती कि चित्तौड़ या राजपूताना जल से आप्लावित हो गया है। इस प्रकार नागमती की उक्ति सार्वकालिकता और सार्वदेशिकता की कसौटी कसी जानी चाहिए। पुनः यदि साहित्यकार अपने वक्तव्य की प्रेषणीय गुणिता में सफल है, तो उसके ऐतिहासिक या भौगोलिक औचित्य का कोई प्रश्न नहीं उठता। पदमावत, पृथ्वीराज रासो और रामचरितमानस महाकाव्य हैं, इनकी कसौटी साहित्य है, इनका सम्पूर्ण सौंदर्य साहित्यिक है, ऐतिहासिक या भूगोलिक नहीं।

८

शैलीगत विवेचन

पद्मावत की सांकेतिकता

पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित जायसी-ग्रन्थावली में पद्मावत के उपसंहार खंड में कतिपय ऐसी पंक्तियां हैं जिनमें पात्रों और स्थानों के प्रतीकों के स्पष्टीकरण किए गए हैं। ये पंक्तियां इस प्रकार हैं –

"मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा ॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं ॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय संघल, बुधि पदमिनि चीन्हा ॥
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनियां-धन्धा। बांचा सोइ न एहि चित बंधा ॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू ॥
प्रेम-कथा एहि भांति बिचारहु। बूझि लेहु जौ बूझे पारहु ॥
तुरकी, अरबी हिंदुई भाषा जेती आहि।
जेहि महं मारग प्रेम कर सबै सराहत ताहि ॥"[1]

डा० माताप्रसाद गुप्त ने प्रस्तुत पंक्तियों को 'प्रक्षिप्त अंश' माना है। उन्होंने मूलतः १४ प्रतियों के आधार पर 'पद्मावत' का संपादन किया है।[2] उन्हें यह छन्द चार प्रतियों में मिला था। ये प्रतियां इस प्रकार हैं – प्रति १, प्रति तीन १, प्रति दो ४ और ५।

इन प्रतियों में प्रति १ डा० गुप्त को मिली प्रतियों में सर्वाधिक प्रचीन है।

१–जा० ग्रं० : सं० रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ३०१।
२–जा० ग्रं० : माताप्रसाद गुप्त, भूमिका, पृ० ६३।

इसका प्रतिलिपिकाल ११०७ हि० है। आज पदमावत की लगभग तीन दर्जन प्रतियों का पता चल गया है। इन प्रतियों के आधार पर पदमावत के पुनः वैज्ञानिक सम्पादन की आवश्यकता है। इस सम्पादन में जायसी की भाषा, व्याकरण आदि का भी ध्यान रखना आवश्यक होगा। अभी यह ज्ञातव्य है कि इन तीस प्रतियों में किन-किन प्रतियों में यह अंश मिलता है। यह भी अभी समस्या ही है कि यह अंश जायसी द्वारा विरचित है या नहीं।

"जिस आधार पर उन्होंने पदमावत के उक्त अंश को प्रक्षिप्त माना है वह कोई विशेष प्रामाणिक आधार नहीं कहा जा सकता। जायसी-साहित्य की अभी अधिकाधिक खोज होनी चाहिए और प्रामाणिक प्रतियों के आधार पर ही विद्वानों को कोई ऐसा सर्वमान्य निर्णय करना चाहिए। अभी तक जो प्रतियां उपलब्ध हैं उनके सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। - - संक्षेप में यही कहना है कि 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' वाला अंश प्रक्षिप्त नहीं है। फिर सम्पूर्ण कथा को एक अन्योक्ति मान लेने में किसी को विरोध नहीं होना चाहिए, क्योंकि पदमावत की मूल कथा साधना की कथा है, सामान्य कथा नहीं।"[१] डा० सुधीन्द्र का कथन है कि 'पदमावत एक विराट आध्यात्मिक रूपक संकेत अथवा 'अन्योक्ति है, जिसमें लौकिक, शारीरिक और बोधगम्य प्रतीकों के द्वारा अलौकिक, अशारीरिक और ज्ञानातीत ब्रह्म, जीव और उसके चिरन्तन सम्बन्ध अद्वैत की व्यञ्जना की गई है।"[२]

पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने भी इस अंश को जायसी-कृत माना है।[३]

डा० पीताम्बर दत्त बाड़थ्वाल का कथन है कि कवि ने जो कुञ्जी दी है वह ठीक नहीं है। नागमती को दुनियां धन्धा मानना भी ठीक नहीं है। 'हम तो नागमती की अवहेलना कर पदमावती-प्राप्ति के प्रयत्न को उसी दृष्टि से देखते हैं। जिस दृष्टि से नाथपंथी मछंदरनाथ को सिंहल जाकर पद्मिनी स्त्रियों के जाल में पड़ जाने को। वह पतन है, उत्थान नहीं। नागमती का प्रेम जितना दिव्य है उतना पद्मावती का नहीं।[४]

श्री ए० जी० शिरेफ का कथन है कि 'सम्पूर्ण पदमावत में कोई निश्चित अन्योक्ति है, इस विषय में मुझे संदेह है। कवि ने उपसंहार में जो कुञ्जी दी है, वह

१–प्रो० दानबहादुर पाठक और प्रो० जीवन प्रकाश जोशी : जायसी और उनका पद्मावत, पृ० १७६—७७।

२–वही, पृ० १८०—८१।

३–पदमावत का काव्य सौंदर्य पृ० १२९—३०।

४–डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ, पदमावती की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद', पृ० ३९५—४०१।

ताले में ठीक नहीं बैठती ।[१] डा० सूर्यकान्त शास्त्री का कहना है कि "अत्तार की तरह जायसी भी महान् सूफी हैं । वे चित्तौर को शरीर, रतनसेन को आत्मा, सुआ को गुरु, पद्मावती को बुद्धि, राघव को शैतान और अलाउद्दीन को माया के रूप में मानते हैं । इस प्रकार और भी व्याख्या देकर वे पदमावत को अन्योक्ति मानते हैं ।[२]

डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है कि 'यह (तन चितउर मन राजा कीन्हा' वाला) छन्द शुक्लजी के संस्करण में प्रायः अन्त में आता है और कथा के गूढ़ार्थ का निर्देश करता है । चित्तौर को तन, राजा को मन, सिंहल को हृदय, पद्मिनी को बुद्धि आदि बताता है । यह छन्द शुक्लजी को नवलकिशोर प्रेस और कानपुर वाले संस्करणों में मिला था, कदाचित इसलिए उन्होंने इसे प्रामाणिक मानकर ग्रन्थ के मूल पाठ में स्थान दिया । मुझे केवल दो हस्तलिखित प्रतियों में यह छन्द मिला है, प्रति १ तथा तृ० १ । ये प्रतियां पाठ परम्परा में सबसे नीची पीढ़ी में आती हैं । इसलिए यह छन्द निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है । किन्तु इस छन्द को प्रामाणिक मान लेने के कारण जायसी के रूपक निर्वाह के विषय में शुक्लजी ने और उनके पीछे के जायसी के समस्त आलोचकों ने कितना बड़ा वितंडाबाद किया है ।[३]

डा० गुप्त को मूलतः चार प्रतियों में यह अंश मिला था ।[४] यह कहा जा सकता है कि 'किसी सूफी प्रचारक ने मत-प्रचारक रूप का सैद्धान्तिक जामा पहनाने की धुन में यह अंश पदमावत में डाल दिया है ।"[५]

इन पंक्तियों के प्रकाश में सम्पूर्ण कथा पर रूपक रूप का ठीक आरोप नहीं हो पाता । इस से जायसी की कुछ मान्यताओं का खण्डन भी हो जाता है । राघव को कहीं भी दूत के रूप में नहीं माना गया है, वह तो चित्तौर का निष्कासित व्यक्ति है । यद्यपि यह अभी भी ज्ञातव्य है कि यह छन्द जायसी कृत है या नहीं तथापि यह छन्द जायसी की प्रतीक-योजना पर पर्याप्त प्रकाश डालता है ।

इन पंक्तियों से स्पष्ट ध्वनित है कि अरबी, फारसी और हिन्दुई सभी

१—ए० जी० शिरेफ : पदुमावति (अंग्रेजी अनुवाद) भूमिका, पृ० ८, १९४४ । "आई डाउट, वेरी मच, ह्वेदर ही (दि पौएट) हैड एनी डिफिनिट एलीगरी प्रेजेन्ट टू हिज माइन्ड थ्रू आउट, ह्विच ही गिव्स अस, इन दी फर्स्ट स्टैंजा आफ दी एनवाय डज नाट बाई एनी मीन्स फिट दि लाक ।"

२—डा० सूर्यकान्त शास्त्री : पदुमावति, प्रीफेस, पृ० २ ।

३—डा० माताप्रसाद गुप्त : जा० ग्रं०, भूमिका, पृ० ११४ ।

४—वही, पृ० ६३ ।

५—पदमावत का काव्य-सौंदर्य, पृ० १३१ ।

भाषाओं में प्रेम-मार्ग की प्रशंसा है । इन पंक्तियों में यह भी आग्रह किया गया है कि 'पदमावत की प्रेम कथा, का इन्हीं प्रतीकों के प्रकाश में विचार किया जाय ।

पदमावत में जायसी ने अनेक स्थलों पर अपने प्रतीकों की ओर इंगित किया है । उन्होंने कथा के आरम्भ में स्पष्ट कर दिया है कि पदमावत में व्यंग्यार्थ (आध्यात्मिक प्रेम पद्धति) ही प्रधान है । उसके प्रस्तुत अर्थ को प्रधान मानने वाले उसी प्रकार मूल रस से वंचित रह जायेंगे, जैसे दादुर कमल की सुगन्धि का आनन्द नहीं उठा पाता ।

कवि वियास कंवला रस पूरी । दूरि सो नियर, नियर सो दूरी ।।
नियरे दूर फूल जस कांटा । दूरि जो नियरे, अस गुरु चांटा ।।
भंवर आइ बन खंड सन लेइ कंवल कै बास ।
दादुर बास न पावई, भलेहि जो आछै पास ।''[१]

सिंहल को दर्पग के समान कहा गया है । सूफियों के यहां दर्पण हृदय का प्रतीक माना जाता है —

सिंहल दीप कथा अब गावौं । औ सौ पदमिनि बरनि सुनावौं ।।
निरमल दरपन भांति विसेखा । जौ जेहि रूप सो तैसइ देखा ।।[२]

जायसी ने पद्मिनी को ब्रह्म–ज्योति या परमात्मा के प्रतीक के रूप में माना है —

प्रथम सो जोति गगन निरमई । पुनि सो पिता माथे मनि भई ।।
पुनि वह जोति मातु घट आई । तेहि ओदर बहु आदर पाई ।।
जस अंचल महं छिपै न दीया । तस उजियार दिखावै हीया ।।
सोने मंदिर संवार हिं औ चंदन सब लीप ।
दिया जो मनि शिव लोक महं उपना सिंहलदीप ।।[३]

रतनचेन जीवात्मा का प्रतीक है –

हौं तो अहा अमरपुर जहाँ । इहां मरनपुर आएउँ कहाँ ।।
अब जिउ तहाँ इहाँ तन सूना । कब लगि रहै परान बिहूना ।।
अहुठ हाथ तन सरबर हिया-कंवल तोहि मांह ।
नैनन्हि जानहु निअरें कर पहुँचत अवगाह ।।[४]

१–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ८ ।
२–वही, पृ० १० (दोहा १। १—२) ।
३–यही, पृ० १६ (दो० १) ।
४–पदमावत, दोहा १२१, पृ० ११७ (चिरगांव झासी) ।

हीरामन शुक को स्पष्ट रूप से कवि ने गुरु का प्रतीक कहा है –

देखु अन्त अस होइहि, गुरू दीन्ह उपदेस ।
सिंघल दीप जाब हम, माता देहु अदेस ।[१]

हीरामन राजा सौं बोला । एही समुद आइ सत डोला ।[२]
एहि ठांव कहँ गुरु संग कीजै । गुरु संग होइ पार तौलीजै ।।
पूछा राजै कह गुरु सुआ । न जनौं आज कहां दिन उवा ।।[३]

'गुरू सुआ जेइ पंथ दिखावा' पदमावत में जीवन्त रूप में द्रष्टव्य हैं। पदमावत के प्रतीक और उनके व्यंगार्थ इस प्रकार हैं—

पद्मावती	:	परमात्मा की ज्योति (परमात्मा)
रत्नसेन	:	जीवात्मा
सिंहल	:	पवित्र हृदय
हीरामन शुक	:	गुरु
नागमती	:	सांसारिक सम्बन्ध
अलाउद्दीन	:	माया
राघव चेतन	:	शैतान (नारद)
देवपाल और दो दूतियाँ	:	मन की पाप वृत्तियां
सात समुद्र	:	सूफियों के सात जंगल या आध्यात्मिक साधना की सात सीढ़ियाँ
मानसर	:	मनस् या ब्रह्मरन्ध्र
सिंहल–यात्रा	:	प्रेम-मार्ग की यात्रा ।

उपसंहार वाले छन्द में प्रतीक योजना इस प्रकार है—

चित्तौड़	:	तन
रतनसेन	:	मन
सिंहल	:	हृदय
पद्मिनी	:	बुधि
नागमती	:	दुनियां-धन्धा
अलाउद्दीन	:	माया
राघव-चेतन	:	शैतान
पद्मावती की कथा	:	प्रेम-कथा

१–जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ५५, (दोहा ५) ।
२–पदमावत (चिरगांव, झांसी), पृ० १४९, दोहा १५६ ।
३–वही, पृ० १५२, दोहा १५९ ।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन है कि "पदमावत के उस अंश को प्रक्षिप्त ही माना जाय, तो भी यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि पदमावत के अध्ययन की परम्परा में यह बात स्वीकृत थी कि सारी रचना आन्यापदेशिक है। अतः पदमावत के अध्ययन में उस रचना का उपयोग करना जायसी की स्थापना के विरुद्ध नहीं माना जा सकता।" इसमें एक तो जो पिंड में है सो ब्रह्मांड में, जो ब्रह्मांड में सो पिंड में वाली धारणा दिखाई देती है और यह योग मार्ग से आई हुई है। इसमें तो स्पष्टतः ही अंतःकरण के चार रूपों में से एक प्रकार को छोड़कर शेष तीन अर्थात् मन, चित्त और बुद्धि क्रमशः राजा, सिंहल और पद्मिनी के अन्यापदेश कहे गए हैं। मन संकल्प-विकल्प करने वाला होता है, रत्नसेन को भी इसी स्थिति में दिखाया गया है। चित्त अनुसंधानात्मक होता है और सिंहल भी अनुसंधानात्मक है। बुद्धि निश्चयात्मक होती है अर्थात् ज्ञान के क्षेत्र की होती है। वह स्वयं ज्ञान स्वरूप है, ब्रह्म भी ज्ञान-स्वरूप है। इसीलिए कदाचित लोगों ने पद्मिनी और ब्रह्म को एक कर दिया है। मार्गदर्शक गुरु हीरामन सुग्गा है और बिना गुरु के निर्गुण की प्राप्ति नहीं हो सकती।" 'यदि यह अंश कवि का लिखा हुआ नहीं है, तब तो शुक्लजी का पक्ष और भी दृढ़ होता है अर्थात् इसको व्यंग्य ही मानना पड़ेगा वाच्य नहीं। इसलिए इस पद्धति को समासोक्ति ही कहना ठीक है, अन्योक्ति नहीं।"[१]

उपर्युक्त विवेचन और प्रस्तुत मत के आलोक में कहा जा सकता है कि पदमावत समासोक्ति शैली का एक महाकाव्य है अन्योक्ति का नहीं।

अन्योक्ति

'तन चितउर मन राजा कीन्हा' तथा अन्य प्रतीकों को दृष्टि में रखकर कुछ विद्वानों[२] ने पद्मावत की कथा को अन्योक्ति मूलक कहा है।

यह सही है कि रत्नसेन का पद्मावती तक पहुँचाने वाला प्रेम-पंथ जीवात्मा को परमात्मा में ले जाकर मिलाने वाले प्रेम-पंथ का स्थूल आभास है। प्रेम-पथिक रत्नसेन एक सच्चे साधक के रूप में उपस्थित किया गया है। पद्मिनी ही ईश्वर से मिलाने वाला ज्ञान या बुद्धि है अथवा चैतन्य-स्वरूप परमात्मा है जिसकी प्राप्ति का मार्ग बताने वाला सुआ सद्गुरु है। उस मार्ग में अग्रसर होने से रोकने वाली नागमती संसार का जंजाल है। तनरूपी चित्तौर का राजा मन है। राघव चेतन शैतान है जो प्रेम का ठीक मार्ग न बता कर इधर-उधर भटकाता है। माया

१—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ० १७४–१७५।

२—पदुमावति : प्रीफेस, पृ० २ (१६३४)।

में पड़े हुए सुलतान अलाउद्दीन को माया-रूप ही समझना चाहिए । इस प्रकार जायसी ने सारे प्रबन्ध को व्यंग्य–गर्भित कह दिया है । "यदि कवि के स्पष्टीकरण के अनुसार व्यंग्य अर्थ को ही प्रस्तुत या प्रधान मानें, तो जहां-जहाँ दूसरे अर्थ भी निकलते हैं, वहां-वहां अन्योक्ति माननी पड़ेगी । पर ऐसे स्थल अधिकतर कथा के अंग हैं और पढ़ते समय कथा के अप्रस्तुत होने की धारणा किसी पाठक को हो नहीं सकती । अतः इन स्थलों के वाच्यार्थ को अप्रस्तुत कह नहीं सकते । इस प्रकार वाच्यार्थ के प्रस्तुत और व्यंग्यार्थ के अप्रस्तुत होने से ऐसी जगह सर्वत्र 'समासोक्ति' ही माननी चाहिए ।"[1] शुक्लजी ने ठीक ही लक्षित किया था कि पदमावत की कथा में सर्वत्र अन्योक्ति नहीं है ।

जहां कथा-प्रसंग से भिन्न वस्तुओं के द्वारा प्रस्तुत प्रसंग की व्यंजना होती हो वहां 'अन्योक्ति' होगी, जैसे—

सूर उदै गिरि चढ़ा भुलाना । गहनै गहा, कंवल कुंभिलाना ।।

यहां इस अप्रस्तुत के कथन द्वारा राजा रत्नसेन के सिंहलगढ़ पर चढ़ने और पकड़े जाने की व्यंजना की गई है ।

"कंवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ ।
अबहुँ बेलि फिर पलुहै; जो पिउ सींचै आइ ।।"

यहां पर विरहिणी की दशा प्रस्तुत प्रसंग है और जल-कमल का प्रसंग प्रस्तुत नहीं है । अतः यहां अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना होने के कारण अन्योक्ति है । यदि औपसंहारिक छन्द को जायसीकृत मान लें, और व्यंग्य अर्थ को ही प्रस्तुत या प्रधान मानें तो जहां–जहां दूसरे अर्थ निकलते हैं, वहां-वहां भी अन्योक्ति माननी पड़ेगी, किन्तु ऐसे कथा के स्थलों में सर्वत्र अप्रस्तुत की प्रधानता बाधक होती है । अतः पदमावत को अन्योक्ति पद्धति का ग्रंथ मानने में बड़ी कठिनाई है । इस सांकेतिक कोश के अनुसार भी सम्पूर्ण कथा को अन्योक्ति मानने में कठिनाई है । कम से कम अन्तिम तीन प्रतीकों से कथा की स्वाभाविकता और काव्य-सौंदर्य में व्याघात उपस्थित हो जाता है ।

(१) क्या नागमती को दुनिया–धन्धा माना जा सकता है ?

नागमती रत्नसेन की प्रथम परिणीता पत्नी है । उसका पातिव्रत्य और उज्ज्वल चारित्र्य आदर्श हिन्दू गृहिणी के रूप में चित्रित है । पति इतर स्त्री के सौंदर्य पर प्रलुब्ध होकर सिंहल गमन करता है । वह सीता की भांति उसके साथ जाना चाहती है । उसकी वृत्तियाँ भी बड़ी उदात्त हैं—

मोहिं भोग सों काज न बारी । सौंह दीठि की चाखनहारी ।।

१—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, भूमिका, पृ० ५६–५७ ।

सवति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पाँय मो माथ ॥[१]

यह भावना उसे मानवता के सर्वोच्च आसन पर आसीन कर देती है। रत्न-सेन की मृत्यु के अनन्तर पदमावती भी नागमती के साथ सती हो जाती है। अतः यदि यह कहा जाय कि पदमावती की तुलना में नागमती का चरित्र किसी भी प्रकार कम नहीं है, तो उचित ही है।

नागमती को 'दुनियां–धन्धा'–सांसारिकता के ही अर्थों में माना जा सकता है। 'उसके द्वारा सर्वत्र अन्योक्ति का विधान किया गया है', यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत रूप में उसका चरित्र आदर्श, भव्य और सती का है।

(२) 'राघव दूत सोइ सैतानू ?'

यह ठीक ही कहा गया है कि सूफी साधना में शैतान या नारद साधक को साधना-पंथ से विचलित करता है। उसे साध्य की प्राप्ति का बाधक माना जाता है। जब रत्नसेन साध्य (पद्मावती) से मिल गया, तब शैतान की क्या आवश्यकता वह पदमावत में दूत-रूप में नहीं आया है, वह तो चित्तौर का निष्कासित और अपमानित व्यक्ति है।

(३) अलाउद्दीं माया सुलतानू ?

यह रूपक है या प्रतीक, ठीक नहीं जान पड़ता। रत्नसेन की भाँति अला-उद्दीन भी प्रज्ञा-स्वरूप पद्मिनी की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है। यदि एक क्षण के लिए संपूर्ण पदमावत को अन्योक्ति मान भी लें, तो भी अलाउद्दीन को माया कहना भ्रमपूर्ण रहेगा। राघव को दूत और अलाउद्दीन को माया कहना जंचता नहीं। पदमावती ईश्वर की प्रतीक है रत्नसेन रूपी साधक पदमावती रूपी साध्य से मिल गया है। पुनः इस मिलन के अनंतर शैतान या माया की क्या आवश्यकता है ?

१—जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १६० (दोहा ३)।

विशेष : डा० माताप्रसाद गुप्त ने उसे प्रक्षिप्त माना है। उन्होंने १४ प्रतियों के आधार पर पदमावत का संपादन किया है। उन्हें केवल तीन प्रतियों में यह छंद नहीं मिला। शेष ११ प्रतियों में यह छंद था। रामपुर स्टेट पुस्तकालय में पदमावत और कहरानामा की एक अत्यन्त सुन्दर प्रति है। इस प्रति में भी यह छन्द है अतः इस अंश को प्रक्षिप्त नहीं माना जाना चाहिए। (प्रक्षेप ३६१ अ, पृ० ५८२) प्रसँग के अनुसार भी इस छंद की वहां आवश्यकता है। मेरे मत में इस छंद को प्रक्षिप्त कहने का कोई आधार नहीं है।

द्रष्टव्य, डा० माताप्रसाद गुप्त, जा० ग्रं०, भूमिका, पृ० ७४। और प्रक्षेप २६१ अ, पृ० ५८२।

और माया उसे स्वयं अपनी पत्नी बनाने के लिए आक्रमण, छल आदि क्यों करती है ? वस्तुत: माया का प्रयोजन साधना की अपूर्णावस्था में ही साधक को पथभ्रष्ट करने का होता है ।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि चाहे यह छंद जायसी कृत हो या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा विरचित, पर इससे जायसी के प्रतीक-विधान पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । यह कहना कि कवि ने इसके द्वारा कथा की लौकिकता को छिपाने के लिए एक जामा पहिनाया है जिससे सर्वसाधारण उसकी आध्यात्मिकता में विश्वास रक्खें, निराधार है । डा० मोहनसिंह और डा० कमलकुल श्रेष्ठ का यह अनुमान कि कवि ने सारे कथानक को शरीर के ही अन्दर घटित किया है जिसमें कवि असफल है और काव्य लिखने के बाद कवि ने यह व्याख्या दी है, काव्य-रचना के समय कवि के मस्तिष्क में ऐसी कोई बात नहीं थी, महत्वहीन है । इस छंद के आधार पर पद-मावत को अन्योक्ति मूलक नहीं माना जा सकता ।[1]

समासोक्ति मूलक अभिव्यक्ति

पदमावत में चार चाँद लगाने वाली समासोक्ति मूलक अभिव्यक्ति का बड़ा महत्व है । "वस्तु-वर्णन के प्रसंग में जायसी ने प्राय: इस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग किया है जिससे प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता का अर्थ भी पाठक के चित्त में अनायास उदभासित हो सके, जैसे सिंहलगढ़ के वर्णन के प्रसंग में नौ पौरी और उनके बाद दसवें दरवाजे वाले नगर का संकेत पाठक को नौ छिद्रों और दसवें ब्रह्मरन्ध्र वाले शरीर का संकेत उपस्थित करते हैं । इसी को समासोक्ति पद्धति कहा जाने लगा है । समासोक्ति एक अलंकार है जिसकी सुन्दरता विशेषणों के प्रयोग पर निर्भर करती है । इसलिए इसे शास्त्र में विशेषण विच्छितिमूलक 'अर्थात् विशेषण की सजावट पर निर्भर रहनेवाला अलंकार कहा जाता है । यह श्लेष से भिन्न है, क्योंकि श्लेष की सुन्दरता विशेषण और विशेष्य दोनों की सजावट पर निर्भर है । इसीलिए उसे विशेषण –विशेष्य विच्छित्ति-मूलक 'अलंकार कहते हैं । श्लेष में कवि दो अर्थ बताने के लिए वचनबद्ध होता है, किन्तु समासोक्ति में वह कौशल के साथ ऐसे विशेषणों का प्रयोग करता है जो सहृदय के चित्त में केवल अप्रस्तुत अर्थ का संकेत भर कर देते हैं । इसमें कवि आदि से अंत तक दो अर्थों के निर्वाह के लिए प्रतिज्ञाबद्ध नहीं होता । जहाँ और जब उसे मौका मिल जाता है

१—द्रष्टव्य, पदमावत का काव्य-सौन्दर्य, अध्याय ५ पृ० १३२—३४ ।

२—समासोक्ति समैर्यत्र कार्य लिंगविशेषणैः ।
व्यवहार समारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः । "साहित्यदर्पण (पीवी, काणे पृ० ४०)
द० परि०, का० ५—६ ।

तहाँ और तब कुछ विशेषणों का ऐसा प्रयोग करता है जिससे पाठक के हृदय में उसका अभिप्रेत अप्रस्तुत अर्थ भी आ उपस्थित होता है। जायसी ने अपने प्रबंध-काव्य में इसी समासोक्ति पद्धति का प्रयोग किया है। काव्य के अंत में 'तन चित-उर मन राजा कीन्हा' जो संकेत है वह मूल ग्रन्थ का नहीं है। पदमावत की प्राचीन प्रतियों से यह बात सिद्ध हो चुकी है। इसलिए जो लोग पद-पद पर पदमावत में रूपक-निर्वाह की बात सोचते हैं। पदमावत का कवि रूपक-निर्वाह के लिए प्रतिज्ञा बद्ध नहीं है। कई बार प्रसंग आने पर उसने जब लौकिक सौंदर्य की ओर इशारा किया है, तो ऐसे स्थलों में अप्रस्तुत इशारा ही प्रधान हो जाता और प्रस्तुत प्रसंग गौण हो जाता है। यह काव्यगत दोष है। सिंहलगढ़ के वर्णन के प्रसंग में जहाँ तक नौ पौरियों दस दरवाजों और राज परिवार के वर्णन का प्रसंग है, वहाँ तक तो समासोक्ति का बहुत सुन्दर निर्वाह हुआ है, पर जहाँ कवि 'का निचिंत माटी के भांड़े' कह कर चेतावनी देने लगता है, वहां उसका कवि-रूप गौण हो जाता है और संत–रूप प्रधान हो जाता है। यहाँ समासोक्ति-पद्धति का निर्वाह ठीक नहीं हो पाया है।"[1]

अतः पदमावत की कथा अन्योक्ति मूलक नहीं है, क्योंकि उसमें वाच्यार्थ और व्यंगार्थ दोनों का महत्व है। यद्यपि कवि का लक्ष्य सामान्य लौकिक प्रेम के माध्यम से पाठकों के मन को आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र में पहुँचाना है। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही उसने प्रतीक-योजना और सांकेतिक–पद्धति का सहारा लिया है और जहाँ इनसे भी उसे संतोष नहीं हुआ है वहां उसने सीधे-सीधे उपदेशात्मक ढंग से पारमार्थिक तत्वों का निरूपण किया है। इस तरह (डा० शम्भूनाथसिंह का कथन है कि) पदमावत में चार प्रकार की अभिव्यक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं।

(१) अन्योक्तिमूलक–जिसमें प्रस्तुत महत्वहीन है अप्रस्तुत आध्यात्मिक अर्थ ही कवि के अभिप्रेत हैं। जैसे—

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पानी भरहिं जैस दुरपदी ॥
और कुंड एक मोती चूरू। पानी अंम्रित कीच कपूरू ॥

(२) समासोक्ति मूलक अभिव्यक्तियाँ–जिसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का वर्णन करना कवि को अभिप्रेत रहता है। जैसे–

ऐ रानी मनु देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी ॥
जौ लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौ खेलहु आजू ॥
पुन सासुर हम गौनव काली। कित हम कित यह सरवर पाली ॥"

१–पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० २७६।

(३) लौकिक पक्ष का अभिधामूलक वर्णन—जिसमें कोई दूसरा अर्थ नहीं है।

(४) केवल आध्यात्मिक पक्ष का अविधामूलक और उपदेशात्मक वर्णन जिसकी प्रस्तुत कथा के प्रसंग में कोई उपयोगिता या अर्थ नहीं है, जैसे—

दसवं दुवार तार कै लेखा। उलटि दिष्टि जो लाव सो देखा।।
तू मन नाथु मारि के स्वांसा। जौ पै मरहि आपुहि करु नासा।।

डा० शम्भूनाथसिंह का आग्रह है कि "पदमावत के अधिकांश कथा-प्रसंग और वर्णन इसी प्रकार के सांकेतिक अर्थ ध्वनित करने वाले हैं और पूरी कथा भी अपने समग्र प्रभाव के रूप में इसी संकेत पद्धति के कारण एलीगोरी प्रतीत होती है। 'एलीगोरी' को हिन्दी में प्रतीक कथा कहना अधिक सही प्रतीत होता है, क्योंकि अन्योक्ति और समासोक्ति मूलत: अलंकार है। पदमावत के पात्र और अनेक घटनायें तथा वस्तुएं प्रतीकों के रूप में उपस्थित की गई हैं। अत: उसे प्रतीकात्मक काव्य और उसकी कथा को 'प्रतीक–कथा, कहना अधिक उपयुक्त प्रतीक होता है।"[१]

पदमावत की कथा को प्रतीक-कथा कहना और उस काव्य को प्रतीकात्मक काव्य मानना ठीक होते हुए भी ठीक नहीं है। ठीक इसलिए है कि पदमावत में प्रतीक योजना है और प्रचुर परिमाण में है, पर उसकी प्रस्तुत कथा का भी पर्याप्त महत्व है, 'प्रतीक' शब्द द्वारा प्रस्तुत से ध्यान हटकर अप्रस्तुत की ओर चला जाता है। पदमावत में प्रतीकों की योजना है और इसी कारण उसे प्रतीकात्मक काव्य नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: न तो पदमावत 'एलीगोरी' है और न 'सिम्बालिक' या प्रतीकात्मक। उसमें स्थल स्थल पर परोक्ष सत्ता की ओर इंगित अवश्य हैं, उसमें प्रतीक अवश्य प्रयुक्त हैं, किन्तु मूलत: वह प्रेमगाथा है जिसे जायसी ने 'भाषा-चौपाई' में लिखकर प्रस्तुत किया है। उसमें समासोक्ति शैली का प्रयोग हुआ है। आचार्य शुक्ल जी ने ठीक ही कहा था कि "जहां जहाँ प्रबन्ध में प्रस्तुत वर्णन में अध्यात्म पक्ष का कुछ अर्थ भी व्यंग हो वहाँ–वहां समासोक्ति ही माननी चाहिए।'[२] सचमुच पदमावत के सारे वाक्यों के दोहरे अर्थ नहीं हैं। सर्वत्र अन्य पक्ष के व्यवहार का आरोप नहीं है। केवल बीच–बीच में कहीं-कहीं दूसरे अर्थ की व्यंजना होती है। ये बीच–बीच में आये हुए स्थल, जैसा कि कहा जा चुका है अधिकतर तो कथा–प्रसंग के अंग हैं, जैसे सिंहलगढ़ की दुर्गमता और सिंहल द्वीप

१—डा० शम्भूनाथसिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४७२–७२।
२–पं० रामचन्द्र शुक्ल : जा०ग्रं० भूमिका, पृ० ५७–५८।

के मार्ग का वर्णन, रत्नसेन का तूफान में पड़ना और लंका के राक्षस-द्वारा बह-काया जाना। अत: इन स्थलों में वाच्यार्थ से अन्य अर्थ जो साधना-पक्ष में व्यंग्य रखा गया है, वह प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से अप्रस्तुत ही कहा जा सकता है और समासोक्ति ही माननी पड़ती है।''[१]

डा० कमलकुल श्रेष्ठ का कथन है कि 'इस प्रकार पद्मावती के पहले ग्यारहवें खंड तक ही प्रतीत होता है कि मानों यह कथा अपनी आध्यात्मिक समासोक्ति रखती है। संक्षेप में परिणाम यह है कि ग्यारहवें खण्ड तक तो कहीं-कहीं प्रेम की अनुभूति दिव्य-सी है, परन्तु उसके पश्चात् वह लौकिकता की ओर झुक चली है। और पूर्वार्द्ध के पश्चात् वह एकमात्र लौकिक रह गई है। यदि रहस्यवाद जैसी किसी वस्तु का कुछ भी आभास है, तो वह पूर्वार्द्ध के पहले ग्यारह खंडों में है, शेष में नहीं। कवि उसका निर्वाह नहीं कर सका। धीरे-धीरे वह अन्योक्ति की भावना उसकी मुट्ठी से छूटने लगी और उत्तरार्द्ध में वह बिलकुल निकल गई है।[२]

इस प्रकार के मतों के विरोध में इतना ही कहा जा सकता है कि 'केवल ग्यारहवें खंड, तक ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण पदमावत में समासोक्ति वाले स्थल मिलते हैं। सम्भवत: कुछ लोगों ने समासोक्ति पद्धति के मूलभूत अर्थ को ठीक से नहीं समझा है। ऊपर कहा जा चुका है कि समासोक्ति-पद्धति में कवि सर्वत्र दो अर्थों के स्पष्टीकरण के लिए प्रयत्न नहीं करता। उसे जहां और जब अवसर मिलता है, तहाँ और तब विशेषण विच्छित्तिमूलक अलंकार शैली का प्रयोग करता है और इस प्रकार वह प्रस्तुत अर्थ के साथ ही अभिप्रेत अप्रस्तुत अर्थ भी उपस्थित कर देने का प्रयत्न करता है। हम यहाँ यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि पदमावत में आदि से अन्त तक समासोक्ति पद्धति से स्थल-स्थल पर परोक्ष सत्ता की ओर इंगित करना कवि का एक महत् उद्देश्य है।

रत्नसेन दिल्ली में अलाउद्दीन की कैद में है। रानी पदमावती चित्तौड़ में विलाप करती है —

'सो दिल्ली अस निबहुर देसू। केहि पूछहुँ को कहै संदेसू॥
जो कोइ जाइ तहां कर होई। जो आवै किछु जान न सोई॥
अगम पंथ पिय तहां सिधावा। जो रे गयउ सो बहुरि न आवा॥[३]

पदमावत में ये वाक्य प्रस्तुत प्रसंग का वर्णन करते हैं। इसमें परलोक-यात्रा का अर्थ भी व्यंग्य है। यहां वाच्यार्थ को प्रस्तुत और व्यंग्यार्थ को अप्रस्तुत मानकर

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल : जा० ग्रं०, भूमिका, पृ० ५७।
२—डा० कमलकुल श्रेष्ठ : म० मु० जायसी, पृ० १०२—१०३।
३—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० २६४।

तथा 'कोई किछु जान न' और 'बहुरि न आवा' को दिल्ली-गमन और परलोक-गमन दोनों के सामान्य कार्य ठहराते हुए दिल्ली-गमन में परलोक-गमन के व्यवहार का आरोप करके हम समासोक्ति ही कह सकते हैं,[1] ये पंक्तियां ४८ वें खंड (पदमावती, नागमती-विलाप-खंड) से ली गई हैं। समासोक्ति के सुन्दर विधान के उदाहरण स्वरूप कतिपय अन्य स्थल भी लिए जा सकते हैं —

सो नहिं आवै रूप-मुरारी। जासौं पाव सोहाग सुनारी ॥
सांझ भए झुरि-झुरि पथ हेरा। कौन सोघरी करै पिउ फेरा ॥[2]

ये पंक्तियां नागमती-वियोग खण्ड (३० वां खण्ड) से ली गई हैं। जासों पाव सोहाग सुनारी' 'कौन सो घरी करै पिउ फेरा' 'साँझ भए' आदि में प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत अर्थ भी अभिप्रेत हैं। 'सांझ भए' का अर्थ है साधना की पूर्णता या वृद्धावस्था, 'सोहाग सुनारी' का अप्रस्तुत अर्थ प्रियतम के साथ सुहागिन, 'कौन सो घरी करै पिउ फेरा' का अप्रस्तुत अर्थ है कि प्रियतम (ईश्वर) की कृपा दृष्टि किस क्षण हो जाय।

जिन्ह एहि हाट न लीन्ह बेसाहा। ताकहं आन हाट कित लाहा ॥"[3]
कोई करै बेसाहनी, काहू केर बिकाए। कोई चलै लाभ सन, कोई मूर गंवाइ ॥

प्रस्तुत अर्थ सिंहल के हाट का है। यहाँ अप्रस्तुत अर्थ जो व्यंग रखा गया है स्पष्ट है —

नौ पौरी पर दसवं दुआरा। तेहि पर बाज राज घरियारा ॥
घरी सो बैठि गनै घरिआरी। घरी-घरी सो आपनि बारी ॥
जबहीं घरी पूरि तेइ मारा। घरी-घरी घरियार पुकारा ॥
परा जो डांड़ जगत कै डांड़ा। का निचिंत माटी कै भांड़ा ॥[4]
कंचन बिरछि एक तेहि पासा। जस कलपतरु इन्द्र कबिलासा ॥

- - - -   - - - -   - - - -

राजा भए भिखारी सुनि ओहि अमृत भोग।
जेइ पावा सो अमर भा, ना कछु व्याधि न रोग ॥

यहाँ सिंहलगढ़ के प्रस्तुत प्रसंग के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ की ओर भी इशारा किया गया है। 'नौ पौरी' और 'दसवं दुवार' अर्थात् नौ छिद्र और दशम ब्रह्म रंध्र। कंचन-वृक्ष कल्पवृक्ष है। आचार्य द्विवेदी जी का विचार है कि 'का निचित

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जा० ग्रं०, भूमिका, पृ० ५७।
२—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १५७।
३—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १५७।
४—वही, पृ० १५—१६।

माटी कै भांड़ा' में कवि का सन्त-रूप प्रधान हो उठा है और कवि-रूप गौड़ और यहां समासोक्ति पद्धति का निर्वाह ठीक नहीं हो पाया है।

इस प्रकार के स्थल पदमावत में आदि से लेकर अन्त तक आते हैं। जायसी प्राय: अवसर मिलते ही प्रस्तुत अर्थ में ही ऐसी व्यञ्जना अनुस्यूत करते हैं कि अप्रस्तुत अर्थ की ओर भी इशारा स्पष्ट हो जाता है। इस प्रक्रिया में प्राय: उनका कवि-रूप प्रधान है, पर कहीं-कहीं उनका सन्त-रूप भी प्रधान हो जाता है और वे उपदेश देने लगते हैं। जैसे — 'का निचित माटी कै भांड़ा।'[१] पर इस प्रकार के स्थल कम हैं।

"इस प्रकार के संकेतात्मक स्थलों की व्यञ्जकता (सजेस्टिवनेस) अत्यन्त हृदयस्पर्शी है और हैं उत्कृष्ट-काव्य सौंदर्य सम्पन्न।"[२]

रूप–सौंदर्य–वर्णन एवं अप्रस्तुत–विधान

रूप–सौंदर्य–वर्णन –

पदमावत में रूप-सौंदर्य-वर्णन की योजना मुख्यत: आठ स्थलों पर की गई है। इनमें दो स्थलों पर पदमावती के (अलौकिक सौंदर्ययुक्त) रूप का वर्णन अत्यंत उल्लसित भाव से किया गया है।

(१) हीरामन शुक द्वारा चित्तौड़ के राजा रतनसेन से, और

(२) राघव-चेतन द्वारा दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन से।

इन दोनों स्थलों के वर्णन 'नखशिख' वर्णन की प्रणाली पर हैं। रूप-सौंदर्य वर्णन में प्रयुक्त उपमान अधिकतर परम्परा-प्रचलित हैं। ये दीर्घकाल से इस देश के आलंकारिकों में प्रसिद्ध हैं। कुछ उपमान फारसी साहित्य के प्रभाव से भी आए हुए हैं। कुछ उपमान लोक-गृहीत हैं। कुछ उपमानों को नवीन मौलिक उपमान कह कर समादृत किया जा सकता है।

इन अनेक प्रकार के उपमानों की नियोजना का एक ही लक्ष्य रहा है– स्त्री-रूप के आदर्श सौंदर्य की कल्पना। रूप-वर्णन की योजना द्वारा कवि के उद्देश्य की सिद्धि भी हुई है। वह रूप-वर्णन के माध्यम से 'अलौकिक सौंदर्य' की ओर इंगित भी करता गया है। अलौकिक सौंदर्याभिव्यक्ति भी उसका एक उद्देश्य था। लौकिक सौंदर्य का वर्णन करते हुए अवसर पाते ही कवि उसके अलौकिक सृष्टि-व्यापी सौंदर्य की अभिव्यंजना करने लगता है—

१–पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० २७६।

२–पदमावत का काव्य-सौंदर्य, पृ० १३६।

'जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जहँ जहँ विहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ॥

यहाँ पर दांतों का वर्णन करते-करते कवि की भावना अनन्त ज्योति की ओर बढ़ गई है।

(१) रूप का मुख्य प्रतीक-पारस और उसकी व्यवस्था

जायसी ने पद्मावती के अप्रतिम रूप को 'पारस-रूप' की संज्ञा दी है। 'पारस-रूप' वह रूप है जिसके आभास अर्थात् छायास्पर्श से निखिल संसृति प्रोद्भासित है। उसी की प्रातिभासिक स्पर्श-दीप्ति से यह जगत रूपवान है। जगत की अद्भुत रूप माधुरी का मूलभूत कारण भी 'पारस-रूप' ही है।

'पदमावत' में अनेक स्थलों पर पद्मावती के 'पारस-रूप' की चर्चा आई है। "इसमें (पद्मावत में) कवि ने पद्मावती के जिस अपूर्व पारस-रूप का वर्णन किया है वह अपना उपमान आप ही है। कवि जब पद्मावती के रूप का वर्णन करने लगता है तब उसका सम्पूर्ण अन्तर तरल होकर ढरक पड़ता है। 'पारस-रूप' वह रूप है जिसके स्पर्श से यह सारा संसार रूप ग्रहण कर रहा है। पद्मावती में वही पारस रूप है। पद्मावती के रूप-वर्णन के बहाने भक्त कवि ने वस्तुतः भगवान के प्रभाव का वर्णन किया है।– – इस रहस्यमय 'पारस' रूप का आभास देने के लिए जायसी ने अत्यन्त मार्मिक दृश्यों की योजना की है। वे सदा लौकिक दीप्ति और सौंदर्य का उत्थापन करते हैं। विशेषणों और क्रियाओं के प्रयोग-कौशल से उसे अलौकिक दीप्ति की ओर मोड़ते रहते हैं। उन्होंने इस प्रकार एक अपूर्व काव्य की सृष्टि की है।"[१]

जायसी ने सर्वप्रथम 'सिंहल द्वीप–वर्ण खण्ड' में पद्मावती के 'पारस रूप' की ओर इंगित किया है। '– – औ सो पद्मिनि बरनि सुनावौं।'

निरमल दरपन भांति विसेखा। जो जेहि रूप सो तैसइ देखा।[२]

इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से पारस रूप की चर्चा नहीं की गई, पर उस अलौकिक-रूप की ओर इंगित तो कर ही दिया गया है।

जायसी ने मानसरोदक खण्ड की अन्तिम पंक्तियों में स्पष्ट रूप से पद्मावती के 'पारस-रूप' का वर्णन किया है। पारस रूप वर्णन के साथ ही उन्होंने तज्जन्य लोकव्यापी, लोकोत्तर प्रभाव का एक संश्लिष्ट चित्र भी प्रस्तुत किया है। पारस

१–आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० २०६, २०७।
२–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १०।

रूप वाली पद्मावती की जरा-सी हँसी मानसरोवर में विविध रूपों में छा उठी—

'कहा मानसर चाह सो पाई । पारस रूप इहां लगि आई ।।
भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे । पावा रूप रूप के दरसे ।।
मलय समीर वास तन आई । भा शीतल तन तपनि बुझाई ।।
ततखनहार बेगि उतराना । पाया सखिन्ह चन्द विहँसाना ।।
बिगसा कुमुद देखि ससि रेखा । भै तहँ ओप जहाँ जोइ देखा ।।
पावा रूप रूप जस चाहा । ससि मुख जनु दरपन होइ रहा ।।
नयन जो देखा कवँल भा निरमल नीर सरीर ।
हँसत जो देखा हँस भा दसन जोति नग हीर ।।'[1]

यह है पद्मावती के पारस रूप का लोकोत्तर—सृष्टि व्यापी-प्रभाव । जिस प्रकार पारस पत्थर स्पर्श मात्र से कुधातु को स्वर्ण बना देता है उसी प्रकार पद्मावती का 'पारस-रूप' समस्त सृष्टि को अपने रंग में रंग सकता है । उसी के आलोक से समग्र संसृति आलोकित है । पारस रूप वाली पद्मावती सरोवर के पास तक चली आई—तब सरोवर उन चरणों के स्पर्श करने से निरमल हो गया । 'पावा रूप रूप के दरसे' उस पारस रूपा के दर्शन मात्र से सरोवर रूपवान हो गया । उसकी चन्द्रकला को देखकर कुमुद विकस गये आदि ।

जायसी ने 'राजा-सुआ-संवाद-खण्ड' में भी पद्मावती के 'पारस रूप' के सृष्टि व्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना की है—

'सुनि रवि नावं रतन भा राता । पण्डित फेरि उहै कहु बाता ।।
अब हौं सुरुज चांद वह छाया । जल बिनु मीन, रकत बिनु काया ।।
सहसौ कराऱूप मन भूला । जहां जहँ दीठ कंवल जनु फूला ।।
तहां भवँर जिउ कँवला गंधी । भइ ससि राहु केरि रिनि बंधी ।।
तीनि लोक चौदह खंड सबहिं परै मोहिं सूझि ।
पेम छांड़ि नहि लोन किछु जो देखा मन बूझि ।।'[2]

इन पंक्तियों में 'जहँ—जहँ दीठि कँवल जनु फूला आदि में 'पारस रूप' की अलौकिक—अप्रतिम कल्पना को साकार जीवन्त रूप में अभिव्यक्त किया गया है ।

जायसी रूप-सौंदर्य का वर्णन करते समय यथावसर प्रायः परोक्ष सत्ता की ओर इंगित करने से नहीं चूकते । अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करते समय भी वे उस दिव्य रूप—पारस रूप—का वर्णन करना नहीं भूलते । नीचे की पंक्तियो में 'लिलाट'

१—जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० २५ ।
२—वही, पृ० २९ ।

की कांति का वर्णन करते हुए जायसी ने उसकी लोकोत्तर तथा सृष्टि व्यापी ज्योति का भी वर्णन किया है। वे समस्त विश्व की ज्योति को उसी की ज्योति से द्योतित और प्रोद्‌भासित बताते हैं—

पारस जोति लिलाटहिं ओती। दिष्टि जो करै होय तेहि जोती ॥[१]
ससि औ सूर जो निरमल तेहि लिलाट कै ओप।
निसि दिन दौरि न पूजहिं, पुनि पुनि होहिं अलोप ॥

अलाउद्दीन जैसे अधम पात्र ने भी उस पारस रूप की प्रातिभासिक सत्ता का आभास मात्र पाया था।

विहँसि झरोखे आइ सरेखी। निरखि साह दरपन महँ देखी ॥
होतहि दरस परस भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना ॥[२]

स्पष्ट है कि अलाउद्दीन ने दर्पण में उस पारस रूप वाली—पद्‌मावती के स्मित आनन का प्रतिबिम्ब मात्र देखा था। उस रूप की झलक से ही अलाउद्दीन अपनी सुधि-बुधि भूल गया—मूर्छित हो गया। उसे धरती से स्वर्ग तक सर्वत्र स्वर्ण ही स्वर्ण दृष्टिगोचर होने लगा।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जायसी के रूप सौंदर्य या 'रूप वर्णन' का मुख्य प्रतीक पारस है। 'पारस रूप' में धरती और स्वर्ग को स्पर्श मात्र से स्वर्ण बनाने का महान् गुण है।

रूप सौंदर्य का सृष्टिव्यापी प्रभाव और उसकी लोकोत्तर कल्पना

(२) रूप की सार्वभौमिकता

प्रेमाख्यानक काव्य के नखशिख (जिसे शिखनख भी कहा जा सकता है, क्योंकि इन कवियों ने शिख से वर्णन प्रारम्भ किया है।) वर्णन में एक प्रवृत्ति समान रूप से दिखलाई पड़ती है। ये कवि सौंदर्य की चरम सीमा को दिखलाना चाहते हैं। उसके लिये सुन्दरतम उपमान लाना चाहते हैं।

'पदमावत' में रूप सौंदर्य ही सम्पूर्ण आख्यायिका[३] का आधार है। अतः पद्‌मावती के सौन्दर्य का बहुत ही विस्तृत वर्णन कराया गया है। यह वर्णन यद्यपि परम्परायुक्त ही है, अधिकतर परम्परा में चले आते हुए उपमानों के आधार पर ही है, परन्तु कवि की भोली-भाली और प्यारी भाषा के बल से यह श्रोता के हृदय को सौन्दर्य की अपरिमित भावना से भर देता है। सृष्टि के जिन-जिन पदार्थों में सौन्दर्य

१—जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० २११।
२—वही, पृ० २५३।
३—वही भूमिका — पृ० ८९-९०।

की झलक है, पद्मावती के रूप राशि की योजना के लिए कवि ने मानो सबको एकत्र कर दिया है। जिस प्रकार कमल, चन्द्र, हंस आदि अनेक पदार्थों से तिलोत्तमा का रूप संघटित हुआ था, उसी प्रकार कवि ने मानो पद्मावती का रूप–विधान किया है। पद्मावती का सौन्दर्य अपरिमेय अलौकिक और दिव्य है। रत्नसेन की दृष्टि सँसार के सारे पदार्थों से फिर जाती है, उसका हृदय उसी रूप–सागर में मग्न हो जाता है। वह जोगी होकर निकल पड़ता है।

"नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर समीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर[1] ॥

पदमावती के सुमधुर मंद हास के प्रभाव स्वरूप शुभ्र धवल शोभा अनेक रूपों में सरोवर में विकीर्ण हो रही है। उसके हँसते ही चन्द किरण सदृश ज्योति विकीर्ण हुई जिससे सरोवर के कुमुद खिल उठे। उसके इन्दुवदन के सम्मुख सारा मानसरोवर दर्पण-सा हो उठा अर्थात् उसमें जो जो सुन्दर वस्तुएँ दिखाई पड़ती थीं वे सब मानों उसी के अंगों की छाया मात्र थीं। सरोवर में चतुर्दिक जो कमल दिखाई पड़ रहे थे, वे उसके नेत्रों के प्रतिबिम्ब थे, जल जो इतना प्रांजल और धवल दिखाई पड़ रहा था वह उसके स्वच्छ एवं निर्मल शरीर के प्रतिबिम्ब के ही कारण। उसके हास की शुभ्र कांति की छाया वे हंस थे जो इधर उधर दिखाई पड़ते थे, और उस मानसरोवर में जो हीरे थे वे उसके दर्शनों की उज्ज्वल दीप्ति से उत्पन्न हो गये थे।

जायसी भावना रूप में उस रहस्यमय मूल सत्ता का साक्षात्कार कर चुके थे। अतः सृष्टि के सारे सुन्दर पदार्थों में उसी सार्वभौम सत्ता का प्रतिबिम्ब देखते थे।

इसे जायसी की 'रूप–सौंदर्य के सृष्टि व्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना की संज्ञा दी गई है। आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पद्मावती के रूप–वर्णन की विशेषताओं पर विचार करते हुए लिखा है। 'केशों की दीर्घता, सघनता और श्यामता के वर्णन के लिए परम्परा से प्रचलित पद्धति के अनुसार केवल सादृश्य पर जोर न देकर कवि ने उसके लोकव्यापी प्रभाव की ओर संकेत किया है।'[2] वस्तुतः जहां कहीं जायसी को अवसर मिला है, वे तुरन्त श्लेष, समासोक्ति आदि के माध्यम से सृष्टि व्यापी – सौंदर्य की ओर इंगित करने से नहीं चूकते। जैसे –

'सरवरतीर पद्मिनी आई। खोंपा छोरि केश मुकुलाई ॥
ओनई घटा पर जग छाहां। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा[3] ॥

१–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी) भूमिका पृ० २५।
२–आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य।
३–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० २४।

बेनी छोरि झार जौ बारा। सरग पतार होइ उजियारा[1] ॥

(बेनी खोल कर केश झाड़ने से स्वर्ग और पाताल उद्भाषित हो उठे)।

घन घटा से केश संसार को अपनी छाया, शीलता और माधुरी प्रदान करते हैं। इसी प्रकार पुतलियों का वर्णन करते हुए भी उनके सृष्टि व्यापी प्रभाव की अभिव्यंजना की गई है –

जग डोले डोलत नैनाहा। उलटि अडार जाहिं पल माहाँ ॥

जबहिं फिराहिं गगन गहि बोरा। असवै भँवर चक्र कै जोरा[2] ॥ आदि।

ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाता है कि जायसी सादृश्य मूलक उपमानों के माध्यम से केवल साधारण धर्म को ही बताकर विरत नहीं हो जाते, अपितु उसके लोक व्यापीप्रभाव को भी स्पष्ट कर देते हैं। निम्नलिखित कतिपय स्थलों से रूप सौन्दर्य के सृष्टि व्यापी प्रभाव और उसकी लोकोत्तर कल्पना की बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी – इन पंक्तियों से रूप की सार्वभौमिकता की भावना अधिक स्पष्ट हो जायगी – इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से ईश्वरीय सत्ता की ओर इंगित भी किया गया है –

भौंहैं स्याम धनुक जनु ताना। जासहुं हेर हनै विष बाना।

उहै धनुक किरसुन पर अहा। उहै धनुक राघौ कर गहा ॥

ओहि धनुक रावन संघारा। ओहि धनुक कंसासुर मारा[3] ॥ आदि

(पद्मावती की भृकुटि विलास (भ्रू-धनुष) का सृष्टि व्यापी प्रभाव)

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधैं वान जान दुइ अनी।

(बरुनी को बाणों का रूप देकर संसार के रोम–रोम में उसका अस्तित्व घोषित करना वास्तव में उच्च कोटि का संकेत है। — — यह कवि की प्रतिभा की महानता है[4])।

उन्ह बानह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौं संसारा ॥

गगन नखत जो जाहिं न गने। वैसव बान ओहि के हने ॥

धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥

ऊपर उद्धृत चौपाइयों से स्पष्ट है कि पद्मावती के रूप वर्णन में जायसी ने सौन्दर्य के सृष्टि व्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना की है।

१–जा० ग्रं० (न० प्र० सभा,काशी), पृ० ४१

२–वही, पृ० ४२।

३–जा० ग्रं०, (ना० प्र० सभा, काशी,) 'नखशिख खण्ड'।

४–डा० रामकुमार वर्मा ; हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४५८।

(३) रूप–वर्णन की अत्युक्तियां और उनका औचित्य—

रूप-वर्णन के प्रसंग में जायसी ने अत्युक्तियां भी की हैं और सो भी अत्यन्त प्राचुर्य से, यथा —'मकरिक तार ताहि कर चीरू । सो पहिरै छिरि जाइ सरीरू ।।' अथवा वह प्रसंग जहाँ पर सखियां पान की नसें निकाल कर इस भय से अत्यन्त सावधानी के साथ पान देती हैं कि क्वचित्-कदाचित पान की नसें पदमावती के अधरों में न धंस जांय ।

नस पानन्ह कै काढ़हिं हेरी । अधर न गड़ै फाँस ओहि केरी ।।

मकरी के तार सदृश चीर धारण करने से शरीर का छिल जाना तथा पान की नसों का धंस जाने के डर से त्याग करने की अत्युक्ति का एक मात्र लक्ष्य है सौकुमार्य दर्शन । किन्तु इन सौकुमार्य दर्शन के लिए कथित अत्युक्तियों में अस्वाभाविकता है । इस प्रकार की ऊहात्मक उक्तियों द्वारा मात्रा या परिणाम की व्यञ्जना के कारण कोई रमणीय चित्र सामने नहीं आ पाता ।

ग्रीवा की कोमलता तथा प्राँजलता के निदर्शन के लिए भी जायसी ने इसी प्रकार की विरस अत्युक्ति का आश्रय लिया है—

"पुनि तेहि ठाँव परी तिनि रेखा । घूँट जो पीक लीक सब देखा ।।"

प्राय: कवियों में नायिका की सुकुमारता का भी अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करने की प्रथा रही है, किन्तु जायसी की सौकुमार्य दर्शन की अत्युक्तियाँ अस्वाभाविकता के कारण तथा केवल ऊहा द्वारा मात्रा या परिमाण के आधिक्य की व्यंजना के कारण कोई रमणीय चित्र सामने नहीं लातीं । नायिका की शैय्या पर फूल की पंखुणियाँ चुन–चुन कर बिछाई जाती है, सँभव हैं कि समूचा फूल रह जाने पर उसे रात भर नींद न आये—

पंखुरी काढ़ै फूलन्ह सेतीं । सोई डासहिं सौंर सपेती ।।
फूल समूचै रहै जो पावा । व्याकुल होइ नींद नहिं आवा ।।

कालिदास के शिरीष पुष्पाधिक सौकुमार्य और 'शिरीष पुष्पंन पुन: पतत्रिण:' का जो प्रभाव हृदय पर पड़ता है वह जायसी द्वारा कथित इस अत्युक्ति का नहीं ।

साधारणत: कम प्रतिभाशाली कवियों के हाथों में पड़कर ऐसे अत्युक्तिपूर्ण वर्णन हास्यास्पद हो जाते हैं । किन्तु जायसी का वर्णन दो प्रधान कारणों से हास्यास्पद होने से बच गया है—

(१) पदमावत में जायसी ने आद्यन्त परोक्ष सत्ता की ओर इंगित किया हैं । परोक्ष सत्ता की ओर इंगित करने के उत्साह का उनमें इतना प्राबल्य है कि वे मानों ऐसे अवसर खोजते फिरते हैं और अवसर मिलते ही परोक्ष सत्ता की ओर

इंगित करने से चूकते नहीं। और इस प्रकार वे प्रकृत पर से पाठक की दृष्टि हटाकर अप्रकृत पर बराबर ले जाया करते हैं। जैसे दांत वर्णन के इस प्रसंग में कवि की भावना अनंत ज्योति की ओर बढ़ती जान पड़ती है –

रवि ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जहँ जहँ विहंसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटक जोति परगसी ॥

इस रहस्यमय परोक्षाभास के कारण जायसी की अत्युक्तियां नहीं खटकतीं। और दूसरे जायसी अधिकांश स्थलों पर उत्प्रेक्षा या अतिशयोक्ति की सहायता से वस्तु की नहीं अपितु उसकी संवेदना की अभिव्यंजना करते हैं। सादृश्यमलक अलंकारों के द्वारा जहां केवल वस्तु की मात्रा का आधिक्य सूचित होता है, वहाँ पाठक की दृष्टि वाह्य रूप की ओर चली जाती है और आधिक्य यदि बुद्धिग्राह्य नहीं होता तो सम्पूर्ण वर्णन हास्यास्पद हो जाता है, यथा धूप की मात्रा के आधिक्य की अभिव्यंजना के लिए यदि कोई कहे कि उससे पानी खौलने लगा या लोहा गलने लगा, तो स्पष्ट ही ऐसे स्थलों पर केवल मात्राधिक्य की ओर दृष्टि जाती है–

मानहु नाल खंड दुए भये। दुहुँ बिच लंक तार रहि गए ॥

इसमें पद्मावती की कटि की सूक्ष्मता वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार के सहारे व्यंजित की गई है। यहाँ भी पाठकों की दृष्टि वाह्य रूप की ओर जाती है, मात्रा की ओर नहीं।

जायसी का वक्तव्य इतना ही है कि वह अत्यंत क्षीण कटि है। हाँ, परम्परा उपमानों में कुछ अवश्य ऐसे हैं जो प्रसंग के अनुकल भाव को पुष्ट करने में सहायक नहीं होते, जैसे–

हाथी की सूंढ़, सिंहनी और भिड़ की कमर।

सुन्दरी नायिका की भावना करते समय सिंहनी, भिड़ और हाथी के मनश्चक्षुओं के सामने आ जाने से उस भाव की परिपुष्टि में व्याघात पहुँचता है। जहाँ पर फ़ारसी के प्रभाव स्वरूप अत्युक्तियाँ आई हैं उनमें तो कुछ निश्चित रूप से कोई रमणीय रुचिकर दृश्य सामने नहीं लाती जैसे–

विरह सरागन्हि भूजैं मांसू। ढरि ढरि परैं रकत कै आंसू ॥

इसी प्रकार हथेली के वर्णन की यह हेतूत्प्रेक्षा भी कोई सुन्दर दृश्य सामने नहीं लाती –

हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा। रुहिर भरी अँगुरी तेहि साथा ॥

सब कुछ होते हुए भी ये पंक्तियां अपनी व्यंजकता में अति उत्कृष्ट हैं। यदि पाठक की दृष्टि संवेदना या अनुभूति के आधिक्य की ओर जाय तो वर्णन हास्या-

स्पद नहीं होता। यद्यपि जायसी में दोनों प्रकार की उक्तियाँ मिल जाती हैं, परन्तु दूसरे प्रकार की उक्तियों की प्रचुरता है। प्रथम प्रकार की उक्ति, यथा–

"आखर जरइ न काहू छूआ।"

इसमें विरह के पत्र के अक्षरों के वाह्य रूप की ओर ही दृष्टि जाती है। जायसी ने अधिकांश स्थलों पर अनुभूति की तीव्रता बताने के लिए ही अत्युक्तियों का प्रयोग किया है, यथा–

जरत वजागिन करु पिउ छांहा। आइ बुझाउ अँगारन्ह माहाँ॥

या

लागिउ जरै जरै जस भारू। फिरि फिरि भूजेसि तजेउ न बारू॥[1]

प्रस्तुत चौपाई में पुनः पुनः भूंजने पर बालू न छोड़ने की बात से केवल विरह की तीव्र दाहकता की ही अनुभूति नहीं होती, उस दाहकता से प्राप्त होने वाले सुख की ओर ही अधिक ध्यान जाता है। जी उस संताप से हट-हट कर फिर उसी में रस पाता है। इस प्रकार जायसी की अत्युक्तियाँ परिमाण निर्देश या मात्रा निर्देश के ही रूप में न रहकर अधिकांश में संवेदना के रूप में हैं।

"रूप वर्णन के प्रसंग में जायसी अत्युक्तियों पर उतर आते हैं परन्तु अधिकांश स्थलों में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्तियों के द्वारा वस्तु की व्यंजना न होकर संवेदना या अनुभूति की व्यंजना होती है। इसलिए सहृदय का चित्त वस्तु की ओर जाने ही नहीं पाता। फिर कवि बराबर परोक्ष सत्ता की ओर इशारा करता है और इस प्रकार सहृदय का मन प्रस्तुत विषय से हटकर अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता की ओर जाता रहता है। इसका फल यह होता है कि अन्यान्य कवियों की अत्युक्तियों में वस्तु पर दृष्टि निबद्ध होने के कारण जिस प्रकार का हास्यास्पद भाव पाया जाता है वैसा जायसी में नहीं पाया जाता।"

(४) अप्रस्तुत–विधान (उपमान रूप)

'पदमावत' में प्रयुक्त उपमानों को अध्ययन की सुविधा के लिए दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है–

(क) नखशिख वर्णन के उपमान,

(ख) अन्य विषयों के वर्णनों से संबंधित उपमान।

इन दो कोटियों के अन्तर्गत जायसी द्वारा गृहीत साहित्यिक परम्परा के रूढ़िगत उपमान, जायसी द्वारा गृहीत लोक परम्परा और लोक जीवन के उपमान तथा जायसी के नवीन मौलिक उपमान सम्मिलित हैं। इसी अप्रस्तुत विधान के

१–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा) पृ० १५६।

अन्तर्गत जायसी द्वारा प्रयुक्त भाव वर्णन के उपमान, नखशिख वर्णन के उपमान तथा वस्तु वर्णन के उपमान भी आ जाते हैं। जायसी ने उत्कृष्ट कोटि के अप्रस्तुत विधान द्वारा पदमावत के काव्य-सौंदर्य को अपेक्षाकृत अधिक तीव्र बनाया है।

नखशिख वर्णन और तन्निहित अप्रस्तुत सौंदर्य

नायिका के सौन्दर्य के चित्रण के लिए फारसी के कवि[1] नखशिख वर्णन अवश्य करते हैं। इसके द्वारा वे नायिका के विभिन्न अंगों का चित्रण करते हुए उसकी रूप गरिमा को उभार कर प्रस्तुत करते थे। भारतीय नायकों को योगी बनकर निकलने के लिए यह रूप–सौन्दर्य ही विवश करता है। वस्तुतः सूफी सिद्धांतों के अनुसार सौन्दर्य के द्वारा ही ईश्वर अपने को व्यक्त करता है।

नखशिख वर्णन के आठ स्थल

पदमावत में आठ स्थलों पर नखशिख वर्णन मिलते हैं–

(१) सिंहल की वेश्याओं का अव्यवस्थित नखशिख।[2]

(२) यौवन भार-भरिता पद्मावती का नखशिख[3] (रूप वर्णन)।

(३) मानसरोवर में स्नान के लिए उद्यत पद्मावती के केश खोलते समय का संक्षिप्त व्यंजनात्मक नखशिख।[4]

(४) हीरामन शुक–कथित रत्नसेन से पदमावती का नखशिख[5] (रूप वर्णन)

(५) लक्ष्मी–समुद्र खंड में व्यथित, मुरझाई और क्लांत पद्मावती का नखशिख।[6]

(६) नागमती से पद्मावती आत्मश्लाघा रूप में अपना सौंदर्य–वर्णन करती[7] है।

(७) प्रत्युत्तर में पद्मावती से नागमती आत्मप्रशंसा रूप में अपना सौंदर्य वर्णन करती है।[8] और

(८) राघव चेतन कथित अलाउद्दीन से पदमावती का नखशिख।[9]

रूप-सौंदर्य-वर्णन के इन सभी स्थलों पर जायसी ने साहित्य के परम्परा

१–लैला मजनूं, निज़ामी, पृ०३३

२–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी) पृ० १४।

३–वही, पृ० २०। ४–वही, पृ० २४।

५–वही, पृ० ४०–४८। ६–वही, पृ० १७६।

७–वही, पृ० १९२–१९७। ८–वही।

९–वही, पृ० २०९–२१७।

प्रचलित उपमानों, लोक गृहीत उपमानों, मौलिक उपमानों तथा अन्य प्रकार के उपमानों की संयोजना अत्यन्त सुन्दर और काव्यात्मक रूप में की है। मंझन ने मधुमालती में २४ में मधुमालती का नखशिख वर्णन किया है। उसमान में भी चित्रावली का नखशिख दिया है। चन्द्रायन में भी चन्दा का संक्षिप्त नखशिख वर्णित है।

(५) 'यौवन–भार–भरिता' पदमावती का नखशिख

जायसी ने 'जन्म-खंड' में पद्मावती के यौवन का अपनी समर्थ तूलिका से चित्रण करते हुए एक संक्षित नखशिख का विलसित भाव से वर्णन किया है–

भै उनंत पदमावति बारी। रचि रचि विधि सब कला संवारी॥
जन बेधा तेहि अंग सुबासा। भंवर आइ लुबुधे चहुँ पासा॥
बेनी नाग मलय गिरि पैठी। ससि माथे दूइज होय बैठी॥
भौंह धनुक साधे सर फेरैं। नयन कुरंग भूलि जनु हेरैं॥
नासिक कीर कंवल मुख सोहा। पद्मिनि रूप देखि जग मोहा॥
मानिक अधर दसन जनु हीरा। हिय हुलसे कुच कनक गंभीरा॥[1]
केहरि लंक गवन गज हारे। सुर नर देखि माथ भुइ धारे॥[2]

उक्त पंक्तियों में निम्नांकित अप्रस्तुत (उपमानों) के आनयन द्वारा पदमावती की अप्रतिम रूप प्रतिमा को जीवंत रूप में चित्रित किया है –

अंग (शरीर)	प्रफुल्ल वल्लरी (या पुष्पित लता)
वेणी	नाग
भाल या ललाट	द्वितीया का चन्द्र
भ्रू	धनुष
(वरुनी)	सर
नयन	कुरंग
नासिका	कीर
मुख	कमल
अधर	माणिक्य
दसन	हीरा
कुच	कनक जंभीर

१–डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित जा० ग्रं० में 'कनक गंभीरा' के स्थान पर "कनक जँभीरा" पाठ आया है, जो अधिक शुद्ध और सार्थक है।

२–पं० रामचन्द्र शुक्ल : जा० ग्रं०, पृ० २०।

कटि केहरि लंक
गति मत्त गज-गति

इन पंक्तियों से श्लेष के द्वारा दो अर्थों की निष्पत्ति होती है। एक तो इसमें पद्मावती रूपी बाग का चित्रण किया गया है। दूसरे यौवन भार मे विनत कुमारी पद्मावती के अंग-प्रत्यंगों का रूप-वर्णन। यहाँ बारी शब्द श्लिष्ट है। बारी–बाग, बारी बालिका। जायसी ने इस शब्द को लेकर पद्मावती के रूप की तुलना बारी से की है।

उक्त अप्रस्तुतों की योजना में —

(१) भारतीय साहित्य की उपमान परम्परा का पालन किया गया है। ये साहित्य के परम्परा प्रचिलित उपमान हैं।

(२) इनमें वाह्य प्रकृति से गृहीत उपमानों का ही प्राधान्य है, और

(३) ये उपमान रूप, वर्ण क्रिया और गुण आदि प्रकार के साम्यों पर आधारित हैं।

इस प्रकार ये उपमान, रूप, वर्ण, क्रिया और गुण से तादाम्य का उपस्थापन करते हैं।

(६) रूप-सौंदर्य के उपमान

ऊपर नखशिख और रूप-वर्णन के जिन आठ स्थलों का उल्लेख किया गया है उन स्थलों पर जायसी ने शरीर के विभिन्न अंगों उपांगों के लिए जिन उपमानों का प्रयोग किया है वे समिष्ट रूप में निम्नलिखित हैं –

(१) केशराशि

(अ) खुले हुए स्थिर केश के लिए – (क) नाग, (ख) नागिन, (ग) कस्तूरी, (घ) प्रेम जंजीर, (ङ) भ्रमर
(च) राहु

(क) बेनी नाग मलय गिरि पैठी (नाग)

(ख) नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा (नागिन) तेहि पर अलक भुजंगिनि डसा। केसि नाग कित देखि मैं सवँरि सवँरि जिय जाय। (नाग, नागिन)।

(ग) प्रथम सीस कस्तूरी केसा (कस्तूरी)

(घ) संकरँ पेम चहैं गिउ परी। (नवीन मौलिक उपमान-प्रेम की सांकल)

(च) ससि कै सरन लीन्ह जनु राहु। (राहु)

इन उपमानों में नाग राहु, भ्रमर आदि के द्वारा मूर्त का मूर्त विधान किया गया है, किन्तु केशों के उपमान 'प्रेम-जंजीर' द्वारा जायसी ने मूर्त का अमूर्त विधान किया है। पदमावत के काव्य-सौंदर्य का यह एक वैशिष्ट्य है।

(ब) खुले परन्तु हिलते हुए केश—
(ज) जानहु लोटहिं चढ़े भुजंगा (सर्प) (शास्त्रीय उपमान)
(झ) लहरैं देइ जनहु कालिंदी (तरंगमयी यमुना) ।

[२] मस्तक (मांग) (अ) मूर्त उपमान (क) जमुना माँझ सरसुती मंगा
(जा०ग्रं० २१०)
(ख) वीर बहूटी — वीर बहूटिन की असपाँती । (नवीन मौलिक उपमान)
(ग) विद्युत – जनु घन महँ दामिनि परगसी
(घ) आरक्त असि — खाँड़ धार रुहिर जनु भरा
(ङ) कंचन रेखा – कंचन रेख कसौटी कसी
(च) सूर्य किरण – सुरुज किरिन जो गगन विसेखी ।
(छ) रात्रि में आलोकित पंथ – उजियर पँथ रैनि महँ कीन्हां ।

(ब) कल्पित—अमूर्त उपमान—राग रंजित मधु ऋतु या 'राता वसंत' जनु वसंत राता जग देखा ।
(इ) ललाट – (क्ष) सूर्य (किरण) - सहस किरन जो सुरुज दिपाई ।
देखि लिलार सोउ छिप जाई ।
(यहां उपमेय के समक्ष उपमानों की हीनता प्रदर्शित की गई है ।)
(त्र) द्वितीया का चन्द्र – कहौं लिलार दुइज कै जोती ।
दुइजै जोति कहां अस होती ।।
(ज्ञ) पारस ज्योति–पारस जोति लिलाटहिं ओती ।।

[४] भौंह – (क) धनुष – भौंहें साम धनुक जनु चढ़ा (पृ० २११)
(धनुष के उपमानों से कहीं तो जायसी ने रूपक की सृष्टि की है और कहीं पर अतिशयोक्ति का आश्रय लिया है । उहै धनुष किरसुन पैं गहा आदि (पृ० ४२ जा० ग्रं०) पंक्तियों में समासोक्तिच्छल से भौंहों से सृष्टि–व्यापी प्रभाव (तथा परोक्ष सत्ता) की ओर इंगित किया है ।

[५] नेत्र – (क) रक्तकमल और (ख) भ्रमर–राते कवँल करहिं अलि भवां ।
(ग) खंजन और (घ) मृग -- खंजन लरहिं मिरिग जनु भूले ।
(ङ) तुरँग — -- उठहिं तुरँग लेहिं नहिं बागा ।
(च) तरंग भरे माणिक्य– सुभर सरोवर नयन वैमानिक भरे तरंग ।।
(छ) कमल पत्र पर भ्रमित भ्रमर — कवंल पत्र पर मधुकर फेरा ।
(ज) कुरंग — नयन कुरंग भूलि जनु हेरैं ।

[६] बरुनी — (क) राम रावण की सेना -- जुरी राम रावन की सेना
(ख) संधान किया गया बाण–साधे बान जानु दुइ अनी

[७] नासिका — (क) असि -- नासिक खरग देउ कह जोगू (४३ पृ० जा० ग्रं०)

(ख) शुक -- नासिक देखि लजानेउ सूआ (" ")
(ग) सेतुबन्ध--दुहुं समुद्र महं जनु विच नीरू :
सेतु बन्ध बाँधा रघुबीरू। (पृ० २१२)
(घ) तिल पुष्प – तिप के पुहुप अस नासिक तासू ।

[८] अधर (क) दुपहरिया का फूल--फूल दुपहरी जानौं राता ।
(ख) विद्रुम – हीरा लेइ सो विद्रुम धारा ।
(ग) माणिक्य – मानिक अधर दसन जनु हीरा ।
(घ) सूर्य – जनु परभात रात रबि देखा
(ङ) रुधिर-भरी तलवार – रुहिर चुवैं जौ खाँड़ै बीरा ।

[९] दांत--(क) हीरा – दसन चौक बैटे जनुहीरा (जा० ग्रं० पृ० ४४)
(ख) दाड़िम – दारिउं सरि जो न कै सका फाटेउ हिया दरकिक ।
(वही, पृ० ४४)
(ग) विद्युत – वीजु चमक जस निसि अंधियारी (वही पृ० २१३)
(घ) श्याम मकोय – जनु दारिउं जौ स्याम मकोई। (वही पृ० २१३)

[१०] रसना (क) अमृत कौंप – अमृत कौंप जीभ जनु लाई (वही, पृ० २१३)
(ख) सरसुती की जीभ – जीभ सरसुती काह (वही पृ० २१३)

[११] कपोल (क) खांड़ के लड्डू – केइ यह सुरंग खरौरा बांधे (४४)
(ख) कमल--कवँल कपोल ओहि अस छाजै (२१४)
(ग) गेंद नारंग-सुरंग गेंद नारंग रतनारे। (२१४)
(घ) एक नारंग दोइ किए अमोला (४४) ।

[१२] तिल (क) घुंघुची का काला मुहं — जनु घुँघुची ओहि तिल कल मुही (४५)
(ख) भ्रमर – जानहु भंवर पदुम पर टूटा ।(२१४) ।
(ग) विरह की स्फुलिंग – सो तिल विरह चिनगि कै करा (२१४)।
(घ) अग्नि बाण – अगिनि वान जानौ तिल सूझा (४५)
(ङ) ध्रुव — सो तिल देखि कपोल पर गगन रहा धुअ गाड़ि (४५)
(नवीन मौलिक उपमान) ।

(१३) श्रवण--(क) तक्षत्र खचित चन्द्र और (ख) सूर्य -- दुहुं दिसि चाँद सूरुज चमकाहीं
नखतन्ह भरे निरखि नहिंजांहीं
(ग) सीप और (घ) दीपक--स्रवन सीप दुइ दीप संवारे (४५)
(ङ) स्वर्ण सीपी—स्रवन सुनहु जो कुन्दन सीपी (४५)

[१४] मुख – (क) चन्द्रमा (१) ससि मुख अंग मलय गिरि वासा
(२) ससि मुख जबहिं कहै किछु बाता
(ख) पद्म नाल—कवंल जो विगसा मानसर बिनुजल गायउ सुखाय

[१५] ग्रीवा (क) कम्बु — बरनौं गीउ कम्बु की रीति (४५)
(ख) सुराही – गीउ सुराही कै अस भई (२१४)
(ग) मयूर — गीउ मयूर केरि जस गढ़ी (२१४)
(घ) तुरग–बांक तुरंग जनहु गहि परा (२१४)
(ङ) घिरिन परेवा–घिरिन परेवा गीउ उठावा ।।
(च) तमचुर–चहै बोल तमचूर सुनावा (२१४)

[१६] भुजा (क) कनक दण्ड दुइ भुजा कलाई (४५)
(ख) कदली गाभ–कदली गाभ कै जानौ जोरी (४६)
(ग) पद्मनाल–भुज उपमा पौनार नहि खीन भएउ एहि चिंत ।
(घ) चन्दन खम्भ–चन्दन खंभहिं भुजा सँवारी ।

[१७] हथेली (क) कमल–औ राती ओहि कँवल हथोरी । (पृ० ४६)
एक कँवल कै दूनौ जोरी (पृ० २१५) ।

[१८] स्तनद्वय १–(उरोज) (क) कंचन लड्डू–हिया थार कुच कंचनलाडू (४६)
(ख) कनक कचौड़ी–कनक कचोर उठे जनु चारू (४६)
(ग) कंचन वेल–कंचन बेल साजि जनु कूंदे (४६)
(घ) नारंगी–अस नारंग दहुँ का कहँ राखे (४६)
(ङ) जंभीर–उतंग जँभीर होइ रखवारी (४६)
छुइ को सकै राजा कै बारी ।। (४६)
(च) श्रीफल–जानहु दुनो सिरीफल जोरा (२१५)
(छ) अगिनिबान–अग्निबान दुइ जानौ साधे ।
जग वेधहिं जौ होहिं नवांधे ।। (४६)
(ज) तुरंग–जोबन बान लेहिं नहिं बागा । (४६)
(झ) लट्ट–जानहु दूइ लटू एक साथा (२१५)
(२) कुचाग्र भाग (ज)–श्याम छत्र–साम छत्र दूनहुँ सिर छाजा (२१५)

[१९] पेट त—पातर पेट आहि जनु पुरी (२१५)

[२०] रोमावलि (थ)–श्याम सर्पिणी–साम भुअंगिनि रोमावली
नाभी निकसि कँवल कहँ चली ।
आइ दुवौ नारंग विच भई । देखि मयूर ठमकि रहि गई ।।

विशेष द्रष्टव्य–श्याम सर्पिणी उपमान का रोमावली के लिए अत्यन्त सार्थक और सजीव प्रयोग हुआ है । सर्पिणी कमल की ओर (मुख की ओर) जा रही है । रोमावली रूपी सर्पिणी स्तनों तक आई । सर्प और मयूर का जन्मजात बैर है । इसी कारण वहीं तक आकर रुक गई ।

द—भ्रमरावलि—मनहु चढ़ी भौंरन्ह कै पाँती।
ध—बिच्छी—रोमावली बिछूक कहाऊँ ।
न—कालिंदी—की कालिंदी विरह सताई।
चलि पयाग अरइल बिच आई (४६)।

[२१] कटि—(प) भृंग—भृंग लंक जनु मांझ न लागा
(फ) कमलनाल के रेशे—दुइ-खंड नलिन मांझ जनु तागा (२१५)
(ब) केहरि लंक—लंक पुहुमि अस आहि न काहू।
केहरि कहौ न ओहि सरि ताहू (४७)।

[२२] नाभि (नाभेः गाम्भीर्यम्) भ—सागर की भंवर
'समुद भंवर जस भवैं गंभीरू।'

[२३] पीठ (ट)— मलयगिरि—मलयागिरि कै पीठि सँवारी
बेनी नागिन चढ़ी जो कारी।

[२४] उरु (ठ) कदली स्तंभ—जुरे जंघ सोभा अति पाये।
केरा खंभ फेरि जनु लाये॥

[२५] चरण (ड) कमल—कँवल चरन अति रात विसेखी।

(७) उपमान रूपों का सौंदर्य : एक सर्वेक्षण

संक्षेप में नखशिख और रूप वर्णन में प्रयुक्त उपमानों की यही रूप-रेखा है जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि इन उपमानों की दो कोटियां हैं (१) प्रकृति से गृहीत उपमान, (२) अन्य सांसारिक वस्तुओं से सम्बन्धित उपमान।

नख-शिख वर्णन में अधिकांशतः उपमान प्रकृति से गृहीत हैं। कमल, भ्रमर, चन्द्र, सूर्य प्रभृति उपमान प्रकृति क्षेत्र से गृहीत हैं। खंभ प्रभृति उपमान अन्य सांसारिक वस्तुओं से गृहीत उपमानों की कोटि में आते हैं। अन्य सांसारिक वस्तुओं से गृहीत उपमानों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। यथा—मांग के लिए असि-धार, नासिका के लिए सेतुबन्ध और तलवार एवं उरोज के लिए कंचन के लड्डू और लट्टू।

जायसी ने नारी रूप के वर्णन में भारतीय काव्य परम्परा की उपमान सम्बन्धी शास्त्रीय रूढ़ियों का सम्यक् रूप से परिपालन किया है। प्रायः काव्य-परम्परा-प्रचलित उपमानों की ही संयोजना से सर्वत्र चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है, यथा—

"भौंर केस वह मालति रानी"
"बेनी नाग मलयगिरि पैठी"
"नागिन झांपि लीन्हि चहुँपासा"

"लहरें लेइ मनहु कालिंदी"

केशों से सम्बन्धित भ्रमर नाग, नागिन, लहरमयी यमुना आदि उपमान भारतीय काव्य-परम्परा के उपमान हैं। भारतीय साहित्य में इनका प्रयोग होता आया है।

आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्त्री रूप के केश सम्बन्धी भारतीय काव्य परम्परा में प्रयुक्त शास्त्रीय उपमानों पर विचार करते हुए लिखा है—

"गोवर्धन के मत मे केशों में दीर्घता, कुटिलता, लघुता, निविड़ता और नीलिमा आदि गुण वर्णित किए जाने चाहिए। – – देवज्ञ कामधेनु के मत से सूक्ष्म और नील रोम सौभाग्य के लक्षण हैं। इन गुणों को बतलाने के लिए कवियों में साधारणतः निम्नलिखित उपमायें रूढ़ हैं, अंधकार, शैवाल, मेघ, मयूरपुच्छ, भ्रमर श्रेणी, चमर, यमुना-तरंग, नीलमणि, नील कमल, आकाश, धूप का धुवाँ इत्यादि केश की वेणी के लिए साधारणतः सर्प, तलवार, भ्रमर-पंक्ति और धम्मिल्ल या जूड़े के लिए राहु की उपमायें प्रचलित हैं। केश के बीचोबीच की मांग के लिए रास्ता, दंड, गँगधार आदि उपमायें दी जाती हैं।"[१]

उपमानों के चयन में कतिपय स्थलों पर जायसी की मौलिकता तथा स्वतंत्र उन्मुक्त नवीन कल्पना शक्ति ने सौंदर्य को जीवन्त रूप प्रदान किया है। मौलिक उपमानों के आनयन में जायसी परम्परागत उपमाओं की सीमित परिधि से ऊपर उठे हुए तथा मुक्त हैं। जायसी के मौलिक उपमान प्रधानतः प्रकृति से गृहीत न होकरके अन्य सांसारिक पदार्थों से गृहीत हैं—

"घुँघरवार अलकें बिष भरी। सँकरें पेम चहै गिउ परी॥
(घुंघराली अलकों के लिए)
केइ यह सुरंग खरौरा बांधे—(कपोलों के लिए)
खाँडे धार रुहिर जनु भरा—(मांग के लिए)
जुरी राम रवन कै सेना—(वरुनियों के लिए)
जानहु दोउ लट्टू एक साथा—(कुचों के लिए)
गीउ, सुराही कै अस भई—(ग्रीवा के लिए)

नखशिख वर्णन से सम्बन्धित उपमानों के विषय में समष्टि रूप से हम कह सकते हैं—

(१) जायसी ने नखशिख वर्णन में प्रायः भारतीय काव्यशास्त्र के परम्परागत उपमानों का सहारा लिया है। प्रायः सभी उपमान साहित्य के घिसे पिटे उपमान

१—आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २६३।

हैं। परम्परागत उपमानों के माध्यम से किया गया रूप वर्णन पर्याप्त काव्यात्मक है। कहीं-कहीं अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी हैं "घूंट जो पीक लीक सब देखा।"

(२) नखशिख वर्णन में जायसी पूर्णतः सफल हैं। कहीं-कहीं मौलिक उपमानों के सहारे सौंदर्यवर्द्धन किया गया है।

(३) सम्पूर्ण नखशिख वर्णन काव्यात्मक है, रत्नसेन से बिछुड़ी पद्मावती का वर्णन जीवन्त और व्यंजनापूर्ण है।

(४) कहीं-कहीं जायसी ने नवीन मौलिक उपमानों की योजना भी की है यथा ग्रीवा के लिए सुराही, कुच के लिए लट्टू। वस्तुतः ये फारसी साहित्य के उपमान हैं।

(५) नख-शिख वर्णन में जायसी ने शीर्ष से जांघ तक का ही वर्णन किया है नीचे के उपांगों का नहीं। वर्णन क्रम शीर्ष से ही प्रारम्भ होता है।

(६) आत्मश्लाघा रूप में कथित नागमती और पद्मावती के अपने-अपने नखशिख वर्णनों में प्रगल्भता के दर्शन होते हैं। नारीत्व का सर्वोत्तम रूप शील तथा लज्जा है। इसका तकाजा है कि वे रोमावलि आदि के वर्णनों की अवहेलना कर जातीं, किन्तु जायसी की तूलिका उस वर्णन के लोभ का संवरण न कर सकी।

(७) नखशिख प्रमुखतया रानी पद्मावती का ही दिया गया है।

(८) जायसी के समकालीन हिन्दी साहित्य में सीताराम तथा राधाकृष्ण के नखशिख हमें उपलब्ध होते हैं।

तुलसीदास ने सीता-राम का नखशिख वर्णन किया है। विद्यापति, सूरदास नन्ददास, मीरा प्रभृति भक्त कवियों ने राधा-कृष्ण का नखशिख वर्णन किया है। निर्गुणियों की सन्त परम्परा में निराकार का नखशिख वर्णन सर्वथा असम्भव था। अतः कबीर, दादू आदि ने इस परम्परा की ओर ध्यान नहीं दिया। सीताराम और राधाकृष्ण के व्यक्तित्वों में आध्यात्मिकता का प्राधान्य है। वे स्वयं नख से शिख तक सौंदर्य से वलित, कलित तथा स्वाभाविक अलंकारों से अलंकृत हैं। फिर भी सीता और राधा के प्राप्त नखशिख वर्णन जायसी की अपेक्षा अत्यल्प और अविशद हैं। अतः हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य में नखशिख वर्णन के काव्य सौंदर्य की दृष्टि से जायसी-मध्ययुगीन कवियों की पंक्ति में सर्वप्रधान रूप से पाठकों के समक्ष आते हैं।

(८) अन्य विषयों के वर्णनों से सम्बन्धित उपमानों का सौंदर्य

नखशिखेतर विषयों के वर्णन से सम्बन्धित उपमानों को सुविधा की दृष्टि से दो कोटियों में रखा जा सकता है।

(१) मानवीय भावनाओं के वर्णन में प्रयुक्त उपमान (भाव वर्णन के उपमान)।

(२) वस्तु वर्णन एवं कार्यों के उपमान।

(१) मानवीय भावनाओं के वर्णन में प्रयुक्त उपमानों का सौन्दर्य

भाव वर्णन के उपमानों के माध्यम से जायसी ने मानवीय भावनाओं की अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्ति की है। इस प्रसंग में उदाहरणों द्वारा हम यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि जायसी ने अनेक उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, रूपकों, दृष्टान्तों तथा अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों के माध्यम से मानवीय भावों तथा रागात्मक प्रवृत्तियों को सूक्ष्म अंकन द्वारा साकार उपस्थित कर दिया है—

काह हँसौं तुम मोसौं किएउ और सो नेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी मोंहि मुख बरसै मेह।।

इसे पद्मावती की प्राप्ति के पश्चात् सद्य: आगत हर्षोत्फुल्ल पति के लिए नागमती ने कहा है (क्योंकि वह अवसाद में डूबी हुई थी)। प्रस्तुत दोहे में विद्युत की कौंध तथा मेह वर्षण के अप्रस्तुत विधान-द्वारा व्यंजना को मार्मिकता प्रदान की गई है। इस संयोग कालीन उपालंभ के उत्कृष्ट निदर्शन की सम्पूर्ण मार्मिक सजीवता उपमानों पर ही आश्रित है। नागमती के धारासार अश्रु वर्षण करने वाले नयनों की उपमा मेह से तथा रत्नसेन के प्रसन्न वदन की उपमा विद्युत से दी गई है।

पिउ वियोग अस बाउर जीऊ।
पपिहा नित बोलै पिउ पीऊ।।

प्रस्तुत चौपाई में वियोग तप्ता नागमती के व्यथित हृदय के लिए 'पपीहा की रटन' के उपमान का सुगुम्फन किया गया है। विरह को अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता प्रदान करने के साथ ही उपमान ने वक्तव्य के सौंदर्य का भी अभिवर्द्धन किया है। पपीहा की रटन का उपमान लौकिक है, किन्तु साहित्य में रूढ़िबद्ध हो गया है। नागमती की विरहावस्था का चित्रण करने में जायसी प्रकृति क्षेत्र से गृहीत तथा लोक दृष्ट उपमानों का आश्रय लेते हैं।

(६) प्रकृति क्षेत्र से गृहीत उपमानों का सौंदर्य

सारस, सारस जोड़ी—'सारस जोरी कौन हरि, मारि वियाधा लीन्ह।
झुरि झुरि पींजर हौं भई, विरह काल मोंहि दीन्ह।।
'रक्त ढुरा मांसू गरा, हाड भयउ सब संख।

धनि सारस होइ रर मुई, पीउ समेटहिं पंख ।।

प्रथम दोहे में नागमती ने अपने और रत्नसेन को 'सारस की जोड़ी' का उपमान दिया है। दूसरे दोहे में भी सारस का उपमान वक्तव्य की प्रेषणीय गुणिता तथा प्रभावापन्नता को सजीव और सशक्त बना रहा है । धन्या के लिए प्रयुक्त 'सारस' के उपमान को यदि निकाल दिया जाय, तो व्यंजना पंगु और अशक्त हो जायगी ।

"कँवल जो विगसा मानसर बिनु जल गयउ सुखाइ ।
कबहुँ बेलि फिरि पलुहै जो पिउ सींचै आइ ।।"

प्रस्तुत पद में नागमती की व्यथा को उपमानों के माध्यम से जीवन्त रूप में उपस्थित किया गया है। कमल, मानसर, जल, बेलि, आदि उपमानों ने उक्त दोहे को पदमावत का ही नहीं अपितु हिन्दी वाङ्मय का एक अमूल्य हीरा बना दिया है।

नैन लागि तेहिं मारग पदमावति जेहि दीप ।
जैस सेवातिहि सेवै बन चातक जल सीप ।।

जायसी ने प्रस्तुत दोहे में चातक तथा सीप एवं स्वाति के उपमानों द्वारा वक्तव्य को अधिक मार्मिक और सजीव बनाया है। उन्होंने साधारण-सी बात को भी जीवन्त बना दिया है। रत्नसेन ने गजपति से अपने प्रेम की तीव्रता को स्पष्ट किया।

'सरग सीस धर धरती हिया सो प्रेम समुन्द ।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ उठहिं सो बुंद ।।

प्रस्तुत दोहे में रूपक के लिए जायसी ने प्रकृति के ही उपमानों का आश्रय लिया है--

(१) स्वर्ग, (२) धरती, (३) समुद्र, (४) कौड़ी, शीश, हृदय प्रेम, नयन ।

प्रकृत्ति से गृहीत इन उपमानों को संजोते हुए 'लेइ लेइ उठहिं सो बुंद' में जायसी की तूलिका का स्वाभाविक उत्कर्ष दर्शनीय है।

पद्मावती ने धाय से प्रकृति के उपमानों के माध्यम से कहा—

जोवन चांद उआ जस, विरह भयउ संग राहु ।
घटतहिं घटत छीन भइ, कहै न पारौं काहु ।।

यौवन रूपी चन्द्र के उदय होते ही विरह रूपी राहु ने उसे ग्रसित कर लिया और अब चन्द्र क्षण-क्षण क्षीण होता जा रहा है। लगता है कि यदि पद्मावती इन उपमानों का आश्रय न लेती तब या तो वह इस भाव की व्यंजना ही न कर पाती या यदि करती भी तो वह गद्य होता और उसमें कवितागत उसी तीव्रत्व की सिद्धि न हो पाती।

रत्नसेन नागमती की भेंट पर—कंठलाई कै नारि मनाई।
जरी जो बेलि सींचि पलुहाई ।।

यहाँ भी सूखी लतिका के पल्लिवित होने के उपमान द्वारा "कंठ लाइ कै नारि मनाई' की गद्यात्मक उक्ति में उत्कृष्ट काव्यात्मकता के स्वरों का स्पंदन भर दिया गया है।

नागमती ने रत्नसेन को प्रकृति के उपमानों के माध्यम से उपालंभ दिया—
भंवर पुरुष अस रहै न राखा। तजै दाख महुआ रस चाखा।।
तजि नागेसर फूल सोहावा। कंवल बिसौधहिं सौं मन लावा।।

नागमती ने प्रथम चौपाई में स्वयं को दाख और पदमावती को महुआ और रत्नसेन के लिए भ्रमर उपमान दिया है। द्वितीय चौपाई में वह अपने को नागेसर फूल और पद्मावती को कमल का फूल मानती है। रत्नसेन के लिए भ्रमर का उपभान देती है। यदि वह प्रकृति क्षेत्र से इन उपमानों को न लेती, तो उसके हृदयस्थित की अभिव्यक्ति में वह तीव्रता न आ पाती और वे भाव या तो अव्यक्त रहते या व्यक्त परन्तु अतीव्र। पद्मावती भी रात के एकाकीपन की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति क्षेत्र से ही उपमानों का चयन करती है—

सूभर सरोवर हंस चल घटतइ गए बिछोइ।
कंवल न पीतम परिहरै, सूखि पंक बरु होइ।।

यद्यपि इस दोहे में उपमानों के आश्रय से ही धर्म, वाचक, शब्द तथा उपमेय सभी लुप्त कर दिए गए हैं फिर भी प्रस्तुत उपमानों ने उक्ति में शक्ति तथा मार्मिकता का संबर्द्धन किया है। सरोवर सूखने के अनंतर हंस तो अन्यत्र चले जाते हैं, परन्तु कमल सरोवर को नहीं त्यागता। भले ही वह सूख जाय सारा। उक्ति-सौंदर्य प्रकृति के उपमानों पर ही आश्रित है।

राघव चेतन ने भी अपनी व्यथा-कथा के लिए उपमानों का चयन प्रकृति क्षेत्र से ही किया है—

कित कर मुहें नैन भए, जीउ हरा जेहि बाट।
सखर नीर बिछोह जिमि, दरकि दरकि हिय फाट।।

पदमावती के सौंदर्य रूपी जल की बिछुड़न-जन्य वेदना से राघव चेतन का सरोवर रूपी हृदय उसी प्रकार फट गया जिस प्रकार जल सूख जाने पर सरोवर के बीच दरारें फट जाती हैं। राघव चेतन ने अपने लिए सरोवर का और पद्मावती के लिए जल का उपमान प्रकृति क्षेत्र से लिया है। जायसी ने लोक जीवन को अत्यन्त सन्निधि तथा सूक्ष्मता से देखा था यह उक्त उक्ति से स्पष्ट है।

पद्मावती तथा नागमती दोनों रानियाँ सती होते समय अपने हृदयगत भावोच्छ्वासों की अभिव्यक्ति के लिए भी उपमानों का चयन प्रकृति क्षेत्र से करती हैं—

आजु सूर दिन अथवा, आजु रैनि ससि बूड़ ।
आजु नाचि जिउ दीजिए आजु आगि हम जूड़ ।।

करुण भावापन्न रानियों के वक्तव्य का आधार प्रकृति क्षेत्र से गृहीत उपमान ही हैं। सूर्य और चन्द्र हर्ष और सुख के प्रतीक हैं। सूर्य का अस्तमित होना, चन्द्रमा का डूबना, नागमती और पद्मावती दोनों के सुखों के अवसान का द्योतन करता है। रत्नसेन के साथ ही दोनों रानियों के हर्षादि का पर्यवसान हो गया। जब दोनों रानियों के जीवन को आलोकित करने वाला चन्द्र-सूर्य रूपी (रत्नसेन) अस्त हो गया, जीवन अन्धकार से व्याप्त हो गया, तो फिर ऐसे जीवन से अच्छा है कि उस अग्नि में जलाकर समाप्त कर दिया जाय। 'आजु नाचि जीउ दीजिय।' यहीं पर यह कह देना समीचीन प्रतीत होता है कि जायसी द्वारा प्रयुक्त प्रकृति क्षेत्र से गृहीत उपमान (जिनके माध्यम से जायसी ने मानवीय हर्ष-विषाद की अभिव्यंजना की है)। (१) कहीं-कहीं उपमान जैसे ज्ञात नहीं होते और (२) कहीं–कहीं स्पष्ट ही उपमान प्रतीत हो जाते हैं। इसके लिये ऊपर उद्धृत प्रायः अनेक पद्यों में उदाहरण मिल जायेंगे––

"आजु सूर दिन अथवा आजु रैनि ससि बूड़।" इत्यादि दोहे में चन्द्र, सूर्य रात और दिन किसी उपमेय के लिए प्रस्तुत उपमान सदृश ज्ञात नहीं होते, किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य चन्द्र हर्ष और सुख (आनन्द) के उपमान हैं। दिन और रात सुख एवं दुःख के उपमान हैं।

(१०) लोक जीवन से गृहीत उपमानों का सौंदर्य

प्रकृति क्षेत्र से उपमानों का चयन करने में जायसी अत्यन्त कुशल हैं। साथ ही लोक-उपमानों की नियोजना में भी वे अत्यन्त पटु हैं। यथा—

पपीहा—'पिउ वियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा नित बोलै पिउ पीऊ ।।
हिंडोल—'हिय हिंडोल अस डोलैं मोरा। विरह झुलाइ देइ झकझोरा ।।
पीतपत्ता—तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर विरह देइ झकझोरा ।।
भरसांय—लागिउ जरैं जरै जस भारू। फिरि फिरि भूजेसि तेजेउ न बारू ।।
ओरी—बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोरि दुइ नैन चुवैं जस ओरी ।।

लोक जीवन से गृहीत उपमानों ने इन पंक्तियों में काव्यात्मकता का जो सरस और जीवंत स्पंदन भर दिया है वह जायसी जैसे कुशल कलाकार से ही सम्भव था। विरह संतप्त शरीर का उपमान पीत वर्णन का पत्ता, अनिमेष रोते हुए तथा अश्रु प्रवाहित करते हुए नेत्रों का उपमान छप्पर की चूती हुई ओरी वियोगिनी के लिए प्रयुक्त भड़भूंजे की तप्त भरसायँ का वह दाना जो भाड़ के कोहे की प्रतप्त बालुका

से उछल कर भी उसी में गिर-गिर कर रह जाता है, इत्यादि । स्पष्ट है कि नागमती की पुंजीभूत करुणा को मुखरित करने के लिएं तथा उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए जायसी ने लोक जीवन से उपमानों का चयन किया है ।

जायसी ने लोक जीवन की अन्य वस्तुओं से भी उपमानों का चयन किया है । जैसे—विरह तप्त पद्मावती के शरीर के लिए 'कड़ाही' में जलते हुए घी का उपमान—'दगधि कराह जरै जस घीउ । बेगि न आव मलयगिरि पीउ ॥ जायसी ने वियोग वर्णन की ही भाँति संयोग कालीन चित्रांकन के लिए भी सादृश्यमूलक उपमानों से द्वारा पद्मावत के काव्य-सौंदर्य को अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता प्रदान की है । जैसे—सिंहल से चित्तौड़ में सद्यः आगत रत्नसेन को देखकर नागमती के प्रफुल्ल वदन और हर्षातिरेकमय दशा का चित्रण करने के लिए फुलवारी का उपमान

"जस भुइं दहि असाढ़ पलुहाई । — — —
ओहि भांति पलुही वह बारी । उठी करिल नइ कोंप संवारी ॥

इस पद का सारा सौंदर्य फुलवारी की लताओं में 'नई आई हुई कोपलों' के उपमान पर ही निर्भर है ।

जायसी ने कहीं—कहीं एक सम्पूर्ण भाव को ही प्रेम का उपमान बनाकर उत्कृष्ट काव्यात्मकता का परिचय दिया है, जैसे—

"मुहम्मद बाजी प्रेम की ज्यों भावै त्यों खेल ।
तिल फूलहिं के संग ज्यों होइ फुलायल तेल ॥"

प्रस्तुत दोहे में लोक दृष्टान्त के माध्यम से प्रेम की सजीव व्यंजना की गई है । तिल और फूल के साहचर्य से सुरभिमय स्नेह (तेल) की निष्पत्ति होती है । प्रेम के आलंबन और आश्रय का सम्बन्ध जब तिल और पुष्प के सदृश होगा, तभी चिर स्थायी सौरभ विकीर्ण करने वाले स्नेह की निष्पत्ति हो सकती है ।

(११) वस्तु—वर्णन एवं कार्यों के उपमानों का सौंदर्य

अन्य विषयों के वर्णनों से संबन्धित उपमानों की दूसरी कोटि में वस्तु वर्णन एवं कार्यों से संबन्धित उपमानों की गणना की जा चुकी है । इन वर्णनों में भी जायसी ने लोकगृहीत उपमानों, प्रकृति-क्षेत्र से गृहीत उपमानों तथा अन्य प्रकार के उपमानों का आश्रय लिया है । इन उपमानों के माध्यम से चित्रों में रंग भर कर गाढ़, अपेक्षाकृत अधिक तीव्र, मार्मिक तथा अनुभूतिपूर्ण सुन्दर काव्याभिव्यक्ति की गई है, जैसे—

(१) 'औनई घटा चहूँ दिसि छाई । छूटहिं बान मेघ झरि लाई ॥'

बाणों के लिए मेघ की बूँदे तथा छूटते हुए बाणों के लिए 'धारासार मेघ की झड़ी' के उपमानों के द्वारा एक सुन्दर जीवन्त दृश्य उपस्थित किया गया है ।

सागर की छाती पर मंद तथा तीव्र गति से भागते हुए जलयानों के लिए क्रमशः "गरियार बैल" और तुषारदेशीय अश्व "के उपमानों द्वारा सुन्दर अभि-व्यंजना की गई है—

"कोई जसभल धाव तुखारू। कोई जइस बैल गरियारू॥"

उदधि समुद्र के प्रतप्त जल को 'लौह कटाह में खौलते हुए तेल' का उपमान भी अधिक गाढ़ बना देता है—

"तलफै तेल कराह जिमि, तिमि तलफै सब नीर॥"

जायसी ने अनेक लोकोक्तियों और मुहावरों का भी उपमान रूप में प्रयोग किया है, यथा—

"माथे नहिं बैसारिय, जौ सुठि सुआ सलोन।
कान टुहैं जेहि पहिरे का लेइ करब सो सोन॥"

भावी सौत की आशंका से नागमती ने हीरामन शुक के लिए 'वजनी—स्वर्ण कर्णफूल' के उपमान का प्रयोग किया है जिसके 'कान में पहनने से कान टूटने का भय बना रहता है। प्रस्तुत पद में 'फाटि परै ओहि सोना, जेहि से टूटै कान' वाली कहावत को ही उपमान रूप में रखकर दृष्टांत दिया गया है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि जायसी एक उत्कृष्ट कोटि के रस सिद्ध कवि थे। उनकी कृति की अजस्र धारा में स्वाभाविकत: अनेक अलंकारों का समावेश हो गया है। ये अलंकार स्वभावज हैं आरोपित नहीं। अत: पद्मावत के काव्य सौंदर्य के संवर्द्धन की दृष्टि से इन उपमानों का महत्वपूर्ण योग है। मध्ययुगीन तथा रीतिकालीन कवियों के सदृश जायसी को अलंकारों की अनावश्यक और बेमेल ठूंस ठांस नहीं करनी पड़ी है। रससिद्ध इस भारतीय महा—कवि के काव्य में मानसरोवर की भाँति सर्वत्र स्वत: अलंकार-कमल विकसित हुए हैं। इन अलंकार पद्मों की नव—नव सुरभि तथा स्वजात सौंदर्य ने पद्मावत को हिन्दी साहित्य का एक अमूल्य ग्रन्थ-रत्न बना दिया है।

रस

भावाभिव्यंजना

जायसी, कुतबन आदि सूफी कवियों की रचनाओं का प्रधान विषय प्रेमतत्व का निदर्शन एवं प्रेम व्यापारों का वर्णन होने के कारण उनकी भाव-व्यंजना—पद्धति की सीमा भी स्वभावत: वहीं तक पहुँची है जहाँ तक उसके अनुकल समर्थक भावों का प्रश्न आ सकता है। सूफियों ने सब कहीं प्रेम के विरह-पक्ष को विशेष महत्व दिया है और इसी कारण जितना ध्यान उन्होंने प्रेमी एवं प्रेमिकाओं के वियोग,

उसकी अवधि में झेले जाने वाले विविध कष्टों तथा उसका अंत करने के उद्देश्य से किए गए विभिन्न प्रयत्नों के वर्णन की ओर दिया है उतना उसके अंतिम मिलन को भी नहीं दिया है। विरह की दशा वस्तुत: वह मन: स्थिति है जिसमें रहते समय अपने सारे जीवन को ही प्रेमपात्र के प्रति नितांत एक निष्ठ बना देना पड़ता है। संयोग या मिलन के अनुभव में उतनी तीव्रता नहीं रह जाती और न इसी कारण उसमें किसी प्रकार की गति लक्षित होती है। विरह के भाव में एक विचित्र अंत: प्रेरणा निहित रहती है जो प्रेमी या प्रेमिका को कभी चैन की सांस नहीं लेने देती और सतत उद्योगशील बनाकर ही छोड़ती है। वह आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है मार्ग में अनेक प्रत्यूह समक्ष आते हैं। वह संघर्षों से जूझता है, घबराता नहीं। प्रिय के मिलने की महत्–तीव्र आकांक्षा-लेकर शूलों पर भी वह उत्साहपूर्वक चला जाता है।

मुल्ला दाऊद, जायसी, कुतबन आदि सूफी कवियों ने भाव–व्यंजना के क्षेत्र में बारहमासा और प्रकृति वर्णन को बहुत महत्व दिया है। प्रत्येक मास के ऋतुपरक प्रभाव का निदर्शन एवं नायक-नायिका पर तज्जन्य प्रभावाभिव्यंजन का इन कवियों ने सफलतापूर्वक चित्रण किया है। इन वर्णनों के प्रसंग में प्राय: सर्वत्र भारतीय वाता-वरण की अवतारणा ही द्रष्टव्य है। जहां फारसी साहित्य की काव्यरूढ़ियों का प्रभावातिशय्य हुआ है वहाँ वर्णन अत्युक्तिपूर्ण किंवा अतिरंजित हो गए हैं। जायसी के पात्रों के नयनों से 'रक्त के आँसू' 'ढुरि–ढुरि' पड़ते हैं और ऐसे स्थलों पर स्वा-भाविकता का स्थान अत्युक्ति लेने लगती है। जायसी के अतिरिक्त प्राय: सभी सूफी कवि विरह-वर्णन के प्रसंग में भारतीय मर्यादा का ध्यान नहीं रखते। कहीं-कहीं ये कवि विरहिणी के भावों में स्वयं बह जाते हैं और ऐसे स्थलों पर क्वचित् कदाचित् उच्छृंखलता और वीभत्सता भी दृष्टिगोचर होती है। इन कवियों के संयोगावस्था के वर्णन या तो भोगविलासमय हैं या कहीं कहीं रहस्यपरक। प्रेम तत्व की व्याख्या सौंदर्य की लोकोत्तर कल्पना, प्रेमतत्व की अपूर्वता-अखंडता, कहीं-कहीं साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का परिचय आदि का भी पूरा-पूरा परिचय इनकी रचनाओं में मिलता है। प्रेम के प्रसंग में ही उत्साह, शोक, द्वेष, ईर्ष्या, कपट, दया, सहृदयता एवं सुजनता-परक भावों की व्यंजना भी यहाँ प्रचुर मात्रा में दीख पड़ती है।

मुख्य रूप से पात्रों के द्वारा रति, शोक, क्रोध, और युद्धोत्साह नामक स्थायी भावों की व्यंजना कराई जाती है। पदमावत में भय का आलंबन समुद्र वर्णन के प्रसंग में और वीभत्स का आलंबन युद्ध वर्णन के प्रसंग में हम पाते हैं। हास का तो अभाव ही अभाव है। जायसी की भाव-व्यंजना के संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि उन्होंने जबरदस्ती विभाव, अनुभाव संचारी आदि को ठूंस कर पूर्ण रस की रस्म

अदा करने की कोशिश नहीं की है। भावोत्कर्ष मात्र ही उनका प्रयोजन रहा है। पदमावत में यद्यपि शृंगार ही प्रधान है, पर उसके संभोग-पक्ष में स्तंभ, स्वेद, रोमांच नहीं मिलते। वियोग में अश्रुओं का बाहुल्य है। भावाभिव्यंजना के प्रसंग में दो बातें विशेष द्रष्टव्य होती हैं—

(१) कितने भावों और गूढ़ मानसिक विकारों तक कवि की दृष्टि पहुँची है।

(२) कोई भाव कितने उत्कर्ष तक पहुँचा है।

जायसी में भावों के भीतर संचारियों का सन्निवेश बहुत कम मिलता है पदमावत में रति भाव का प्राधान्य है, पर उसके अन्तर्गत भी हम असूया, गर्व आदि दो एक संचारियों को छोड़ ब्रीड़ा अवहित्था आदि अनेक भावों का कहीं पता नहीं पाते।

भावों के उत्कर्ष के क्षेत्र में जायसी बहुत बढ़े-चढ़े हैं, किन्तु यह उत्कर्ष मुख्यत: विप्रलंभ पक्ष में ही अधिक दिखाई पड़ता है।

पदमावत मूलत: एक प्रेम कथा है। अत: शृंगार रस के संयोग और वियोग पक्ष का समावेश उसमें विशद रीति से हुआ है। शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों का भी समावेश कथा प्रसंगों के कारण हो गया है। ये गौण रस करुण, वात्सल्य, वीर शांत और वीभत्स हैं। वीर, शान्त और वीभत्स का संबन्ध प्रधानत: उत्तरार्द्ध के युद्धों से है। करुण रस जोगी–खण्ड और सती खण्ड में व्यापक रूप से निरूपित हुआ है। वात्सल्य और शान्त के छोटे-छोटे प्रसंग कई बार आए हैं।

शृंगार रस

संयोग पक्ष

यद्यपि पदमावत वियोग-शृंगार-प्रधान काव्य है, पर इसमें संयोग शृंगार का भी पूरा वर्णन हुआ है। षट्-ऋतु वर्णन संभोग शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से लिखा गया है। जायसी ने रत्नसेन–नागमती के संयोग का केवल एक चित्र दिया है। रत्नसेन सिंहल से लौटकर आता है। दिनभर तो व्यस्त रहा, पर 'भइ निसि नागमती पहं आवा, नागमती में 'मान' का भाव जाग्रत होता है। वह मान करती है और अंत में कहती है कि—

"तू जोगी होइगा बैरागी। हौं जरि छार भएउँ तोहि लागी॥"

सपत्नी को दृष्टि में रखती हुई वह कह उठती है —

काह हँसौ तुम मोसों किएउ और सों नेह।
तुम्ह मुख चमकै बीजुरी मोहि मुख बरसत मेह॥

इस अवसर पर रत्नसेन की चाटुकारिता द्रष्टव्य है–

भलेहिं सेत गंगाजल दीठा। जमुन जो साम नीर अति मीठा ॥
काह भएउ तन दिन दस दहा। औ बरखा सिर ऊपर अहा ॥

अन्त में वह उसे मना लेता है—

कंठ लाइकै नारि मनाई। जरी जो बेलि सींचि पलुहाई ॥

रत्नसेन बरात सजा कर आ रहा है, पद्मावती के हुलास और प्रेमातिशय की कोई सीमा नहीं—

हुलसे नैन दरस मदमाते। हुलसे अधर रंग–रसराते ॥
हुलसा बदन ओप रवि पाई। हुलसि हिया कंचुकि न समाई ॥
हुलसे कुच कसनी बंद टूटे। हुलसी भुजा, वलय कर फूटे ॥
आजु चाँद घर आवा सूरू। आजु सिंगार होइ सब चूरू ॥
अंग-अंग सब हुलसे, कोइ कतहूँ न समाइ।
ठावहिं ठांव विमोही, गइ मुरछा तन आइ ॥

रत्नसेन पद्मावती की सुहाग-रात का आयोजन है। कवि दंपति को धवल-गृह के सातवें खंड में ले जाता है। संभवतः सात खँड से सूफियों के सात मुकामात निर्दिष्ट हैं। अन्तिम खंड में पहुँच कर ही प्रिय से मिलन होता है।

सेज की कोमलता के लिए जायसी की अत्युक्ति द्रष्टव्य है—

अति सुकुमारि सेज सो डासी, छुवै न पावै कोई।
देखत नवै खिनुहिं खिन, पाव धरत कस होई ॥

दोनों के मन में संकोच-चिन्ता है। पद्मावती तो और भी सँकोचशीला हो गई है—

हौं बारी औ दुलहिन, पीव तरुन यह सेज।
ना जानौं कस होइहि, चढ़त, कँत के सेज ॥

संभोग-चित्रण—

फारसी के कवियों ने कहीं-कहीं प्रेम के मांसल स्वरूप का चित्रण किया है पर उनके काव्यों में संभोग चित्रण का अभाव है। उनके संभोग प्रभृति वर्णनों में कभी-कभी तसव्वुफ का दीदार टेढ़ी खीर हो जाता है। रूमी का कथन है—

"परदा बरदारो बिरहना गो कि मन। मी न खुस्यम वासनम बा पैरहन ॥"[१]
(परदा उठा दो और साफ-साफ कह दो कि यार के साथ कुर्ती पहन कर नहीं सोती यार के साथ सोने का लुत्फ कुर्ती उतार कर सोने में है।)

अमीर खुसरो ने भी शीरीं–खुसरो' मसनवी में संभोग का चित्रण किया है।
'गिरफ्ता दस्ते-यक दीगर चूं मस्तान। शुदन्द अज़ बज्म गहसूपे शबिस्तां ॥'

१—मौलाना रूमी, जगदीशचन्द्र बाचस्पति, पृ० १२८

'न खुश्त आ तशनए लब खुश्क बेताब । दहन अज़ आबे हैवाँ कर्द सैराब ।।
चूं फारिग शूद जे शर्बत हाये चूंनोश । कशीद आसवंरां चूं गुल दरागोश ।।"[1]
(दोनों ने एक दूसरे का हाथ पकड़ा । वे महफिल से शविस्तां (शयन कक्ष) की ओर चले । सर्वप्रथम उस प्यासे होंट वाले तथा सूखे लब बेताब ने मुंह को आबे हयात से सैराब किया । और जब मधुपान से फारिग हुआ, तो उसको अपनी गोद में खींच लिया ।) इसके अनन्तर खुशरो ने उन दोनों के रमण का यथार्थ चित्रण किया है । ईरान के सूफी कवियों में इश्क मजाजी—इश्क हकीकी के चित्रण मिलते हैं, पर स्पष्ट रूप से संभोग के चित्रण वहां की मसनवियों में नहीं मिलते । जामी की मसनवी यूसुफ जुलेखा में इस प्रकार का चित्रण नहीं मिलता । निजामी ने भी इस प्रकार का चित्रण नहीं किया है । खुसरो की यह प्रवृत्ति भारतीय वातावरण के कारण है । इसका मूलस्रोत भारतीय साहित्य में है । फारसी साहित्य की सर्वप्रथम मसनवी में संभोग-चित्रण अमीर खुसरो की 'शीरीं-खुसरो' में ही मिलता है । अकबर कालीन फैजी ने भी 'नल-दमन' में इस प्रकार का चित्रण किया है—"अज़दीदा बदीदा राज़ गुफ्तन्दु । बज़ सीना ब सीना बाज़ गुफ्तंद ।[2] सम्भव है कि जायसी ने अमीर खुसरो वा भारतीय परम्परा से गृहीत करके ही संभोग का विलसित चित्रण किया है ।

संस्कृत के काव्यों में संभोग के अनेक प्रकार के वर्णन मिलते हैं इस प्रसंग में प्रायः कवियों ने कामशास्त्र को आधार बनाया है । कालिदास[3] ने 'कुमार संभवम्' में संभोग का सविस्तार चित्रण किया है । श्री हर्ष ने नैषध महाकाव्य में नल और दमयन्ती के संभोग का चित्रण किया है । इस महाकाव्य के अठारहवें[4] सर्ग में संभोग का बड़ा विशद चित्रण मिलता है । विल्हण ने[5] 'चौरपंचशिका' में चोर कवि की संभोग-स्मृतियों का वर्णन किया है । 'गीतगोविन्द' में[6] जयदेव ने राधा और कृष्ण की भांति भाँति की संभोग-केलिक्रीड़ाओं को चित्रित किया है । प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में भी संभोग के वर्णन मिलते हैं ।

वस्तुतः भारतीय लक्षणकारों ने महाकाव्य में संभोग-चित्रण को एक आवश्यक तत्व के रूप में माना है और संभवतः इसी कारण महाकवियों ने संभोग चित्रण से

१—खुसरो-शीरीं, अमीर खुसरो, पृ० २४०, (अलीगढ़ यूनिवर्सिटी, १६२७)
२—नलदमन, फैजी, पृ० २१६ (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ १६३० ई०)
३—कुमार संभवम्, अष्टम सर्ग ।
४—नैषधमहाकाव्यंम्, अष्टादश सर्ग, श्लोक ५४—६८
५—श्रीविल्हण कविकृत चौरपंचाशिका, ओरियंटल बुक एजेन्सी, पूना ।
६—गीतगोविन्द, हिन्दी अनु० डा० विनयमोहन शर्मा ।

अपने महाकाव्यों को सजाना शुरू किया। इस प्रकार इस चित्रण की परम्परा ही चल पड़ी। साहित्य दर्पणकार का कथन है कि महाकाव्य में संभोग का चित्रण भी होना चाहिए—'संभोग विप्रलंभौच मुनिस्वर्गपुराध्वरा।'[1] दण्डी ने भी 'उद्यान सलिल क्रीड़ा मधुपान[2] रतोत्सवैः के द्वारा महाकाव्य में संभोग चित्रण को एक आवश्यक तत्व माना है। भारतीय महाकाव्यों में धीरे-धीरे संभोग-चित्रण एक रूढ़ि बन गया। प्रायः महाकाव्यकारों ने प्रसंग उपस्थित होने पर संभोग के रसमय वर्णन किए हैं।

'ढोलामारू रादूहा'[3] छिताईवार्ता, सदयवत्स सावलिंगा, माधवानलकामकंदला, नलदमन, रस रतन, प्रेम प्रगास, पुहुपावती प्रभृति असूफी काव्यों में संभोग-चित्रण का कवियों ने रसमय वर्णन किया है। यहां संभोग चित्रण की भारतीय परम्परा-प्रदर्शन के लिए कवि पंक्तियां अपेक्षित हैं:- छिताईवार्ता में सौरसी और छिताई की रति-क्रीड़ा का चित्रण मिलता है। छिताई कोक कला और आसनों, कमलबंध की रीतियों, विपरीत रति आदि में चतुर थी—

मदनबान तन जाइन सहा। उठि सुरसी आँचल गहा।
छारत कर कंचुकी लजाई। फूकइ द्रष्टि दीया बुझाई॥
'अधर प्रकार कुच गहन न देई। छुवन न अंग छिताई देई॥'
'आसन-कमल विध बंध। विपरित रतिन चोज अति संध॥'[4]

गणपति ने कामकंदला और माधव के विलास एवं केलि-युद्ध का सविस्तार वर्णन किया है। माधव को कवि ने साक्षात् कामदेव का अवतार कहा है। चूड़ियों का फूटना, मुक्ताहार का टूटना, आभरणों का छिहर जाना, खाट का भार न सह सकना, आदि का 'माधवानल कामकला'[5] में वर्णन हुआ है। बेलिकिसन रुकमणीरी'[6] में कवि पृथ्वीराज ने रुक्मिणी के बालों के खुलने, मोतियों के छहराने आदि का संभोगकालीन चित्रण किया है।

विद्यापति ने भी अपने पदों[7] में संभोग का चित्रण किया है। अब प्रश्न

१—साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, षष्ठपरिच्छेद। श्लोक ३२३।
२—'काव्यादर्श', दण्डी, प्रथम परिच्छेद, श्लोक १६।
३—ढोलामारू रादूहा, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १४१-४२-४३।
४—छिताईवार्ता, ना० प्र० सभा, काशी, छंद १६२ से २००।
५—माधवानल कामकला प्रबन्ध, पृ० १०६-१०७।
६—बेलिक्रिसन रुकमणी री, छंद १७६-७७-७८।
७—विद्यापति पदावली, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, लहेरियासराय पटना।

यह है कि जायसी के संभोग वर्णन का मूल-स्रोत क्या है ? फारसी की सूफी वर्णनात्मक मसनवियों में संभोग का इस प्रकार का चित्रण नहीं मिलता। प्रख्यात मसनवीकार निजामी और जामी की कृतियों में कहीं भी इस प्रकार का संभोग-चित्रण नहीं मिलता है। जायसी, मंझन आदि के काव्यों में जो संभोग-वर्णन मिलता है उसके मूल में प्रधान रूप से भारतीय प्रभाव और परम्परा है, साथ ही गौण रूप से सूफी प्रेम-इश्क मजाजी—इश्कहकीकी का भी प्रभाव है—पर यह सूफी या ईरानी प्रभाव नगण्य-सा है।

जायसी ने दम्पति के संभोग का जमकर वर्णन किया है। यहां कवि ने मूलतः लौकिक संभोग का वर्णन किया है,

पिउ-पिउ करत जीभ धनि सूखी बोली चातक भांति।
परी सो बूंद सीप जनु मोती हिऐं परी सुख-सांति ।।
भई जूझ जस रावन रामा। सेज विधांसि बिरह संग्रामा।
लीन्ह लंक कंचन गढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा ।।
औ जोबन मैमंत विधांसा। बिचला बिरह जीउ जो नासा ।।
टूटे अंग अंग सब भेसा। छूटी मंग भंग भे केसा ।।
कंचुकि चूरि-चूरि भइ ताने। टूटे हार मोति छहराने ।।
पुहुम सिंगार सँवारि, जौं जौवन नवल बसंत।
अरगज जेउं हिय लाइ कै मरगज कीन्हें कंत ।।[१]

इस प्रसंग में 'मैमंता' शब्द द्रष्टव्य है। एक ओर मदमस्त हाथी का अर्थ और दूसरी ओर अहंता या अहँ का अर्थ। अहं का विध्वंस साधना में अपेक्षित है। इस अवसर पर बेचारी बाला पद्मावती बिनती करती है कि हे प्रिय, तुम्हारी आज्ञा मेरे सिर-माथे पर है, पर मेरा निवेदन है कि मधु को थोड़ा-थोड़ा चखो—

जो तुम्ह चाहहु सो करहु नहिं जानहुं भल मंद।
जो भावै सो होइ मोहि तुम्हहिं पै चहौं अनंद ।।[२]

रत्नसेन सच्चा साधक है, वह मरने जीने से नहीं डरता—

'सुनु धनि पेम सुरा के पिए। मरन जियन डर रहै न हिए ।।'

इस प्रसंग में जामी का कथन उद्धरणीय है—"सांसारिक प्रेम को छक कर पियो ताकि तुम्हारे ओष्ठ और अधिक शुद्ध सुरा का पान कर सकें।[३] यह संभोग-चित्रण स्थूल हो गया है। सुराही, प्याला, प्रेम सुरा आदि के सूक्ष्म स्वरूप दब-से गए हैं।

१—पदमावत (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल) पृ० ३१७
२—वही, पृ० ३१८
३—यूसुफ एण्ड जुलेखा, अनु० रैल्फ टी० एच० ग्रिफिथ, लन्दन, पृ० २४।

सूफियों में मदपान ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक है। इसी से सुहाग रात के समय कवि ने इसकी योंजना की है। हमारे धर्म-समाज और साहित्य में रति का आत्यंतिक चित्रण वर्जित है। काम भी धर्म, अर्थ और मोक्ष की तरह उपादेय हैं। भारतीय धर्म-साधना में काम का भी महत्व है। संभवतः यह तन्त्र साधना का प्रभाव है। इस प्रसंग में कोणार्क और जगन्नाथ जी के मन्दिरों पर चौरासी आसनों के चित्र, कालिदास, जयदेव और विद्यापति के संभोग—वर्णनों की ओर भी दृष्टि का चला जाना स्वाभाविक है। कबीर में भी अध्यात्म पक्ष को लौकिक रति-प्रसंग का ही सहारा मिला है। आज भी रहस्यवादी कवि 'जुही की कली और पवन' 'शेफाली और सिखिर-विन्दु' की क्रीड़ा व्यक्त करने से नहीं चूके हैं। जायसी ने अन्त में स्पष्ट रूप से इसे अध्यात्म की ओर मोड़ दिया है—

"करि सिंगार तापहँ का जाऊँ। ओही देखौं ठावहि ठाऊँ॥
नैन माहँ है उहै समाना। देखौं तहां नाहि कोउ आना॥"

रत्नसेन के साथ रहने के कारण पद्मावती को पावस अत्यंत सुखद प्रतीत होता है—

"चमक बीजु बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
रंगराती प्रीतम संग जागी। गरजे गगन चौंकि गर लागी॥"

विरह-स्थिति में नागमती को बूंदें बाण की तरह लगती हैं, पर पद्मावती को संयोग दशा में वे ही बूंदें सोने की-सी प्रतीत होती हैं। जायसी का षट्-ऋतु वर्णन परंपरागत ही है। पद्मावती शृंगार-मंडित होकर राजा के पास जाती है, उस समय का एक मनोहारी चित्र कवि ने खींचा है—

साजन लेइ पठावा, आय सुजाइ न मेट।
तन मन जोबन साजि कै, देइ चली लेइ भेंट॥

मन का साजना—समागम की उत्कंठा या अभिलाष है। बिना इस मन की तैयारी के तन की सब तैयारी व्यर्थ हो जाती है।

"नायक-नायिका के बीच कुछ वाक्-चातुर्य और परिहास भी भारतीय प्रेम-प्रवृत्ति का एक मनोहर अंग है। भारतीय प्रकृति के अनुसार संयोग-पक्ष की नाना वृत्तियों का भी कुछ विधान हो जाने से जायसी का प्रेम आनन्दी जीवों द्वारा बिल्कुल 'मुहर्रमी' कहे जाने से बाल-बाल बच गया है। राजा की सारी कहानी सुनकर पद्मावती कहती है कि तू जोगी और मैं रानी, तेरा—मेरा कैसा साथ ?

हौं रानी तू जोगि भिखारी। जोगिहि-भोगिहि कौनि चिन्हारी॥
एही भाँति सिष्टि सब छरी। एही भेख रावन सिय हरी॥

संभोग शृंगार की परम्परा के अनुसार जायसी ने अभिसार का पूरा वर्णन

किया है। अभिसार मिलन, द्यूत-क्रीड़ा, वाक्चातुर्य, रति आदि की व्यंजना पर्याप्त रसमय है।

वियोग शृंगार का पद्मावत में अत्यन्त विशद चित्रण हुआ है। नागमती और पद्मावती दोनों के विरह पद्मावत में मिलते हैं। दोनों लगभग एक समान हैं। इनमें कोई विशेष भेद नहीं है। कवि प्रेम-मात्र में भेद नहीं करता। प्रेम चाहे लौकिक हो चाहे पारमार्थिक प्रकार-भेद हो सकता है तत्वभेद नहीं। पदमावत के ५७ खण्डों में पंद्रह खण्ड नागमती और पद्मावती के वियोग का चित्रण करते हैं।

नागमती का वियोग 'नागमती वियोग खण्ड', नागमती सन्देश खण्ड, चित्तौर आगमन खण्ड, पद्मावती-नागमती विलाप-खण्ड, पद्मावती-नागमती सती खण्ड आदि प्रसंगों में अभिव्यक्त हुआ है। विद्वानों का विचार है कि नागमती-वियोग और सन्देश जैसी वस्तु तो हिन्दी काव्य में अन्यत्र नहीं ही है। केवल इन्हीं दो खण्डों को लिखकर जायसी अमर हो जाते। नागमती का अपना पति एक दूसरी स्त्री के सौंदर्य का वर्णन एक तोते के मुख से सुनकर सात समुद्र पार सिंहल द्वीप की ओर चला जाता है। वह अपना सब कुछ छोड़कर जाता है, जोगी बनकर जाता है। नागमती की गोद भी सूनी है—इसी पृष्ठभूमि पर उसका दारुण विरह चित्रित हुआ है। वेदना का इतना मार्मिक, गम्भीर, पवित्र एवं प्रभविष्णु वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। जायसी का एक-एक दोहा विरह का अगाध सागर है—

सारस जोरी कौन हरि मारि बियाधा लीन्ह।
झुरि-झुरि हौं पींजर भई, विरह काल मोहिं दीन्ह॥
जिन्ह घर कन्ता ते सुखी तिन गारो औ गर्व।
कन्त पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्व॥
परबत समुद अगम बिच, बीहड़ घन वन ढांख।
किमि कै भेटौं कन्त तुम्ह, नामोहिं पाँव न पांख॥

वियोग हमारे यहां चार प्रकार का माना गया है, पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण।[1] (१) पूर्वानुराग को कुछ आचार्यों ने अभिलाष मात्र मानकर गंभीर वियोग के अनुपयुक्त समझा है। पदमावत में प्रणयमान और ईर्ष्या मान दोनों की सुन्दर योजना की गई है। इन दोनों मानों के वर्णन में जायसी की चित्तवृत्ति अधिक रमी है। प्रवास-जन्य विरह के वर्णन में तो जायसी बेजोड़ हैं।

"जायसी का विरह-वर्णन अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी मजाक की हद तक नहीं पहुँचने पाया है, उसमें गांभीर्य भरा हुआ है। इनकी अत्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़तीं, हृदय की अत्यन्त तीव्र वेदना के शब्द-संकेत प्रतीत होती हैं।

१—रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, ना० प्र० सभा, काशी पृ० १९९-२००।

उनके अन्तर्गत जिन पदार्थों का उल्लेख होता है, वे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देने वाले होते हैं, बाहर से ताप की मात्रा नापने वाले मानदण्ड मात्र नहीं। जाड़े के दिनों में पड़ोसियों तक पहुँच उन्हें बेचैन करने वाले शरीर पर रखे हुए कमल के पत्तों को भूनकर पापड़ बना देने वाले, बोतल का गुलाबजल सुखा डालने वाले ताप से कम ताप जायसी का नहीं हैं, पर उन्होंने उसके वेदनात्मक और दृश्य अंश पर जितनी दृष्टि रखी है उतनी उसकी बाहरी नाप–जोख पर नहीं जो प्राय: ऊहात्मक हुआ करती है। नाप-जोख करने वाली ऊहात्मक पद्धति का जायसी ने कुछ ही स्थानों पर प्रयोग किया है जैसे राजा की प्रेम-पत्रिका के इस वर्णन में–

आखर जरहिं, न काहू छूआ। तब दुख देखि चला लेइ सूआ॥"

अथवा नागमती के विरह-ताप की इस व्यंजना में—

जेहि पंखी के नियर होइ, कहै विरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होहिं निपात॥

इस ऊहात्मक पद्धति का दो-चार जगह व्यवहार चाहे जायसी ने किया हो, पर अधिकतर वेदनात्मक स्वरूप की अत्यन्त विशद व्यंजना ही जायसी की विशेषता है। इन्होंने अत्युक्ति की है और खूब की है, पर वह अधिकांश संवेदना के स्वरूप में है, परिणाम-निर्देश के रूप में नहीं है।

जायसी ने जहां हेतूत्प्रेक्षा के माध्यम से विरह-ताप की मात्रा का आधिक्य सूचित करने के लिए ऊहात्मक या वस्तु-व्यंजनात्मक पद्धति का सहारा लिया है वहाँ विरह-ताप को सृष्टि भर में व्याप्त भी देखा है–

अस परज़रा विरह कर गठा। मेघ साम भए धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु केतु गर दाधा। सूरज जरा चाँद जरि आधा॥
औ सब नखत तराई जरहीं। टूटहि लूक, धरति महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठावँहि ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊं॥

यहाँ मेघों का श्याम होना, राहु-केतु का काला होना, सूर्य का तपना, चन्द्रमा का क्षीण होते जाना, पलास के फूलों का लाल होना आदि सत्य हैं। ये विरह ताप के कारण ऐसे हैं यही बात कल्पित है।

नाप के अतिरिक्त विरह के और—और अंगों का भी विन्यास जायसी ने इसी हृदय-हारिणी और व्यापकत्व विधायिनी पद्धति पर वाह्य प्रकृति को मूल—आभ्यंतर जगत का प्रतिबिम्ब-सा दिखाते हुए किया है। नागमती के विरह और रुदन से समस्त संसार प्रभावित है—

कुहुकि–कुहुकि जस कोइल रोई। रकत आँसु घुँघुची होइ रोई॥
जहँ-जहँ ठाढ़ होइ बनवासी। तहँ-तहँ होइ घुँघुचि कै रासी॥

तेहि दुख भए परास निपाते । लोहू बूड़ि उठे होइ राते ॥
राते बिंब भीजि तेहि लोहू । परबर पाक, फाट हिय गोहूँ ॥

सूर की गोपियों ने मधुवन को कोसते हुए कहा था—

मधुबन तुम कत रहत हरे ।
विरह–वियोग श्याम सुन्दर के काहें न ठाढ़े जरे ?
कौन काज ठाढ़े रहे वन में, काहे न उकठि परे ?

"नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है । नागमती उपवन के पेड़ों के नीचे रात-रात भर रोती फिरती है । इस दशा में पशु, पक्षी, पेड़, पल्लव, जो कुछ सामने आता है उसे वह अपना दुखड़ा सुनाती है । वह पुण्य दशा धन्य है जिसमें ये सब अपने सगे लगते हैं और यह जान पड़ने लगता हैं कि इन्हें दुख सुनाने से भी जी हलका होगा । सब जीवों का अधीश्वर मनुष्य और मनुष्यों का अधीश्वर राजा । उसकी पटरानी जो कभी-कभी बड़े-बड़े राजाओं और सरदारों की बातों की ओर भी ध्यान न देती थी, वह पक्षियों से अपने हृदय की वेदना कह रही है, हृदय की इस उदार और व्यापक दशा का कवियों ने केवल प्रेम दशा के भीतर ही वर्णन किया है, यह बात ध्यान देने योग्य है ।"[१]

बाल्मीकि के राम सीता-हरण होने पर वन में वृक्ष-वृक्ष से पूछते फिरे, कालिदास का यक्षमेघ से संदेश देता रहा और नागमती भी उन्माद की स्थिति में पंछी-दूत की व्यवस्था करती रही—

फिरि फिरि रोव, कोइ नहिं डोला । आधी रात विहंगम बोला ॥
तू फिरि-फिरि दाहैं सब पाँखी । केहि दुख रैनि न लावसि आंखी ॥

जायसी ने यहां सामान्य हृदय-तत्व की सृष्टि-व्यापिनी भावना द्वारा मनुष्य और पशु-पक्षी सबको एक जीवन सूत्र में बद्ध देखा है ।

पदमावती से कहने के लिये नागमती ने विहंगम से जो संदेश कहा है, वह अत्यन्त मर्मस्पर्शी है । उसमें मान, गर्व आदि से रहित सुख-भोग की लालसा से अलग अत्यन्त नम्र, शीतल और विशुद्ध प्रेम की झलक पाई जाती है—

पदमावति सों कहेहु विहंगम । कन्त लोभाइ रही करि संगम ॥
तोहि चैन सुख मिलै सरीरा । मो कहँ हिये दुंद दुख पीरा ॥
हमहुँ विआही संग ओहि पीऊ । आपुहि पाइ जानु पर–जीऊ ॥
मोहि भोग सों काज न बारी । सौंह दीठि कै चाख निहारी ॥

विप्रलंभ शृंगार ही पदमावत में प्रधान है । विरह दशा के वर्णन में जहाँ

१–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा) पृ० ४०–४१

कवि ने भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है, वहां कोई अरुचिकारक वीभत्स दृश्य नहीं आया है। कृशता, ताप, वेदना आदि के वर्णन में भी उन्होंने शृंगार के उपयुक्त वस्तु सामने रखी है, केवल उसके स्वरूप में कुछ अन्तर दिखा दिया है, जो पद्मिनी स्वभावत: पद्मिनी के समान विकसित रहा करती थी वह सूखकर मुरझाई हुई लगती है—

कँवल सूख, पँखुरी बेहरानी। गलि गलि कै मिलि छार हेरानी॥

विरह–वर्णन के प्रसंगों में पदमावत में जहाँ कहीं भी फारसी साहित्य द्वारा पोषित भाव मिलते हैं, वहाँ कभी-कभी वीभत्सता भी आ गई है, जैसे

विरह सरागहि भूँजे मांसू। गिरि–गिरि परै रकत कै आँसू॥
कटि–कटि मांसु सराग पिरोवा। रकत कै आँसु मांसु सब रोवा॥
खिन एक बार मांसु अस भूंजा। खिनहिं चबाइ सिंघ अस गूँजा॥

वियोग–वर्णन की ही भाँति कहीं-कहीं संयोगवर्णन के प्रसंग में भी इसी प्रकार के वीभत्स दृश्यों को उपस्थित किया गया है। बादल की नवागता वधू सोचती है कि कहीं मेरे कटाक्ष तो उसके हृदय को वेधकर पीठ की ओर नहीं जा निकले हैं। यदि ऐसा है, तो तूंबी लगाकर उसे खींच लूँ, और जब वह पीड़ा से चौंक कर मुझे पकड़े तो गहरे रस से उसे धो डालूं—

मकु पिउ दिस्टि समानेउ सालू। हुलसा पीठि कढ़ावौं सालू॥
कुच–तूंबी अब पीठि गड़ोवौं। गहै जो हूकि, गाढ़ रस धौवौं॥

विरहजन्य कृशता के भी अत्युक्तिमूलक वर्णन 'दहिकोइला भइ कन्त सनेहा और हाड़ भए सब किंगरी' 'प्रभृति पद्यों में मिलते हैं–इन सब स्थलों में गंभीरता और प्रतिपाद्य की प्रभविष्णुता सर्वत्र है।

नागमती का बारहमासा वेदना की प्रभिविष्णुता, मार्मिकता, कोमलता, मधुरता, प्रकृति-व्यापारों के साथ सहचारिता, अकृत्रिमता प्रांजलता और सर्वोपरि उत्तम व्यंजकता के दृष्टिकोणों से हिन्दी साहित्य का एक महार्घ रत्न है। इसका प्रतिमान शायद ही हिन्दी साहित्य में मिले। प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का दिग्दर्शन और साथ ही दु:ख के नाना रूपों और कारणों की उद्भावना के माध्यम से जायसी ने एक सुन्दर संश्लिष्ट भाव-प्रवण-चित्र प्रस्तुत किया है। इसकी स्वाभाविक व्यंजनामयी मर्मस्पर्शिता के लिए एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

"पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह मंदिर को छावा॥"
"बरसै मेह चुवै नैनाहा। छपर-छपर होइ रहि बिनु नाहा॥"
"जग जल बूड़ि जहाँ लगि ताकी। मोरि नाव खेवक बिनु थाकी॥"
"कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरहै जारी॥"

सखि झूमर गावहिं अंग मोरी । हौं झुरावँ बिछुरी मोरी जोरी ॥

इन स्थलों पर परिवर्तमान ऋतुओं और प्राकृतिक व्यापारों के साथ विरहिणी के करुणा कातर हृदय का सामंजस्य उपस्थित किया गया है। 'बरसै मघा झकोरि झकोरी । मोरि दुइ नैन चुवै जस ओरी ॥'' विरहिणी की इस प्रकार की सादृश्य-भावना कवि परम्परा-सिद्ध है। सूरदास का 'निस दिन बरसत नैन हमारे ।' वाला पद इसी प्रकार की सादृश्य भावना से आप्लावित है।

हृदय भावनाओं की तीव्रता, सशक्तता और स्वाभाविकता की दृष्टि से भाव सहज ही उत्कर्ष को पहुँच जाते हैं—

'रात दिवस बस यह जिउ मोरे । लगौं निहोर कन्त अब तोरे ॥'

यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाव ।

मकु तेहि मारग उड़ि परैं कंत धरैं जेहि पांव ॥

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि विरह वर्णन के क्षेत्र में जायसी बेजोड़ हैं, उनका बारहमासा हिन्दी साहित्य में एक अन्यतम वस्तु है। नागमती के अश्रुमय स्वरूप के चित्रण में जायसी पूर्णतः सफल हैं।

करुण

शृंगार के अनन्तर करुणा ही ऐसा रस है जिसमें जायसी की सर्वाधिक आसक्ति है। विप्रलंभ शृंगार के क्रोड़ में भी करुण रस का सुन्दर निरूपण हुआ है। दो स्थलों पर मुख्यरूप से करुण रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है (१) रत्नसेन के सिंहल-गमन के अवसर पर कवि द्वारा प्रस्तुत किया गया चित्तौर का दृश्य और (२) रत्नसेन की सिंहल की विदाई के समय का दृश्य।

रत्नसेन सिंहल जाने के लिए जोगी होकर और राज–पाट छोड़ कर जा रहा है। मां रो रही है कि रत्नसेन जा रहा है अब घर में अँधियारा हो रहा है। रानियां रोकर प्राण छोड़े दे रही हैं, वे बाल नोच-नोच कर खलिहान कर रही हैं, वे मरना चाहती हैं, पर मरती नहीं, चारो ओर हाहाकार मचा है, नौ मन मोती, दस मन कांच के आभूषण तोड़-फोड़ कर फेंक डाले गए—

''रोवत माय न बहुरत बारा । रतन चला घर भा अँधियारा ।

रोवहिं रानी तजहिं पराना । नोचहिं बार करहिं खरिहाना ॥[२]''

१—बारहमासा, 'षट-ऋतु वर्णन' के प्रसंग में 'प्रकृति चित्रण' वाले अध्याय के अन्त में सविस्तार वर्णन द्रष्टव्य है। 'विरह की अत्युक्तियों' का भी इसी प्रबंध में अन्यत्र वर्णन हुआ है।

२—जा० ग्रं०, पृ० ५५–५६ ।

रत्नसेन की सिंहल से विदाई का दृश्य भी करुणा-प्लावित है। ज्योंही पद्मावती ने चलने की बात सुनी तो उसका हृदय 'धसक' उठा 'उठा-धसकि जिउ औ सिर धुना।' सखियों का भेंटना, रानियों का रोना, माता, पिता, भाई आदि का रोना करुण रस के ही परिकर से अभिव्यक्त हुए हैं।

रोवहिं मातु पिता औ भाई। कोउ न टेक जौ कन्त चलाई॥
रोवहिं सब नैहर सिंहला। लेइ बजाइ कै राजा चला॥
भरी-भरी सब भेंटत हेरा। अंत अंत सौं भएउ गुरेरा॥[१]

पुत्री जब पति–घर जाती है, तो सचमुच करुणा का अपार सागर उमड़ ही पड़ता है, शकुन्तला की विदाई का प्रसंग भी इसी प्रकार का अत्यन्त करुणा पूरित है।[२]

वात्सल्य

वात्सल्य रस के उद्गार दो स्थलों पर विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

(१) रत्नसेन के जोगी होकर घर से निकलने के अवसर पर
(२) बादल की युद्ध-यात्रा के अवसर पर।

इन दोनों स्थलों पर अभिव्यंजना माता के ही मुख से है। रत्नसेन की माता का वात्सल्य सुख के अनिश्चय द्वारा व्यक्त होता है और बादल की माता का 'शंका संचारी' द्वारा। रत्नसेन की मां कह उठती है —

कैसे धूप सहब बिनु छाहां। कैसे नींद परिहि भुइँ माँहा॥
कैसे सहब खिनहि खिन भूखा। कैसे लाब कुरकुटा रूखा॥

तुलसी और सूर ने कौशल्या और यशोदा के सुख के ऐसे अनिश्चय की बड़ी सुन्दर व्यंजना कराई है। ऐसे स्थलों पर 'अनिश्चय' और 'शँका' के संचारी भाव उपस्थित होते हैं। वात्सल्य के अंतर्गत 'शंका' का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

बादल राय मोर तुइ बारा। का जानसि कस होइ जुहारा॥
बरिसहिं सेल बान घनघोरा। धीरज धीर न बांधिहि तोरा॥

उपर्युक्त दोनों स्थलों पर मां के कोमल हृदय की मनोरम झांकी दिखलाई गई है।

बीर रस

जायसी का वीर रस का वर्णन उत्तम कोटि का है। सेना की सजावट

१–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा) पृ० १७०।
२–द्रष्टव्य, अभिज्ञान शकुन्तलम् अंक ४।

और युद्ध की तैयारी का वर्णन, चढ़ाई की हलचल का वर्णन, घोर घमासान युद्ध का वर्णन-अस्त्रों – शस्त्रों के वर्णन, गोरा – बादल के क्षात्र तेज द्वारा – शौर्य का अभिव्यञ्जन आदि प्रसंगों में जायसी ने वीर रस का जीवंत वर्णन – चित्रण किया है।

बरखा गए अगस्त के दीठी। पैर पलानि तुरंगन पीठी ।।
बेधौं राहु छोड़ा वहु सूरू। रहै न दुख कर मूल अँकूरू ।।

यहां उत्साह या आशापूर्ण साहस का रूप दर्शनीय है। रत्नसेन, गन्धर्वसेन, गोरा, बादल, आदि क्षत्रिय हैं, अलाउद्दीन भी योद्धा है। युद्ध के प्रसंगों में वीर रस उमड़ पड़ा है। गोरा का वीर रस-प्लावित एक चित्र दर्शनीय है —

सबै कटक मिलि गोरहि छेंका। गूंजत सिंघ जाइ नहिं टेका ।।
जेहि दिसि उठै सोइ जनु खावा। पलटि सिंघ तेहि ठांव न आवा ।।

गौरा के अन्तिम क्षण का वीर – रस पूर्ण चित्र तो और भी मार्मिक हो उठा है —

भाँट कहा – धनि गोरा, तू भा रावन राव ।।
आंति समेटि बांधि कै, तुरय देत है पांव ।।

युद्ध वर्णन के प्रसंग में डाकिनियों का वीभत्स – वर्णन भी हुआ है। युद्ध-जन्य वीभत्सता और भयानकता के भी रूप कहीं – कहीं देखने को मिल जाते हैं। रस की दृष्टि से वीर रस का भी सुन्दर परिपाक पद्मावत में हुआ है।

अन्य रस : भाव

क्रोध के प्रसंग पद्मावत में कम हैं। अलाउद्दीन की चिट्ठी मिलने पर भी क्रोध का उमंडित रूप नहीं दिखाया जा सका है। यहाँ क्रोध का वह आवेश नहीं है जिसमें नीति और विचार नहीं रह जाता –

सुनि अस लिखा उठा जरि राजा। जानहु तड़पि देव घन गाजा ।।
का मोहि सिंघ देखावसि आई। कहौं तो सारदूल धरिखाई ।।
तुरुक जाइ कहु मरै न धाई। होइहि इस कन्दर की नाई ।।

रौद्र रस के भी स्थल पद्मावत में मिलते हैं –

हौं रनथँभउर नाह हमीरू। कलपि माथ जेइ दीन्ह सरीरू ।।
हौं तौ रतनसेन सक बंधी। राहु वेधि जीता सैरंधी ।।
जौ अस लिखा भयउ नहिं ओछा। जियत सिंघ कै गहि को मोछा ।।

इतना होने पर भी रौद्र रस का परिपाक नहीं हो सका है। रत्नसेन की मृत्यु के अनन्तर उपस्थित किया गया दृश्य बड़ा ही शान्त — प्रशान्त है। पद्मिनी के उस समय के रूप की एक झलक दिखाकर कवि ने परिस्थिति की गम्भीरता की ओर इंगित कर दिया है –

पद्मावति पुनि पहिरि पटोरी। चली साथ पिय के होइ जोरी ॥
छूटे केश मोति लर छूटीं । जानहु रैनि नखत सब टूटीं ॥
दोउ सौति चढ़ि खाट बईठीं। औ सिवलोक परा तिन्ह दीठीं
वे इतर लोक में पति से मिलने की कामना से शांत हैं –
एक जो बाजा भएउ बियाहू। अब दूसरे होइ ओर निबाहू ॥
अही जो गांठि कन्त तुम्ह जोरी। आदि अन्त लइ जाइ न छोरी ॥

दोनों रानियां सती हो जाती हैं। हिन्दू सती नारी का यह चित्र अत्यन्त शान्त, मार्मिक, करुण और महत् है –

आजु सूर दिन अथवा, आजु रैनि ससि बूड़।
आजु नाचि जिउ दीजिय, आजु आगि हम्ह जूड़ ॥
लागि कन्ठ आगि हिय होरी। छारि भईं जरि, अंग न मोरी ॥

समुद्र वर्णन के प्रसंग में भय का सुन्दर रूप मिलता है। पद्मावत में मूलतः शृंगार, वीर और करुण रस का ही सुन्दर परिपाक हुआ है। लौकिक प्रेम आध्यात्मिक प्रेम के बहाने भक्ति रस की भी अभिव्यक्ति सुन्दर रूप में हुई है। जायसी के यहाँ हास्य का तो नितान्त अभाव है। शृंगार और करुण रस के सुन्दर चित्र पद्मावत में व्यापक रूप से मिलते हैं। भावों का उत्कर्ष, रस-परिपाक की स्वाभाविकता, प्रेम-भाव और प्रेमानुभूति की तीव्रता पद्मावत के रस-प्रसंग में विशिष्ट आकर्षण के केन्द्र हैं।

अलंकार

'अलम्' का अर्थ है 'भूषण'। जो अलंकृत—भूषित करे वह है अलंकार।[1] काव्य में अलंकारों का उपयोग सौंदर्य – संवर्द्धन के लिए होता है।[2] यह सौंदर्य भावों का हो या उनकी अभिव्यक्ति का। भावों को भूषित करना, उन्हें रमणीयता प्रदान करना, अभिव्यक्ति को प्रांजल बनाना और उसे प्रभविष्णु बनाना अलंकारों का काम है। अलंकारों की सार्थकता इसी में है कि रसभाव आदि के तात्पर्य का आश्रय ग्रहण करके ही उनका संनिवेश किया जाय।[3] रस सिद्ध कवियों को अलंकारों के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। निरूप्यमाण के व्यवधानों की कठिनाइयाँ झेलने पर भी प्रतिभाशाली कवियों के समक्ष अलंकार प्रथम स्थान प्राप्त करने के लिए 'होड़ा-होड़ी' टूट-टूट

१—वामनवृत्ति (अलंकृति अलंकार :)।
२—'काव्यशोभाकरान्धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। 'काव्यादर्श।
३—'रसभावादितात्पर्य माश्रित्य विनिवेशनम्। अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्व साधनम् ॥ ध्वन्यालोक।

पड़ते हैं[१] सचमुच जब रस सिद्ध कवि का उद्वेलित हृदय अभिव्यक्ति में प्रवृत होता है, तो अलंकार स्वत: हाथ जोड़–जोड़ कर आने लगते हैं ।

यह द्रष्टव्य है कि अलंकर भाव–भाषा के भूषण हैं । यदि ये भाव–भाषा–धारा से सहज संपृक्त नहीं हैं । यदि उसके अंगी बन कर नहीं आए हैं तथा यदि भावों को सजीव और प्रभविष्णु नहीं बनाते हैं, तो ऐसे अलंकार प्रयत्न–साध्य ही होंगे और वे रचना में अरोपित–से लगेंगे, उनसे सौन्दर्य--वर्द्धन नहीं होगा । यदि रस-भाव अर्थात् अलंकार सजीव हों, तो भद्दी अप्रस्तुत योजना भी उसकी शोभावृद्धि कर सकती हैं । सचमुच भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी–कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है ।

काव्य में अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान है । दण्डी, भामह, उद्भट और केशवदास प्रभृति अलंकारवादियों ने तो यहां तक कहा है कि कविता में अलंकार प्राण--स्वरूप है । भूषण के बिना कविता, वनिता और मित्र शोभा ही नहीं देते । अलंकार का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है । 'कहने के ढंग निराले और अनंत हैं और उनके प्रकार भी अलंकार हैं ।' आचार्य वामन का कथन है कि अलंकार के कारण ही काव्य ग्राह्य होता है और वह अलंकार सौंदर्य है । विश्वनाथ ने भी लिखा है कि शब्द और अर्थ के जो शोभातिशायी धर्म हैं वे ही अलंकार हैं ।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि काव्य में अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान है । सचमुच वे काव्य के शोभाकारक धर्म हैं ।

पदमावत में अलंकार–विधान

प्राय: काव्य में अलंकारों का विधान सादृश्य के आधार पर होता है । 'पदमावत में स्वरूप बोधन के लिए तथा भावाभिव्यंजन को अधिक तीव्र बनाने के लिए जायसी ने सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रभूत परिमाण में सफल प्रयोग किया है । पदमावत, चित्ररेखा और कहरानामा के आलंकारिक प्रसाधनों में उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक का महत्वपूर्ण स्थान है । इनमें भी हेतूत्प्रेक्षा जायसी को बहुत प्रिय थी । जायसी जब उल्लसित भाव से विलसित कल्पनाओं के सहारे रूप–सौंदर्य की गाढ़ अभिव्यक्ति तथा भावों की अधिक तीव्र व्यंजना करने लगते हैं, तब उपमाओं की धारासार वर्षा होने लगती है, उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लग जाती है, रूपकों से जीवन्त प्रतिमाएँ साकार उपस्थित होने लग जाती हैं और अन्य अलंकार भी काव्य-प्रसाधन-हेतु मानो स्वत: हाथ जोड़–जोड़ कर आने लगते हैं । अलंकारों से प्राँजल और प्रभविष्णु बना हु

---

१ – 'अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाण दुर्घटान्यपि रस समाहित चेतस: ।
प्रतिभानवत: कवे: अहँ पूर्विकया परापतन्ति ।। ध्वन्यालोक ।

पदमावत लोक और काव्य की भूमि को अपनी सुरभि से उद्वेलित किए हुए है[१]।'

१—शब्दालंकार

जायसी को शब्दालंकारों में अनुप्रास (विशेषत: वृत्यानुप्रास), यमक और श्लेष विशेष प्रिय थे। उन्होंने बड़े ही संयम के साथ इन अलंकारों के प्रयोग किए हैं। परवर्ती रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्होंने यमक, अनुप्रास आदि को ही लक्ष्य बनाकर खेलवाड़ नहीं किया है।

सोरह सहस घोड़ घोड़सारा[२]। (१०) (घोड़-घोड़सारा-लाटानुप्रास)
कुहू-कुहू करि कोइल राखा[३]। (११) (अनुप्रास)
भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू[४]। (९८) (")
सखी सहस दस सेवा पाई[५]। (")
भा भादौं दूभर अति भारी[६]। (१३५) (")
पपिहा पीउ पुकारत पावा[७]। (१५३) (")
रंग रकत रय हिरदय राता[८]। (२७८) (")

उपर्युक्त उदाहरणों की ही भाँति जायसी ने वृत्यानुप्रास आदि का प्रयोग सर्वत्र अत्यन्त स्वाभाविक रीति से ही किया है।

यमक अलंकार के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

जाति सूर औ खांड़ें सूरा[९]।
गई सो पूजि मन पूजि न आसा[१०]।
तू हरि लंक हराए केहरि[११]।
रसनहि रसनहि एकौ भावा[१२]।

इनमें 'सूर', 'रसनहिं' 'पूजि' और 'हरि' शब्दों में यमक अलंकार का सौंदर्य स्पष्ट है।

श्लेष

जायसी शिलष्ट शब्दों द्वारा अनेक अर्थों का अभिधान (कथन) करने की

१—पदमावत का काव्य सौन्दर्य, पृ० ८५।
२—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १०।
३—वही, पृ० ९८। ४—वही, पृ० ९८।
५—वही, पृ० १०७। ६—वही, पृ० १५३।
७—वही, पृ० १५३। ८—वही, पृ० २७८।
९—वही, पृ० ५। १०—वही, पृ० ९७।
११—वही, पृ० १०७। १२—वही, पृ० २६५।

कला में सिद्धहस्त हैं।

रतन चला घर भा अंधियारा ।[1]
धनि औ पिउ महं सीउ सुहागा ।
दुहुन्हें अंक एक मिलि लागा ॥[2]
हंस जो रहा सरीर महँ पांख जरा गा भागि ।

इन पंक्तियों में 'रतन' (रत्न : रत्नसेन), 'सुहागा' (सौभाग्य : सुहागा) और 'हंस' (जीव : हंस) शब्द श्लिष्ट हैं।

धनि जोबन औ ताका हीया । ऊँच जगत महँ जाकर दीया ॥
एक दीया तें दसगुन लहा । दिया देखि सब जग मुंह चहा ॥
दिया करै आगे उजियारा ।
दिया मंदिर निसि करै अंजोरा । दिया नाहिं घर मूसहिं चोरा ।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'दिया' शब्द का सुन्दर और स्वाभाविक श्लिष्ट-प्रयोग बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। 'दान' और 'दीपक' के अर्थ यहां पर सुलभ हैं। दिया (दीपक : दान), दसगुन (दश गुना : दशगुण : दसगुन (गुन-बत्तियां) आगे (आगे के जन्म-भविष्य में : समक्ष) आदि श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से ये पंक्तियाँ अधिक अर्थव्यंजक और प्रभविष्णु हो गई हैं।

अर्थालंकार

पहले ही इंगित किया जा चुका है कि सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक जायसी को विशेष प्रिय हैं।

(१) उपमा—"रूप-वर्णन" के प्रसंग में जायसी की उपमाओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उससे स्पष्ट है कि जायसी के 'शिख नख' वर्णन में उपमाओं का प्रभूत परिमाण से प्रयोग हुआ है। परम्परानुमोदित, लोक-गृहीत और मौलिक उपमाओं के द्वारा जायसी ने रूप-वर्णन में अलंकारों की भरमार करदी है।

(२) उत्प्रेक्षा—जायसी के काव्यों में उत्प्रेक्षा के तीनों भेदों (वस्तूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा) का सफल एवं प्रचुर प्रयोग मिलता है। नख-शिख-वर्णन और अन्य रूप-वर्णनों के प्रसंग में उत्प्रेक्षाओं का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग हुआ है।

(क्ष) वस्तूत्प्रेक्षा—एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में सम्भावना की जाने को वस्तूत्प्रेक्षा कहते हैं—

१—जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ५५।
२—वही, पृ० १५०। ३—वही, पृ० १५१।

कंचनरेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी ॥
सुरुज किरिन जो गगन बिसेखी। जमुना माँह सुरसती देखी ॥[1]

यहां पर श्यामवर्ण केशों के मध्य मांग के लिये स्वरूपोत्प्रेक्षा का विधान किया गया है।

रत्नसेन के साथ सोलह सहस्र राजकुमार जोगी–'जोगिया-वेश'–धारण करके निकल पड़े। वे ऐसे सुशोभित थे मानो टेसू फूला हो—

चला कटक जोगिन्ह कर कै गेरुआ सब भेसु।
कोस बीस चारिहु दिसि, जानो फूला टेसु ॥[2]

पद्मावती की 'बरौनियाँ' भी कुछ और ही जान पड़ती हैं–

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जान दुइ अनी ॥
जुरीं राम रावन कै सेना। बीच समुद्र भए दुइ नैना ॥[3]

पद्मावती की कटि की सूक्ष्मता की अभिव्यक्ति के लिए भी स्वरूपोत्प्रेक्षा का विधान किया गया है।

मानहु नाल खंड दुइ भए। दुहुँ बिच लंकतार रहि गए ॥[4]

सती होने के समय पद्मावती ने केशों को 'छोर' दिया है। केश-राशि में सुगुंफित मोतियाँ भी छूट पड़ी हैं, ऐसा लगता है मानो रात्रि में सब नक्षत्र टूट गए हैं। यहां तारों का टूटना और मोतियों का छूटना अमंगल का जनक है–

छोरे केस मोति लर छूटीं। जानहु रैनि नखत सब टूटी ॥[5]

(त्र) फलोत्प्रेक्षा–रूप-वर्णन के प्रसंग में फलोत्प्रेक्षा के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं, जैसे–

पुहुप सुगंध करहिं एहि आसा। मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा ॥[6]
करवत तपा लेहिं होइ चूरू। मकु सो रुहिर लेइ देइ सेंदूरू ॥
कनक दुवादस बानि होइ चह सोहाग ओहि मांग।
सेवा करहिं नखत सब, उवै गगन जस गांग ॥[7]

(ज्ञ) हेतूत्प्रेक्षा—यह अलंकार उत्कर्ष की व्यंजना के लिये बड़ा शक्तिशाली माध्यम है। लोक में कार्य और कारण एक साथ बहुत ही कम देखे जाते हैं। प्रायः

१—जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी,
२–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ५६ (दोहा ६)
३–वही, पृ० ४३। ४–वही, पृ० ४७।
५–वही, पृ० २९९। ६–वही, पृ० ४३।
७–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ४२।

कारण परोक्ष ही रहता है । अतः यदि कोई रूप या क्रिया अपने प्रकृत रूप में हमारे सामने रख दी गई, तो वह उस प्रभाव का प्रमाण-स्वरूप-लगने लगती है जिसे कवि खूब बढ़ाकर दिखाना चाहता है और हम इस बात की छान बीन में नहीं पड़ने जाते कि हेतु ठीक है या नहीं । जायसी की हेतूत्प्रेक्षाएँ अधिकतर असिद्धविषया ही मिलती हैं । ललाट का वर्णन करता हुआ कवि कहता है–

सहस किरिन जो सुरुज दिपाई । देखि लिलार सोउ छपि जाई ।।

सूर्य छिपता अवश्य है, पर उसके छिपने का जो हेतु कहा गया है, वह कवि-कल्पित है और उस हेतु का आधार 'लज्जित होना सिद्ध नहीं है ।[१]

इसी प्रकार की हेतूत्प्रेक्षा दांतों पर की गई है–

हँसत दसन अस चमके, पाहन उठे झरक्कि ।
दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि ।।[२]

हेतूत्प्रेक्षा के सहारे जायसी ने विरह की तीव्र दाहकता को भी स्पष्ट किया है । नागमती के विरह में मेघों का श्याम होना, राहु-केतु का दग्ध होकर काला होना, सूर्य का तपना, चन्द्रमा की कला का खंडित होना, पलास के फूलों का लाल होना आदि दिखाया गया है । ये सब सत्य हैं । वे विरह-ताप के कारण ऐसे हैं केवल यह बात कल्पित है । हेतूत्प्रेक्षा से कवि विरह-ताप के प्रभाव की व्यापकता को बढ़ाता-बढ़ाता सृष्टि भर में दिखा देता है–

अस परजरा विरह कर गठा । मेघ साम भए धूम जो उठा ।।
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा । सूरज जरा चांद जरि आधा ।।
औ सब नखत तराई जरहीं । टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं ।।
जरै सो धरती ठावँहि ठाऊँ । दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ ।।
भंवर पतंग जरै औ नागा । कोइल, भुजइल, डोमा, डागा ।।
बन-पँखी सब जिउ लेइ उड़े । जल महँ मच्छ दुखी होइ बुड़े ।।[३]

पद्मावती के वियोग में रत्नसेन रक्त के आँसू रो रहा है । उसके आँसू समग्र सृष्टि को रक्तिम बनाए दे रहे हैं–

नैनहि चली रकत कै धारा । कंथा भीजि भएउ रतनारा ।।
सूरज बूड़ि उठा होइ राता । औ मजीठ टेसू बन राता ।।

१–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, भूमिका, पृ० १०६ ।
२–वही, पृ० ४४ (दोहा ६) ।
३–जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १६३ (दोहा १२) ।

भा बसंत रातीं बनसपतीं। औ राते सब जोगी जती।।
पुहुमि जो भीजि, भएउ सब गेरू। औ राते तहँ पंखि पखेरू ।।
इंगुर भा पहार जौं भींजा। पै तुम्हार नहिं रोंव पसीजा ।।[1]

इसी प्रकार के और भी अनेकशः उदाहरण हेतूत्प्रेक्षाओं के दिए जा सकते हैं। यहां विशेष द्रष्टव्य यह है कि इन हेतूत्प्रेक्षाओं वाले स्थलों में कोई न कोई अन्य सुन्दर अलंकार भी निहित रहता है।

रूपक

जायसी ने सांग, निरंग और परम्परित रूपकों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। सांग-रूपक के रूप में वे कहीं-कहीं शस्त्रास्त्रों की जानकारी प्रकट करने लगे हैं—

कहौ सिंगार जैसि बै नारी। दारू पियहिं जैसि मतवारी ।।
सेंदुर आगि सीस उपराहीं। पहिया तरि बन चमकत जाहीं ।।
कुच गोला दुइ हिरदय लाई। अंचल धुजा रहै छिटकाई ।।
रसना लूक रहहिं मुख खोले। लंका जरै सो उनके बोले ।।
अलक जंजीर बहुत गिउ बांधे। खींचहिं हस्ती, टूटहिं कांधे ।।
बीर-सिंगार दोउ एक ठाऊँ। सत्रु-साल गढ़-भंजन नाऊँ ।।[2]

इन पंक्तियों में वीर रस की सामग्री में शृंगार रस की सामग्री का आरोप किया गया है। यह अवश्य है कि इस प्रकार के भद्दे उदाहरण कम मिलते हैं।

सांग-रूपक के कुछ सुन्दर उदाहरण लिए जा सकते हैं—

नैन कौड़िया, हिय समुद, गुरू सो तेहि महँ जोति।
मन मरजिया न होइ परै, हाथ न आवै मोति ।।[3]

यहां अप्रस्तुत न तो परम्परा प्राप्त हैं और न रूप-साम्य पर निर्भर।

गगन सरोवर ससि कँवल, कुमुद तराइन्ह पास।
तू रबि ऊवा भौर होइ, पौन मिला लेइ वास ।।[4]

प्रस्तुत सांग-रूपक के उदाहरण में रूपकातिशयोक्ति का भी चमत्कार द्रष्टव्य है। गगन, ससि तराइन्ह और रबि क्रमशः सिंहल, पदमावती, सखियाँ और रत्नसेन के लिए प्रयुक्त हैं। इनका सादृश्य रूपक के द्वारा क्रमशः सरोवर, कंवल, कुमुद और भौंर से स्पष्ट किया गया है। तिल-तंदुल न्यायेन शब्दालंकारों के सुमेल से अलंकार संसृष्टि की भी सुन्दर सृष्टि द्रष्टव्य है।

१—जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ९८ (दोहा १२)।
२—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० २२५।
३—वही, पृ० १२९ (दोहा ३)।
४—वही, पृ० ९८ (दोहा २)।

कहीं-कहीं रूपक का प्रयोग अन्य अलंकारों के सिलसिले में भी हुआ है। जैसे—

हीरामन जौ देखेसि नारी। प्रीति-बेलि उपनी हिय-बारी॥
कहेसि कस न तुम्ह होहु दुहेली। अरुझी पेम जो पीतम-बेली॥
प्रीति बेलि जिनि अरुझै कोई। अरुझे, मुए न छूटै सोई॥
प्रीत बेलि ऐसै तन डाढ़ा। पलुहत सुख, बाढ़त दुख बाढ़ा॥[१]

इसी प्रकार —

अब जोबन बारी को राखा। कुंजर बिरह बिधांसै साखा॥[२]

और सेज—नागिनी फिरि फिरि डँसा॥[३]

बिरह मयूर नाग वह नारी। तू मजार करु बेगि गुहारी॥[४]

यहां नारी के 'नागिनी' बनाने के साथ ही विरह को 'मयूर' और रत्नसेन को 'मजार' भी बना डाला गया है। पहले में तो सौंदर्य विद्यमान है, पर दूसरे में मजार नागिनी से भद्दापन आ गया है।

किसी—किसी-स्थल पर तो जायसी ने अलंकारों की सहज किन्तु अत्यन्त जटिल और गूढ़ योजना की है। जैसे—"देवपाल-दूती" के प्रसंग में दूती ने पद्मावती को प्रलोभन दिया और कहा—

जोबन जल दिन—दिन जस घटा। भंवर छपान हंस परगटा॥

जैसे-जैसे यौवन-रूपी जल दिन—दिन घटता है, वैसे ही वैसे शरीर रूपी नदी या सरोवर में पानी की बाढ़ के भँवर छिपते जाते हैं और हँस (मानसरोवर से आते हैं और) दिखाई पड़ने लगते हैं। इस प्रकार इस पंक्ति में सांग-रूपक की योजना की गई है। जल का आरोप जिस पर किया गया है उस यौवन का उल्लेख है, दूसरी पंक्ति में रूपकातिशयोक्ति माननी पड़ती है। दोनों पंक्तियों का एक साथ विचार करने पर नदी या सरोवर के ही अंग भ्रमर (पानी के भँवर) और हंस ठहरते हैं जो शरद के दृश्य को पूरा करते है। अतः दूसरी पंक्ति में अतिशयोक्ति सिद्ध हो जाने पर ही सांग—रूपक होता है। पर अतिशयोक्ति की सिद्धि के लिए श्लेष के द्वारा भँवर शब्द का दूसरा अर्थ 'काला भौंरा' लेना पड़ता है। तब जाकर उपमेय अर्थात् काले केश की उपलब्धि होती है। इस प्रकार रूपक को प्रधान या अंगी मानने से श्लेष और अतिशयोक्ति उसके अंग हो जाते हैं। अलंकारों का यह मेल अंगांगि भाव संकर ठहरता है—यौवन—रूपी जल काले केश रूपी भंवर (जलावर्त) और श्वेत केश-रूपी हंस। यौवन और जल में उमंग के धर्म को लेकर साधर्म्य मात्र है।

१—जा० ग्रं० ना० प्र० सभा काशी पृ० १०८ (दोहा १६)।
२—वही, पृ० ७४।
३—वही, पृ० १५३।
४—वही, पृ० १६३।

काले केश का पहले तो अतिशयोक्ति में काले (बसंत कालीन) भौंरों के साथ वर्ण सादृश्य है, फिर श्लेष द्वारा रूपक में पहुँच कर भंवर (जलावर्त) के साथ कुछ आकृति–सादृश्य है। इस प्रकार प्रस्तुत चौपाई में अतिशयोक्ति (रूपकातिशयोक्ति), श्लेष, अंगांगिभाव संकर, सांगरूपक आदि कई अलंकार एक दूसरे से उलझे हुए हैं। जायसी के अलंकार-कौशल के निदर्शन के लिए यह एक पंक्ति ही पर्याप्त है।"[1]

अतिशयोक्ति

जायसी की अतिशयोक्तियां भी अत्यन्त मनोहर हैं। रूपकातिशयोक्ति-भेद में भी अभेद–के द्वारा उन्होंने ऐसी मनोहर और रमणीय वस्तुएं सामने रखी हैं कि हृदय सौंदर्य की भावना में मग्न हो जाता है। हेतूत्प्रेक्षा की भाँति यह अलंकार भी कवि को बहुत प्रिय है। जायसी के काव्यों में स्थान-स्थान पर इसका प्रयोग मिलता है। रतनारे नेत्रों के बीच घूमती हुई पुतलियों की शोभा की ओर कवि इस प्रकार इशारा करता है–

"राते कँवल करहिं अलि भवाँ। घूमहिं माति चहहिं अपसवाँ।।"[2]

इसी कमल और भ्रमर वाले रूपक को अतिशयोक्ति में जायसी और जगह भी बड़ी सुन्दरता से लाए हैं। प्रेम–जोगी रत्नसेन के सिंहल गढ़ में पकड़े जाने पर पद्मावती विरह में अचेत पड़ी है, आंखें नहीं खोलती है। इतने में कोई सखी आकर कहती है–

कंवल-कली तू पदमिनि, गइ निसि भवउ बिहानु।
अबहुँ न संपुट खोलसि, जब रे उवा जग भानु।।

यह सुनते ही पद्मावती आंखें खोलती है जिसकी सूचना रूपकातिशयोक्ति के बल से कवि इन शब्दों में देता है–

भानु नावँ सुनि कंवल बिगासा। फिर कै भंवर लीन्ह मधु बासा।

यहाँ भी कवि ने केवल कमल–दल पर बैठे भौंरे का उल्लेख करके आँख खुलने (डेले के बीच काली पुतली दिखाई देने) की सूचना दी है।[3]

कहीं–कहीं रूपकातिशयोक्ति बहुत ही दुर्बोध हो गई है, जैसे—

जौ लगि कालिन्दी, होहि बिरासी। पुनि सुरसरि होइ समुद परासी।

पदमावती से देवपाल की दूती कहती है कि जब तक तू काले केशों वाली

१–पदमावत का काव्य-सौन्दर्य, पृ० ८६–८७।
२–जा० ग्रं० ना० प्र० सभा पृ० ११०।
३–जा० ग्रं० (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० ११०।

अर्थात् युवती है तब तक विलास कर ले फिर जब श्वेत केशों वाली हो जाएगी, तब तो काल के मुंह में पड़ने के लिए जल्दी-जल्दी बढ़ने लगेगी। जमुना की काली धारा सीधे समुद्र में नहीं गिरती है। "जब वह श्वेत धारा वाली गंगा के साथ मिलकर श्वेत गंगा ही हो जाती है तब समुद्र की ओर जाती है जहां जाकर उसका अलग व्यक्तित्व नहीं रह जाता। यह अतिशयोक्ति दुर्बोध हो गई है। दुर्बोधता का कारण है अप्रसिद्धि। जायसी ने इस पद्य में यह स्वतंत्रता दिखाई है कि परम्परा से व्यवहृत प्रसिद्ध उपमान न लेकर स्वकल्पित अप्रसिद्ध उपमान लिए हैं जिससे एक प्रकार की दुरूहता आ गई है। काले केशों के लिए कालिन्दी नदी की और श्वेत केशों के लिए गंगा की उपमा प्रसिद्ध नहीं है।"[१]

अत्युक्ति–अत्युक्ति भी जायसी का एक प्रिय अलंकार है। यश, वैभव आदि की असंभवता से संबद्ध वर्णन पद्मावत में मिल जाते हैं। जायसी इस सिलसिले में एक निश्चित संख्या भी बता देते हैं—

सोरह सहस घोड़ घोड़ सारा।[२] 'छप्पन कोटि कटक दल साजा।[३]
सात सहस हस्ती सिंहली।
जनु कैलास ऐरावत बली॥[४]
बिलसहु नौ लख लच्छि पियारी।[५]
सखी सहस दस सेवा पाई।[६]
रतन लागि येहि वत्तिस कोरी।[७]
टूटे मन नौ मोती, फूटे दस मन कांच।[८]
चला कटक जोगिन्ह कर, कै गेरुआ सब भेस।
कोस बीस चारिहु दिसि, जानौ फूला टेसु।[९]
रोव रतन–माल जनु चूरा। जहँ होइ ठाढ़, होइतहँ कूरा॥

(इतने आँसू गिर रहे हैं कि वह जहां भी खड़ा होता है वहां रत्नों का कूड़ा एकत्र हो जाता है) कोमलता, सुकुमारता, सुन्दरता आदि की व्यंजना के लिए लोकोक्तियों का भी अतिशयोक्तिमूलक प्रयोग द्रष्टव्य है–

मलय समीर सोहावन छाहां। जेठ जाड़ लागै तेहि माहां॥[१०]

शैया का 'छुई-मुई पन' भी देखने योग्य है–

१–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा काशी। पृ० ११३। २–वही, पृ० ११०।
३–जा० ग्र०, ना० प्र० सभा काशी। ४–वही पृ० ५४।
५–वही, पृ० १२७। ६–वही, पृ० १७।
७–वही, पृ० ५६। ८–वही।
९–वही, पृ० ८७। १०–वही पृ० ११।

अति सुकुमार सेज सो डासी, छुवै न पावै कोइ।
देखत नवहिं खिनहिं खिन, पांव धरत कस होइ।।[1]

फारसी मसनवियों में विरह का प्रायः अत्युक्ति मूलक एवं ऊहात्मक वर्णन मिलता है। जायसी भी उस पद्धति से पर्याप्त प्रभावित हैं—

जेहि पंखी के नियर होइ, कहै विरह कै बात।
सोई पंखी जाय जरि, तरिवर होहिं निपात।।[2]

रोने का विश्वव्यापी-प्रभाव दिखाने के लिए भी जायसी ने अत्युक्ति का आश्रय लिया है—

नैनन चली रकत कै धारा। कंथा भींजि भएउ रतनारा।।
भा बसंत राती बनसपती। औ राते सब जोगी जती।।[3]

इस प्रकार के अत्युक्तिमूलक वर्णनों में उत्प्रेक्षा अलंकार या आध्यात्मिकता के भी आश्रय की बात कही जा सकती है।

तद्‌गुण —नयन जो देखा कवंल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर।।[4]

प्रस्तुत दोहे में नयन, शरीर, दन्त एवं मुस्कान के परम्परा-प्रचलित उपमानों के माध्यम से जायसी ने गाढ़ सौंदर्याभिव्यक्ति का अत्यन्त सफल प्रयोग किया है।

कहीं-कहीं रूपकातिशयोक्ति की ही भाँति तद्‌गुण अलंकार की भी गूढ़ और अर्थगर्भित योजना मिलती है। देव पाल की दूती अनेक प्रकार के पकवानों को लाकर पद्‌मावती के सामने रखती है वह उन्हें हाथों से भी न छूकर कहती है—

"रतन छुवा जिन्ह हाथन्ह सेंती। और न छुवौं सो हाथ संकेती।।
दमक रंग भए हाथ मँजीठी। मुकुता लेउँ पै घुघुची दीठी।।"

अर्थात जिन हाथों से मैंने उस दिव्य रत्न (राजा रत्नसेन) का स्पर्श किया अब उनसे और वस्तु क्या छुऊँ? उस दिव्य रत्न या माणिक्य के प्रभाव से मेरे हाथ इतने लाल हैं कि मोती भी अपने हाथ में लेकर देखती हूँ तो वह गुंजा (हाथ की ललाई से गुन्जा का लाल रंग और देखने से पुतली की छाया पड़ने के कारण गुन्जा का सा काला दाग हो जाता है, अर्थात् उसका कुछ भी मूल्य नहीं दिखाई पड़ता। अब इस के अलंकारों पर विचार कीजिये। सबसे पहले तो 'रतन' पद में हमें 'श्लेष मिलता है। फिर दूसरे चरण में काकु वक्रोक्ति। तीसरे चौथे चरण में जटिलता है 'उस रत्न के स्पर्श से मेरे हाथ लाल' हुए इसका विचार यदि हम गुण

१— जा० ग्र०, ना० प्र० सभा पृ० १२८।
२—जा० ग्र०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १५८ (दोहा १८)।
३—वही, पृ० ६८। ४—वही, पृ०।

की दृष्टि से करते हैं, तो तद्गुण अलंकार ठहरता है। फिर जब हम यह विचार करते हैं कि पद्मिनी के हाथ तो स्वभावतः लाल हैं (उन में लाली का आरोप नहीं है) तब हमें रत्न स्पर्श-रूप हेतु का आरोप हेतूत्प्रेक्षा कहनी पड़ती है। अतः यहां इन दोनों अलंकारों का 'संदेह-संकर' हुआ। चौथे चरण में 'तद्गुण अलंकार' स्पष्ट है। पर यह अलंकार निर्णय भी हमें व्यंग्य अर्थ तक नहीं पहुँचाता। अतः हम लक्षणा से 'मुक्ता' का अर्थ लेते हैं। 'बहुमूल्य वस्तु,' और 'घुँघुची' का अर्थ लेते हैं' 'तुच्छ वस्तु'। इस प्रकार हम इस व्यंग अर्थ पर पहुँचते हैं कि रत्नसेन के सामने मुझे संसार की उत्तम से अत्तम वस्तु तुच्छातितुच्छ दिखाई पड़ती है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जायसी ने अलंकारों से अर्थ पर अर्थ भरने का कैसा कड़ा काम किया है। सिंदूर से लाल मांग के इस वर्णन में भी जायसी ने तद्-गुण और हेतूत्प्रेक्षा का मेल किया है–

भोर सांझ रबि होइ जो राता। ओहि देखि राता भा गाता ॥[१]

कहीं-कहीं जायसी ने उक्ति के द्वारा अत्यन्त रमणीय रूप-विधान (इमेजरी) किया है, जैसे–

हीरा लेइ सो विद्रुम धारा। विहँसत जगत होइ उजियारा ॥

वर्ण्य विषय इतना ही है कि पद्मावती जब हँसती है, तब उसके अरुण अधर तथा श्वेत दांतों से ज्योति विकीर्ण होती है। जायसी ने इस उक्ति में एक व्यापक दृश्य और विशाल चित्र का समावेश किया है–हीरे की सी ज्योतिमती वह जब विद्रुम वर्ण की द्युति धारा का संप्रसारण करती है, तब सारा संसार उद्भासित आलोकित हो उठता है। प्रस्तुत चित्र के अन्तर में रूप-विधान भी अनुस्यूत है– 'उषा की अरुण श्वेत-मधुर-ज्योति के उदयकालीन दृश्य' का।''[२]

व्यतिरेक–''असभा सूर पुरुष निरमरा। सूर चाहि दस आगर करा ॥[३]
सुरुज किरन जस निरमल तेहि ते अधिक सरीर।[४]
लंका बुझी आगि जो लागी। यह न बुझाइ आगि वजागी ॥[५]
व्यतिरेक के दो और सुन्दर उदाहरण दिये जाते सकते हैं —
'का सरिवर तेहि देउं मयंकू। चाँद कलंकी वह निकलंकू ॥
औ चांदहिं पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा ॥[६]

१–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ११३–१४।
२–पदमावत का काव्य-सौंदर्य, पृ० ८८।
३–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ६।
४–वही पृ० २०९। ५–वही पृ० १०८।
६–वही पृ० ४२।

'वह पद्मिनि चित उर जो आनी। काया कुन्दन द्वादस बानी ।।
कुन्दन कनक ताहि नहिं बासा। वह सुगन्ध जस कंवल बिगासा ।।
कुन्दन कनक कठोर सो अंगा। वह कोमल रंग पुहुप सुरंगा ।।'[1]

प्रतीप –

वदन देखिघटि चन्द छपाना । दसन देखि कै बीजुल जाना ।।[2]
बलि विक्रम दानी बड़ कहे। हातिम करन तियागी अहे ।।
सेरसाहि सरि पूज न कोऊ। समुद सुमेरु भँडारी दोऊ ।।[3]

संदेहालंकार–पद्मावत में खंडित रूप में कुछ स्थलों पर ही यह अलंकार मिलता है, जैसे –

मनहुं चढ़ी मौरन्ह कै पाँती। चंदन-खाँभ बास कै माती ।।
की कालिन्दी विरह सताई। चलि पयाग अरइल बिच आई ।।[4]

प्रस्तुत चौपाई के प्रथम दो चरणों में उत्प्रेक्षा है और 'की कालिंदी' – – – वाले चरणों में खंडित रूप में संदेहालंकार है। कुछ अन्य अलंकारों के भी सुन्दर उदाहरण देखे जा सकते हैं —

दृष्टान्त – (दृष्टान्त स्तुस धर्मस्य वस्तुनः प्रतिविम्वनम ।। साहित्य दर्पण अध्याय १०)।

का भा जोग कथनि के कथे। निकसै घिव न बिना दधि मथे ।।[5]

(विशेषोक्ति)

मुहमद बाजी प्रेम की ज्यों भावे त्यों खेल।
तिल फलहि के संग ज्यों होय फुलायल तेल ।।[6]

अर्थान्तरन्यास

मिलिइहिं बिछुरे साजन अंकम भेंटि गहंत।
तपनि मृगसिरा जे लहहिं ते अद्रा पलुहंत ।।[7]
राती पिउ के नेह गइँ सरग भएउ रतनार।
जो रे उवा सो अथवा, रहा न कोइ संसार ।।[8]
रकत ढुरा मासू गरा हाड़ भयउ सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहि पंख ।।[9]

१–जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० २०९।
२–वही, पृ० २३। ३–वही, पृ० ७।
४–वही, पृ० ४६। ५–वही, पृ० ५१।
६–वही, पृ० १४२। ७–वही, पृ० ३००।
८–वही, पृ० १५४ (दोहा १०)। ९–वही, पृ०।

निदर्शना –

धरती बान बेधि सब राखी । साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥

यहां पर निदर्शना के साथ ही 'यमक' का भी सौंदर्य दर्शनीय है । इसी प्रकार दांतों के बर्णन में तृतीय निदर्शना का प्रयोग है —

"हारी जोति सौ तेहि परछाहीं ॥"

विरोध –

"ना जिउ जिए न दसवँ अवस्था । कठिन मरनतें पेम बेवस्था ॥[1]
धनि - सूखैं भरे भादौं माहाँ । अबहुँ न आएन्हि सीचेन्हि नाहा ॥[2]
कातिक सरद चन्द उजियारी । जग सीतल हौं विरहै जारी ॥[3]

प्रत्यनीक –

बसा लंक बरनै जगझीनी । तेहि ते अधिक लंक वह छीनी ॥
परिहंस पियर भए तेहिं बसा । लिए डंक लोगन्ह कहँ डंसा ॥[4]
सिंघ न जीता लंक सरि, हारि लीन्ह बनवासु ।
तेहि रिस मानुस - रकत पिय, खाइ मारि कै मासु ॥[5]
सो तिल देखि कपोल पै, गगन रहा धुव गाड़ि ।
खिनहिं उठै खिन बूड़ै, डोलै नहिं तिल छांड़ि ॥[6]

भ्रम –

भूलि चकोर दीठि मुँह लावा । मेघ घटा महं चन्द देखावा ॥[7]
चकई बिछुरि पुकारै, कहां मिलौ हो नाह ।
एक चाँद निसि सरग मह, दिन दूसर जल मांह ॥[8]

विभावना –

जीव नाहि पै जिए गोसाईं । कर नाहीं पर करै गुसाईं ॥
स्रवन नाहिं पै सब किछु सुना । हिया नाहिं पै सब किछु गुना ॥
नयन नाहिं पै सब किछु देखा । कौन भांति अस जाइ बिसेखा ॥[9]

परिकरांकुर –

रोवहिं रानी तजहिं पराना । नोचहिं बार करहिं खरिहाना ॥
पदमिनि ठगिनि भई कित साथा । जेहि ते रतन परा पर हाथा ॥[10]

१—जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी ।
२—वही, पृ० १५३ ।
३—वही, पृ० १५३ ।
४—वही, पृ० ४७ ।
५— वही, पृ० ४७ (दोहा १८) ।
६—वही, पृ० ४५ (दोहा) ।
७—वही, पृ० २४ ।
८—वही, पृ० २३ ।
९—वही, पृ० ३ ।
१०-वही, पृ० ५६ ।

रोवत माय न बहुरत बारा । रतन चला घर भा अंधियारा ॥[1]

विनोक्ति –

कहां छिपा ऐ चांद हमारा । जेहि बिनु रैनि जगत अंधियारा ॥[2]

पदमावति बिनु कन्त दुहेली ।[3] – – – –

जग जल बूड़ि जहां लगि ताकी । मोरि नाव खेवक बिनु थाकी ॥[4]

लोकोक्ति –

उलू न जान दिवस कर भाऊ ॥[5]

कान टुटै जेहि पहिरे, कालेइ करब सों सोन ॥[6]

पदमावत की लोकोक्तियों के सम्बन्ध में 'परिशिष्ट' और 'भाषा' के सिलसिले में इस प्रबन्ध में सविस्तर विचार किया गया है ।

चित्ररेखा में भी लोकोक्ति अलंकार के उदाहरण मिलते हैं —

कहाँ चलाई मरन कौं, पीछहि पकरी पेठ ।

परनारी के नायक, बनज पराए सेठ ॥[7]

मुहमद मलिक पेम मधु भोरा । नाउं बड़ेरा दरसन थोरा ॥

मसला (मसलानामा) का तो सम्पूर्ण सौंदर्य ही लोकोक्ति, कहावत और मुहावरों पर ही निर्भर है —

बुधि विद्या के कटक महँ, मोहि मन का विस्तार ॥[8]

जेहि घर सासुहि तरुणि है, बहुअन कौन सिंगार ॥

अन्त न समुझु करसि का बैठ । काल्हिणि बनिया आजुहिं सेठ ॥[9]

पुन्य पाप एक रूप न जानी । दूध क दूध पानी का पानी ॥[10]

दीपक —

परिमल पेम न आछे छपा ।[11] - - - - - -

सिद्धि गिद्ध जिन्ह दिस्ट गगन पर बिनु छर किछु न बसाइ ॥[12]

१—जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ५५ ।
२—वही, पृ० १२६ ।
३—वही, ।
४—वही, पृ० ३६ ।
५—वही, पृ० ३६ ।
६—चित्ररेखा, पृ १०१ ।
७—वही, पृ० ७५ ।
८—मसला, ना० प्र० सभा, काशी की हस्तलिखित प्रति ।
६—मसला, ना० प्र० सभा, काशी की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत ।
१०—वही ।
११—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ ६१ ।
१२—वही, पृ० १०३ ।

उत्तर—

मुहम्मद बिरिध जो नइ चलै, काह चलै भुयं टोइ ।
जोबन रतन हिरान है, मकु धरती महँ होइ ॥[१]

अनन्वय—

का सिंगार ओहि बरनौं राजा । ओहि क सिंगार ओही पै साजा ॥[२]

परिणाम—

नैन नीर सौं पोता किया । तस मद चुवा बरा जस दिया ॥[३]
जौ तुम चहहु जूझि पिउ बाजा । कीन्ह सिंगार जूझ मैं साजा ।
जोबन आइ सौंह होइ रोपा । पिछला विरह काम-दल कोपा ॥
भौहैं धनुक नैन रस साधे । बरुनि बीच काजर विष-बाँधे ॥
अलक फांस गिउ मेलि असूझा । अधर अधर सौं चापहिं जूझा ॥
कुंभस्थल कुच दोउ मैं मंता । पेलौं सौंह, संभारहु कंता ॥[४]

बादल की पत्नी के इस कथन में 'परिणाम' अलंकार की अभिव्यक्ति हुई है ।

श्लेष और मुद्रा—जायसी को श्लेष और मुद्रा अलंकार भी बड़े प्रिय हैं । वाग्वैदग्ध्य-प्रदर्शन—हेतु अनेक स्थलों पर इस प्रकार के प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

सिधि गुटिका अब मो संग कहा । भएउ रांग सत हिए न रहा ॥
सोन रूप जासौं मुख खोलौं । गएउ भरोस तहां का बोलौं ॥
जहँ लोना बिरवा कै जाती । कहि कैं सदेस आन को पाती ॥
जो एहि घरी मिलावै मोहीं । सीस देउँ बलिहारी ओही ॥

इन पंक्तियों में श्लेष और मुद्रा अलंकार के सौंदर्य स्पष्ट हैं ।

हारिल भई पंथ मैं सेवा । अब तहँ पठवौं कौन परेवा ॥
धौरी पंडुक कह पिउनाऊँ । जौं चित रोख न दूसर ठाऊँ ॥
जाहि बया होइ पिउ कँठ लवा । करै मेराव सोइ गौरवा ॥

हारिल, धौरी, पांडुक, चित्तरोख, बया, लवा और गौरवा शब्दों में श्लेष का चमत्कार दर्शनीय है ।

विषादन और अंगांगिभाव संकर—

गहै बीन मकु रैनि बिहाई । ससि बाहन तहँ रहै ओनाई ॥
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै । ऐसेहि बिथा रैंनि सब जागै ॥

प्रस्तुत उद्धरण की प्रथम पंक्ति में 'विषादन' अलंकार का प्रयोग हुआ है ।

१—जा० ग्रं०, ना प्र० सभा, काशी, पृ० २६८ (दोहा ३)
२—वही पृ० ४० । ३—वही, पृ ६४ (दोहा ४।६) ।
४—वही, पृ० २८४ ।

द्वितीय पंक्ति में द्वितीय पर्यायोक्ति अलंकार का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार इन दोनों के मेल से अंगांगिभाव संकर का प्रयोग भी कहा जा सकता है। विषादन अलंकार के इसी प्रकार के प्रयोग विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास आदि ने भी किए हैं—

दूरि करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग हाँकत रथ नाहीं, नाहिन होत चंद को ढरिबो।
इत्यादि।

अप्रस्तुत—प्रशंसा, संसृष्टि, संकर—

छल कै जाइहि बान पै धनुष छाँड़ि कै हाथ ।।

प्रस्तुत पद्य में देवपाल की दूती के मुख से वृद्धावस्था का यह वर्णन 'गूढ़ अप्रस्तुत प्रशंसा' द्वारा कवि ने कराया है। बान या तीर यौवन कालीन सीधे शरीर का उपमान है और धनुष वृद्धावस्था के झुके हुए शरीर का। ये दोनों क्रमशः यौवन और वृद्धावस्था के कार्य हैं। अतः कार्य द्वारा कारण के निर्देश से यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा हुई, जो रूपकातिशयोक्ति द्वारा सिद्ध हुई है। इस प्रकार दोनों का 'अंगांगिभाव संकर है। सचमुच ये दोनों अलंकार यहाँ नीर-क्षीर की भाँति इस प्रकार मिल गए हैं कि दोनों का पार्थक्य कठिन है। रसास्वादन में स्पष्ट ही मिलावट जान पड़ती है। 'बान' शब्द का श्लेषात्मक अर्थ 'वर्ण' (रंग या कान्ति या वर्ण) लेने से 'श्लेष' अलंकार की संसृष्टि भी हुई और यहाँ पर तिल-तंदुल न्याय से दोनों को पृथक् भी किया जा सकता है।

विशेष

जायसी को अलंकारों के प्रयोग में असामान्य दक्षता प्राप्त थी। उन्होंने कहीं कहीं ऐसी चमत्कार पूर्ण अलंकारिक शैली का समावेश किया है जिसके प्रभाव या चमत्कार की ओर लोगों का ध्यान भी नहीं गया है, जैसे—

कंवलहि बिरह-बिथा जस बाढ़ी। केसर-बरन पीर हिय गाढ़ी ।।

'केसर बरन पीर हिय गाढ़ी, इस पंक्ति का अर्थ अन्वय भेद से तीन ढंग का हो सकता है—

(१) कमल केसर-वर्ण हो रहा है, हृदय में गाढ़ी पीर है।
(२) गाढ़ी पीर से हृदय केसर—वर्ण हो रहा है।
(३) हृदय में केसर—वर्ण गाढ़ी पीर है।

इनमें से पहला अर्थ तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि कवि की उक्ति का आधार कमल के केवल हृदय का पीला होना है, सारे कमल का पीला होना नहीं। दूसरा

अर्थ निश्चयत: सीधा और ठीक जँचता है, पर अन्वय इस प्रकार खींचतान कर करना पड़ता है—"गाढ़ी पीर हिय केसर बरन"। तीसरा अर्थ यदि लेते हैं, तो पीर का एक असाधारण विशेषण 'केशर–बरन' रखना पड़ता है। इस दशा में 'केशर बरन' का लक्षणा से अर्थ करना होगा। 'केसर वर्ण करने वाली', 'पीला करने वाली' और पीड़ा का अतिशय लक्षणा का प्रयोजन होगा। पर योरपीय साहित्य में इस प्रकार की शैली अलंकार—रूप से स्वीकृत है और 'हाई पेलेज' कहलाती है। इसमें कोई गुण प्रकृत गुणी से हटाकर दूसरी वस्तु में आरोपित कर दिया जाता है, जैसे यहाँ पीले पन का गुण 'हृदय' से हटाकर 'पीड़ा' पर आरोपित किया गया है।

एक उदाहरण और लीजिए—

'जस भुइँ दहि असाढ़ पलुहाई'।

इस वाक्य में 'पलुहाई की संगति के 'भुइँ' शब्द का अर्थ उस पर के घास–पौधे अर्थात् आधार के स्थान पर आधेय लक्षणा से लेना पड़ता है। बोल-चाल में भी इस प्रकार के रूढ़ प्रयोग आते हैं। जैसे इन दोनों घरों में झगड़ा है। योरोपीय अलंकार शास्त्र में आधेय के स्थान पर आधार के कथन की प्रणाली को 'मेटानमी' अलंकार कहेंगे। इसी प्रकार अंगी के स्थान पर अंग, व्यक्ति के स्थान पर जाति आदि का लाक्षणिक प्रयोग (Synecdoche) अलंकार कहा जाता है[1]।'

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि पद्मावत में अलंकारों का अत्यन्त सुन्दर और स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि पद्मावत समासोक्ति पद्धति पर लिखा हुआ हिन्दी का एक उत्कृष्ट कोटि का प्रबन्ध काव्य है। समासोक्ति भी एक अलंकार है—इसे विशेषण–विच्छित्ति-मूलक अलंकार भी कहा जाता है। इसका सारा सौंदर्य विशेषणों के प्रयोगों पर ही निर्भर करता है। कवि कथा-प्रसंग में कतिपय ऐसे विशेषणों का प्रयोग कर देता है, जिससे प्रस्तुत अर्थ के साथ ही सहृदय के चित्त में दूसरे अर्थ का भी आभास होता चलता है। हिन्दी में कबीर और जायसी तथा बंगला में कबीर से प्रभावित रवीन्द्रनाथ टैगौर समासोक्ति अलंकार के अन्यतम कवि माने जा सकते हैं। इन कवियों ने समासोक्ति अलंकार के जैसे सुन्दर प्रयोग किए हैं, वैसे अन्य किसी कवि में शायद ही मिलें।

कबीर—मैमंता तिण ना चरै, सालै चिता सनेह।
बारि जु बाँधा पेम कै, डारि उहा सिर खेह॥

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल : जा० ग्रं०, भूमिका, पृ० ११९–१२०।

जिहि सर घड़ा न बूड़ता अब मैंगल मलि न्हाइ।
देवल बूड़ा कलस सूँ, पंषि तृषाई जाई॥[1]

जायसी—

सो दिल्ली अस निबहुर देसू। कोइ न बहुरा कहै संदेसू॥
जो गवने सो तहाँ कर होई। जो आवै किछु जान न खोई॥
अगम-पंथ पिय तहाँ सिधावा। जो रे गउउ सो बहुरि न आवा॥[2]

रवीन्द्रनाथ टैगोर—

"याबार दिने एइ कथाटि, बले येन याइ।
या देखेछि, या पेयेछि, तुलना तार नाइ।
एइ ज्योति समुद्र माझे ये शतदल पद्म राजे
तारि मधुपान करेछि, धन्य आभि ताइ।
याबार दिने एइ कथाटि जानि ये येन याइ॥
याबार समय हल बिहंगेर। एखनि कुलाय रिक्त हबे।
स्तब्ध गीति, भ्रष्टनीड़, पड़िबे धुलाप, अरण्येर आन्दोलने॥"

कबीर के विशेषण-विच्छित्तिमूलक पदों में उनका संतरूप प्रधान हो उठता है, जायसी के काव्यों में भी 'का निचिंत माटी के भांडे' जैसे पद्यों में उनके सन्त-रूप की प्रधानता हो उठी है, किन्तु सर्वत्र ऐसी बात नहीं है। सचमुच कबीर, जायसी और रवीन्द्रनाथ समासोक्ति अलंकार के क्षेत्र में भारतीय साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों में हैं।

छन्दविधान

जायसी ने पदमावत की रचना दोहा और चौपाई नामक मात्रिक छन्दों में की है। पद्मावत में आदि से अन्त तक—सर्वत्र सात अर्द्धालियों के पश्चात् एक दोहे का विधान किया गया है। ये छन्द-युग्म कथा-प्रधान वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्यों को अपेक्षित गति और प्रवाह का वरदान देने में पूर्ण समर्थ हैं। अपनी इस मूलभूत गुणवत्ता के कारण ये छन्द अवधी के कवियों के कंठहार रहे हैं। 'विक्रमोर्वशीयम्' (कालिदास) से 'कृष्णायन' (पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र) तक इस छन्द (युग्म) की एक अविच्छिन्न रूप से चली आती हुई धारा के हमें दर्शन होते हैं। समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि प्रायः अवधी भाषा के काव्य-ग्रन्थों में यही छन्द-रूप व्यवहृत

१—कबीर ग्रन्थावली, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १६-१७।
२—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० २६४।
३—विक्रमोर्वशीयम् (४/८)

है। दोहा और चौपाई का प्रारम्भिक अवस्था में (यद्यपि दोहा छन्द अपभ्रंश भाषा के कवियों के हाथों से सँवर चुका था) जैसा सँवार जायसी ने अपने मनोभावों के अनुरूप अपनी समर्थ तूलिका से किया है वैसा सँवार-शृंगार सरहपाद से आज तक तुलसीदास के अतिरिक्त कोई इतर कवि नहीं कर सका है।

पद्मावत में चौपाई की सात अर्द्धालियों के पश्चात् एक दोहे की योजना की गई है। आखिरी कलाम में भी छन्द-योजना का यही रूप है। चित्ररेखा में भी छन्द योजना का यही रूप है—चित्ररेखा में कुछ स्थलों पर तीन, चार, पाँच चौपाई की अर्द्धालियाँ ही मिलती हैं, पर उस्मानिया विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में चित्ररेखा की एक हस्तलिखित प्रति है, इसमें सात अर्द्धालियों के पश्चात् एक दोहे का विधान सर्वत्र मिलता है। अखरावट में एक दोहा, पश्चात् एक सोरठा और उसके पश्चात् चौपाई की सात अर्द्धालियों की योजना हुई है। 'कहरानामा' में 'कहरवा' छन्द की योजना हुई है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक छन्द में १४ पंक्तियाँ हैं। मसलानामा में भी दोहा-चौपाई और चौपाई वाली शैली ही प्रयुक्त है। इस प्रकार दोहा, चौपाई, सोरठा, कहरवा प्रभृति छन्द जायसी के काव्यों में प्रयुक्त हुए हैं।

दोहा—चौपाई

"श्लोक" लौकिक संस्कृत का प्रतीक है। इसका उदय नई साहित्यिक मोड़ की सूचना है। 'गाथा' का उदय प्राकृत के दूसरे मोड़ की सूचना है। तीसरे झुकाव और मोड़ की सूचना लेकर एक दूसरा छन्द भारतीय साहित्य के प्रांगण में प्रवेश करता है, यह दोहा है। जैसे श्लोक, लौकिक संस्कृत का, गाथा प्राकृत का प्रतीक हो गया है उसी प्रकार दोहा अपभ्रंश का। कभी-कभी एकाध दोहे प्राकृत के भी बताए जाते हैं। जैसे, हेमचन्द्र की समस्यापूर्ति वाला प्रबन्ध-चिन्तामणि का यह दोहा—

पइली ताव न अनुहरइ गोरी मुहकमलस्स।
अद्दिट्ठी पुनि उन्नमइ पडिपयली चन्दस्स ॥[१]

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि 'विचार किया जाय, तो इस दोहे में कोई ऐसा विशेष लक्षण नहीं है जिससे इसे अपभ्रंश का दोहा न कहकर प्राकृत का कहा जाय। मुझे तो यह दोहा अपभ्रंश का ही लगता है और सच बात तो यह है कि जहाँ दोहा है वहाँ संस्कृत नहीं, प्राकृत नहीं अपभ्रंश है।'[२]

दोहा अपभ्रंश का लाड़ला छन्द है। इस छन्द का पहले-पहल प्रयोग कब हुआ—यह कहना कठिन है। 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में इस छन्द का अपभ्रंश-भाषा में निबद्ध रूप मिलता है—

१—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ६०—६१।
२—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्यकार आदिकाल, पृ० ६०—६१.

मइँ जाणिअँ मिअलोअणी णिसयरु कोइ हरेइ।
जाव ण णव जलि सामल धाराहरु बरसेइ ॥[१]

(मैंने जाना था कि कोई निशाचर मेरी मृगलोचनी प्रिया को हरण किए जा रहा है, यह मेरी भूल थी। इसे मैंने तब जाना जबकि नव-विद्युत से संयुक्त काले मेघ बरसने लगे।)

रे रे हंसा कि गोइज्जइ । गई अणूसारे महँ लक्खिज्जइ ॥
कइँ पइँ सिक्खिउ ए गए लालस । मा पइँ दिट्ठी जहण भरालस ॥[२]

(हरे हंस तुम क्यों छिप रहे हो ? तुम्हारी गति से ही मैंने सब कुछ जान लिया है। तुमने यह सुन्दर गति कहाँ से सीख ली है ? तुमने जघन-भार से धीरे-धीरे चलने वाली उस प्रिया को अवश्य ही देखा है।)

इन छन्दों की भाषा शुद्ध टकसाली अपभ्रंश है। प्रथम उद्धृत छन्द तो स्पष्ट रूप से दोहा है और द्वितीय उद्धरण चौपाई से बिल्कुल मिलता-जुलता है। उसे चौपाई का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। इन छन्दों में प्रयुक्त शुद्ध–स्टैंडर्ड–या परिनिष्ठित भाषा ने विद्वानों में विवाद प्रस्तुत कर दिया है। कारण भी स्पष्ट है। कालिदास ने अन्यत्र कहीं भी अपभ्रंश भाषा का प्रयोग नहीं किया है। वे संस्कृत के कवि हैं। अत: इन पद्यों की प्रामाणिता के विषय में विद्वानों को सन्देह है। जैकोबी और श्री एस० पी० पंडित[३] इन पद्यों को कालिदास रचित या कालिदासकालीन रचना नहीं मानते।

इन पंडितों के प्रतिकूल उनकी आपत्तियों का तर्कपूर्ण एवं प्रमाण सम्मत समाधान प्रस्तुत करते हुए डा० ए० एन० उपाध्ये[४], डा० ग० वा० तगारे[५], डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी[६], डा० पी० एल० वैद्य प्रभृति विद्वानों ने इन पद्यों को प्रामाणिक और कालिदास की रचना माना है। इस सम्बन्ध में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत उल्लेखनीय है — 'अपभ्रंश का साहित्य ५वीं–६ठीं शताब्दी में काफी मात्रा में

१—विक्रमोर्वशीयम्, चतुर्थ अंक (४।८)
२—कालिदास ग्रन्थावली, विक्रम–परिषद काशी, द्वितीय खण्ड, पृ० २२३
(विक्रमोर्वशीयम् ४।३२)।
३—श्री एस० पी० पंडित : विक्रमोर्वशीयम्, भूमिका।
४—डा० ए० एन० उपाध्ये : परमात्म–प्रकाश भूमिका, पृ० ५६। टिप्पणी १।
५—पुरुषार्थ पत्रिका, जून १९४२।
६—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, ९२।
डा० नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, प्रथम संस्करण, पृ० १४।

वर्तमान था। दण्डी और भामह ने उस साहित्य को देखा था। एकाध शताब्दी बाद के तो अपभ्रंश काव्य और दोहा ग्रंथ भी मिल गये हैं। यदि जंगल में भटकते हुए प्रिय–विरह से व्याकुल राजा के प्रलाप में कवि ने तत्काल प्रचलित ग्राम्यजन के गेय पदों में से एकाध पद्य कहलवा दिया हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। माइल्ल-धवल की उक्ति से स्पष्ट ही है कि अपभ्रंश या दोहाबंध उन दिनों भले आदमियों की हँसी की चीज थी। इस दृष्टि से विक्रमोर्वशीयम् वाले दोहे को प्रक्षिप्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। — — आधुनिक अहीरों के अत्यन्त प्रिय विरहागान का खाका मूलतः दोहा छंद ही है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विक्रमोर्वशयीम् में प्रयुक्त में ये छंद अपभ्रंश भाषा के प्राचीन उदाहरण के रूप में गृहीत किए जा सकते हैं। सोरठा का सम्बन्ध सौराष्ट्र से जोड़ा गया है, क्योंकि इसे कभी-कभी सोरट्ठ दोहा भी कहा गया है और आभीर गुर्जरों का सौराष्ट्र से पुराना सम्बन्ध है। दोहा अप-भ्रंश भाषा की प्रवृति के अनुसार ह्रस्वान्त छन्द के रूप में है। यह छन्द नवीं–दसवीं शताब्दी में बहुत लोक प्रिय हो गया था। इस छन्द में नई बात यह है कि इसमें तुक मिलाये जाते हैं। संस्कृत, प्राकृत में तुक मिलाने की प्रथा नहीं थी। दोहा वह पहला छन्द है जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ। और आगे चलकर एक भी ऐसी अपभ्रंश कविता नहीं लिखी गई जिसमें तुक मिलाने की प्रथा न हो।

ईरान के साहित्य में मुस्लिम–पूर्व काल में भी तुक मिलाने की प्रथा थी और बाद में तो फारसी गद्य में भी तुक मिलाकर लिखने की प्रथा चल पड़ी जिसका निश्चित अनुकरण विद्यापति की कीर्तिलता में मिलता है। छठीं-सातवीं शताब्दी तक भारतवर्ष में उत्तर–पश्चिम सीमान्त से अनेक नई जातियों का आगमन हुआ और उनके कारण इस देश की भाषा में भी नए-नए तत्व प्रविष्ट हुए और कविता भी नवीन कारीगरी से समृद्ध हुई। हो सकता है कि यह तुक मिलाने की नवीन प्रथा भी नवीन जातियों के सम्पर्क का फल हो। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि दोहा नवीन स्वर में बोलता है[१]। अपभ्रंश कविता का मूल स्वर दोहा में ही अभिव्यक्त हुआ है।

दोहा-छन्द के माध्यम से मुक्तक और प्रबन्ध रूप में अपभ्रंश में प्रचुर रच-नाएँ मिलती हैं। प्रेमाख्यानक परम्परा के कवियों ने प्रेम–पीर की अभिव्यक्त के लिए इन्हीं छन्दों को माध्यम बनाया है। अतः दोहा–चौपाई को सूफियाना आविष्कार मानना बहुत बड़ी गलती है। आगे इन छन्दों की परम्परा पर विचार किया गया है और स्पष्ट कर दिया गया है कि सरहपाद से लेकर पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र तक दोहे-

---

१—पं०हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ९२–९३।

चौपाई में काव्य लिखने की एक अविच्छिन्न परम्परा चली आई है। इसी परम्परा के राजमार्ग पर सूफियों ने भी अपनी कृतियों के पथ--चिह्न रखे हैं। ये छन्द उनके निजी आविष्कृत छन्द नहीं हैं। जायसी के पूर्ववर्ती अनेक चरित काव्यों और प्रबन्ध काव्यों में दोहे–चौपाई के प्रयोग की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

दोहा–चौपाई की परम्परा और जायसी –

पूर्वांकित पंक्तियों में कहा जा चुका है कि दोहा–चौपाई छन्दों के माध्यम से प्रबन्ध–काव्य लिखने की परम्परा अपने प्राचीनतम रूप में अपभ्रंश साहित्य की है। अपभ्रंश के काव्य कडवक-बद्ध हैं। पज्झटिका या अरिल्ल छन्द की कई पंक्तियां लिखकर कवि एक घत्ता का ध्रुवक देता है। 'सहजयानी सिद्धों में से सरह-पाद और कृष्णपाद के ग्रन्थों में दो-दो–चार–चार चौपाइयों के बाद दोहा लिखने की प्रथा पाई जाती है।

अरिल्ल चौपाई का हीं पूर्व रूप है। कथा--काव्य में इसका खूब प्रयोग भी हुआ है। अपभ्रंश के काव्यों में घत्ता के स्थान पर दोहे का प्रयोग कम होता था। जिन पद्मसूरि के थूलभद्दफागु में इसका उदाहरण मिल जाता है। परन्तु अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यों में दोहा–चौपाई का क्रम बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ सम्भवत: पूर्वी प्रदेश के कवियों ने प्रबन्ध काव्य में चौपाई और दोहा से बने कड़वकों का प्रयोग शुरू किया था। मौलाना दाऊद, जायसी आदि सूफी कवियों ने इसी प्रथा का अवलंबन किया था। परन्तु बीज रूप में यह प्रथा बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में मिल जाती है। सरहपा ने लिखा है —

अइसें विसन संधि को पइखइ। जो जइ अत्थिणउ जव न दीसइ।
पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ। देहहि बुद्ध बसन्त ण जाणयू ॥
गमणागमण न तेन विखण्डिअ। तो वि णिलज्ज भणहि हउँ पंडिअ।
जीवन्तह जो नउजरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु उवएसे विमल मइ, सो पर धण्णा कोइ[1] ॥

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि 'दोहे–चौपाई का सबसे पुराना प्रयोग शायद यही है। जो कुछ पुराना साहित्य उपलब्ध है उससे लगता है कि 'पूर्वी प्रदेश के बौद्ध सिद्धों ने ही इस शैली में लिखना शुरू किया था। पश्चिम में पद्धड़िया बन्ध अधिक प्रचलित था और पद्धड़िया से कभी-कभी चौपाई का अर्थ भी ले लिया जाता था। जैसा कि जिनदत्तसूरि की चर्चरी के वृत्तिकार जिन पाल के वक्तव्य से स्पष्ट होता है। गोरखनाथ की बताई जानेवाली वाणियों में भी इस पद्धति को कदाचित

१—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० ९६, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ६६ (जून १९५९)।

खोज लिया जा सकता है और कबीरदास ने तो निश्चित रूप से इस पद्धति का निर्वाह किया था। पृथ्वीराज रासो में इस पद्धति का बहुत ही कम स्थानों में उपयोग हुआ है। रासो के बयालीसवें समय (पृ० ११६८) में एक स्थल पर चौपाई–दोहा की पद्धति का प्रयोग मिलता है।[1] बौद्ध और जैन कवियों ने चौपाई–दोहा छन्दों का गठबन्धन बड़े ही सुन्दर रूप में किया है। स्वयंभू के विशाल महाकाव्य 'पउम चरिउ' में दोहे–चौपाई की शैली का सुन्दर रूप दर्शनीय है। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि यद्यपि चौपाई छन्द का प्रयोग कुछ सिद्ध कवियों द्वारा भी हुआ है, तथापि जैन कवियों ने दोहा छन्द के साथ चौपाई का मेल बड़े सुन्दर ढंग से किया है। स्वयंभू देव ने अपने 'पउम चरित्र' में तो दोहा और चौपाई का प्रयोग ही अधिकतर किया है। सम्भव है रामकाव्य के महाकवि तुलसीदास ने स्वयंभूदेव का 'पउमचरिउ' देखा हो, और उसी शैली के अनुकरण पर दोहा-चौपाई की शैली में अपना 'रामचरितमानस' लिखा हो।''[2]

इससे इतना तो स्पष्ट है कि मौलाना दाऊद, जायसी और तुलसीदास के समक्ष निश्चित रूप से चौपाई–दोहे वाली पद्धति वर्तमान थी। जायसी के पूर्ववर्ती मुल्ला दाऊद ने भी इसी शैली का अनुगमन किया है।

चौपाई और अरिल्ल छन्द

सूफी प्रबन्ध काव्यों में मुख्यत: दोहा और चौपाई छन्द ही समान रूप से समादृत रहे हैं। अपभ्रंश में 'अरिल्ल' या 'अडिल्ल' नाम का सोलह मात्रा का छन्द प्राप्त होता है। इसे चौपाई का पूर्व रूप कहा जा सकता है। चौपाई छन्द ही कथानक छन्द है। अपभ्रंश के लाड़ले छन्द दोहा के साथ चौपाई का गठबन्धन अपभ्रंश के प्रारम्भिक काल में ही हो गया था, पर कथा-काव्य के लिये इसका महत्व बाद में समझा गया। अन्त की मात्राओं की मूल भेदकता के अतिरिक्त अरिल्ल और चौपाई दोनों छन्दों में एकरूपता है। दोनों मात्रिक छन्द हैं। दोनों में सोलह मात्राएँ होती हैं। अन्तर इतना ही है कि चौपाई के अन्त में दो गुरु का प्रयोग होता है और अरिल्ल के अन्त में दो लघु का जैसे—

> अहो महो अज्जु नाउ' सुहयत्तउ। ज एवड्ड महतणु पतउ॥[3]
> सो जग जणमउ सो गुणं मंतउ। जे कर पर उवआर हसतउ।[4]

१–पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ९६

२–डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १९५।

३—भविस्सयत कहा, १०/३/१३

४—प्रा० सू, १६०

'अरिल्ल' छन्द के इन उदाहरणों में सोलह-सोलह मात्राएँ हैं और अन्त में दो-दो लघु हैं। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' (सं० १६३१) में भी लध्वन्त चौपाइयाँ मिल जाती हैं, जैसे—

कह दसकंध कवन तैं बन्दर। मैं रघुबीर दूत दसकँधर ।।

जायसी के पदमावत में भी यह प्रवृत्ति मिल जाती है–

वैं पिंगला गए कजरी आरन। ये सिंघल आये केहि कारन ।।[1]

यह सच हैं कि जायसी की चौपाइयों में मात्राओं की कमी-बेशी भी मिलती है, पर प्राय: सोलह मात्राएँ ही मिलती हैं। १४, १५, १६ और १७ मात्रा वाली चौपाइयाँ भी मिलती हैं। इससे स्पष्ट है कि या तो जायसी के ग्रन्थों का ठीक से संपादन नहीं हो सका है अथवा जायसी ने कई प्रकार की चौपाइयों का प्रयोग किया है। प्राय: चौपाइयाँ दीर्घान्त हैं।

जायसी ने पदमावत, अखरावट, आखिरी कलाम, चित्ररेखा प्रभृति ग्रन्थों में सर्वत्र (चौपाई की) सात पंक्तियों के पश्चात् एक दोहे का विधान किया है। (अपवाद स्वरूप शुक्ल जी की जायसी ग्रन्थावली, पृ० १। दोहा ४ में मात्र ६ पंक्तियाँ ही थीं, पर डा० गुप्त के संस्करण में उस अभाव की पूर्ति हो गई है)।

दोहे की व्युत्पत्ति और पदमावत

'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ पण्डितों का कथन है कि दोहा 'दोधक' शब्द से व्युत्पन्न है, परन्तु इसके विरोध में यह कहा जाता है कि दोधक वर्णवृत्त है, और इसके ठीक विपरीत दोहा मात्रिक छन्द है। दोधक में तीन, भगण और दो गुरु आते हैं, प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं। दोहा अर्द्धसम छन्द है। मात्रा की दृष्टि से दोहे के प्रथम–तृतीय और द्वितीय-चतुर्थ चरण समान होते हैं। दोहे के प्रथम–तृतीय चरणों में १३-१३ मात्राएँ और द्वितीय-चतुर्थ चरणों में ११–११ मात्राएँ होती हैं। संस्कृत वर्ण-वृत्त प्रधान है। इसके ठीक विपरीत अपभ्रंश, हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की प्रवृत्ति मात्रिक छन्दों की रही है। अत: स्पष्ट ही दोहा और दोधक का साम्य या सम्बन्ध निराधार है।

कुछ विद्वान् दो पद या दो–पथ से दोहे को व्युत्पन्न बताते हैं। प्राकृत की 'गाथा' से भी इसकी निरुक्ति की गई है। 'दो-गाथा-दो गाथा' दो गाहा 'दोहा' 'दोहा' में 'हा' को प्रत्यय मान कर (दो–हा–दो पँक्तियों वाला) दोहा की निरुक्ति की जाती है। दोहा शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में जो भी कहा जाय, पर यह

१—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ८४

निश्चित है कि 'दो' यहाँ संख्या का ही बोध कराता है। 'साखी-सबदी दोहरा' आदि में दोहे को 'दोहरा' भी कहा गया है। दोहा—ड़ा (स्वार्थक प्रत्यय), दोहड़ा—दोहरा दोहा भी कहा जा सकता है। इसे दो—सर (सर—स्रज-लड़ी, लड़) से व्युत्पन्न भी कहा जा सकता है। दो—हार या दो—धड़ (धड़-घड़ी या परत) से भी दोहे की निरुक्ति की सम्भावना की जा सकती है।

वस्तुतः दोहा के 'हा' की निरुक्ति सँदिग्ध है। अवश्य ही इसका सम्बन्ध पंक्ति से होना चाहिए। इस मात्रिक छन्द में कुल चार चरण होते हैं। इसमें कुल ४८ मात्राएँ होती हैं। इसमें कम से कम २४ और अधिक से अधिक ४६ वर्ण आ सकते हैं। पिंगल शास्त्र में दोहे के हंस, मयूर आदि २१ भेद भी किए गए हैं।

जायसी के दोहों में कहीं-कहीं मात्राओं की कमी-बेशी बहुत खटकती है। तत्कालीन शुद्ध उच्चारण के ज्ञात न होने के कारण, प्रतियों के विशेषतः फारसी लिपि में मिलने के कारण, पुनः उसे नागरी में लाने के कारण तथा जायसी के ग्रन्थों के ठीक से संपादन के अभाव के कारण इस विषय में उपस्थित किए जा सकते हैं।

डा० गुप्त का कथन है कि 'जायसी के छन्द दोहा और चौपाई हैं, किन्तु इनके विषय में उन्होंने बड़ी स्वतन्त्रता दिखाई है। अनेक उदाहरणों को देकर के गुप्तजी ने यह सिद्ध किया है फलतः यह भली भांति प्रमाणित है कि जायसी दोनों छन्दों की मात्राओं के सम्बन्ध में पर्याप्त स्वतन्त्रता रखते थे।'[1] जायसी ने प्रायः मात्राओं का ध्यान रखा है, जैसे—

भा बैसाख तपन अति लागी। चोवा चीर चँदन भा आगी। (१६:१६

कंवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाय। (१३:११)

कबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जौ पिउ सींचै आइ। (१३:११)

दाऊद डलमई कुतबन और मंझन ने पाँच चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे का विधान किया है। जायसी ने सात चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे की योजना की है। तुलसीदास ने आठ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे की योजना की है।

जायसी ने अपने काव्य के लिए दोहा और चौपाई छन्द को ही सर्वोत्तम समझ कर अपनाया है। उनके समक्ष इस छन्द-रूप की विशाल परम्परा थी। उनसे पौने दो सौ वर्ष पूर्व 'चंदायन' दोहा—चौपाई वाली शैली में ही लिखा गया था। 'मधु मालती'[2] की जो प्रतियाँ मिली हैं (जिनका उल्लेख बनारसीदास जी ने 'अर्द्धकथा' में किया है —)

१—डा० माताप्रसाद गुप्त : जा० ग्रं०, भूमिका, पृ० ४१—४४।

२—मधुमालती की दो हस्तलिखित प्रतियाँ श्री भायाणी जी भारतीय विद्या भवन के पास हैं। एक प्रति में लगभग ७०० छन्द (चौपाई-दोहे के विधान से) हैं।

उनमें भी यही शैली प्रयुक्त है। यह स्पष्ट है कि उस काल के साहित्य में इस छन्द युग्म का सर्व-सुन्दर प्रयोग जायसी ने ही किया है।"[1]

मसनवी शैली

मूलतः मसनवी फारसी साहित्य की एक काव्य-शैली है। "मसनवी शब्द का व्यवहार बड़े काव्य के लिए किया जाता रहा है। मसनवी के छन्दों में प्रत्येक पद अपने आप में स्वतंत्र और पूर्ण होते हैं और वे तुकान्त होते हैं। ऐसा नहीं होता कि एक पाद के बाद दूसरे में चले जाएँ। आकार में बड़ा काव्य होने के कारण कवि को पूरी स्वतन्त्रता वरतने का सुयोग मिलता है। प्रेमाख्यान, धार्मिक तथा उपदेशात्मक काव्यों के लिए मसनवी का ही सहारा लिया गया है। मसनवी अपने आप में एक पूर्ण ग्रन्थ होता है। उस ग्रन्थ का एक विशेष नाम होता है। प्रेमाख्यानों में साधारणतः कवि अपने ग्रन्थ का नाम नायक-नायिका के नाम पर रखता है। वैसे उस ग्रन्थ में वर्णित विषय को भी आधार मानकर नाम दिया जाता है, जैसे – 'साकीनामा'। इसमें साकी का ही नाना भाव से वर्णन होता है। शराब के दौर की चर्चा होती। ये ग्रन्थ प्रतीकात्मक हो सकते हैं जिसमें शराब को किसी आध्यात्मिक भाव का प्रतीक माना गया हो। नायक-नायिका के नाम पर भी अनेक ग्रन्थों का नामकरण हुआ है, जैसे – 'यूसुफ जुलेखा', 'खुसरो – शीरी' आदि। इन ग्रंथों में ऐसे भी हैं जिनके नाम पूर्ण रूप से काल्पनिक हैं और उसमें धार्मिक उपदेश देने की प्रवृत्ति की प्रधानता है। साधारणतः मसनवी सर्गबद्ध होते हैं। पहले सर्ग में परमात्मा का गुणानुवाद रहता है। दूसरे में पैगम्बर को स्मरण किया जाता है। तीसरे में पैगम्बर के 'मीराज' की चर्चा रहती है। उसके बाद साधारणतः शासन करने वाले सुलतान शाहे-वक्त की प्रशंसा रहती है अथवा किसी महान् व्यक्ति की तारीफ रहती है, जिसे कवि उस ग्रन्थ को समर्पण करता है। इसके बाद ही एक ऐसा सर्ग रहता है जिसमें कुछ इस प्रकार का वर्णन रहता है कि किस उद्देश्य से अथवा किस मित्र की प्रेरणा से कवि ने उस काव्य – ग्रंथ का प्रणयन किया है। उस सर्ग का शीर्षक भी वह कुछ उसी प्रकार का देता है। इसके बाद ही मूल काव्य ग्रंथ का प्रारम्भ होता है। इस ग्रन्थ के विभाग या खण्ड होते हैं और फिर वे विभाग या खण्ड सर्ग-बद्ध किए जाते हैं। प्रत्येक सर्ग के ऊपर उस सर्ग में वर्णित विषय का संकेत साधारणतः फारसी भाषा में दिया हुआ रहता है। अन्त में कवि एक उप-

---

१–पदमावत का काव्य सौंदर्य, पृ० १५६–१६६।

संहार से ग्रंथ समाप्त करता है।[१] मसनवीं के कुछ विशिष्ट लक्षण इस प्रकार हैं[२] —

(१) मसनवी में छंद स्वतः पूर्ण होता है। वाक्य-रचना के दृष्टिकोण से उसमें पूर्ण वाक्य आता है।

(२) उसकी दोनों अर्द्धालियाँ समान अन्त्यानुप्रास गुण युक्त होती हैं।

(३) यह काव्य-शैली प्रकथन-प्रधान होती है। इसका विषय कथा-प्रधान होता है और उस कथा में विविध विषयों के सांगोपांग वर्णन मिलते हैं।

(४) कथा के आरम्भ में ईश्वर, पैगम्बर मुहम्मद, मुहम्मद के मित्र, कवि के गुरु और सामयिक राजा की प्रशंसा रहती है।

(५) इसके पश्चात् कवि अपनी रचना के लक्ष्य का स्पष्टीकरण करता है।

(६) साधारणतः छन्दों का परिवर्तन नहीं होता।

(७) पाँच या सात 'बन्दों' के अनन्तर एक 'बैत' रहता है।

(८) उसमें सामी संस्कृति (सेमेटिक कल्चर) का प्राधान्य भी कभी-कभी प्रदर्शित किया जाता है।"

प्रारम्भिक काल की फारसी मसनवियों में धार्मिक अथवा रहस्यात्मक विषयों की चर्चा हुआ करती थी। ये प्रायः उपदेश प्रधान हुआ करते थे। कालान्तर में इन मसनवियों के विषय प्रेमाख्यान हो गए। जिनमें संकेतों द्वारा कवि अलौकिकता का परिचय देता जाता है।

"इन प्रेमाख्यानों की एक और विशेषता रही है कि इनमें बीच-बीच में गजल लिखे जाते थे। इन गजलों का उपयोग कवि ऐसे मौके पर करता है जब कहानी का कोई पात्र अपने मन के भार को हल्का करना चाहता है। धीरे-धीरे लम्बे काव्य-ग्रन्थों के लिखने का प्रचलन नहीं रहा, लेकिन मसनवियों का लिखा जाना बन्द नहीं हुआ। इसकी सहज शैली के कारण वर्णनात्मक अथवा उपदेशात्मक छोटे-छोटे काव्यों के लिए भी इसका प्रयोग होता रहा। प्रारम्भ में कितने कवि ऐसे थे जो एक ही सीरीज़ में पाँच मसनवियाँ लिख देते थे। इस सीरीज़ का एक विशेष नाम 'खम्स' था।[३]

हाली का कथन है "मसनवी में अलावा उन फ़रायज़ के जो ग़जल या कसीदे में वाजिबुल अदा हैं कुछ और शरायत भी है, जिनकी मराआत निहायत ज़रूरी है। अज़ांजुमला एक रब्तकलाम है जो कि मसनवी और हर मुसलसल नज़्म की जान

१—पं० रामपूजन तिवारी : सूफीमत साधना और साहित्य, पृ० ५२७—२८।

२—ब्राउन : ए लिटरेरी हिस्ट्री आफ परशिया (१९१९) पृ० ४७३ तथा इन्साइक्लोपीडिया आफ इस्लाम (१९३६), वाल्यूम ३, पृ० ४१०—११।

३—सूफीमत साधना और साहित्य, पं० रामपूजन तिवारी, पृ० ५३८।

है। गज़ल और क़सीदा में एक शेर के दूसरे शेर से जैसा कि जाहिर है, कुछ रब्त नहीं होता बखिलाफ़ मसनवी के कि इसमें हरबैत को दूसरी बैत से ऐसा ताल्लुक होना चाहिए जैसा जंजीर की हर कड़ी को दूसरी कड़ी से होता है।"[1] जामी का कथन है कि "मसनवियाँ काव्य में आख्यान, प्रेम-प्रबन्ध, वीरकाव्य तथा कथात्मक भी होती हैं।" इसमें शेर के पहले 'मिसरे' का दूसरे से तुक होता है। मसनवियाँ पांच बहरों में लिखी जाती हैं। हज़ज़, रमल, सारी, खफीफ़ और मुतक़ारिब।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि फारसी की मसनवियों में जिन छन्दों का प्रयोग हुआ है उनका उपयोग हिन्दी के प्रेमाख्यानों में नहीं हुआ है। मसनवी की दो अर्द्धालियां परस्पर तुकान्त होती हैं। लम्बाई की कोई सीमा निर्धारित नहीं है और इसमें आदि से अन्त तक एक ही छन्द रहता है। कवि स्वतन्त्र है कि वह या तो सात छन्दों की मसनवी लिखे या वह इसे सात हजार तक बढ़ाये। विषय निर्वाचन में भी कवि स्वतंत्र है। पौराणिक, दार्शनिक, रहस्यवादी, धार्मिक आदि कोई विषय लिया जा सकता है।[2]

उपर्युक्त कथन से यह धारणा दूर हो जानी चाहिए कि मसनवी कोई फारसी में प्रेमाख्यान काव्य है। यह भ्रम भी दूर हो जाना चाहिए कि मसनवी प्रबन्ध का सामान्य काव्य रूप है। वस्तुत: मसनवीकार अपनी मसनवी के लिए प्रेम, युद्ध, दर्शन, धर्म, आदि कोई भी विषय ले सकता है।

यह एक सामान्य नियम है कि "मसनवी[3] जो एक पूर्ण पुस्तक के रूप में रहती है। ईश्वर की स्तुति से प्रारम्भ होती है। पुन: उसमें रसूल की बन्दना की जाती है। उसके 'मींराज़' का भी वर्णन किया जाता है। पश्चात् शाहेवक्त या किसी महान् व्यक्ति की प्रशंसा या स्तुति की जाती है। फिर ग्रन्थ निर्माण का कारण भी बतलाया जाता है। प्रेम-कथा लिखने वाले कवि बीच-बीच में ग़ज़ल आदि भी दे दिया करते हैं। यद्यपि ये निष्कर्ष तुर्की मसनवियों के हैं, पर ये नियम फारसी मसनवियों में भी मिलते हैं। निज़ामी (लैला मजनू,[4] खुसरो-शीरीं[5]) खुसरो (मजनूं-लैला[6], शीरीं-खुसरो[7]) जामी (यूसुफ जुलेखा[8]), फैजी (नलदमन[9])

१–मुकदमा शेर और शायरी, ख्वाजा अलताफ हुसेनहाली, पृ० २१५।
२–फारसी साहित्य का इतिहास, डा० असगर हिकमत, पृ० १५३।
३–ए हिस्ट्री आफ ओटोमन पोइट्री, वा० पृ० ७७।
४–लैला-मजनूं निज़ामी, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ।
५–खुसरो-शीरीं ,, ,, ,, ,, ,,।
६–मजनूं-लैला, सं० हबीबुल रहमानखाँ, अलीगढ़।
७–शीरीं-खुसरो मु० यू० अलीगढ़। ८–यूसुफ एण्ड जुलेखा, सं० टी० एच० ग्रिफ़िथ।
९–नलदमन, फ़ैज़ी, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ।

प्रभृति कवियों की प्रेम-गाथात्मक मसनवियों में विशेषताएँ स्पष्ट रूप से मिल जाती हैं। प्रेमगाथाओं के साथ ही वीर प्रधान मसनवियों – यथा फिरदौसी कृत शाहनामा में ये तत्व स्पष्ट रूप से मिलते हैं।

'फारसी में मसनवी लिखने वाले तीन महान कवियों का नाम लिया जाता है। उनमें सनाई प्रथम हैं और अन्य दो फरीदुद्दीन अत्तार और जलालुद्दीन रूमी हैं। कहा जाता है कि मसनवी लिखने वालों में यदि अत्तार रूह थे तो सनाई दोनों आंखों जैसे थे। जलालुद्दीन की सुप्रसिद्ध 'मसनवी' को 'मसनवी-ए-मसनवी' भी कहते हैं। इसे लोग फारसी भाषा का कुरान कहते हैं। उसे पढ़ने पर लगता है कि जैसे वे भारतीय ध्यानादि साधना-पद्धति से प्रभावित हैं[१]।'

'फारसी मसनवियाँ[२] चार वर्गों में विभक्त हो सकती हैं —

(१) विशाल महाकाव्य।

(२) पर्याप्त विस्तार वाले प्रेमाख्यानक काव्य।

(३) पर्याप्त विस्तार वाले साधारण आख्यानक काव्य, और

(४) ध्येय विशेष को लेकर लिखी गई कई कथाएँ, जिनका संग्रन्थन किसी कच्चे सूत्र के सहारे कर दिया गया है।

फिरदौसी कृत 'शाहनामा' फारसी की सबसे पहली मसनवी है जो संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में समादृत है। इसमें केवल छन्द-विधान ही मसनवी-पद्धति पर है। मसनवी की अन्य विशेषताओं का इसमें प्रायः अभाव है[३]। पर्याप्त विस्तार वाले प्रेमाख्यानों में फिरदौसी कृत 'यूसुफ जुलेखा' प्राचीनतम रचना है। इस काव्य में मसनवी–शैली के सभी लक्षण मिल जाते हैं। फारसी प्रेमाख्यानक परम्परा का सर्व-

---

१—रोज : दी दर विशेष : पृ० ४८ (सूफीमत साधना और साहित्य पृ० ५३८ से)

२—परशियन एन्फूलुएंस आन हिन्दी ; डा० हरदेव बाहरी, पृ० ७७

'मसनवी ऐज ए फार्म आफ पर्सियन एपिक रिमेन्ड ए माडेल फार सूफी पोएट्स इन हिन्दी फ्राम दि अर्लिएस्ट टाइम्स डाउन टु १९१७ ए० डी० इट ओपेन्स विथ प्रेज टु गाड ऐण्ड दि प्रेज आफ मोहम्मद दि प्राफेट आफ इस्लाम, देन आफ दि रूलस आफ दि टाइम, फालोड बाई पेनोरमिक लाइन्स एबाउट दी राएटर्स प्रेसीप्टेर ऐण्ड हिज फेमली ऐन एन्ट्रोडक्शन टू दी फेमिली आफ दी हीरो ऐण्ड दी हीरोइन इज देन गिवेन बीफोर दी स्टोरी बीगिन्स। इट हैज नो कैन्टूज, बट दी इवेन्ट्स आर डिस्क्राइब्ड अन्डर हेडिंग्ज। दी डिस्क्रिप्शन आफ प्लेसेज ऐण्ड थिंग्स आर रादर लेंदी। आउट साइड सूफी लिटरेचर, दीमस नवी फार्म इज अवेलेबुल इन दी लव-बैलेड्स आफ दी १७थ ऐण्ड १८थ सेंचुरीज,

३—इन्साइक्लोपीडिया आफ इस्लाम, भाग ३, पृ० ४११।

श्रेष्ट कवि निजामी हुआ है। 'शीरीं' 'खुसरो लैला-मजनूं और 'हफ्तपेकर' उसकी अत्यन्त ख्यातिप्राप्त मसनवियाँ हैं। फारसी प्रेमाख्यानक मसनवियों की शैली पर भारतवर्ष में भी रचनाएँ हुई हैं। इस क्षेत्र में अमीर खुसरो तथा अबुल फैजी की कृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। अमीर खुसरो कृत 'लैला-मजनूँ' और अबुल फैजी कृत 'नल दमन' मसनवी शैली के प्रेमाख्यान हैं। पर्याप्त विस्तार वाले साधारण आख्यानक काव्य के अन्तर्गत अमीर खुसरो की अन्य मसनवियाँ गिनाई जा सकती हैं। चौथे वर्ग के प्रतिनिधि कवि जलालुद्दीन रूमी हैं। इस प्रकार के काव्य प्राय: उपदेश प्रधान हैं। कच्चे धागे में संग्रथित होने का अर्थ उपदेश देने की भावना से सम्बद्ध माना गया है।

डा० कमलकुल श्रेष्ठ का यह कथन कि 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य का संबंध एकमात्र फारसी की प्रेमाख्यानक मसनवियों से है, समीचीन नहीं है। यह अवश्य है कि हिन्दी प्रेमाख्यानक परम्परा के कवियों पर फारसी का प्रभाव पड़ा है; उनकी कृतियों में मसनवी-पद्धति के दर्शन भी होते हैं। उनकी कृतियों में भारतीय प्रबन्ध काव्यों की पद्धति का भी पूर्ण प्रभाव पड़ा है। अत: 'एकमात्र फारसी मसनवियों से' सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं है।

हिन्दी की प्रेमाख्यानक परम्परा में मुसलमान कवियों का ही आधिक्य है। ये लेखक फारसी भाषा के भी ज्ञाता होते थे। जायसी को उज्जवल पंथ दिखलाने वाले 'सैयद असरफ' इस्फहान से भारतवर्ष में आये थे। उनकी फारसी की रचनाएँ आज भी प्राप्त हैं। जायसी भी फारसी के पंडित थे। उन्होंने फारसी मसनवियों को अवश्य पढ़ा था। फारसी मसनवी पद्धति के (पूर्वांकित पंक्तियों में) जो लक्षण बताये गये हैं, वे पदमावत में प्राय: मिल जाते हैं।

चरितकाव्य और मसनवी —

प्रेमाख्यानक मसनवियों की यह रूढ़ि भारतीय चरित काव्यों की प्रबन्ध-रूढ़ियों से बहुत मिलती जुलती है। संस्कृत महाकाव्यों में प्रारम्भ में मंगलाचरण, वस्तु-निर्देश आदि बातें तो होती थीं। परवर्ती चरित काव्यों, विशेषकर जैन-चरित्र काव्यों में तीर्थंकरों की स्तुति भी उसी तरह मिलती है जैसी मसनवियों में पैगम्बर और उनके साथियों की। कुछ चरित काव्यों में प्रारम्भ में ही कवि अपने आश्रय-दाता राजा का वर्णन करता और काव्य लिखने का कारण बताता है। चरित काव्यों की अन्य रूढ़ियों जैसे — —सज्जन — प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, पूर्व-कवि-प्रशंसा विनम्रता —-प्रकाश कथा का सारांश आदि, मसनवियों में नहीं होती। चरित काव्यों की तरह प्रेमाख्यानक मसनवियाँ भी रोमांच अलौकिक घटनाओं से युक्त और प्रेम-भावना प्रधान होती हैं तथा उनका सर्ग-विभाजन भी नाटकीय संधियों के आधार पर नहीं,

बल्कि घटनाओं के वर्णन के आधार पर होता है। इस तरह चरित काव्य और मसनवी के रूप–विधान में बहुत अधिक साम्य है। हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में जो प्रबन्ध--रूढ़ियाँ मिलती हैं, वे अधिकतर भारतीय चरित काव्यों की हैं। फारसी की मसनवी पद्धति और हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में जो साम्य दिखाई पड़ता है उसको देखते हुए यह कहना उचित नहीं है, कि हिन्दी के सूफी कवियों ने फारसी की मसनवी पद्धति का हूबहू अनुकरण किया है। आचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "इन प्रेमगाथा काव्यों के सम्बन्ध में पहली बात ध्यान देने की यह है कि इनकी रचना बिल्कुल भारतीय चरित काव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है जिनमें कथा सर्गों या अध्यायों में विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होती, बराबर चली चलती है, केवल स्थान-स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षक के रूप में दिया रहता है।"[१] डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है कि पदमावत की मूल प्रति में खण्ड विभाजन नहीं था। उनका कहना है कि परवर्ती लेखकों ने प्रतलिपियों में खण्ड विभाजन की व्यवस्था की है। और संभवतः उन्हीं प्रतियों का अनुकरण करके हिन्दी के परवर्ती सूफी कवियों ने खण्डबद्ध शैली में अपने काव्यों की रचना की है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पदमावत की रचना न तो फारसी, मसनवियों की खंडबद्ध शैली में हुई है न अपभ्रंश के अधिकतर चरित काव्यों की सर्गबद्ध शैली में। अपभ्रंश में हरिभद्र का 'णेमिणाह चरिउ' सर्ग बद्ध काव्य नहीं है। प्राकृत में वाक्पति राज का 'गउड़बहो' भी सर्ग बद्ध नहीं है, पर उसमें एक विषय से संबन्धित छंद एक साथ रखे गए हैं। आठवीं शताब्दी में उद्योतन सूरि ने 'कुवलयमाला' नाम का वृहत् कथा ग्रन्थ लिखा था जो सर्गों या उच्छ्वासों में विभक्त नहीं है, उसी तरह प्राकृत में 'तरंग लोला' और 'लीलावइ' नामक कथा-ग्रन्थ सर्गबद्ध नहीं हैं। इन प्रमाणों के आधार पर श्री नेमिनाथ उपाध्ये ने लिखा है कि "यह असंभव नहीं है कि कभी प्राकृत और अपभ्रंश की कथा के रूप में ऐसे काव्य-ग्रन्थ भी लिखे जाते हों जो सर्गबद्ध या संधिबद्ध नहीं होते थे और बाद में सर्गों या संधियों का जो व्यवहार होने लगा, वह संस्कृत के काव्यों के अनुकरण का फल है।[२] "पदमावत की रचना भी प्राकृत अपभ्रंश के उपर्युक्त कथा काव्यों की सर्गहीन पद्धति पर हुई है, फारसी की मसनवी पद्धति पर नहीं।"[३] "फारसी कवियों के जामी, निजामी

१–पं० रामचन्द्र शुक्ल : जा० ग्रं०, भूमिका, पृ० ४।

२—जा० ए० एन० उपाध्ये : कौतूहल कृत लीलावइ कहा अंग्रेजी भूमिका, पृ ४४ (बंबई १९४९)

३—डा० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी के महाकाव्यों का स्वरूप विकास: पृ० ४१७-१८।

फैजी प्रभृत्ति मसनवीकारों ने प्रसंगो के अनुकूल सर्वत्र सुर्खियाँ दी हैं । चन्दायन की अब तक प्राप्त सभी प्रतियों में सुर्खियाँ मिलती हैं। अतः स्पष्ट है कि भारतीय पद्धति पर सभी प्रेमाख्यानों में खंडों में विभाजन नहीं हुआ है । हिन्दी के सूफी कवियों ने इस संबन्ध में फारसी मसनवियों का अनुकरण किया है ।

पदमावत के खंड विभाजन को डा० माताप्रसाद गुप्त ने परवर्ती प्रतियों का प्रक्षेप माना है । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने उसे कविकृत 'मानते–न-मानते हुये 'पदमावत में स्थान दिया है । जिन प्रतियों के आधार पर डा० माताप्रसाद गुप्त ने संपादन किया है, उससे अधिक प्राचीन प्रतियों में खण्ड-विभाजन मिलता है । मुल्ला दाऊद कृत 'चन्दायन' की प्रति में भी खण्ड विभाजन के रूप में प्राय: कड़बकों के शीर्षक दिए हुए हैं । अतः यह एक प्रश्न है कि जायसी ने खंडों की व्यवस्था की थी या नहीं । जायसी कृत पदमावत की प्राप्त प्रतियों का पुन: सर्वेक्षण और वैज्ञानिक संपादन करके ही निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता है । चन्दायन की अबतक प्राप्त सभी प्रतियों में शीर्षक या 'खण्ड विभाजन' उपलब्ध है । अन्य सूफी प्रेमाख्यानों की हस्तलिखित प्रतियों में भी खण्ड विभाजन मिलता है । ऐसा लगता है कि पदमावत में खंड विभाजन स्वयं जायसी द्वारा ही किया गया है । इसे कविकृत न मानने का कोई कारण नहीं है ।

पूर्वांकित पंक्तियों में मसनवी के स्वरूप निरूपण के सिलसिले में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'मसनवी' का खंडों में विभाजन होता है । यह भी लिखा गया है कि ऐसा नहीं भी होता । अत: पदमावतकार ने खण्डों या सर्गों में विभाजन किया हो या न किया हो, पर उसमें मसनवी-पद्धति के प्राय: सभी लक्षण मिल जाते हैं । हाँ, हम डा० शम्भूनाथ सिंह के शब्दों को बदल कर कह सकते हैं कि "पद-मावत की रचना मसनवी पद्धति पर हुई । इसमें प्राकृत–अपभ्रंश की सर्गहीन कथा काव्यों की पद्धति के भी दर्शन होते हैं ।"

डा० शम्भूनाथ सिंह ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि सूफी काव्यों को पूर्णतया अपभ्रंश के तथा भारतीय लोककथाओं की ही परंपरा में मानना उचित है । यहाँ उनके तर्कों का उल्लेख कर देना समीचीन है —"शुक्ल जी ने प्रेमाख्यानक काव्यों की शैली के बारे में यह भी कहा है कि मसनवी के लिए साहित्यिक नियम तो केवल इतना ही समझा जाता है कि सारा काव्य एक ही मसनवी छन्द में हो, परम्परा के अनुसार उसमें कथारंभ के पहले ईश्वर स्तुति, पैगम्बर की बन्दना और उस समय के राजा (शाहेवक्त) की प्रशंसा होनी चाहिए । ये बातें पदमावत, इन्द्रावती, मृगावती इत्यादि सबमें पाई जाती हैं ।"[1] भारतीय

१–पं० रामचन्द्र शुक्ल : जा० ग्रं० की भूमिका, पृ० ४ (डा० शम्भूनाथसिंह, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप–विकास, पृ० १४७ से उद्धृत ।

चरित काव्यों की अनेक प्रबन्ध रूढ़ियां फारसी की रोमांचक मसनवियों में भी मिलती हैं। जिस तरह हिन्दू और जैन कवि चरित काव्यों में अपने धर्म और विश्वासों के अनुसार प्रस्तावना के रूप में ईश्वर, देवता, अवतार, तीर्थंकर आदि की स्तुति तथा अपने आश्रयदाता की प्रशंसा करते थे और काव्य-रचना का कारण बताते हुए वस्तुनिर्देश लिखते थे, उसी तरह हिन्दी के मुसलमान प्रेमाख्यानक कवियों ने भी ईश्वर और अवतार की जगह अपने मजहब के अनुसार अल्लाह और पैगम्बर की स्तुति की है। अत: उन्होंने फारसी के रोमांचक मसनवियों की प्रबन्ध-रूढ़ियों का अनुकरण किया है या भारतीय चरित काव्यों की प्रबन्धरूढ़ियों का यह प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है। ये मुसलमान सूफी कवि फारसी काव्यों की विचारधारा और रूढ़ियों से अवश्य परिचित रहे होंगे, अत: हो सकता है कि ये प्रबन्ध रूढ़ियाँ, उन्हें फारसी-साहित्य से ही प्राप्त हुई हों, पर वे भारतीय चरित काव्यों की भी प्रबन्ध-रूढ़ियाँ हैं जो फारसी मसनवियों में भी पाई जाती हैं। इस तरह हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों को अपभ्रंश के चरितकाव्यों तथा भारतीय लोक कथाओं की परम्परा में मानना उचित है। इस सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बिल्कुल उचित कहा है कि "जन साधारण का एक और विभाग जिसमें धर्म का स्थान नहीं था, जो अपभ्रंश-साहित्य के पश्चिमी आकार से सीधे चला आ रहा था, जो गावों की बैठकों में कथानक रूप से और गान रूप से चल रहा था, उपेक्षित होने लगा था। इन सूफी साधकों ने पौराणिक आख्यानों के बदले इन लोक प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ही अपनी बात जनता तक पहुँचाई।"[1] फारसी की सूफी काव्यधारा का भी उन पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है, पर इसे फारसी की रोमांचक मसनवियों की काव्यशैली का एकदम अनुकरण नहीं कहा जा सकता। इस संबन्ध में श्री रामपूजन तिवारी का यह मत सर्वथा सही है कि 'हिन्दी सूफी काव्य इस परम्परा से प्रभावित तो अवश्य है लेकिन उसमें इसकी हूबहू नकल नहीं की गई है। भारतीय वातावरण में सूफी मत का विकास अरब और फारस जैसा न होकर भिन्न रूप में हुआ। भारतीय चिन्ता धारा से वह बहुत प्रभावित हुआ। हिन्दी का सूफी काव्य जितना भारतीय विचारधारा से प्रभावित मालूम होता है उतना फारसी या अरबी परम्परा से नहीं।" पदमावत अन्य सूफी प्रेमाख्यानकों की अपेक्षा और भी स्पष्टरूप से भारतीय चरित काव्यों, लिखित

१—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, च० सं०, पृ० ७५।
डा० शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ० ४५।
२—पं० रामपूजन तिवारी : सूफी काव्य परम्परा (निबन्ध) अवन्तिका, अक्टूबर, १९५४, पृ० ४५।

कथाओं तथा मौलिक लोककथाओं की शैली के निकट हैं।"[1] उपर्युक्त मसनवी पद्धति के विवेचन के साक्ष्य पर यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि पदमावत की रचना में मसनवी-पद्धति के प्रायः सभी लक्षण मिल जाते हैं। यह भी स्पष्ट है कि जायसी फारसी के महान् पंडित भी थे। अतः उनके पदमावत में मसनवी काव्यों की शैली पूर्णरूप में मिलती है, यह अवश्य है कि उसमें भारतीय अपभ्रंश प्राकृत के चरित काव्यों और संस्कृत के प्रबन्ध काव्यों (महाकाव्यों) का भी सुन्दर रूप मिलता है। इसीलिए तो विद्वानों ने कहा है कि "वस्तुतः पदमावत में भारतीय प्रबन्ध काव्य शैली और मसनवी काव्य-शैली का सुन्दर सामंजस्य किया गया है।"[2] प्रारम्भ में ईश्वर स्तुति, पैगम्बर-प्रशस्ति, उनके चार यारों का गुणगान, शाहेवक्त शेरशाह का उल्लेख अपने कविकर्म का उल्लेख, विशाल वर्णन प्रधान काव्य, वर्णनों का वैविध्य एवं उनके सांगोपांग निरूपण, सात (चौपाई की) बन्दों के अनन्तर (दोहे का) एक बैत, आदि से अन्त तक चौपाई-दोहा छंदों का ही प्रयोग, उनमें भी सर्वत्र तुकान्तता के प्रयोग आदि ने मिलकर पदमावत को मसनवी शैली का एक सुन्दर प्रबन्ध काव्य बना दिया है। मसनवी पद्धति पर ही उसमें वर्णन-वैचित्र्य-वैविध्य और कथावस्तु का कुतूहल ही प्रमुख मानना चाहिए।[3] यहाँ पर यह कह देना संगत है कि मूलतः हिन्दी के अनेक सूफी काव्य अवधी मसनवियाँ हैं जिनमें भारतीय प्रबंध-काव्यों की शैली का भी सुन्दर रूप में समन्वय हुआ है। 'पदमावत का काव्य-सौंदर्य' नामक ग्रन्थ में हिन्दी तथा फारसी के प्रेमाख्यानक मसनवी काव्यों के साम्यासाम्य का निरूपण करते हुए इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि यद्यपि पदमावत, इन्द्रावती आदि काव्य फारसी की मसनवी-पद्धति पर लिखे गए हैं, तथापि उनमें भारतीय प्रबन्ध काव्यों अथवा अपभ्रंश के चरित काव्यों की शैली का भी चरम परिपाक मिलता है।

निष्कर्ष

संक्षेप में उपर्युक्त समस्त विवेचन का यह निष्कर्ष है कि हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानकों की सर्जना में प्रायः "फारसी मसनवी पद्धति को गृहीत किया गया है, पर उनका अन्धानुकरण नहीं किया गया गया है। हिन्दी के सूफी प्रेमगाथाकारों ने अपने कथानकों के लिए या तो लोकगाथाओं को विशेष महत्व दिया है अथवा पौराणिक या ऐतिहासिक कहानियों को ही चुना है और जहाँ कहीं उन्होंने कोरी

१-डा० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ४१८-४२०।
२-डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ०२८९, ४४८।
३-डा० रामकुमार वर्मा का एक पत्र १३।१२।१९५४ ई०।

कल्पना से काम लिया है अथवा मुस्लिम धर्मकथाओं का आश्रय ग्रहण किया है, वहां पर भी उन्होंने उस पर भरसक भारतीय रंग चढ़ाने के प्रयत्न किए हैं। मंगलाचरण जैसे प्रसंगों के विषय में वे केवल मसनवी काव्यों का ही अनुकरण नहीं करते, जैनों के चरितकाव्यों में भी इसी प्रकार का विधान विद्यमान है। यहाँ पर हमें पैगम्बरों और नबियों की स्तुति की जगह तीर्थंकरों की वन्दना मिलती है। 'शाहे-वक्त' की प्रशंसा की जगह आश्रयदाता के लिए कहे गए देव-भक्ति-सूचक शब्द दीख पड़ते हैं तथा प्रायः एक ही प्रकार से बतलाए गए आत्मपरिचय भी उपलब्ध होते हैं जिनमें अपनी विनम्रता सूचित की गई रहती है। "सूफी प्रेमाख्यानों के वर्ण्य विषय तथा उनके विकास क्रम को प्रभावित करने वाले आदर्शों की ओर ध्यान देने से पता चलता है कि उनके स्वरूप निर्माण में अनेक प्रकार के कारणों ने सहयोग प्रदान किया होगा और इसी कारण इनका महाकाव्यत्व भी बहुत भिन्न लक्षणों पर आश्रित हो सकता है। सूफी प्रेमाख्यान एक ऐसी रचना है जिसमें किसी प्रबंध काव्य के सभी तत्व वर्तमान हैं, किन्तु जिसमें इनके साथ ही कथा आख्यायिका, जैन चरित-काव्य, धर्म-कथा महाकाव्य एवं मसनवी की भी विशेषताओं का समन्वय हो गया है और यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। सभी उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानों का आकार प्रकार ठीक एक समान नहीं कहला सकता और न ऐसा एक भेद उसके रचना-कलानुसार भी ठहराया जा सकता है। परन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि उनमें कुछ ऐसी विलक्षणता है जो उन्हें असूफी प्रेमाख्यानों से भी पृथक् कर देती है।"[१] निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि शैली की दृष्टि से पदमावत में फारसी मसनवी और भारतीय प्रबन्ध काव्य की पद्धतियों के सुन्दर सामंजस्य के कारण अद्भुत सौंदर्य आ गया है।

१—पं० परशुराम चतुर्वेदी, सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य (हिन्दी साहित्य) पृ० २७४।

९

जायसी का रहस्यवाद

रहस्यवाद

'रहस्य' शब्द जिस संज्ञा से व्युत्पन्न है उसके पाँच अर्थ होते हैं–(१) एकांत गुप्तता, (२) छिपने का स्थान, (३) कोई अज्ञात बात, (४) स्त्री-पुरुष–संभोग, (५) कानून से संमत कोइ अनुबंध। 'शाकुन्तल' में—'रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचर:' या 'रामचरित' में रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते' इसी गोपन आचरण या गुप्त बात के अर्थ में आया है। साहित्य से भिन्न अर्थ में आकर 'रहस्य' शब्द कुछ उपदेशात्मक अर्थ देने लगता है, जैसे 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में अन-भिख्यात दोषस्तु रहस्यं व्रतमाचरेत या 'भगवद्गीता' में 'भक्तोऽसि में सखा चेति रहस्यं हुयेतदुत्तमम्।' अंगरेजी का शब्द मिस्टिक या 'मिस्टिसिज्म' यूनानी धातु 'मुस्टीस' से बना है जिसका अर्थ है जीवन और मृत्यु की सचाइयों का गुप्त ज्ञान जानने वाला व्यक्ति।[1]

मूलत: 'रहस्यवाद' शब्द संस्कृत के रहस्य और वाद से बना है, किन्तु आधुनिक हिन्दी में यह शब्द अपने वर्तमान अर्थ में संस्कृत से गृहीत न होकर आंग्ल-भाषा के 'मिस्टिसिज्म' के अर्थ में उसी के तौल पर प्रयुक्त होने लगा है।[2]

सभ्यता के ऐतिहासिक विकास के साथ-साथ रहस्यवाद की व्याख्या भी बदलती गई है जो हमारे लिये वैदिक काल में रहस्यमय था, वह आज भी शाश्वत सनातन भाव से रहस्यमय है। ऐसा मानना मनुष्य की बुद्धि के सारे वैभव और कृतित्व का अपमान करना है। 'चाहे आसुरी बाबुली मिस्त्री, चीनी भारतीय, ईसाई, इस्लामी कोई भी रहस्यवाद हो, उसके मूल में दो-तीन बातें एक-सी मिलती हैं और वे कविता में रहस्यवाद के अध्ययन में बहुत उपयोगी हैं, एक तो काल के बन्धन से

१–प्रभाकर माचवे 'रहस्यवाद' आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० १
२–पदमावत का काव्य सौंदर्य, रहस्यवाद।

परे कोई वास्तविकता है, यानी वह जन्म-मृत्यु के बन्धनों से परे, अजन्मा-अमर है। मनुष्य उसे पाना चाहता है। उस अज्ञात अखण्डता के प्रति उसके मन में एक निरंतर अन्वेषण-भावना काम करती रहती है, और पाप या बुराई कुछ नहीं है, केवल भास मात्र है। वह है, तो इसीलिए कि विश्व को खंडश: स्वयं-शासित मानने से अपूर्णता पैदा होती है। इस दृष्टि से रहस्यवाद की जो दो-चार परिभाषाएँ हमारे काम की मिलती हैं वे इस प्रकार की हैं :

(१) परमोच्च के साथ प्रत्यक्ष मिलन के परम पवित्र आनन्द को उपलब्ध करने का मानवीय मन का प्रयत्न रहस्यवाद है· (प्रिंगल पैटिसन : दि आइडिया आफ गाड)।

(२) प्रेम-मार्ग से परमात्मा की प्राप्ति का और उसके लिये आवश्यक सफल सेवा के आदर्श से प्रेरित किसी व्यक्ति के आत्म-निरपेक्ष आग्रह को रहस्यवाद कहते हैं (टी० एच० ह्यू: दि फिलासाफिकल बेसिस आफ मिस्टिसिज्म पृ० ६०)।

(३) रहस्यवाद आत्म का नैरात्म से ऐसा सम्बन्ध है जिसमें अपने वैयक्तिक हेतुओं से परे वह वृहत्तर आदर्शों की प्राप्ति के लिये सामरस्य से या प्रेम से प्रयत्न करे। इस प्रकार रहस्यवाद विश्व की अखण्डता के साथ भाव-सम्बन्धों का आनन्दमय संश्लेषण है (हैवलाक एलिस)।

(४) रहस्यवाद एक प्रकार की दिव्य अनुभूति है, सिद्धान्त नहीं, यह तो एक प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण है, कोई दर्शन पद्धति नहीं (स्पर्जियन)।

आज का व्याख्याकार रहस्यवाद को आंतरिक सामंजस्य स्थापित करने की एक कला मानता है, जिसके द्वारा मनुष्य विश्व-ब्रह्मांड को सम्पूर्ण और अखंडित समझता है।[१] एक समय था जब रहस्यवादी से तात्पर्य उस व्यक्ति से था जिसको परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान और रहस्यों का पता हो और इस बात पर जोर दिया जाता था कि वह गुरु द्वारा प्रदत्त उस ज्ञान को स्वयं तक सीमित रखे। सूफियों के यहाँ 'अरिफ उस साधक को कहते हैं जो ईश्वर के विशेष कृपापात्र हैं और भगवान् उन पर अनुग्रह करके इस रहस्य को साक्षात्कार कराता है।'[२] लेकिन ऐसे लोगों की संख्या अवश्य सीमित है जो इस रहस्य के जानने के अधिकारी हैं और जिन्हें इस मुख्य गुह्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतएव यह बिल्कुल स्पष्ट है कि साधना के क्षेत्र में रहस्यवाद से जो कुछ समझा जाता था ठीक वही आज नहीं समझा जाता है, वैसे प्राचीन काल का साधना क्षेत्र वाला रहस्यवाद तथा आधुनिक काल का रहस्यवाद—दोनों एक ही भावना—परमात्मा और आत्मा के अन्तरंग और गहरे

१—राधाकमल मुकर्जी : थ्योरी ऐण्ड आर्ट आफ मिस्टीसिज्म, भूमिका, पृ०९, १९३७
२—श्री रामपूजन तिवारी, सूफी मत–साधना और साहित्य, पृ० ५।

सम्बन्ध पर आधारित हैं ।[१]

हिन्दी के विद्वानों ने भी रहस्यवाद की परिभाषाएँ दी हैं । पं० रामचन्द्र शुक्ल[२] ने लिखा है कि जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बना कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है वहाँ रहस्य-वाद होता है ।)डा० श्यामसुन्दरदास का कथन है कि 'चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र में जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पाकर रहस्यवाद का रूप पकड़ता है, डा० रामकुमार वर्मा[४] का मत है कि रहस्यवाद जीवात्मा की अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता । जीवात्मा की सारी शक्तियाँ इसी भक्ति के वैभव और प्रभाव से ओतप्रोत हो जाती हैं । प्रसाद जी[५] के मत से 'अप-रोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से समन्वय कर देना रहस्यवाद है । व्यष्टि दृष्टि को उन्होंने छायावादी कहा है और समष्टि दृष्टि को रहस्यवादी कहा है । महादेवी वर्मा ने अपनी सीमा को असीम तत्व में खो देने को रहस्यवाद कहा है । प्राय: सभी विद्वानों ने दृश्य जगत में व्याप्त उस अज्ञात एवं अगोचर-असीम सत्ता से रागात्मक सम्बन्ध-स्थापन की भावना को रहस्यवादी भावना कहा है । रहस्यवाद के अन्तर्गत कवि उस अज्ञात एवं विराट् सत्ता के प्रति अपने ऐसे भावोद्‌गार व्यक्त करता है जिसमें सुख, दु:ख, आनन्द-विषाद, हास-परिहास, संयोग–वियोग आदि घुले मिले रहते हैं । वह अपनी ससीमता को अव्यक्त शक्ति की असीमता में लीन करके एक व्यापक आनन्द का अनुभव किया करता है ।

'साधना या भावना के रूप में रहस्यवाद आध्यात्मिक अनुभूति की वह अवस्था है जिसमें प्रेमी प्रियतम के, भक्त ईश्वर के या साधक साध्य के अपरोक्ष साक्षात्कार का चरम प्रयत्न करता है । इसके अन्तर्गत एक सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि और परिपक्व आत्मानुभूति के द्वारा निखिल संसृति में परिव्याप्त एक ही दिव्य सत्ता को देखने की चेष्टा की जाती है । रहस्यवाद का क्षेत्र अंतिम सत्य और अनन्त की खोज या व्यक्तिगत अनुभूति (पर्सनल रियलाइजेशन) और फिर उस सत्य को जीवन में अनुभव करने तक ही सीमित है । आत्मा, परमात्मा, जीवन और जगत

१–श्री रामपूजन तिवारी, सूफी मत–साधना और साहित्य, पृ० ५ ।
२—पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६८ ।
३—डा० श्यामसुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली- भूमिका, पृ० ५६ ।
४–डा० रामकुमार वर्मा, कबीर का रहस्यवाद, पृ० ७, १९४४
५—जयशंकरप्रसाद, काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ६९ ।

के सम्बन्ध में गम्भीर मनन, चिन्तन और विचार करना दर्शन का विषय है। रहस्य-वाद जीवन में अनेक प्रकार के विशद् अनाविल और असीम के प्रति महत् रागात्मक अनुभवों-अनुभूतियों का फल है।'

पं० रामचन्द्रशुक्ल[1] ने विद्वतापूर्ण विचारों और प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट कर दिया है कि किस प्रकार आर्य जाति के तत्व चिन्तकों द्वारा प्रतिपादित अद्वैत-वादी सिद्धान्त को सामी पैगम्बरी मतों में रहस्य भावना के भीतर स्थान मिला। यहूदी, ईसाई और इसलाम मतों के बीच तत्वचिन्तन की पद्धति या ज्ञान का स्थान न होने के कारण अद्वैतवाद का ग्रहण रहस्यवाद के रूप में ही हो सकता था। भारत-वर्ष में तो यह ज्ञान-क्षेत्र से निकला और अधिकतर ज्ञान-क्षेत्र में ही रहा, पर अरब-फारस आदि में जाकर वह भाव-क्षेत्र के बीच मनोहर रहस्य भावना के रूप में फैला। रहस्योन्मुख सूफियों और पुराने कैथोलिक ईसाई भक्तों की साधना समान रूप से माधुर्य भाव की ओर प्रवृत्त रही। जिस प्रकार सूफी ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप में करते थे, उसी प्रकार स्पेन, इटली आदि योरोपीय प्रदेशों के भक्त भी। जिस प्रकार सूफी 'हाल' की दशा में उस माशूक से भीतर ही भीतर मिला करते थे, उसी प्रकार पुराने ईसाई भक्त साधक भी दुलहिनें बनकर उस दूल्हे से मिलने के लिए अपने अन्तर्देश में कई खण्डों के रंगमहल तैयार किया करते थे। ईश्वर की पति-रूप में उपासना करने वाली सेफो टेरेसा आदि कई भक्तिनें भी योरप में हुई हैं।

अद्वैतवाद : अद्वैत भावना पर आश्रित रहस्यवाद

अद्वैतवाद मूलतः एक दार्शनिक सिद्धान्त है। इसके दो पक्ष हैं—(१) आत्मा और परमात्मा की एकता और (२) ब्रह्म और जगत की एकता। इन दोनों का सम्मिलित रूप सर्ववाद है—जिसके लिए 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' कहा गया है। गीता के दसवें अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियों का जो सर्ववाद की भावात्मक प्रणाली पर निरूपण किया है, वह अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। जायसी, उसमान आदि सूफी कवियों ने प्रकृति की समस्त बिभूतियों में परम प्रिय की प्रातिभासिक सत्ता का अनुभव किया है। रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—भावात्मक और साधनात्मक। हमारे यहाँ योगमार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है। तन्त्र और रसायन भी रहस्यवाद हैं। अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलने वाली भावना से सूक्ष्म और उच्चकोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है।[2]

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० १५९-६०।

२—वही, पृ० १६०।

'अद्वैतवाद का प्रतिपादन सबसे पहले उपनिषदों में मिलता है ।[1] उपनिषदों में केवल रहस्य की टोह की भावना ही नहीं, उसे व्यक्त करने में रहस्यवादी कविता शैली भी अपनाई गई है । उपनिषद, शैवमत वेदान्त बौद्धों का शून्यवाद, तांत्रिकों का समाज-द्रोह आदि के प्रभाव भी आरम्भिक रहस्यवाद के मूल में हैं ।[2] शुक्ल जी का मत है कि 'अवतारवाद का मूल भी रहस्य-भावना है ।[3]' "पति या प्रियतम के रूप में भगवान् की भावना को वैष्णव भक्तिमार्ग में 'माधुर्य भाव' कहते हैं । इस भावना की उपासना में रहस्य का समावेश अनिवार्य और स्वाभाविक है । (भारतीय भक्ति का स्वरूप रहस्यात्मक न होने के कारण इस माधुर्य भाव का अधिक प्रचार नहीं हुआ । आगे चलकर मुसलमानी जमाने में सूफियों की देखा देखी इस भाव की ओर कृष्ण भक्ति शाखा के कुछ भक्त प्रवृत्त हुए । इनमें मुख्य मीराबाई हुईं जो 'लोक लाज खोकर' अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रेम में मतावली रहा करती थीं । उन्होंने एकबार कहा था कि 'कृष्ण को छोड़कर और पुरुष है कौन ? सारे जीव स्त्री रूप हैं ।' सूफियों का असर कुछ और कृष्ण भक्तों पर भी पूरा-पूरा पाया जाता है । चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ साफ झलकती हैं । जैसे सूफी कव्वाल गाते-गाते 'हाल' की दशा में हो जाते हैं वैसे ही महाप्रभु की मण्डली भी नाचते-नाचते मूच्छित हो जाती थी । यह मूर्च्छा रहस्वादी सूफियों की रूढ़ि है ।"[4]

शुक्ल जी ने ठीक ही लक्षित किया था कि मीराबाई के 'लोक-लाज खोने' और 'श्रीकृष्ण के प्रेम में मतवाली रहने' के मूल में सूफियों का भी प्रभाव है । भारतीय सूफी-संतों-कवियों की परम्परा तो पुरानी है ही साथ ही हिन्दी प्रेमगाथावाली परम्परा भी बड़ी पुरानी है । जायसी के लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व मौलाना दाऊद, दलमई (चन्दायन १३७९) ने सूफी प्रेम-परम्परा का एक महत्व-पूर्ण काव्य लिखा है । इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर रहस्यवाद के संकेतों की सुन्दर योजना हुई है ।

"मीराबाई पर तो सूफी प्रभाव है ही, साथ ही 'कबीर, दादू आदि संतों के पदों में प्रेमतत्व बिल्कुल सूफियों का है । इनमें से दादू, दरिया साहब तो खालिस सूफी ही जान पड़ते हैं । कबीर में माधुर्य भाव जगह-जगह पाया जाता है । वे कहते हैं :—

'हरि मोर पिय, मैं राम की बहुरिया ।'

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० १५९—६० ।
२—प्रभाकर माचवे, हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियां, (रहस्यवाद), पृ० ५ ।
३—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० १६१ ।
४—वही, पृष्ठ १६२ ।

'राम की बहुरिया' कभी तो प्रिय से मिलने की उत्कण्ठा और मार्ग की कठिनता प्रकट करती है, जैसे :—

> 'मिलना कठिन है, कैसे मिलौंगी पिय जाय ?'
> समुझि सोचि पग धरौं, जतन से बार-बार डगि जाय।
> ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय।

और कभी विरह दुःख निवेदन करती है।[1]" और इन समस्त स्थलों पर उनमें सूफी प्रभाव द्रष्टव्य है। सचमुच 'कबीरदास में जो रहस्यवाद पाया जाता है वह अधिकतर सूफियों के प्रभाव के कारण।[2]'

जायसी के समक्ष सूफी रहस्य-प्रवृत्ति के अतिरिक्त ठहयोगियों बौद्ध, शून्य-वादियों, तांत्रिकों, रसायनिकों आदि की साधनात्मक रहस्य की प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान थीं। उन्होंने हठयोगियों के अन्य साधानात्मक उपादानों के साथ ही उनकी रहस्य की प्रवृत्ति और ईश्वर को मन के भीतर ही ढूढ़ने और समझने की प्रवृत्ति को भी गृहीत कर लिया है। कहा जा सकता है कि पदमावत का रहस्यवाद मूलतः अद्वैत-भावना पर आश्रित रहस्यवाद है।

रहस्यवादी भक्त परमात्मा को अपने परम साध्य एवं प्रियतम के रूप में देखता है। वह उस परम सत्ता के साक्षात्कार और मिलन के लिये वैकल्य का अनुभव करता है, जैसे मेघ और सागर के जल में मूलतः कोई भेद नहीं है, फिर भी मेघ का पानी नदी-रूप में सागर से मिलने को व्याकुल रहता है। ठीक उसी प्रकार की अभेद-जन्य व्याकुलता एवं मिलनजन्य विह्वलता भक्त की भी होती हैं। जायसी की रहस्योन्मुखता भी इसी श्रेणी की है। 'कबीरदास में जो रहस्यवाद पाया जाता हैं वह अधिकतर सूफियों के प्रभाव के कारण। रहस्यमयी परोक्षसत्ता की ओर संकेत करने के लिए जिन दृश्यों को वे सामने करते हैं वे अधिकतर वेदान्त और हठयोग की बातों के खड़े किए हुए रूपक मात्र होते है। अतः कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही ऊँची कोटि की है। वे सूफियों की भक्ति-भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृंगार, उत्कण्ठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव करते हैं। दूसरे प्रकार की भावना पदमावत में अधिक मिलती है।[3]

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली (भूमिका)' पृ० १६२—६३।
२-वही, पृ० १६४। ३-पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसीग्रन्थावली, (भूमिका), पृ० १६४।

उस रहस्यमयी सत्ता का आभास देने के लिए जायसी बहुत ही रमणीय और मर्मस्पर्शी दृश्य-संकेत उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं' जैसे पदमावती के 'पारस रूप' का प्रभाव-

'जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
रबि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ॥
दामिनि दमकि न सरवरि पूजी। पुनि ओहि जोति और को दूजी।'[1]
'नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नग हीर ॥'[2]

प्रस्तुत पंक्तियों में उस परोक्ष ज्योति-पुंज की ओर अलौकिक दीप्ति के द्वारा जो संकेत किया गया है उसकी रमणीयता और प्रभाव-विशदता अनुपम है। पदमावत में लौकिक सौन्दर्य तत्वों के माध्यम से अलौकिक सुन्दरतम सत्ता की ओर इंगित करना कवि का एक महत् प्रतिपाद्य था, वह अवसर मिलने पर उस सत्ता की ओर इंगित करने से नहीं चूकता।

अन्योक्ति : समासोक्ति

पदमावत को अन्योक्तिपरक ग्रन्थ सिद्ध करने के अनेक प्रयत्न किए गए हैं। और प्राय: इसके लिए ' तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा' वाली पंक्तियाँ पेश की गई हैं और कहा भी गया है 'पदमावत के प्रणेता जायसी ने ग्रन्थ के अन्त में स्पष्ट घोषित किया है कि उसकी रचना एक कथात्मक अन्योक्ति है। कथा के अन्त में अन्योक्ति के रूप में उन्होंने यह सार्टीफिकेट जोड़ दिया है। जायसी की अन्योक्ति के तीन पक्ष हैं— पण्डितों द्वारा दिया गया अर्थ, सूफी साधनापरक अर्थ और कथा पक्ष। वास्तव में जायसी की कथा अन्योक्ति ही है। जायसी पर गीता के बुद्धि योग का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है।

इस प्रसंग में इतना कहना पर्याप्त है कि जिन पंक्तियों (तन चितउर मन राजा कीन्हा) । के आधार पर जायसी की सम्पूर्ण कथा को अन्योक्ति सिद्ध करने का प्रयास किया गया है और जायसी की 'असफलता' का विवेचन भी किया गया है– वे पंक्तियाँ जायसीकृत नहीं हैं। वे पंक्तियाँ पदमावत में प्रक्षिप्त हैं और यदि वे प्रक्षिप्त न भी हों, तो भी पदमावत में समासोक्ति-पद्धति ही सिद्ध होती है।

जायसी का प्रकृतिमूलक रहस्यवाद

प्रकृतिमूलक (नेच्युरल) रहस्यवाद में प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से सम्बन्ध स्थापित करने का चरम प्रयत्न पाया जाता है। कवि को प्रकृति

१–जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारणी सभा, काशी, पृ० ४४।
२—वही, पृ० २५, दोहा ८।

की शक्तियों में किसी अनन्त सत्ता का भान होता है। उसे ऐसा लगता है कि प्रकृति के कण-कण में एक अनन्त सत्ता अनुस्यूत है। प्रकृति के समस्त तत्व उसी अनन्त सत्ता द्वारा चालित, अनुशासित और आकर्षित हैं। दृश्य जगत्–प्रकृति उसकी सर्जना है (जाकर सबै जगत यह साजा [१]) उसने ही चाँद, सूर्य, तारे, बन, समुद्र, पर्वत इत्यादि की भी सर्जना की है–

'सरग साजि कै धरती साजी। बरन-बरन सृष्टी उपराजी।
साजे चाँद सुरुज औ तारा। साजे बन कहँ समुद पहारा[२]।।'

इस समस्त सृष्टि का परिचालन उसी के इङ्गित पर हो रहा है —

'साजइ सब जग साज चलावा। औ अस पाछें ताजन लावा।
तिन्ह ताजन डर जाइ न बोला। सरग फिरइ औ धरती डोला।।
चाँद सुरुज कहँ गहन गरासा। औ मेघन कहँ बीजु तरासा।
नाथे डोर काठ जस नाचा। खेल खेलाइ फेरि गहि खाँचा।।[३]'

यह भावना वेद, उपनिषद,[४] कुरान और सूफी[५] कवियों में समान रूप से पाई जाती है।

सूफियों की धारणा है कि सृष्टि के रोम-रोम में झलक जो दिखाई दे रही है, वह उसी (परम आलम्बन) की झाँकी है जो हमें लुभाने के लिए ही हो रही है। सितारे चमक-दमक के साथ उसी की ओर खिंच रहे हैं, चाँद उसी की ओर बढ़ा जा रहा है, सूरज भी उसी के फेर में पड़कर जल रहा है। संक्षेप में उसने चारों ओर प्रेम का बीज बिखेर दिया है। उसने उगकर सबको आलम्बन से आश्रय बना लिया है और इसी से हम भी उसके वियोग में पड़ गए हैं।[६]

मानव-प्रेम की कहानी के भीतर सूफी साधना में मान्य इसी विश्वास[७] के अनुसार आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना ही जायसी का लक्ष्य प्रतीत होता है। जामी ने भी कहा था 'अल्लाह इस परम सौन्दर्य का हेतु है और वह प्रेम चाहता है प्रेम से प्रभावित होकर उसने अपने मुख का आदर्श लिया और उसमें अपना रूप अपने आप व्यक्त करने लगा। देश, काल की रचना करके उसने एक उपवन का डौल डाला,

---

१–चित्ररेखा, पृ० ६५। २–वही, पृ० ६५।

३–वही, पृ० ६६।

४–देखिए ब्रह्मणोपनिषद।१२। तस्यैव वाचः पृथिवी शरीरम् ज्योतिरूपमयमाग्नि-स्तद्यावत्येव।

५–देखिये निकल्सन कृत जलालुद्दीन रूमी की कविता और चंदायन, मुल्ला दाऊद कृत (प्रारम्भिक पंक्तियाँ।)

६–पं० चन्द्रबली पांडेय, तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ११६।

७–पं० चन्द्रबली पांडेय, तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृष्ठ ११८।

जिसका प्रत्येक पक्ष उसके कमाल को प्रत्यक्ष करता है[1]।

भावात्मक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा के लिए प्रकृति में परमात्मा की झाँकी देखना स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य है। यही कारण है कि पाश्चात्य एवं भारतीय सभी रहस्यवादी प्रकृति के पर्दे के पीछे परमात्मा के दर्शन करते रहे हैं। उपनिषदों में इस भावना का प्रतिपादन अत्यन्त भावमय एवं रहस्यात्मक शैली में किया गया है। इस स्थल पर प्रकृति के समस्त पदार्थों को उसी विराट ब्रह्म का अंग रूप कहा गया है–(तस्यैव वाच: पृथिवी शरीरं आदि[2])। पुरुष सूक्त का तो मूल प्रतिपाद्य ही समस्त प्रकृति का विराट ब्रह्म रूप में वर्णन है। जलालुद्दीन रूमी ने भी प्रकृति के कण-कण में परमात्मा की सत्ता की व्यक्तिगत अनुभूति की थी। वर्ड्सवर्थ और शैली की अनेक कविताओं में भी कहीं-कहीं प्रकृति की अन्तरात्मा की ओर रहस्यपूर्ण संकेत मिलते हैं।[3]

जायसी ने प्राय: प्रकृति के माध्यम से परोक्ष सत्ता की ओर संकेत किया है। सिंहलद्वीप की अमराई की अनिर्वचनीय सुखदाई छाया का वर्णन करते हुए कवि ने उस छाया का आध्यात्मिक संकेत भी दिया है —

घन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुत लागि अकासा
तरिवर सबै मलय गिरि लाई। भइ जग छाँह रैनि होइ आई॥
मलय-समीर सोहावन छाहाँ। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ।
ओही छाँह रैन होइ आवै। हरिहर सबै अकास देखावै॥
पथिक जो पहुँचै सहिकै घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू।
जेइ वह पाई छाँह अनूपा। फिरि नहि आइ सहै यह धूपा॥[4]

जायसी ने प्रकृति का चित्रण साधक के रूप में भी किया है। मानव की भाँति समस्त प्रकृति भी उसी परमप्रिय की साधना में निरत रहती है। मानसरोवर भी प्रियतम की साधना में संलग्न है। पदमावती विराट ब्रह्म-स्वरूप है– सरोवर भक्त या साधक है। भक्त भगवान के अनिर्वचनीय रूप-सौन्दर्य को देखकर विस्मय-विमुग्ध है—

'सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहि लेइ।
पावँ छुवै मकु पावौं, एहि मिस लहरहिं देइ॥[5]'

सम्पूर्ण सृष्टि उस प्रियतम के अमर धाम तक पहुँचने के लिए प्रगतिमान

१–दी मिस्टिसिज्म आफ इस्लाम, पृ० ८०–८१।
२–ब्रह्मणोपनिषद, ३।१२।
३–देखिए जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० १६५–६६।
४–जायसी ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ० १०–११।
५–वही, पृ० २४।

है, किन्तु वहाँ तक पहुँचने के लिए साधना की पूर्णता अत्यंत आवश्यक है, अपूर्णता की स्थिति में वहाँ पहुँच पाना अत्यन्त कठिन है—

'धाइ जो बाजा के सर साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा।
चाँद सुरुज औ नखत तराई। तेहिं डर अन्तरिख फिरहिं सबाई॥
पवन जाइ तहँ पहुँचै चाहा। मारा तैस लोटि भुइँ रहा।
अगिनि उठी उठि जरी नियाना। धुवाँ उठा उठि बीच बिलाना।
पानि उठा उठि जाइ न छूवा। बहुरा रोइ आइ भुइँ चूआ॥'

साधक सरोवर अपने प्रियतम पदमावती के चरण-स्पर्शमात्र से निर्मल एवं रूपवान हो जाता है। उसके दर्शन मात्र से ही वह आनन्दातिरेक की लहर से लहर उठता है। उसके युग-युग के कल्मष विनष्ट हो जाते हैं। उसकी युग-युग की साधना-जन्य परितप्तता शीतलता में परिणत हो जाती है—

'कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई।
भा निरमल तिन्ह पायन परसे। भावा रूप रूप के दरसे।
मलय-समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई॥'

उस परम-रूपा पदमावती के दर्शन एवं स्पर्श-जन्य प्रभाव की इन पंक्तियों में सुन्दर रहस्यमय अभिव्यक्ति हुई है। कभी-कभी जायसी गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों की व्यंजना प्रकृतिमूलक अन्योक्तियों एवं रूपकों के माध्यम से इतने सुन्दर और उत्कृष्ट ढंग से करते हैं कि बुद्धि चमत्कृत हो जाती है।

सृष्टि के समस्त महाभूत उसी परम सत्ता तक पहुँचने के लिए गतिशील हैं। सृष्टि के पूर्व में मात्र एक तत्व था। सब कुछ अद्वैत रूप था। न जाने किस निर्मोही ने जीव को प्रियतम से और धरती को स्वर्ग से अलग कर दिया, पहले धरती और स्वर्ग दोनों मिले हुए थे—एक थे। न जाने किसने जीव और ईश्वर में भेदकता की सृष्टि की—

'धरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ निनार के कीन्ह बिछोऊ॥

प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण में भी जायसी ने सुन्दर रहस्यपूर्ण संकेत किए हैं—इस प्रसंग में किलकिला समुद्र का वर्णन दिया जा सकता है—

'धरती लेइ सरग लहिं बाढ़ा। सकल समुद जानहु आ ठाढ़ा।'

सातवें सागर के वर्णन में कवि ने समुद्र के आध्यात्मिक पक्ष का उद्घाटन किया है।

'देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइनि होइ छावा।
भा अंधियार रैन-मसि छूटी। भा भिनुसार किरिन रबि फूटी॥
अस्ति-अस्ति सब साथी बोलैं। अंध जो अहै नैन बिधि खोलैं।
जो अस आव साधि तप जोगू। पूजै आस मान रस भोगू॥'[1]

१—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, पृ० ६७।

इन पंक्तियों में मानसरोवर के भीतर उस प्रियतम की विकटता से उत्पन्न विश्व-व्यापी आनन्द और हर्षातिरेक की व्यंजना की गई है। 'उस अन्तर्ज्योति का आभास मात्र पाकर मानस (सातवां मानसरोवर और हृदय) ज्योतित हो उठा। पुरइन-पात और फुल्ल शतदल के रूप में उल्लास मानसर में चारो ओर व्याप्त हो गया। इस ज्योति के साक्षात्कार मात्र से अज्ञान नैशान्धकार का विनास हो गया।' स्पष्ट है कि ब्रह्म-प्रियतम-की अवस्थिति के मूलभूत कारण स्वरूप अन्तर्जगत और बाह्य जगत में अद्भुत सामंजस्य और बिम्ब-प्रतिबिम्ब-स्थिति है। इन पंक्तियों में परोक्ष सत्ता के संकेत उसकी अपार ज्योति एवं तज्जन्य विश्वव्यापी आनन्द और प्रफुल्लता आदि की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। यह सत्ता हृदय में ही है—

'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई।'

कबीर ने भी— 'ऐसा लो नहिं तैसा लो मैं केहि बिधि कहौं अनूठा लो।
भीतर कहौं तो जगमय लाजै, बाहर कहौं तो झूठा लो—
बाहर भीतर सकल निरन्तर गुरु परतापें दीठा लो!'

कहने के बावजूद भी कहा था कि प्रियतम तो पास में ही है मूरख लोग जंगल में ढूंढ़ने जाते हैं—

'मोकों कहाँ ढूंढ़ै बंदे में तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद ना छावे कैलास में।
खोजी होय, दो तुरतै मिलिहौं, पलभर की तालास में।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये। भाग बड़े घर बैठे आए॥'

शुक्ल जी ने ठीक ही कहा हैं कि 'कबीर के चित्रों में इमैजरी की न वह अनेकरूपता है और न मधुरता। जायसी के दृश्य-संकेत अत्यन्त रमणीय और मर्मस्पर्शी हैं।'[१]

प्रकृति के बीच दिखाई देने वाली सम्पूर्ण दीप्ति उसी परोक्ष सत्ता से ही उद्भाषित है। निखिल संसृति का आलोक और सौन्दर्य उसी की ज्योति का प्रोद्-भास और छाया स्पर्श मात्र है। इस बात का आभास पदमावती के प्रति रत्नसेन के ये वाक्य दे रहे हैं—

'अनु धनि! तू निसिअर निसि माहाँ। हौं दिनिअर जेहि के तू छाहाँ।
चाँदहि कहाँ जोति औ करा। सुरुज के जोति चाँद निरमरा॥'

प्रियतम ने समूची प्रकृति और निखिल संसृति को प्रेम-बाणों से बेध रहा है—

'उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा।
गगन नखत जो जाहिं न गने। वे सब बान ओहि के हने॥

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, भूमिका, पृ० १६५।

धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी।।
रोवँ-रोवँ मानुष तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेध अस गाढ़े।
बरुनि बान अस ओपहँ, बेधे रन बन ढाँख।
सौजहि तन सब रोवाँ, पंखिहिं तन अस पाँख।।"

प्रेममूलक रहस्यवाद

हिन्दी के सूफी कवियों की रहस्य भावना के मूल में राबिया, मंसूर, रूमी आदि की ही भाँति जायसी के प्रेम की अभिव्यक्ति की लौकिकता में ही अलौकिकता भी अनुस्यूत है।

जायसी का कथन है कि प्रियतम की प्रेम-वेदना की अनुभूति अनिर्वचनीय है। इसका मर्म तो वही जानता है जिसके हृदय में प्रेम-घाव हो चुका है।

'प्रेम घाव दुख जानै कोई। जेहि लागे जानै पै सोई।।'

जायसी की देन

साधनात्मक रहस्यवाद को जायसी की एक बहुत बड़ी देन यह है कि उन्होंने इस शुष्क और योगमूलक साधनात्मक रहस्य भावना को अत्यन्त सरस और मधुर बनाया है। यह अवश्य है कि प्रसंग उपस्थित होने पर जायसी अपनी बहुज्ञता, हठयोग, रसायन आदि की सविस्तर चर्चा करते हैं और शायद इसी कारण कतिपय आलोचक इसे 'झूठा रहस्यवाद' घोषित करते हैं और जायसी के 'झूठे रहस्यवाद' में आ फंसने के कारण खिन्न भी होते हैं, परन्तु यह आलोचना ठीक नहीं है, क्योंकि जायसी के मूल रहस्यवाद से इन बातों का कोई विरोध नहीं है। अपनी विलक्षण और अपूर्व प्रतिभा के द्वारा जायसी ने इनके मूलभूत सिद्धान्तों को अत्यंत सरस और काव्यात्मक रूप में उपस्थित करने का सफल प्रयत्न किया है। वे चार प्रकार से अपनी रहस्यदर्शिता की अभिव्यक्ति में सफल हुए हैं—

(१) रूप-वर्णन के द्वारा—सूफियों ने प्रेम-तत्व के उदय का मूल कारण सौन्दर्य तत्व कहा है। रूमी[1] हब्नेनिया और जायसी ने जिस सौन्दर्य-तत्व के आध्यात्मिक पक्ष का उद्घाटन किया है वह रहस्यवाद के अन्तर्गत आता है। सूफियों ने आध्यात्मिक सौन्दर्य की व्यंजना के लिए लौकिक सौन्दर्य का आश्रय

१–रूमी, पोएट एण्ड मिस्टिक, पृ० ३०।
'लव विल नाट लेट हिज फेथफुल सर्वेन्ट्स हायर,
इम्मार्टल ब्यूटी ड्राज देम आन एण्ड आन,
फ्राम ग्लोरी इन्टू ग्लोरी, ड्राविंग नियर,
ऐट ईच रिमूव एण्ड लविंग टू बी ड्रान।'

लिया है। जायसी के लिए भी अलौकिक आध्यात्मिक सौन्दर्य की व्यंजना के लिए लौकिक सौन्दर्य का वर्णन करना और 'परदे-बुतां में नूरे खुदा' देखना अनिवार्य और आवश्यक था।

पद्मावती का रूप-वर्णन करते समय जायसी अवसर पाने पर परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करने में नहीं चूकते। जैसे तुलसीदास रामचरितमानस के पाठकों को बारम्बार राम के परब्रह्मपरमेश्वरत्व की याद दिलाते चलते हैं, ठीक वैसे ही जायसी अवसर मिलते ही परम सत्ता के रूप-सौन्दर्य के सृष्टिव्यापी प्रभाव और लोकोत्तर कल्पना की रमणीय अभिव्यक्ति द्वारा पाठकों को ज्योति-रस-प्लावित करते चलते हैं। वे 'पारस' के प्रतीक-विधान द्वारा भी उस सत्ता के साक्षात्कार की व्यंजना करते हैं—

(क) 'पारस जोति लिलाटहिं ओती।
दिष्टि जो करै होइ तेहि जोती॥[1]'

(ख) 'होलहि दरस परप भा लोना।
धरती सरग भएउ सब सोना॥'[2]

(ग) 'तीनि लोक चौदह खंड, सबै परै मोहिं सूझि॥[3]'

(घ) 'भा निरमल तिन्ह पायन परसे। पावा रूप-रूप के दरसे।
'नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर॥
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥[4]'

(ङ) उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा। वेधि रहा सगरौ संसारा।
गगन नखत जो जाहिं न गने। वे सब बान ओही के हने॥[5]

(च) जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रबि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मनिक मोती॥[6]

(छ) 'बेनी छोरि झार जौं बारा। सरग पतार होइ अँधियारा॥[7]'

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि जायसी ने लौकिक सौन्दर्य के द्वारा आध्यात्मिक सौन्दर्य की जीवंत अभिव्यक्ति की है। स्पष्ट है कि जायसी का विराट उपास्य शुद्ध सौन्दर्य स्वरूपी है। जायसी प्रेम और सौन्दर्य के विशिष्ट रहस्यवादी कवि हैं। अंगरेजी में रोजेटी, शैली, ब्राउनिंग आदि सभी इसी प्रकार के रहस्यवादी हैं। रोजेटी की रहस्याभिव्यक्ति में प्रेम के वासनात्मक स्वरूप की भी यत्र-तत्र अभिव्यक्ति मिलती है।

१—जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० २११।
२—वही, पृ० २५६। ३—वही, पृ० ३९।
४—वही, पृ० २५। ५—वही पृ०, ४३ (६।४—५)।
६—वही, पृ० ४४। ७—वही, पृ० ४१।

शैली को सौंदर्य में विश्वास था और जायसी भी उसी आदर्श सौंदर्य के उपासक थे। शैली के 'हिम टू इन्टेलेक्चुअल ब्यूटी' में इसी आदर्श सौंदर्य की अभिव्यक्ति की गई है। जायसी के सौन्दर्य-चित्रण में और ब्राउनिंग[1] के सौंदर्य चित्रण में यह समानता है कि ये दोनों कवि विश्व के समस्त पदार्थों में ईश्वर के दर्शन करते हैं। दोनों ने प्रेम को जीवन का मूलतत्व माना है।

विरह- वर्णन के प्रसंगों की उद्भावना के द्वारा भी जायसी ने रहस्यमयी सत्ता की अभिव्यक्ति की है। सूफी साधना में आध्यात्मिक विरह का अत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान है। यदि विरह नहीं है तो तप, जप, धर्म, नेम आदि सब व्यर्थ हैं—

जब लगि बिरह न होइ तन हिये न उपजइ पेम।
तब लगि हाथ न आव तप, करम, धरम सतनेम ॥[2]

समस्त सृष्टि प्रियतम के विरह में जल रही है–

बिरह कै आगि सूर जरि काँपा। राति देवस जारहि उहि तापा ॥
औ सब नखत तराईं जरईं। टूटे लूक धरति महँ परईं ॥
जरै सो धरती ठावहिं ठाऊँ ॥

आस्तिकता, जागरण की स्थिति, आंशिक अनुभूति की स्थिति, विरहावस्था, विघ्नावस्था, मिलन के पूर्व की स्थिति और साक्षात्कार या तादात्म्य की स्थिति के जायसी ने अत्यन्त मनोरम चित्र प्रस्तुत किए हैं। अनेक रूपकों, प्रतीकों और अन्योक्तियों ने इन चित्रों में प्रभविष्णुता और तीव्र प्रभावाभिव्यंजना शक्ति के आकर्षण भर दिए हैं। कबीर ने भी ब्रह्म के साक्षात्कार की स्थिति का चित्रण किया है—–

'हरि संगत सीतल भया मिटी मोह की ताप।
निस वासर सुख-निधि लहा अन्तर प्रगटा आप।[3]

जायसी ने परम ब्रह्म-रूपा पद्मावती और साधक-सरोवर के तादात्म्य या साक्षात्कार का एक अत्यन्त मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है–

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई ॥
मलय-समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई ॥
न जनौं कौन पौन लेइ आवा। पुन्य दसा भै पाप गवावा ॥
बिगसा कुमुद देखि ससि रेखा। भै तहँ ओप जहाँ जोइ देखा ॥
पाया रूप रूप जस चहा। ससि मुख जनु दरपन होइ रहा ॥

१–मिस्टीसिज्म इन इंगलिश लिटरेचर, पृ० ४१।
२–चित्ररेखा, (सं० शिवसहाय पाठक), पृ० ७०।
३—कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर ।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर ॥[1]

साधक और साध्य के प्रस्तुत रहस्यात्मक चित्र में समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति एवं गौड़ी लक्षणा-जन्य रमणीय तत्वों ने सम्मिलित रूप में अद्‌भुत सौंदर्य की सृष्टि की हैं ।

कबीर और जायसी के उपर्युक्त चित्रणों को देखने से दोनो के काव्यत्व का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है ।

जीव प्रियतम को भेंटने के लिये वैकल्य का अनुभव करता है—

'परबत समुद अगम बिच, बीहड़ घन बन ढाँख ।
किमि के भेटौं कन्त तुम्ह, नामोहि पाँव न पांख ।'[2]

यहाँ पर नागमती-विरह का प्रस्तुत अर्थ है साथ ही प्रियतम से मिलने के लिए जीव या साधक का परम वैकल्य भी अभिव्यंजित है ।

अस पर जरा विरह कर गठा । मेघ साम भए धुम जो उठा ।
दाधा राहु केतु गा दाधा । सूरज जरा, चाँद जरि आधा ॥
औ सब नखत तराई जरहीं । टूटहि लूक धरति महँ परहीं ॥
जरै सो धरतीं ठावहि ठाऊँ । दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ ॥[3]

अवसरोचित सूक्तियों के द्वारा भी जायसी ने रहस्यात्मक अभिव्यक्ति की है, जैसे—

'बसै मीन जल धरतीं, अंबा बसै अकास ।
जो पिरीत पै दुवौ महँ, अंत होहि एक पास ॥'

मछली—आम के बहाने कवि ने साधक और साध्य के प्रेम और तज्जन्य नैकट्य—मिलन की ओर इंगित किया है ।

सादृश्यमूलक अलँकारों के माध्यम से भी जायसी ने रहस्यात्मक अभिव्यंजना की है । जैसे—

'सोन रूप जासौं दुख खोलौं । गएउ भरोस तहाँ का बोलौं ।
जहँ लोना बिरवा के जोती । कहि कै संदेस आन को पाती ॥
जो एहि घरी मिलावे मोहीं । सीस देउँ बलिहारी ओहीं ॥'

प्रस्तुत पंक्तियों में रत्नसेन-पद्‌मावती के प्रथम समागम के अवसर पर राजा के रसायनी प्रलाप में धातुओं के नामों के उल्लेख हुए हैं । यहाँ पर श्लेष अलंकार के

१—जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, पृ० २५ ।
२—जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, पृ० २५ ।
३—वही, पृ० १६३ ।

माध्यम से रहस्य भावना को अभिव्यक्ति मिली है।

'कहाँ सो खोएहु बिरवा लोना। जेहि ते अधिक रूप औ सोना।
का हरतार पार नहिं पावा। गंधक काहे कुरकुटा खावा॥'

'सर्वदर्शन संग्रह'[१] में बताया गया है कि 'पारद' (पारा) संसार-सागर को पार कर देता है—पारद और अभ्रक हर और गौरी के शरीर के रस हैं। इनके मिलने से जरा-मरण को जीतने वाले रस की निष्पत्ति होती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि जायसी ने अद्वैती साधनात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए हठयोगियों में प्रचलित पद्धति को स्वीकार किया है। भावात्मक रहस्यवाद की तो उनके पदमावत में अत्यन्त सुन्दर अभि-व्यक्ति हुई है। सब मिलाकर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सचमुच हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है, तो जायसी में जिनकी भावुकता बहुत ही ऊँची कोटि की है।

प्रतीक–योजना

सूफी साधना और साहित्य में प्रतीकों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। "सूफियों के रक्षक उनके प्रतीक ही रहे हैं। यों तो किसी भी भक्ति-भावना में प्रतीकों की प्रतिष्ठा होती है, पर वास्तव में तसव्वुफ में उनका पूरा प्रसार है। प्रतीक ही सूफी साहित्य के राजा हैं– – सूफी प्रेम को सब प्रतीकों में श्रेष्ठ बताते हैं।"[२] सूफी साहित्य प्रतीकों से भरा पड़ा है। उनका सारा वैभव प्रतीकों पर अव-लम्बित है।[३] फारिज़[४] का कहना है कि प्रतीकों के प्रयोग से दो लाभ प्रत्यक्ष होते हैं–एक तो प्रतीकों की ओट लेने से धर्म-बाधा टल जाती है, दूसरे उनके उपयोग से उन बातों की अभिव्यंजना भी खूब हो जाती है जिनके निदर्शन में वाणी असमर्थ किंवा मूक होती है। इनके अतिरिक्त प्रतीक-पद्धति एक तीसरे प्रकार से भी उपयोगी होती है। इनसे साहित्य में विचित्र सौंदर्य आ जाता है। प्रतीकों के सहारे प्राय: ध्वनित अर्थ की भी व्यंजना होती है।

(१) मुठ्ठी भर धूल—सूफियों की मान्यता है कि मानव सान्त और अनंत

१—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नाथ-संप्रदाय, पृ० १७३
२—पं० चन्द्रबली पांडेय, तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ९७
३—वही, पृ० ९९
४—स्टडीज़ इन ऐस्लामिक मिस्टीसिज्म, पृ० २३२
(तसव्वुफ अथवा सूफीमत से उद्धृत)।

का मिश्रित रूप है। उसमें मर्त्य और अमृत दोनों तत्वों का समावेश है।[१] मानव में दैवी और मानव दोनों अंशों का निवास है। प्रेम से पवित्र होकर ही वह अपने स्थूल सीमाभाव से मुक्ति पाता है। प्रेम की साधना से मानवी और दैवी स्वरूपों के बीच का अन्तर समाप्त हो जाता है।

मानुस पेम भएउ बैकुण्ठी। नाहित काह छार एक मूठी।'[२]

सचमुच प्रत्येक मनुष्य 'मुट्ठी भर धूल' का ही जीवित रूप है। प्रेम तत्व से ही इस धूलि में चिदंश का प्रकाश होता है। प्रेम वह महत् तत्व है जिसके कारण मानव का पार्थिव रूप अंतः में अनुस्यूत देवी अंश से मिलने के लिये समाकुल हो उठता है। मानव और दिव्य आत्मभाव में प्रेम के ही कारण सामरस्य की स्थापना होती हैं।

'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई॥'[३]

यह दिव्य आत्म तत्व ही सूफी परिभाषा में प्रेमिका है।

(२) पद्मावती—पद्मावती लौकिकतः तो रत्नसेन की प्रेमिका और पत्नी है, परन्तु अलौकिक रूप में वह ब्रह्म हैं। वह विश्वव्यापी महाज्योति का ही नाम हैं। वही ज्योति चन्द्रमा के रूप में आकाश में उदित होती है। वही शिवलोक की मणि है, जो सिंहलद्वीप को प्रकाशित करने के लिए प्रकट होती है। उसी महाज्योति की रश्मि पिता के मस्तक का तेज बनाकर माता के घर में अवतरित होती है। परम ज्योति रूपा पद्मावती को जन्म लेने के लिए छाया रूप में परिवर्तित होना पड़ता है—

चम्पावति जो रूप उतिमाहाँ। पदुमावति क जोति मन छाहाँ।[४]

चम्पावती रानी के मन में पद्मावती रूपी महाज्योति की भास्वर छाया पड़ती है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ईश्वर-रूपी परम ज्योति प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप है, उसी की छाया घट-घट में प्रतिबिम्बित है। पद्मावती का मातृकुक्षि में आना तो मानो स्वर्ण की सलोनी प्रक्रिया है जो अरूप ज्योति है उसे भौतिक जगत् का रूप-सौंदर्य प्राप्त करने के लिये माता के उदर में आना ही पड़ता है।[५]

पद्मावती के मुख्य रूप से दो प्रतीक हैं, एक अमूर्त और दूसरा मूर्त। दोनों निखिल सौन्दर्य के प्रतीक हैं।

१—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, प्राक्कथन, पृ० ३८
२—जायसी ग्रन्थावली, (हिन्दुस्तानी अकदमी), पृ० २३२।१६६।२
३—जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ।
४—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, प्राक्कथन, पृ० ३८।
५—जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ।
६—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, प्राक्कथन, पृ० ३९।

सूर्य : चन्द्र – 'विशुद्ध महाज्योति के रूप में पद्मावती सूर्य थी, जो रत्नसेन के हृदय में भर जाती है। वही पद्मावती अपने पंचभौतिक सौन्दर्य में चन्द्रमा है– जिससे मिलने के लिए रत्नसेन रूपी सूर्य व्याकुल होता है। जो सूर्य को भी प्रकाशित करने वाली निखिल ब्रह्माण्ड–व्यापी महाज्योति है वही पद्मावती का अमूर्त रूप है — जायसी इसी रूप के लिए सूर्य का प्रतीक प्रस्तुत करते हैं। पद्मावती की भौतिक देह उस अमूर्त ज्योति का मूर्त रूप है जो सौन्दर्य के समस्त तत्वों से अलंकृत है, जो षोडश शृंगार मंडित है और जिसके सोलह कलाओं से पूर्ण सौन्दर्य को 'चन्द्रमा' मानकर सम्पूर्ण काव्य में वर्णन किया गया है। पदमावती रूप की पारस है। वह रूपों को देने वाली है[१]।

'पारस जोति लिलारहिं ओती। दिस्टि जो करे होइ तेहिं जोती[२] ॥'

'कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई ॥

'भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे। पावा रूप रूपके दरसे[३]।'

'रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव' (ऋग्वेद ६।४७।१८) वैदिक दर्शन के अनुसार प्रकृति की अव्यक्त अवस्था दर्पण है जिसमें चैतन्य ज्योति का आभास पड़ता है। उससे ही प्रथम सृष्टि होती है। जितने मूर्त रूप हैं वे उस रूपया माज्योति के प्रतिविम्ब हैं–

"पाए रूप रूप जस चहे।
ससिमुख सब दरपन होइ रहे ॥"

संसार के समस्त रूप, सौंदर्य और आलोक उसी महाज्योति की छाया से द्योतित हैं। संसार में —

'नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर[४] ॥'

पद्मावती के मुख के लिए समस्त पदार्थ दर्पण में सदृश्य हैं। उसके नयनों के रूप से कमल, शरीर से निर्मल नीर, हंसी से श्वेत हंस और दशन–ज्योति से नग-हीरे बने हैं। रूप--सौंदर्य की भास्वरता के विविध अंगों के प्रभाव को यहाँ मार्मिक रूप भी दृष्टव्य है। उसकी प्राप्ति तो साधना मार्ग से, हृदय की सम्पूर्ण शक्ति से होती है। रत्नसेन के हृदय में वह ज्योति भर उठती है —

'जनु होइ सुरुज आइ मन बसी। सब घट पूरि हिए उरगसी।'

पद्मावती रूपी सूर्य रत्नसेन के शरीर में भरकर उसके हृदय को प्रकाशित कर देता है। फलस्वरूप रत्नसेन स्वयम् सूर्य बन जाता हैं और पुनः पद्मावती की उसी सूर्य

१—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत का प्राक्कथन, पृ० ३९।
२–जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी, ।
३–वही, । ४–वही, पृ० २५।

की छाया या चन्द्रमा बताता है — .

'अब हौं सुरुज चाँद वह छाया । जल बिनु मीन रकत बिनु काया ।
किरिन-करा भा प्रेम अँकूरु । जो ससि सरग, मिलौं होइ सूरू ।।
तहाँ भँवर जिउ कँवला गंधी । भइ ससि राहु केरि रिनि बंधी[1] ।।'

सूर्य-चन्द्र पुरुष और स्त्री के भी प्रतीक हैं । रत्नसेन सूर्य है और पद्मावती चन्द्रमा कही जाती है । रत्नसेन रूपी सूर्य अशान्त, उष्ण और तीव्र आलोक से संयुक्त है, पद्मावती रूपी चन्द्रमा शान्त, स्निग्ध शीतल और सूर्य को अपनी ओर आकृष्ट करता है । विवाह के पश्चात् इन दोनों की सामरस्य स्थिति दिखाई गई है । उनकी सामरस्य स्थिति को ही हम अद्वय भाव, यामलभाव या युगनद्ध होना कह सकते हैं । जायसी ने सूर्य और चन्द्र के इस रूपक को सिद्धों से प्राप्त किया है । पदमावत में प्राय: सूर्य और चन्द्र के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है ।

'दुहुँ दिसि चाँद सुरुज चमकाहीं । नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं[2] ।'
तुलनीय – चाँद सुरज राखचे दुइ कानेर कुंडल (गोपीचन्द्रेर गान[3])'

चन्द्र--सूर्य, इला–पिंगला, वाम–दक्षिण आदि को वश में करना और सिद्धि प्राप्त करना हठयोगियों की साधना का उद्देश्य है । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल[4] का मत है कि 'वस्तुत: चन्द्र सूर्य के प्रतीकों में वैदिक अग्नि--सोम का ही उपबृम्हण हुआ है । यह जगत अग्नि–सोम का ही रूप है । (अग्नीषोमात्मकम् जगत्) प्रेम काव्यों में सूर्य–चन्द्र' के प्रतीक को कवियों ने नायक–नायिका के रूप में अभूतपूर्व माधुर्य प्रदान किया है ।

गंगा–यमुना के प्रतीक चन्द्र और सूर्य के नामान्तर हैं । उन्हें ही इड़ा–पिंगला भी कहा जाता है । –

'धूप छांह दुइ पिय के रंगा ।। दूनौ मिली रहहु एक संगा ।
तुम्ह गंगा जमुना दुइ नारी लिखा मुहम्मद जोग ।
सेवा करहु मिलि दूनहुं औ मानहु सुख भोग[5] ।।'

इन्हें ही धूप--छांह दिन--रात, सांवरी--गोरी, गंगा-यमुना कहा गया है ।

रसायन और धातुवाद के अनुयायियों में चन्द्र–सूर्य की ही भाँति सोना और रूपा भी विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ के द्योतक थे । सिद्धि आचार्यों ने सोने और

१–जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ३६, दोहा ५।३ ।
२–वही, पृ० ४५, दो० १२।३ । ३–पद्मावत का प्राक्कथन, पृ० ४० ।
४–वही, पृ० ४०–४१ ।
५–जा० ग्रं०, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १६७, दोहा १३।६ ।

रूपे की परिभाषाओं को मान लिया था। कम्बलिपा का एक चर्यागीत इस प्रकार है —

'सोने भरिती करुणा नावी। रूपा थोई नाहिक गावी ।।'
(बागची, चर्यापद, ८)

(करुणा की नाव सोने से भरी हुई है, उसमें रूपा या चांदी रखने के लिए स्थान नहीं है।) इस पद के अनुसार सोने को शून्य या वज्रस्थानीय और चाँदी को रूप का भँडार या संसार कहा गया है, जो कि अनित्य और अस्थिर है। पद्मावती स्वर्ण रूप है। चम्पावती रूपा या चाँदी की प्रतीत है। स्वर्ण के चाँदी सम्पर्क में आते ही मलिन पड़ जाता है और उसे शुद्धि या सलोनी प्रक्रिया की आश्यकता पड़ती है। शून्य में ही रूप की उत्पत्ति निहित रहती है। रासानिकों के अनुसार पारद की सिद्धि शरीर की अमृतत्व एवम् जीवनमुक्ति के लिए आवश्यक है। पारद की सहायता के कुधातु स्वर्ण में परिवर्तित हो जाती है[1]। पारद ही एक ओर शुक्र का रूप है। जिसकी साधना से शरीर अमर हो जाता है दूसरी ओर पारद वह रस या प्रेम है जिसके प्रभाव से साधक को सुवर्णमय पद्मावती की प्राप्ति होती है। जायसी ने कितने ही स्थानों पर सोना, चाँदी, पारा, अभरक हड़ताल, सुहागा आदि के प्रतीकों का उपयोग करते हुए जान बूझकर रसायन दर्शन के संकेत अपने काव्य में रखे है जो अधिकाँश में द्वयर्थक हैं। बारहबानी सोना सोने की शुद्धि का सबसे ऊँचा आदर्श है। साधक के लिए यह आवश्यक है कि बारहबानी सोना बने —

'कनक दुआदस बानि होइ चह सुहाग वह मांग।'

मांगसहस्रार चक्र का प्रतीक है। कम्बलिपा की उक्ति है —

'वाम दाहिण चापी मिलि मिलि मांगा।
बांटत भिन्लि महा सुह सांगा ।।'
(बागची चर्यापद, ८)

स्पष्ट है कि वाम–दक्षिण को वश में करके मांग या सहस्रार में ले जाने से ही महासुख का संग प्राप्त होता है। द्वादशवर्ती स्वर्ण ही सहस्रार तक पहुंच सकता हैं।

साधना के साम्प्रदायिक प्रतीक

जायसी ने सूफी प्रेम साधना के अन्तर्गत कुंडली योग की सब परिभाषाओं को अंगीकार कर लिया है। इसके कारण पदमावत पर भारतीयता का गहरा रंग चढ़ गया है। सूफी साधनात्मक शब्दावली सरल बनकर भारतीय भावनाओं के साथ

१—'पारस परसि कुधातु सुहाई।।' (तुलसीदास)

इस प्रकार घुलमिल गई कि पढ़ते समय दोनों में कोई विरोध या पार्थक्य दिखाई नहीं देता[1]। रत्नसेन गोरखपंथी योगी का भेष बदल कर अपनी आध्यात्मिक यात्रा में आगे बढ़ता है। वह हाथ में किंगरी, सिर पर चक्र, गले में जोगपट्ट तथा रुद्राक्ष, कानों में मुद्रा तथा शरीर पर कंथा डालकर पद्मिनी की खोज में निकलता है। उसके कंधे पर बाघंबर और पैरों में खड़ाऊँ है।[2]

(क) (अनहदनाद के लिए) घड़ियाल

'घरी-घरी घरियार पुकारा। पूजी बार सो आपनि मारा।
नौ पौरी पर दसवं दुवारा। तेहि पर बाज राज घरियारा।[3]

(ख) (शरीर के नौ द्वार के लिए) नौपौरी

"नौ पौरी पर दसवं दुवारा। तेहि पर बाज राज घरियारा॥"
'नव पंवरी बांकी नव खंडा। नवहु जो चढ़ै जाइ बरह्मंडा॥

(ग) (ब्रह्मारन्ध के लिए) दशम द्वार

'दसवँ दुवार गुपुत एक नांकी। अगम चढ़ाव बाट सुठि बांकी।
भेदी कोई जाइ ओहि घाटी। जौं लै भेद चढ़ै होइ चांटी।
दसवँ दुवार तारुका लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा॥'

नौ पौरी शरीर के नौ द्वार हैं, जिनका उल्लेख अथर्ववेद के अष्टचक्रा नवद्वारा देवानाँ परयोध्या' इस वर्णन से ही मिलने लगता है। जायसी की विशेषता यह है कि इन नौ द्वारों की कल्पना को शरीरस्थ चक्रों के साथ मिला दिया है और उन्हें नव खण्डों के साथ सम्बन्धित करके एक-एक खण्ड का एक-एक द्वार कहा है। इन नव के ऊपर दसवां द्वार है। मध्ययुगीन साधना में इसका बड़ा महत्व रहा है। कहा जाता है कि सहस्रार का अमृत इसी दशम द्वार में होकर नीचे झरता रहता है। इसी प्रदेश मार्ग को कौंच द्वार भी कहा गया है। इस टेढ़े मार्ग को 'बंकनाल' की संज्ञा दी गई है।[4]

(घ) (शरीर के लिए) दुर्ग

गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया। परखि देखि है ओहि की छाया।[5]

१—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल पदमावत, प्राक्कथन, पृ० ४२।
२—जा०ग्रं० (ना० प्र० सभा,), पृ० ५३ दोहा १।
३—जायसी ग्रन्थावली, ना० प्र० सभा पृ० १६ (दोहा १८।१)।
४—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, प्राक्कथन, पृ० ४२।
५– जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १६ (दोहा १७)।

(ङ) चारि बसेरे

'जायसी ने भारतीय परिभाषाओं के साथ ही अत्यन्त कुशलता के साथ बड़ी सरलता में सूफी साधना के 'चारि बसेरे' का भी उल्लेख कर दिया है—

'नवौ खण्ड नव पौरी औ तहं वज्र केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै सात सौ उतरै पार।'

मध्ययुगीन साहित्य में नगर – वर्णन एक अभिप्राय था उस कसौटी पर जायसी का सिंहलगढ़ वर्णन इतना भरा-पुरा उतरता है कि बहुत कम काव्य इस विषय में उनकी समता कर सकते हैं।"[1] एक और सिंहल का आध्यात्मिक वर्णन और दूसरी ओर उसकी समृद्धि और वैभव का वर्णन-दोनों का सुन्दर और पूर्ण निर्वाह जायसी के काव्य की विशेषता है।

सूफी साधना के यात्रा में प्रतीक का बड़ा महत्व है। फरीउद्दीन[2] अत्तार ने खोज, प्रेम, मारिफत, अनासक्ति, एकत्व, कुतूहल एवं परमात्म प्रेम के महासागर में निमग्न होने की सात घाटियों की यात्रा का वर्णन किया है।

सूफी साधना में साधक को प्रेम मार्ग का पथिक (सालिक) माना गया है। उसे अपने गंतव्य की प्राप्ति के लिए यात्रा की चार अवस्थाओं को पार करना पड़ता है।

अलालुद्दीन का कथन है कि "ईश्वर के यहां जाने का यह मार्ग कठिनाइयों से भरपूर है। यहां पंथ उनके लिये नहीं हैं जिनमें स्त्रैणता है।"[3]

यदि साधक के पथ में कठिनाइयाँ आएँ, तो भी उनका भय नहीं मानना चाहिए। वीर की भाँति आगे बढ़ना चाहिए।[4]

(१) शरीअत (धर्म ग्रन्थों के विधि-निषेध का सम्यक परिपालन)।

(२) तरीकत (वाह्य क्रिया कलाप से दूर रहकर हृदय शुद्धि के द्वारा ईश्वर चिन्तन)।

(३) हकीकत–(भक्ति और उपासना के द्वारा सत्य का सम्यक् बोध जिससे साधक तत्वदृष्टि संपन्न और त्रिकालज्ञ हो जाता है।

(४) मारिफत (सिद्धावस्था–जिसमें साधक साध्य में लीन होकर प्रेममय हो जाता है)।

जायसी ने पदमावती के माध्यम से ईश्वरी ज्योति को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। इसीलिए उसने सौन्दर्य का विशद चित्रण भी किया है। नायक रत्नसेन

१–डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, प्राक्कथन, पृ० ४३।

२–मिस्टीसिज्म, अंडरहिल, पृ० १३१–३२।

३–सूफी पोएट एंड मिस्टीसिज्म, निकल्सन, पृ० ७१।

४–ईरान के सूफी कवि, पृ० १११।

आत्मा का प्रतीक है। सिंहल-यात्रा आध्यात्मिक यात्रा का प्रतीक है–

रतनसेन 'चार बसेरों' को पार करते हुए पद्मावती को प्राप्त करता है।

रत्नसेन का पहला पड़ाव सागर तट पर होता है। इसे शरीअत का प्रतीक कहा जा सकता। रत्नसेन का यहां तक का मार्ग विशेष कठिन नहीं है, जितना कि दूसरी अवस्था–तरीकत–में प्रवेश करते समय समुद्र की भीषणता और भयंकरता का पंथ—

पै गोसाइँ सन एक विनाती। मारग कठिन जाब केहि भाँती।
सात समुद्र असूझ अपारा। मारहिं मगर मच्छ घरियारा।'
उठैं लहरि नहिं जाइ संभारी। भाविहि कोइ निबहै बैपारी॥
खार, खीर, दधि, जल, उदधि सुर किलकिला अकूत।
को चढ़ि नांघै समुद ए है काकर अस बूत॥"[1]

रत्नसेन प्रेमपन्थ का एक सत्यनिष्ठ पन्थी है। वह यात्रा के प्रत्यूयों प्रत्यवायों का प्रबल प्रत्याख्यान करता हुआ गतिमान होता है। वह छः सागरों को पार करके सातवें सागर के पास पहुँच जाता है। यहाँ से उसकी तीसरी (हकीकत) यात्रा प्रारम्भ होती है–

'सतएँ समुद मानसर आए। मन जो कीन्ह साहस सिधि पाए।
देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइनि होइ छावा।
भा अँधियार रैनि मसि छूटी। भा भिनुसार किरिन अबि फूटी।'[2]

चौथी अवस्था 'मारिफत' की है। हुज्विरी के मतानुसार इसकी दो स्थितियाँ हैं–(१) हाली और (२) इल्मी। हाली मारिफत की अवस्था का वर्णन हमें निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है–

'जोगी दृष्टि दृष्टि सो लीन्हा। नैन रोपि नैनहि जिउ दीन्हा॥
जेहि मद चढ़ा पतारेहि पाले। सुधि न रही ओहि एक पियाले॥"[3]

जायसी ने इन चार अवस्थाओं का उल्लेख अखरावट में भी किया है –

'कही 'सरीयत' चिस्ती पीरू। उधरित असरफ औ जहंगीरू॥
राह 'हकीकत' परै न चूकी। पैठि 'मारिफत' मारि बुडूकी॥'

जायसी को 'शरीअत' अर्थात् विधि पर पूरी आस्था थी वे इसे साधनावस्था का प्रथम सोपान कहते थे —

'सांची राह 'सरीअत' जेहि बिसवास न होइ।

१–जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी पृ० ४६ (दोहा २)।
२—वही, पृ० ६७, (दोहा १०।१२–२—३)।
३—वही।

'पाँव रखे तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचे सोइ ॥'

और काम करे, परन्तु हृदय में निरन्तर अपने (लक्ष्य-प्राप्य) भगवान का ध्यान उसे करते ही रहना चाहिए –

'परगट लोक चार कहु बाता । गुपुत भाउ मन जासों राता ॥'

ये चारो अवस्थायें परमात्मा के अनुग्रह से ही कल्ब या हृदय के बीच उपस्थित होती है और 'अहवाल' कहलाती है। इस अहवाल की स्थिति में भक्त अपने को भूलकर ब्रह्मानन्द में झूलने लगता है –

'कथा जो परम तत मन लावा । घूम माति सुनि और न भावा ॥
जस मद पिए घूम कोइ, नाद सुनै पै घूम ॥
तेहि तें बरजै नीक हैं, चढ़े रहसि कै दूम ॥'

उलटा-साधन या गगन-दृष्टि –

नाथ योगियों में 'उलटा-साधन' का बहुत प्रचार था। इसे उजान-साधन भी कहा जाता था। चित्त की जो अधोमुखी वृत्तियाँ हैं, उनसे उन्हें हटाकर उद्यान या उर्ध्वमार्ग में लगाना यही 'उलटी-साधना' का लक्षण है। वे वैष्णव, बाउल और सूफी सबने इस परिभाषा को स्वीकार किया है।[१] जायसी ने काया-साधन के अंतर्गत अनेक स्थलों पर 'गगन-दृष्टि' अनुभव या 'उल्टी दृष्टि' का उल्लेख किया है –

'उलटि दीढ़ि माया सों रूठी । पलटि न फिरी जानि कै झूठी ॥'[२]
'दसवं दुआर तास का लेखा, । उलटि दिस्टि लाव सो देखा ॥'

सेंध लगाना : चोरी करना –

जायसी ने चोरी करने या सेंध लगाकर चोरी करने के अभिप्राय का उल्लेख किया है। इस अभिप्राय के मर्म को न जानने वाले इसे जायसी का काव्य-दोष मानते हैं, पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। नाथों-सिद्धों के वर्णनों में यह अभिप्राय मिल जाता है। सिद्धों के अनुसार सबसे ऊँचा स्थान महासुख चक्र है। उसमें जो सर्वोच्च तत्वात्मक सत्य है, उसकी संज्ञा सर्वशून्य है। प्रकृति दोष के कारण उस सर्वशून्य स्थान में अनेक रूपों का मिथ्या संसार एकत्र हो जाता है। यह जीव मोहवश उसकी उसी प्रकार रक्षा करता है, जिस प्रकार राजा अपने राज भंडार की मंजूषा के रत्नों की करता है। सर्वशून्य अवस्था की प्राप्ति के लिये अस्सी प्रकार के दोषों को दूर करना और लुटा कर रत्नमंजूषा को रिक्त कर देना आवश्यक है।[३] रत्नसेन

१–डा० शशिभूषणदास गुप्त, आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स, पृ० २६५–२६६ ।
२–जायसी ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ५१ (दोहा ७१४) ।
३–द्रष्टव्य शशिभूषणदासगुप्त, आब्स्क्योर रिलीजियस कल्ट्स, पृ० ५४—५५ ।
(पदमावत प्राक्कथन, पृ० ४३ से उद्धृत) ।

को भगवान् शिव ने स्वयम् उपदेश दिया था –

'अब तें सिद्ध भएसि सिधि पाई। दरपन कया छूटि गई काई ॥
कहौं बात अब हौं उपदेसी। लागु पंथ भूले परदेसी ॥
जौ लगि चोर सेंधि नहिं देई। राजा केरि न मूसै पेई ॥
चढ़ें न जाइ बार ओहि खूंदी। परै त सेंधि सीस बल मूंदी ॥'[1]

सहज सुन्दरी : सिद्ध योगी : युद्धनद्ध : महासुख

पदमावत में अध्यात्म और काव्य – दोनों दृष्टिकोणों से 'पद्मावती – रत्नसेन भेंट खंड' शिखर के समान हैं। ज्ञात होता है कि कवि ने अपने काव्य-शरीर के मध्य में रखकर उसे बहुत ही परिश्रम से सजाया है और साहित्यगत अभिप्रायों के साथ-साथ अध्यात्म अर्थों का एक कोश ही बना डाला है। सहजयान के अनुसार मस्तिष्क में जो सहस्रार चक्र है, उसी का नाम उष्णीश कमल है। उस उष्णीश कमल में महासुख का निवास है। महासुख कमल में शक्ति का जो रूप है उसे सहज सुन्दरी कहा जाता है। उस सहज सुन्दरी के साथ सिद्ध योगी सदा-सदा के लिए युगनद्ध होकर महासुख का अनुभव करता है। जायसी की परिभाषा में इसकी संज्ञा कविलास है –

'सात खण्ड ऊपर कविलासू। तहं सोवनारि सेज सुखबासू ॥
तेहि महँ पलंग सेज सो डासी। का कहुं ऐसि रची सुखबासी ॥'

शरीरस्थ सात चक्र ही सात खण्ड हैं। उसके ऊपर आठवां चक्र उष्णीश कमल या कबिलास है। उसमें जो महासुख का स्थान है वही जायसी का सुखबासी या सुखबास है। कविलास की परिभाषा कवि ने इस प्रकार की है –

'साजा राजमंदिर कबिलासू।[2] सोने कर सब पुहुमि अकासू॥'
'सौर सुपेती फूलन्ह डासी। धनि औ कन्त मिले सुखबासी ॥'

डा० वासुदेवशरण[3] अग्रवाल का कथन है –

कबिलास नामक धवलगृह के विशेष भाग में शयनागार और सुखबासी की छतों, दीवारों और फर्श पर सोने का पानी चढ़ाया जाता था। कवि की यह उक्ति 'सोने कर सब पुहुमि अकासू', भौतिक पक्ष में जीवन का सत्य थी, किन्तु आध्यात्मिक पक्ष में सोना और रूपा संकेतवाची शब्द हैं। सोना का अर्थ सुवर्ण और सर्वशून्य स्थिति भी है। सर्वशून्य, उष्णीश कमल या सहस्रार में परम सौंदर्य का मिलन या महासुख का स्थान माना जाता था। वहाँ पहुँच कर साधक सहज सुन्दरी के साथ

१–जायसी ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ६२।
२–द्रष्टव्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिंदी साहित्य का अतीत, पृ० १७५।
३–डा० बासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत प्राक्कथन, पृ० ४४–४५।

अनन्त विलास करता है। इसे ही शिव या शक्ति का सम्मिलन कहते हैं। यही युगनद्ध भाव या युगलभाव कहा जाता है — 'जिस प्रकार सहज-सुन्दरी निर्मल बोधिचित्त या बज्रसत्व से मिलने के लिए अपने को सजाती है, उसी प्रकार सखियाँ पद्मावती का श्रृंगार करती हैं। जब रत्नसेन की योग-साधना समाप्त हुई, तो उसे भोग के लिए सखियाँ प्रेरित करती हुई विनोद करती हैं —

'धातु कमाइ सिखे तें जोगी। अब कस जस निरधातु वियोगी ।।
कहाँ न खोए वीरो लोना । जेहि ते होइ रूप औ सोना ।।'

प्रेमपंथ में आगे बढ़ने वाला ही कबिलास को प्राप्त करता है, वहाँ मृत्यु नहीं है, सदासुख का बास है —

'तिन्ह पावा उत्तम कबिलासू । जहाँ न मीचु सदासुख बासू ।।
प्रेमपंथ जो पहुँचै पारा। बहुरि न आइ मिलै एहि छारा ।।

महासुख कमल के विषय में कहा है कि वहाँ सहज सुन्दरी जोगी के साथ सदा विलास करना चाहती है। वहाँ पहुँचे हुए जोगी को सदा-सदा के लिए उसके साथ युगनद्ध भाव या नित्य युक्त भाव प्राप्त होता है (शशिभूषणदास गुप्त, आब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० १३०)। पद्मावती भी रत्नसेन से इस बात की प्रतिज्ञा कराती है कि वह जन्म पर्यन्त उसे कभी अलग न होगा। जो सुखबासी में सदा उसके साथ निवास कर उसके साथ वह सदा प्रेम करेगी —

'तासों नेह जो दिढ़ करै, थिर आछहिं सहदेस। (पदमावत, प्रा० पृ० ४६)

रत्नसेन ने उसकी बात को स्वीकार किया और उसे विश्वास दिला दिया कि वह जन्म भर उससे अलग न होगा —

'जेहि उपना सो औटि मरि गयऊ। जरम निनार न कबहूँ भएऊ ।।
मिलि कै जुग नहिं होउ निनारा। कहाँ बीच दुतिया देनिहारा ।।
अब जिउ जरम जरम तोहि पासा। किएउँ जोग आयेउँ कबिलासा ।।'

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि प्रेममार्ग में प्रेमिका तो प्रतीक मात्र है। उसके साथ स्थूल भोग प्रेम मार्ग की अध्यात्म साधना नहीं बन सकता। प्रेममार्गी साधना का तात्पर्य है अध्यात्म के प्रति वैसा ही तीव्र आकर्षण जैसा कामी को नारी के प्रति होता है। प्रेमी और प्रेमिका के संमिलन में अध्यात्म दर्शन के साक्षात् आनन्द को देश और काल किसी प्रकार तिरोहित नहीं कर सकते। इसीलिए प्रेमी और प्रेमिका का मिलन स्वयम् में एक पूर्ण प्रतीक है।

सामरस्य सिद्धान्त और जायसी का रहस्यवाद

भारतीय ब्रह्मवाद का एक अत्यन्त प्राचीन सिद्धांत है कि 'जो ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में है। परम सत्ता तात्विकतः समस्त विश्व में परिव्याप्त है। उसे ही मन

के भीतर ढूँढ़ना या समझना चाहिए । दार्शनिक सहजयानी, हठयोगी, नागपंथी, निर्गुण मत के सन्त, प्रेममार्गी सूफी – इन सबने इस ठोस सिद्धान्त को एक मत से स्वीकार किया है।[1] कहा गया है कि इस पिण्ड में ही शिव शक्ति का निवास स्थान है। शिव की अवस्थिति ऊपर सहस्रार में है और शक्ति का स्थान कुंडलिनी में नाभि के अधोभाग में । यह रूप शिव और शक्ति का व्यष्टिगत अर्थात् पिंडगत रूप है। समिष्टि में परिव्याप्त वृहत्तर विश्व में भी उनका यही रूप है।

निखिल सृष्टि का मूल कारण शिव-शक्ति का यह विश्लेषण विछोह-ही है। इसी वियोग के कारण सारी सृष्टि की रचना हुई है। पिंड और ब्रह्माण्ड की भी निर्मिति के मूल में यही कारण है । इसीलिए तो बार-बार कहा गया –

'जो किछु पिण्डे सोइ ब्रह्माण्डे । — — — — — —

'साधक का कार्य है योगिक क्रियाओं द्वारा शिव और शक्ति का सामरस्य स्थापन। पारद और अभ्रक कोई मामूली वस्तु नहीं है, वे हर और गौरी के शरीर के रस हैं। इनके शुद्ध प्रयोग से मनुष्य शरीर-त्याग किए बिना ही दिव्य देह पाकर मुक्त हो जाता है। — — — पारद और अभ्रक के मिलने से जो रस उत्पन्न होता है, वह मृत्यु एवम् दरिद्रता का नाश करता है।[2] 'जायसी ने पदमावत में इस सिद्धान्त को भी स्वीकार किया है।

'सातौ दीप नवौ खंड आठौ दिसा जो आहिं ।
जो बरम्हंड सो पिंड है हेरत अन्त न जाहिं ।।' (अखरावट ८।९)

रसेश्वर मत के दार्शनिकों और साधकों ने पारद को शिव और अभ्रक या गंधक को शक्ति का मुख्य प्रतीक कहा है । पारद और गंधक के सामरस्य से ही जरा-मरण को जीतने वाला रस प्रस्तुत होता है। हृदय-कमल या हृदयाकाश में परम तत्व को ढूँढ़ने की जो प्रवृत्ति उपनिषिद काल[3] में आरम्भ हुई थी। उसमें और निर्गुण सूफियों के दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं पड़ा। जायसी ने कहा है –

'अहुठ हाथ तनु सरवर हिया कँवल तेहि मांह ।
नैनहिं जानहु निअरें कर पहुँचत अवगाह ।।''[4]

जायसी से कई सौ वर्ष पहले निर्गुण मत में भी यही भाव व्याप्त हो गया था —

१–डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, प्राक्कथन, पृ० ५२ ।
२–आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० १७३ (१९५०) ।
३–छान्दोग्य उपनिषद ८।१–१ ।। ४–पदमावत, प्रेम खंड (१२१ दोहा ३) ।

हत्थ अहुद्वहं देवली बालहं णाहि यवेसु।
संतु सिरञ्जाणु तहिं बसइणिम्मक्त होइगवेसु ॥' (पाहुड़ दो० सं० ६४)

'हिए की जोति दीप वह सूझा।' (१२५।४) जायसी का वक्तव्य है। इसीलिए उस परम ज्योति को प्राप्त करने का अयुक्ततम स्थान मनुष्य का अपना हृदय ही है।

जायसी का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने इस शुष्क और साधनात्मक रहस्यवाद में अपने अन्तर का समस्त रस उड़ेल कर इसे सरस और मधुर बनाया है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि पदमावत में अवसर मिलने पर जायसी ने उस रहस्यमयी सत्ता की ओर अवश्य ही संकेत किया है।

'प्रियतम के प्रति जायसी का चिन्तन विशाल है और मनन अत्यन्त गहन। अन्तर के 'प्रेम की व्याकुलता अत्यन्त तीव्र है और उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त मार्मिक सशक्त। वे अपनी आध्यात्मिक अनुभूति में ऐसी सत्ता के साक्षात्कार का चरम प्रयत्न करते हैं जिसके साथ प्रकृति और मानवात्मा की लीला निरन्तर चलती रहती है। उसी की प्रातिभासिक सत्ता की दीप्ति निखिल संसृति में परिव्याप्त है। इस प्रकार गम्भीर चिन्तन, गहन अध्ययन और विशाल एवम् पवित्र मनन के माध्यम से वे अपने अन्तर के मनोभावों को सशक्त रहस्यवादी शैली में व्यक्त कर सके हैं। जायसी के समान रूप-सौंदर्य के प्रेमी बहुत ही विरल हैं। लौकिक सौंदर्य को स्वर्गीय महिमा से मंडित करके प्रकट करने का जायसी जैसा सामर्थ्य तो और किसी में तो शायद ही मिले।'[8]

८–द्रष्टव्य पदमावत का काव्य-सौंदर्य, पृ० ११६।

१०

जायसी की काव्यभाषा

ठेठ अवधी : जनता की बोली : जायसी की भाषा

उत्तरी भारत के हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानों की भाषा प्राय: सर्वत्र अवधी दीख पड़ती है और उसमें भी प्राय: ठेठ रूप का ही प्रयोग हुआ है। उसमान और नसीर पर कुछ भोजपुरी का प्रभाव लक्षित होता है। नूरमुहम्मद की इन्द्रावती में भोजपुरी और व्रज भाषा दोनों के प्रयोग स्पष्ट रूप से मिलते हैं। इन सूफी कवियों ने प्राय: तद्भवबहुला अवधी भाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि सूफी काव्यों में प्रयुक्त अवधी संस्कृत के तत्सम शब्दों और उसकी कोमलकान्त पदावलियों से अलंकृत नहीं है, तथापि वह तत्कालीन शिष्टजन समादृत बोलचाल की अवधी भाषा की स्वाभाविक विशेषताओं से मंडित है। उनकी अवधी स्वाभाविक एवं श्रुति मधुर है। कुछ लोगों का कथन है कि वह संस्कृतनिष्ठ, साहित्यिक और परिष्कृत नहीं है, फिर भी अवधी के स्वाभाविक रूप में उसका लालित्य और माधुर्य हृदयग्राही है। इन महान् कवियों ने अपनी समर्थ लेखनी से जिस भाषा को एक महान् साहित्य-भाषा का रूप प्रदान किया है उसे साहित्यिक न मानना अन्याय है। अवधी भाषा का परिष्कृत और स्वाभाविक दोनों रूप गंगा–जमुना संगम की भाँति सूफी काव्यों की भाषा में दर्शनीय है। जायसी, कुतबन आदि सूफियों की विशेषता यह है कि उन्होंने बोलचाल की अवधी में सहज, सरल, किन्तु गूढ़-गंभीर, अर्थपूर्ण और समर्थ व्यंजनाएँ की हैं।

जायसी हिन्दी के सूफी कवियों के शिरोमणि हैं। वे अवधी भाषा के महा–कवि हैं। उनके पदमावत में सर्वत्र अवधी भाषा का प्र योग हुआ है। पदमावत में तत्कालीन अवधी का रूप सुरक्षित है। इसी कारण डा० श्यामसुन्दरदास[१] ने पदमावत की अवधी को प्रामाणिक अवधी भाषा कहना युक्ति संगत माना है। डा० ग्रियर्सन[२]

१–डा० श्यामसुन्दरदास और सत्यजीवन वर्मा, संक्षिप्त पदमावत।

२–सर जार्ज ग्रियर्सन, पदमावती, भूमिका।

का कथन है कि पदमावत में १६वीं शताब्दी में बोली जानेवाली अवधी का जीवंत रूप द्रष्टव्य है। इसलिए भाषा-शास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन के दृष्टिकोण से भी पदमावत की भाषा अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

'जायसी की अवधी भाषा–शास्त्रियों के लिए स्वर्ग है, जहाँ उनकी रुचि की अपरिमित सामग्री सुरक्षित है। मैथिली के लिए जो स्थान विद्यापति का है, मराठी के लिए जो महत्व ज्ञानेश्वरी का है, वही महत्व अवधी के लिए जायसी की भाषा का है।'[१]

'सोलहवीं शती में जब हिन्दी का प्रखर सूर्य अपने मध्याह्न को छूने की तैयारी कर रहा था, पदमावत की रचना उस उत्थानशील युग में हुई। जैसा कि प्रायः ऐसे काव्यों में होता है, उस काल की भाषा और भाव–समृद्धि की संपूर्ण छाप इस पर लगी हुई है। जायसी अत्यन्त संवेदनशील कवि थे। संस्कृत के महाकवि बाण की भाँति वे शब्दों में चित्र लिखने के धनी हैं; चित्र भी ऐसे कि जिनके पीछे अर्थों का अक्षय-स्रोत बहता है। अलंकार, रस, भाव आदि की काव्य–समृद्धि का तो यहाँ कोई अन्त ही नहीं मिलता। किन्तु कवि की सहज प्रतिभा बाहरी वर्णनों में परिसमाप्त नहीं हो जाती। वह अलंकार -विधान के माध्यम से रस तक पहुँचने में सफल होती है।'[२]

जायसी सचमुच शब्दों में चित्र लिखने की कला के अमर कलाकार हैं। अंग्रेजी के कवि ब्राउनिंग और हिन्दी के कवि जायसी 'कल्पना–जनित चित्र की पूरी रेखाओं को मानस में प्रत्यक्ष करते हुए उसका उतना ही अंश शब्द–परिगृहीत करते हैं जितना उनकी दृष्टि में चित्र की व्यंजना के लिए न्यूनतम आवश्यक होता है।'

'पदमावत की भाषा की अद्भुत शक्ति जायसी की पहली विशेषता है। अपभ्रंश-साहित्य की शब्दार्थ-परम्परा जिस प्रकार विकसित होकर हिन्दी को प्राप्त हुई थी, उसका पूरा स्वरूप जायसी में देखा जा सकता है। उत्तर भारत की प्रधान साहित्यिक भाषा के रूप में अवधी का विकास १४वीं शती में हो चुका था। मौलाना दाऊद कृत 'चन्दायन' से यह बात स्पष्ट है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के बहुमुखी उत्तरा–धिकार को अवधी भाषा ने प्राप्त किया था।'

सूफी कवियों की यह विशेषता रही है कि वे प्रायः स्थानीय भाषाओं में ही अपने काव्यों की रचना करते रहे हैं। दौलत काजी, आलाओल आदि ने जो बंगाल के रहने वाले थे बंगला में लिखा।[३] पंजाब के सूफी कवियों ने पंजाबी में 'ससिपूनों', 'हीररांझा' आदि की सर्जना की है।[४] यह सत्य है कि स्थानीय भाषा में संदेश

१–डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत प्राक्कथन, पृ० २८। २–वही, पृ० ५-६।
३–इस्लामी बांगला साहित्य सुकुमार सेन।
४–पंजाबी सूफी पोएट्स, लाजवन्ती रामकृष्ण।

सुनाकर किसी स्थान की जनता पर अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव डाला जा सकता है। शेख फरीदुद्दीन गंजेशकर अपने शिष्यों से बातचीत करते समय 'हिन्दवी' का उपयोग करते थे। ये उपदेश 'सियातुल औलिया' में सुरक्षित हैं। ख्वांजा निजामुद्दीन औलिया भी अपनी बातचीत के बीच 'हिन्दवी' का प्रयोग करते थे।[1] फारसी के प्रसिद्ध महाकवि अमीर खुसरो की हिन्दी रचनाओं को पर्याप्त प्रसिद्धि मिल चुकी है। जनता में अपना संदेश सुनाने के लिए मुल्ला दाऊद ने अवधी का ही चयन करना सर्वोत्तम समझा होगा। संभवत: मुल्ला दाऊद से पूर्व अवधी की काव्य-परम्परा विकसित हो चुकी थी। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा था कि कोसली भाषा बारहवीं शताब्दी के मध्य में पूर्णरूप से विकसित हो चुकी थी।[2] जिसे आजकल हम अवधी कहते हैं, उसे डा० चाटुर्ज्या ने पूर्वी हिन्दी की एक बोली कोसली कहा है। यह अवध जनपद और पूर्वी मध्यप्रदेश की भाषा थी। स्पष्ट है कि अवधी के रूप में यह कोसली पूर्वी हिन्दी का एक रूप है। इसी में पीछे चलकर सत्यवती कथा, पदमावत रामचरितमानस आदि लिखे गए हैं।[3] डा० मोतीचन्द्र का कथन है कि 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' के लेखक दामोदर से स्पष्ट विदित हो जाता है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश की जनभाषा पूर्वी हिन्दी के संस्कृत के पण्डितों से भी मान्यता प्राप्त हो रही थी और भाषा निर्माणकाल में नहीं थी, बल्कि पूर्णरूप से विकसित हो चुकी थी और सम्भवत: इस भापा का अपना साहित्य भी था जो खो चुका है।[4] विद्वानों[5] का विचार है कि पूर्वी हिन्दी का विकास १२वीं शताब्दी के मध्य में हो चुका था। रोडा कवि कृत 'राउलवेल' ११वीं शती की कृति है। यह कवि रोडा की ललित कलात्मक अभिव्यक्ति है।[6] डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है कि इसकी भाषा पुरानी दक्षिण कोसली है। जिस प्रकार 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' की पुरानी कोसली है।'[7] 'सामान्य रूप से इसमें 'पोस्ट अपभ्रंश भाषा द्रष्टव्य है। निश्चय ही यह भाषा अपभ्रंश-तत्वों के पर्याप्त सम्मिश्रण से 'न्यू इन्डो आर्यन स्टेज' से सम्बद्ध है। इसमें उत्तर भारत के छ: विभिन्न भाषाओं के प्रदेशों की सुन्दर कन्याओं के वैयक्तिक सौन्दर्य, व्यवहार, वेश-भूपा, अलंकरण प्रसाधन आदि का

१—ग्लिम्पसेज आफ़ मेडिवल इन्डियन कल्चर, यूसुफ हुसेन, पृ० १०५

२—उक्तिव्यक्ति प्रकरण (दामोदर पंडित), भूमिका, पृ० ७०

३—वही, पृ० २।

४—वही, भूमिका, पृ० ७४

५—उक्तिव्यक्ति प्रकरण (भूमिका) डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या डा० मोतीचन्द्र।

६—प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम में सुरक्षित शिलालेख।

७—हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १३, अंक १, २, (१९६० ई०) पृ० २३।

ललित वर्णन है। इसमें वर्तमान अवधी का पूर्व रूप भी सुरक्षित है।"[१]

इस कृति के प्रकाशन से स्पष्ट हो जाता है कि दाऊद की चन्दायन अवधी की प्रथम कृति नहीं है। अवश्यमेव इसके पूर्व अवधी काव्य की एक विशाल परम्परा रही है। शोध के आलोक में ११वीं से १४वीं शती के बीच का अवधी साहित्य भी प्राप्त हो सकेगा— ऐसी सम्भावना रोडा कवि कृत 'राउलवेल' की प्राप्ति के अनन्तर बलवती हो गई है। लिग्विस्टिक सर्वे से यह ज्ञात होता है कि मुज़फ्फरपुर तक बिहारी भाषाओं के क्षेत्रों के भी मुसलमान अवधी को ही अपनी बोलचाल की भाषा मानते हैं। इसलिए अवधी के इन पूर्ववर्ती क्षेत्रों के सूफी और संत मुसलमान कवियों ने यदि अवधी में रचनाएँ कीं, तो अपनी बोलचाल की भाषा में ही कीं,[२] धीरे-धीरे अवधी वहाँ के सूफियों की साम्प्रदायिक भाषा और प्रेम पीर की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई। यहाँ के सूफ़ी कवियों ने फ़ारसी-अरबी के शब्दों का अपेक्षाकृत कम उपयोग किया है। दक्षिण के प्रेमाख्यानों की दक्खिनी हिंदी या हिन्दवी भाषा पर फ़ारसी, अरबी का गहरा प्रभाव है।

अपभ्रंश की बहुमुखी अभिव्यक्ति से विकसित हुआ देश्य बोली का ज्वलंत रूप पदमावत की अवधी में दर्शनीय है। 'कथ्था, पूब्बै, सुक्ख, झरक्कि, दरक्कि, लक्खन, तप्प, कलप्प, भुम्मि, नित्तु कित्तु खग्गि, अग्गि, जग्गि, अकथ्थ, हत्थ आदि शब्दरूप अपभ्रंश परम्परा के निकटतर हैं। जायसी के शब्दों का अन्य काव्यों के साथ तुलनात्मक अध्ययन हिन्दी के अनेक प्राचीन काव्यों से उसका सम्बन्ध जोड़ देता है।[३]'

जायसी के काव्यों में तत्सम शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। तत्सम शब्दों के प्रयोग प्राय: वहीं हुए हैं जहाँ नामों का प्रश्न आया है। जायसी अरबी और फारसी के भी विद्वान् थे। इस कारण तत्सम शब्दों में संस्कृत, अरबी, फारसी के शब्द मुख्य हैं।

जायसी ने अपनी प्रेम-पीर की मार्मिक अभिव्यंजना और काव्याभिव्यक्ति के लिए अवध जनपद की ही बोली को चुना है। यह बोली पूरबी अवध के गाँवों के बोलचाल की बोली है। इस बोली का थोड़ा विकसित रूप आज भी इस प्रदेश में बोला जाता है। यद्यपि चार सौ वर्षों में उसमें पर्याप्त परिवर्तन आ गया है, तथापि विद्वानों का कथन है कि उसमें कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ है जो

१—भारतीय विद्या, वा० १७, पृ० १३२, (भा० वि० भवन, बम्बई)
लेखक डा० एच० भायाणी

२—लिग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, (वा० ६, पृ० ९)

३—वही, पृ० ६।

उसे पदमावत की भाषा से दूसरी ठहरा सके।[1] ए० जी० शिरेफ ने जायसी की भाषा पर विचार करते हुए लिखा है कि "जायसी की भाषा वह स्थानीय बोली है, जो आज भी वहाँ बोली जाती है[2]।" हिन्दी में मुल्लादाऊद कृत 'चन्दायन' (१३७९ ई०) से लेकर नसीरकृत 'प्रेमदर्पण' (१९१७ ई०)तक लगभग छः सौ वर्षों की सूफी काव्यसाधनाधारा की एक अविच्छिन्न परम्परा मिलती है। इस बीच अनेक सुन्दर प्रेमाख्यानक काव्यों की रचनाएँ हुई, किन्तु उनमें सर्वाधिक काव्य-गुण-सम्पन्न, समर्थ भाषा-सम्पन्न तथा लोकप्रिय ग्रन्थ पदमावत ही है। इस ग्रन्थ-रत्न की अक्षय्य कीर्ति और महान् सफलता के अनेक उपादानों में इसकी भाषा का सारल्य एवं लोकाकर्षण रूप प्रमुख है। अत्यन्त सहजता और उसी के अंतराल में अर्थ-गाम्भीर्य और भाषा-समर्थता के कारण यह ग्रन्थ प्राय: विद्वानों को अत्यन्त प्रिय रहा है। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि "पदमावत का महत्व उसके सुरक्षित रूप में है। अत: जायसी की रचना में तत्कालीन अवधी का रूप बच सका है। हिन्दी साहित्य के जायसी ही ऐसे पुराने लेखक हैं जिनकी कृति वास्तविक रूप में हमारे सामने है। जायसी ने तत्कालीन बोल-चाल की अवधी में अपनी रचना की है। इनकी कृति स्वभाविक बोलचाल के यथातथ्य शब्दों से पूर्ण है।[3]" भाषा की स्वाभाविकता, सरसता और मनोगत भावों के प्रकाशन की सामग्री के रूप में जायसी ने अवधी को साहित्य क्षेत्र में मान्य बना दिया। मलिक मुहम्मद जायसी ने अवधी को साहित्य-क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान दिलाने का सफल प्रयत्न किया है।[4]

पदमावत का शब्दकोष, उसमें प्रयुक्त मुहावरे, लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ आदि सामूहिक रूप से १६वीं शताब्दी में प्रचलित बोलचाल की अवधी का ही रूप प्रकट करती हैं। उसमें संस्कृतनिष्ठ भाषा का आग्रह नहीं है। उसमें लोकवाणी की ताजगी (फ्रेशनेश), स्वाभाविकता तथा मिठास पूर्ण मात्रा में हैं। यदि तुलसीदास और केशवदास की भाँति जायसी ने भी संस्कृत भाषा के पदों और शब्दों के प्रयोग किए होते तो पदमावत की भाषा कुछ दूसरे प्रकार की ही होती। तत्कालीन अवधी भाषा के अविकल लौकिक रूप का उस प्रारम्भिक अवस्था में जैसा सँवार-शृंगार युग-पुरुष जायसी ने अपनी समर्थ तूलिका से किया, वैसा गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर हिन्दी का कोई अन्य कवि नहीं कर सका है। भाषा की समर्थकता भी पदमावत के उत्कृष्ट काव्य-सौन्दर्य का एक गुण है। सचमुच जायसी हिन्दी साहित्य

१—ए० जी० शिरेफ, पद्मावती, भूमिका।

२—वही,।

३—डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०९।

४—वही, पृ० ३१९।

के महान कलाकारों में से हैं।[1]

डा० कमलकुल श्रेष्ठ का कथन है कि वे अपने उपदेशों को साधारण जनता के बीच फैलाने का प्रयत्न कर रहे थे। इस कारण उनकी भाषा जनसाधारण की परिष्कृत भाषा थी। इनका यही महत्व है।[2] इस मत में उचित इतना ही है कि पदमावत की भाषा जनसाधारण की परिष्कृत भाषा है।

अवधी भाषा और पदमावत

डा० बाबूराम सक्सेना ने अपने ग्रन्थ 'इवाल्यूशन आफ अवधी' में अवधी भाषा का सुन्दर भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि हिन्दी भाषा की चार प्रधान उपभाषाएँ है। इनमें पूर्वी हिन्दी भी एक उपभाषा है। पूर्वी हिन्दी का विकास प्राचीन अर्द्धमागधी प्राकृत से हुआ है। पूर्वी हिन्दी की दो प्रमुख बोलियाँ हैं—अवधी और छत्तीसगढ़ी।[3]

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने[4] पूर्वी हिन्दी की बोलियों के अंतर्गत अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी की गणना की है। हरदोई जिले को छोड़कर शेष अवध की बोली अवधी है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी में बोली जाती है, किन्तु इन जिलों के अतिरिक्त दक्षिण में गंगापार इलाहाबाद, फतहपुर, कानपुर, मिर्जापुर तथा जौनपुर के कुछ भागों में भी बोली जाती है। मिश्रित अवधी का विस्तार बिहार के मुजफ्फरपुर जिले तक है। पदमावत, चित्ररेखा, रामचरितमानस और कृष्णायन अवधी के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ-रत्न हैं।

पदमावत की भाषा पूरबी अवधी है, उसमें पश्चिमी हिन्दी, फारसी, अरबी, संस्कृत के शब्दों के भी प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। श्री सूर्यकान्त शास्त्री का कथन है कि जायसी की कृतियों से भी हमें १६वीं शताब्दी के उत्तर भारत की जनभाषा का यथार्थ प्रमाण मिलता है।[5] सचमुच पदमावत तत्कालीन अवध की जनभाषा का जीवन्त और ज्वलन्त रूप प्रस्तुत करता है। आगे के पृष्ठों में हम देखेंगे कि यह भाषा अत्यन्त श्रुतिमधुर, व्यंजनापूर्ण, समर्थ, सशक्त एवं माधुर्यपूरित है। यह

१–डा० माताप्रसाद गुप्त, जायसी ग्रन्थावली, वक्तव्य, पृ० ३।

२–डा० कमलकुल श्रेष्ठ, हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० ३६८।

३–विशेष विवरण के लिए देखिए–डा० बाबूराम सक्सेना, इवाल्यूशन आफ अवधी।

४–डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा और लिपि, पृ० ५०।

५–श्री सूर्यकान्त शास्त्री, पदुमावति, (१९३४) प्रीफेस, पृ० ६।
'हिज वर्क्स, देअरफोर इज ए वेल्यूएवुल विटनेस टू दी ऐक्चुअल कंडीशन आफ दी वर्नाक्यूलर लेंग्वेज आफ नार्दन इण्डिया, इन दी सिक्स्टीन्थ सेंचुरी।'

पदमावत के काव्य-सौन्दर्य का एक रहस्य है।

सूक्तियाँ, लोकोक्तियाँ, कहावतें, मुहावरे और जायसी

जायसी के काव्यों में सौदर्य-संवर्द्धन करने वाले प्रसाधनों में सूक्तियों, लोकोक्तियों. कहावतों और मुहावरों के भी महत्वपूर्ण स्थान है। ये सौन्दर्य-वर्द्धक तत्व सर्वत्र भाषा-भाव-धारा से प्रकृत्या जल-तरंगवत संपृक्त हैं, कहीं भी ये आरोपित से नहीं लगते।

हिन्दी साहित्य में घाघ, भड्डरी आदि की कहावतें काफी लोकप्रिय हैं, पर उन्हें साहित्य में समादर नहीं मिला है। सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में सम्भवत: जायसी ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने कहावतों और लोकोक्तियों को गृहीत करके 'मसला' नामक एक सुन्दर काव्य लिखा है।[१] हिन्दी के अन्य सूफी कवियों में भी लोकोक्तियों के प्रयोग की प्रवृत्ति मिलती है–

'जाके गोड़न फटी वेवाई। सो का जाने पीर पराई ॥'[२]
'रहे न एकौ अंत कहँ, नारंग, दाड़िम, दाख।
'दिवस चारि की चाँदनी फिर अँधियारी पाख ॥'[३]
'कुछ तो अहै दार महँ कारा।'[४]
'अंग-अंग सब व्याकुल पात बियोग।
आँसू नदी बहावा पतन लोग ॥[५]
'सुख सम्पति सब दीन्हा दाता।
मारु न छीर भात मो लाता ॥[६]
'पट बाहर जेइ पाँव पसारा।
जाड़ा कठिन अन्त तेहि मारा।'[७]
'बातहि हाथी पाइयो, बातहिं हाथी पाँव।'[८]
'जो जेहि के जस लिखा लिलारा।

१–देखिए, प्रथम खंड, अध्याय ३, 'मसला' या 'मसलानामा।'
२–नूरमुहम्मद, इन्द्रावती, पृ० ७९ (१९०६ ई०)।
३–वही, पृ० ३८।
४–सूरदास लखनवी: नलदमन, पृ० ६३।
५–नूरमुहम्मद, अनुराग बांसुरी, पृ० १३६।
६–नूरमुहम्मद, इन्द्रावती, ।
७–नूर मुहम्मद, इन्द्रावती, ।
८–कासिमसाह, हंस जवाहिर, ।

सो मो भय को मेटनहारा ।।"[1]
'आजु सिरान हिया दुख जरा ।
मुए धान जनु पानी मरा ।।'

हिन्दी के सूफी संतों की भाषा में लोकोक्तियाँ सहज और सरल भाषा में स्वाभाविकत: अभिव्यक्त हुई हैं । मार्मिकता और सहज ही हृदय-स्पर्श करने की शक्ति के कारण ये उक्तियाँ महत्वपूर्ण हो उठी हैं । जायसी के काव्यों में लोकोक्तियों, मुहाविरों आदि का चरम सौन्दर्य दर्शनीय है ।

(क) सूक्तियों से भाषा की व्यंजकता (सजेस्टिवनेस)

पदमावत की सूक्तियों में सहज चमत्कार और वाग्वैदग्ध्य के साथ जायसी की भावुकता का सौन्दर्य भी दर्शनीय है । सूक्तियों[2] से तात्पर्य वैचित्र्यपूर्ण सुन्दर उक्तियों से है जिसमें वाक्चातुर्य ही प्रधान होता है । कोई बात यदि नए अनूठे ढंग से कही जाय, तो उससे बहुत कुछ लोगों का मनोरंजन हो जाता है इससे कवि लोग वाग्वैदग्ध्य से कम काम लिया करते हैं । नीति सम्बन्धी पदों में चमत्कार की योजना अवसर देखने में आती है । जैसे बिहारी के 'कनक-कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय' वाले दोहे में अथवा रहीम के इस प्रकार के दोहे में—

'बड़े पेट के भरन में है रहीम दुख बाढ़ि ।
यातें हाथी हहरि कै, दिये दाँत द्वै काढ़ि ।।'
'ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत की सोइ ।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होइ ।।"

इस प्रकार के कथनों में आकर्षित करने वाली वस्तु जो होती है वर्णन के ढंग का चमत्कार । इस प्रकार का चमत्कार चित्त को आकर्षित करता है । यह अवश्य अपेक्षित है कि इस प्रकार के वाग्वैदग्ध्यपूर्ण कथनों में मन को भिन्न-भिन्न भावों में लीन करने की पूर्ण क्षमता है—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।'[3]

भाव-व्यंजना, वस्तु-वर्णन और तथ्य-प्रकाश सबके अन्तर्गत चमत्कारपूर्ण कथन हो सकता है । रहीम के ऊपर दिए गए दोहों में तथ्य-प्रकाश के उदाहरण हैं । भाव-व्यंजना के उदाहरण के लिए निम्नलिखित दोहा लिया जा सकता है—

'यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाव ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहँ पाँव ।।"[4]

१—उसमान, चित्रावली, ।
२—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली (भूमिका), पृ० १६८ ।
३—अग्निपुराण, (बी०आई०एडीशन), साहित्य दर्पण (पी०बी०काणे), पृ० ४ से उद्धत ।
४—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पृ० १५५ ।

जायसी ने वस्तु चित्रण की वैचित्र्यपूर्ण सूक्तियों का प्रयोग भी सुन्दरता से किया है। जैसे—

'चकई बिछुरि पुकारे कहाँ मिलौं, हो नाह।
एक चाँद निसि सरग महँ, दिन दूसर जल माँह ॥'[1]

कवि-समय की बात है कि चकवा-चकवी रात्रि में एक दूसरे से अलग रहते हैं, दिन में उनका मिलाप हो जाता है। जायसी का कथन है कि पदमावती के मुखचन्द्र के कारण दिन में भी रात का भान होता है और चकवा-चकवी का विछोह हो जाता है। प्रस्तुत उक्ति में तीव्र भाव व्यंजना है, आलम्बन के सौन्दर्य की अनुभूति में एक चमत्कार है और है जायसी की भावुकता का उत्कृष्ट निदर्शन।

'बसै मीन जल धरती, अंबा बसै अकास।
जौ पिरीत पै दुवौ महँ अन्त होहिं एक पास।'[2]

प्रस्तुत दोहे में भाषा की उच्चकोटि की व्यंजकता सहज शब्दों में मुखरित हुई है। 'जेहिकर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥' (तुलसीदास) वाली बात की तीव्र व्यंजना के लिए दूर-स्थित दो वस्तुओं का सान्निध्य प्रदर्शित किया गया है—

'जाकर पीउ बसै जेहि, तेहि पुनि ताकर टेक।
कनक सोहाग न बिछुरै ओटि मिलै होइ एक ॥'[3]

प्रेम का घाव स्वत: अनुभूत वस्तु है—

'प्रेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई ॥'[4]

प्रियतम के साहचर्य से वियुक्त प्रेमिका की दशा अत्यन्त दयनीय होती है—

आवा पवन विछोह कर, पाट परी बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि के, लागौं केहि के डार ॥[5]

पदमावत में फारसी कहावतों की भी छाया कहीं-कहीं दिखाई पड़ती है जैसे—

'नियरहिं दूर फूल जस काँटा। दूरहिं नियर जइस गुर चाँटा ॥[6]

फारसी 'दूराँ बाबसर नजदीक व नजदीकाँ वेबसर दूर। दूरस्थित रसिक के लिए पास है और निकटस्थ अरसिक के लिए दूर है। निकट वाले के लिए दूर ऐसे जैसे फूल के संग के काँटे के लिए फूल का रस और सौन्दर्य दूर रहता है। दूर वाले के लिए ऐसे, जैसे चींटे के लिए गुड़। फारसी उक्ति में भी यही बात है कि दृष्टि

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, पृ० २४ (दोहा ५)।
२—वही, पृ० १७१ (भूमिका)।
३—जा० ग्रं०, ना० प्रा० सभा, काशी, पृ० १३७।
४—वही, पृ० ४६। ५—वही, पृ० १७७।
६—वही, ।

वाले के लिए दूर भी निकट है और बिना दृष्टि वाले के लिए नजदीक भी दूर है। 'प्रेम और कस्तूरी छिपाए नहीं छिपते।'

'परिमल पेम न आछै छपा।'

फारसी-- इश्क व मुश्क रा नतवाँ नहुफ्तन।'

कहीं-कहीं तो फारसी शायरों की उक्तियाँ पदमावत में ज्यों की त्यों आई हैं। अलाउद्दीन की चढ़ाई का वर्णन करते हुए घोड़ों की टापों से उठी धूलि के आकाश में छा जाने पर जायसी कहते हैं–

सत खंड धरती भइ षट खंडा। ऊपर अस्ट भार बरम्हंडा।

यह फिरदौसी के शाहनामें का ज्यों का त्यों अनुवाद हैं—

जे सुम्मे सितौंरा दरा पहने दश्त। जमीं शश शुदो अस्माँ गश्त हश्त।

अर्थात् उस लम्बे-चौड़े मैदान में घोड़े की टाप से जमीन सात खण्ड के स्थान पर छः ही खण्ड की रह गई और आसमान (तबक) के स्थान पर आठ खण्ड का हो गया।

जायसी का फारसी साहित्य का अध्ययन बड़ा गम्भीर था। अपनी ग्राहिका शक्ति का परिचय देते हुए उन भावों या उक्तियों को जायसी ने अधिक सौन्दर्य प्रदान किया है—यह उनकी विशेषता है।

कुछ सूक्तियाँ जीवन के आचार-व्यवहार से भी संबद्ध हैं, जैसे—

जौ न कंत के आयसु माहीं। कौन भरोस नारि कै बाही॥[1]

अर्थात् स्त्री की शोभा पति की आज्ञा का पालन है। यदि नारी पति की आज्ञानुवर्तिनी नहीं है, तो उसका क्या भरोसा ? जिसे प्रेमी चाहे वही सुन्दरी है–

'लोन बिलान तहाँ का कहै। लोनी सोइ कन्त जेहि चहै।'[2]

यौवन के प्रति मनुष्य का राग स्वाभाविक है–

'मुहमद बिरिध जो नइ चलै, काह चलै भुइँ टोइ।
जोबन रतन हेरान है, मकु धरती पर होइ॥'[3]
'विरिध जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़े आढ़े होहु तुम्ह, केइँ यह दीन्ह असीस॥'[4]

इन दोनों उदाहरणों में तथ्य प्रकाशन के साथ चमत्कार और भावुकता भी है। बुढ़ापे में कमर झुक जाने और शिर हिलने तथा यौवन-अवस्था के प्रति राग से संबद्ध सूक्तियों के रूप में ये उदाहरण लिए जा सकते हैं।

१–जा० ग्रं० ना० प्रा० सभा, काशी पृ० ३५। २–वही, पृ० ३४।
३–वही, पृ० २६८ (दोहा ३)
४–जा० ग्रं० हिन्दूस्तानी अकेडमी पृ० ५५६

जायसी ने संस्कृत की भी सूक्तियों के द्वारा सहज ही गाढ़ व्यंजना का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं तो संस्कृत की उक्तियाँ ज्यों की त्यों ले ली गई हैं।
जैसे— थल थल नग न होहिं जेहि जोती। जल जल सीप न उपजहिं मोती॥
बन बन बिरिछ न चन्दन होहीं। तन तन बिरह न उपनै सोई॥
जायसी की प्रस्तुत सूक्ति चाणक्य के निम्नलिखित श्लोक का अवधी रूपांतर है—

शैले-शैले न माणिक्यं, मोक्तिकं न गजे-गजे।
साधवो नहिं सर्वत्र, चंदनं न बने-बने॥

मंझन कृत मधुमालती में भी प्रस्तुत उक्ति मिलती है—

'रतन कि सागर सागरहि, गजमोती गज कोय।
चंदन कि बन-बन उपजइ, बिरह कि तन-तन होय॥'

इसी प्रकार की और भी बहुत सी उक्तियाँ पदमावत में मिल जाती हैं। जैसे—

'भँवर जो पावा कँवल कहँ, मन चीता बहु केलि।
आइ परा कोइ हस्ति तहँ, चूर किएउ सो बेलि।'

यह इस श्लोक का अनुवाद जान पड़ता है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं, भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे हा हन्त! हन्त! नलिनींगजउज्जहार॥

इन सूक्तियों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि जायसी का संस्कृत भाषा का भी अच्छा ज्ञान था। श्री टेकचन्द जी का तो यहाँ तक कहना है कि 'हिन्दू पौराणिक और लौकिक कथाओं के लिए एवम् हिन्दू संस्कृति और धर्म के तत्वों के ज्ञानार्जन के लिए भी जायसी ने प्रख्यात हिन्दू पंडितों से अनेक वर्षों तक संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था।[1] 'चित्ररेखा' में भी सूक्तियों के सुष्ठु प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

'कल नैहर पुनि आइब, कत ससुरैं यह खेल।
आपु—आपु कहँ होइहै, ज्यों पंखिन महँ डेल॥[2]'
'मन इच्छा कै लाख दस, जियत मरउजिनि कोइ।
जो लिखि धरा बिसंभर सो फिर आन न होइ॥[3]'
'राजपाट धन काहैं जग महँ पूत पियार।
जो दीपक घर नाहीं जानउ जग अँधियार॥[4]'

जायसी द्वारा सूक्तियाँ प्रायः अत्यन्त स्वाभाविक रूप में ही प्रयुक्त हुई हैं।

१—श्री टेकचन्द : पदुमावति (फोरवर्ड), श्री सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा संपादित पृ० २
२—चित्ररेखा, पृ० ८४। ३—वही, पृ० ८५।
४—वही, पृ० ८६

मुहावरों से चुस्त और अर्थपूर्ण बनी भाषा

जायसी ने पदमावत, चित्ररेखा, कहरानामा प्रभृति ग्रन्थों की भाषा में अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता तथा भाव व्यंजकता लाने के लिए सूक्तियों के साथ ही मुहावरों का प्रयोग भी अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया है। इस कार्य में वे पूर्णतः सिद्ध-हस्त हैं। मुहावरों के प्रयोग से उनकी भाषा में चुस्ती आ गई है और वह भाव-व्यंजना में अधिक सशक्त हो गई है। मुहावरों से संबलित उनकी उक्तियाँ सीधे हृदय को स्पर्श कर लेती हैं। जैसे—(जी फटना : हृदय फटना)—

जोबन नीर घटे का घटा। सत्त के बर जो नहिं हिय फटा।

यहाँ पर हृदय को सरोवर माना गया है। जल घट जाने पर ताल या सरोवर सूख जाता है उसमें दरारें पड़ जाती हैं। कवि का प्रतिपाद्य है कि जैसे ताल या सरोवर का जल घटने पर उसका हृदय फट जाता है वैसे यदि यौवन-क्षय से प्रिय का हृदय न फटे और उसकी प्रीति पूर्ववत् बनी रहे, तो सुन्दर और यदि प्रीति टूट गई—हृदय फट गया, तो उसका क्या अर्थ ?

कवि प्रायः मुहावरों के प्रयोग से भाषा को सशक्त बनाते हैं और उसकी व्यंजना-शक्ति में तीव्रता लाने का प्रयत्न करते हैं। जो लेखक मुहावरों का प्रयोग जितनी ही स्वाभाविकता। और सफलता से कर सकता है, उसकी भाषा उतनी ही चुस्त, स्वच्छ, और ओजपूर्ण मानी जाती है। कहीं-कहीं तो जायसी ने उल्लसित भाव से वर्णन करते हुए मुहावरों की झड़ी लगा दी है। जैसे—

'परी नाथ कोइ छुवै न पारा। मारग मानुष सोन उछारा।
गऊ सिंह रेंगहिं एक बाटा। दूनो पानि पियहिं एक घाटा।
नीर-खीर छाने दरबारा। दूध पानि सब करै निनारा।।
धरम नियाव चले सत भाखा। दूबर बली एक सम राखा।।
सब पृथवी सीसहिं नई जोरि जोरि कै हाथ।
गंग जमुन जौ लगि जल, तौ लगि अम्मरनाथ।।'[1]

तत्कालीन बादशाह शेरशाह की प्रशंसा और उसके शासन का गुणगान करते हुए जायसी ने प्रस्तुत उद्धरण में मुहावरों की झड़ी ही लगा दी है—'परी नाथ न छूना', 'मार्ग में सोना उछालना', 'गाय और सिंह का एक घाट पर पानी पीने', 'नीर—क्षीर विवेक', दूध का दूध और पानी का पानी, 'धर्म-न्याय पर चलना', 'सत्य बोलना', 'दुर्बल और बली की एक समान रक्षा करना', 'सिर नवाना', शीश झुकाना', 'हाथ जोड़ना', 'जब लगि गंग जमुन की धारा' प्रभृति मुहावरों का यहाँ पर संगुफन द्रष्टव्य है।

१—जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ६।

कुछ और पद्य उदाहरणार्थं दिऐ जा सकते हैं–

'जोबन बान लेहि नहिं बागा।'

'देश-देश के बर मोहिं आवहि। पिता हमार न आँख लगावहिं॥'

'राजा सुना दीठि भै आना।'

'राजा बहुत मुए तपि, लाइ–लाइ मुँह माथ।'

'काहू छुवै न पाए, गए मरोरत हाथ।'

'को अस हाथ सिंघ मुख घालै।'

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जायसी ने मुहावरों का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक रीति से किया है।

कहावतों से सजीव बनी भाषा

कहावतों के प्रयोग के क्षेत्र में जायसी हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कलाकार के रूप में उपस्थित होते हैं। इनका 'मसला' नामक ग्रंथ अवधी कहावतों और मुहावरों का आकर-ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस ग्रंथ जैसा कहावतों से भरा कोई अन्य ग्रंथ-हिन्दी में नहीं दिखाई देता। कतिपय उदाहरणों द्वारा यह बात स्पष्ट हो जायगी—

'सासु यदि तरुणी हो, तो भला बहुएँ क्या श्रृंगार करेंगी ?' 'बुद्धि विद्या के कटक में एक मनुष्य की क्या गणना ?' इन दो कहावतों का अत्यन्त स्वाभाविक और मार्मिक प्रयोग अपनी अमिट छाप छोड़ जाता है–

'बुधि विद्या के कटक महँ, मोहि मन का विस्तार।'
जेहि घर सासुहि तरुणि हैं बहुअन कौन सिंगार।'[1]

चित्ररेखा में भी कहावतों का अत्यन्त सजीव प्रयोग हुआ है–

'कहाँ चलाई मरन कौं, पीछहिं पकरी पेठ।
परनारी के नायक, बनज पराए सेठ।'[2]

'पुर कह सोइ जो धर्महिं धरै। मरती बार सत छाहँन मरै।
मनहिं कलपि रोवहि हिय फाटा। भरी नाउ को लावइ घाटा।''[3]

''दिया बुझाइ होइ अँधियारा। को अब लेसि करइ उजियारा।''[4]

१–जायसी कृत मसला, नागरीप्रचारिणी सभा की पोथी अखरौती और मसला की हस्तलिखित प्रति, पृ० ९२।

२—चित्ररेखा (हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय), पृ० १०।

३–वही, पृ० ९५।

४–वही, पृ० ९४।

'दोष ताहि जेहि सूझ न आगू।'
'उलू न जान दिवस कर भाऊ।'
'जहर चुवै जो जो कह बाता।'
'तुरय रोग हरि माथे जाए।'
'साहस जहाँ सिद्धि तहँ होई।'
'मेटि न जाइ लिखा पुरबिला।'
'निकसे घिउ न बिना दधि मथे।'
'घर के भेद लंक अस टूटी।'
'बिरवा लाइ न सूखन दीजै।'
'मेटि न जाइ काल कै घरी।'

इन कहावतों का प्रयोग बड़े कौशल से किया गया है। स्पष्ट है कि कहावतों के प्रयोग के कारण इनकी भाषा बड़ी ही हृदयस्पर्शिनी और सजीव हो उठी है।

प्रत्येक भाषा में अपने मुहावरों और लोकोक्तियों का एक विशाल कोष होता है। साहित्य की श्रीसंपन्नता के लिए इनका होना आवश्यक है। साहित्य जीवन के अंचल से संबद्ध रहता है—चाहे वह लोक साहित्य हो या अभिजात साहित्य (क्लासिकल)। मुहावरे, लोकोक्तियाँ और सूक्तियाँ जनकंठ से निःसृत होकर साहित्य के अभिन्न अंगरूप में ही काव्य-प्रसाधन बनती हैं। इनके प्रयोग से कवियों की उक्ति में तीव्रता, सशक्तता, स्पष्टता, मार्मिकता, प्रभावोत्पादकता आदि गुण आ जाते हैं। साथ ही भाषा-भाव-धारा में स्वाभाविक प्रवाह और गति आ जाती है। वक्तव्य में निखार आ जाता है। यही इन सबके प्रयोग की महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। मुहावरे, कहावतें आदि के प्रयोग के विषय में शुक्ल जी के विचार उल्लेखनीय हैं—'मुहावरों को अधिक प्राधान्य देने से रूढ़ पद-समूहों में भाषा बंधी-सी रहती है। उसकी शक्तियों का नवीन विकास नहीं हो पाता। कवि अपने विचारों को ढालने के लिए नए-नए साँचे न तैयार करके बने बनाए साँचे में ढलने वाले विचारों को ही बाहर करता है।"[१]

जायसी के काव्यों में मुहावरे और कहावतें सर्वत्र स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त हैं। यदि जायसी ने इनके प्रयोग न किये होते, तो संभवतः उनकी भाषा में वह चुस्ती, चलतापन और सरलता न आ पाती जो किसी लोकभाषा या साहित्य-भाषा की जीवंत विशेषता है। जायसी की विशेषता यह भी है कि उन्होंने अपने काव्य में इनका एक विशाल कोश एकत्र करके रख दिया है। इनके प्रयोग से पदमावत की भाषा सशक्त और जीवंत हो उठी है।

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली (भूमिका), पृ० २०१।

भाषा–शक्ति

पदमावत की भाषा में समर्थ भाषा के प्रायः सभी गुण उपलब्ध हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में पदमावत के भाष्यकार डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन उल्लेखनीय है – 'मलिक मुहम्मद जायसी कृत पदमावत की भाषा ऊपर से देखने पर बोलचाल की देहाती अवधी कही जाती है, किन्तु वस्तुतः वह अत्यन्त प्रौढ़, अर्थ-सम्पत्ति से समर्थ शैली है। अनेक स्थानों पर जायसी ने ऐसी श्लेषात्मक भाषा का प्रयोग किया है जिसके अर्थ लगातार कई दोहों तक एक से अधिक पक्षों में पूरे उतरते हैं। डा० अग्रवाल ने इस प्रकार के पाँच दोहों के उदाहरणों द्वारा इस बात के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया है।'[1] उनकी 'संजीवनी टीका' के अध्ययन से भी स्पष्ट हो जाता है कि सचमुच जायसी की भाषा-शक्ति अभूतपूर्व है। ठेठ अवधी के बोलचाल के शब्दों में श्लेष के द्वारा जो समर्थता और चमत्कार शक्ति भर दी गई है, वह प्रभविष्णु और हृदयस्पर्शी है –

'बरसै मेह चुवहिं नैनाहा। छपर-छपर होइ रहि बिनु नाहा।'[2]
'बरसै नैन चुवै घर मांहाँ। --- ---

प्रस्तुत पंक्ति में 'नैन' का अर्थ नेत्र के अतिरिक्त छप्पर में धुवाँ निकलने का प्रकाश आने वाला छेद भी है। जायसी का यह भी आशय है कि टूटे हुए छप्पर में से इन छिद्रों के रास्ते से घर के भीतर पानी टपक रहा है।

'काह हँसौ तुम मों सौं किएउ और सों नेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी हम मुख बरसै मेह ॥'

नागमती का यह वक्तव्य अत्यन्त सहज और सरल भाषा में व्यक्त किया गया है, किन्तु यह अपनी मार्मिकता के कारण सीधे हृदय को स्पर्श कर लेता है। इन पंक्तियों में लोक-व्यवहार की अवधी भाषा की व्यंजकता और प्रभविष्णुता दर्शनीय है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण पदमावत में भरे पड़े हैं। पदमावत की भाषा में जायसी के मनोभावों की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। उनकी भाषा अपने देश, काल, समाज और वक्तव्य-वस्तु की अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ है।

तुलसीदास का काव्य सर्वजन संवेद्य है। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक भाषा है। उन्होंने पंडित वर्ग को भी दृष्टिपथ में रखा था। सूर का सागर भी भागवतादि संस्कृत ग्रंथों की प्रेरणा और आधारशिला पर बना है, किन्तु जायसी

१–देखिए, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हीरक जयन्ती अंक, सं० २०१०, वर्ष ५८ अंक ३, पृ० १५५, (१५५ से १८६ तक)।
२–जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ० १५७।

की परिस्थिति ही दूसरी थी। इनके सामने न भागवत जैसा कोई ग्रंथ था और न अध्यात्म एवम् बाल्मीकि रामायण जैसा। लोक-प्रचलित कहानियाँ इन्होंने लीं। इनका लक्ष्य जनता के हृदय को छूना था। इनके सामने न तो पण्डित वर्ग था और न मुल्ला वर्ग। वे अपने उपदेशों को साधारण जनता के बीच फैलाने की कोशिश कर रहे थे। इस कारण उनकी भाषा जनसाधारण की परिष्कृत भाषा थी। इनका यही महत्व है।[1]

'यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन ! उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परौं, कंत धरै जहं पांव ॥'

इस पद्य में भावों की तीव्रता, भाषा की सुबोधता और अलंकृत व्यञ्जना-कला का उत्कृष्ट सौंदर्य दर्शनीय है।

विरहिणी के मनोभावों का एक सुबोध चित्रण देखिए —

रकत ढुरा माँसूगरा, हाड भयउ सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहि पंख ॥'

कई लोगों ने फारसी-प्रभाव कहकर इन पंक्तियों की निन्दा की है, किन्तु वे यह विचार करना भूल गए कि जायसी अपने कथन की प्रेषणीयता में सफल हैं या नहीं। फारसी-प्रभाव हो या अन्य कोई, यदि कवि अपने वक्तव्य की व्यञ्जना में सफल है तो उसे यों ही नहीं टाला जा सकता। इन पंक्तियों की व्यञ्जना द्रष्टव्य है। कहीं-कहीं जायसी अपने अभिप्रेत को घुमा फिरा कर इस कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हैं जिसमें भाव एवं व्यञ्जना को आश्चर्यजनक मार्मिकता प्राप्त हो जाती है —

'जोबन जल दिन दिन जस घटा। भंवर छपान हंस परगटा।'

इस पद्य में भ्रमर द्वारा काले केश और हंस द्वारा श्वेत केशों की व्यञ्जना का सौंदर्य द्रष्टव्य है।

भाषा की एक रूपता और उसकी कतिपय अन्य विशेषतायें

जायसी के भाषा-सौंदर्य में उसकी एकरूपता का भी बड़ा महत्व है। पदमावत, चित्ररेखा और कहरानामा में आदि से अन्त तक एक जैसी भाषा का प्रयोग हुआ है। यह भाषा सर्वत्र श्रुतिमधुर और ललित है। इसमें सहज उच्चार्यता का महान् गुण विद्यमान है। जैसे —

'पदमावति भइ पूनिउँ कला। चौदसि चाँद उई सिंघला।
नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नगहीर ॥'[2]

१—डा० कमलकुल श्रेष्ठ, हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० ३६८।
२—जायसी ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पृ० २५।

खड़ी बोली और राजस्थानी (डिंगल आदि) की अपेक्षा जायसी की भाषा में अधिक कोमलता और मृदुता भरी हुई है। उसमें डिंगल जैसा बोझीलापन नहीं है। कबीर की भाषा में भी जायसी की भाषा के इस गुण का अभाव है। यह अवश्य है कि जायसी के काव्यों में ऐसे स्थल कम हैं, जहाँ संस्कृतोन्मुखी भाषा का रूप देखने को मिलता है —

बरनौं सूर भूमिपति राजा। भूमि न भार सहै जेहि साजा।
हय गय सेन चलै जगपूरी। परबत टूटि उड़हिं होइ धूरी॥
भुइँ उड़ि अन्तरिक्ख मृत मंडा। खंड-खंड धरतीबरम्हंडा।
डोलै गगन इन्द्र डरि कांपा। बासुकि धाइ पतारहि चापा॥[1]

जिन स्थलों पर संस्कृतोन्मुख भाषा मिलती भी है वहाँ लोक-भाषा का अविकल रूप भी सुरक्षित रूप में प्राप्त होता है —

सूवन सीप दुइ दीप सँवारे। कुंडल कनक रचे उजियारे।
मनि कुंडल झलकैं अति लोने। जनु कौंधा लोकहिं दुइ कोने॥
दुहुँ दिसि चाँद सुरुज चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं॥'[2]

प्रस्तुत पद्य में सूवन (संस्कृत श्रवण), दीप (सं० द्वीप), कुंडल (सं० कुंडल), कनक (सं० कनक), मनि (सं० मणि), लोने (सं० लावण्य), लोकहिं (लोक), चाँद-सुरुज (सं० चन्द्र-सूर्य), नखतन्ह (नक्षत्र) आए हुए संस्कृत शब्द अपने तत्सम रूप में न आकर अवधी की प्रवृत्ति के अनुरूप तद्भव रूप में लोकोन्मुख होकर आए हैं। इस प्रकार जायसी की भाषा को हम ठेठ अवधी का साहित्यिक या परिष्कृत रूप कह सकते हैं।

चित्ररेखा में कहीं-कहीं जायसी की भाषा का संस्कृतोन्मुख रूप भी मुखर हो उठा है जैसे

सुनउ कथा जस अमृतबानी। जहाँ चित्ररेखा वह रानी॥
नगर चन्द्रपुर उत्तम ठाऊँ। चन्द्रभानु राजा कर नाऊँ॥
नगर अनूप इन्द्र जस छावा। बसे गोमती तीर सुहावा॥
जिन वह नगर आइ कर देखा। तिन पावा कबिलास बिसेखा॥
राइ रंक मनि मंदिर सँवारे। धरे कलस रचि सोनइ ढारे॥
भाँति-भाँति निसरैं सब नारी। बरन-बरन पहिरैं सब सारी॥
जनु कबिलासक अछरी आई। चित्रमूर्ति चित चित्र सुहाई॥
दिन बसंत अस दीखे, रैन सोरती होय।
होहिं अनंद अस घर-घर, निसि भो जान न कोय॥[3]

१—जायसी ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी पृ० ५।
२—वही, पृ० ४५।
३—चित्ररेखा, (हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय), पृ० ७८।

गोस्वामी तुलसीदास की भाषा भी इसी प्रकार की संस्कृतनिष्ठ अवधी भाषा है –

कहरानामा में कहीं-कहीं जायसी की भाषा का अत्यन्त प्रवाहमय, सशक्त और रमणीय रूप देखने को मिलता है। जैसे –

भा भिनुसारा चलै कहाँरा, होतहि पाछिल पहरा रे।
सखी जो गावहिं हुडुक बजावहिं, हँसि कै बोला महरारे ।।
सबद सुनावा सखियन्ह गावा, घर-घर महरी साजै रे।
पूजा पानी दुलहिन आनी, दूलह भा असवारा रे।
बाजन बाजे केवट साजै भा बसंत संसारा रे ।।
मंगलचारा होइ झनकारा, औ संग सेन सहेली रे।
जनु फुलवारी फूलीं बारी, जिन्हकर नहिं रस केली रे ।।
सेंदुर लै लै मारहिं धै-धै, राति-माँति सुभ डोली रे।
भा सुभ भेसू फूले टेसू, जनहु फाग होइ होरी रे ।।
कहै मुहम्मद जे दिन अनन्दा सो दिन आगे आवै रे।
है आगे नग रैनि सबहिं जग, दिनहि सोहाग को पावै रे ।।[१]

भाषा का यह उद्दाम प्रवाह और उत्तम कोटि की व्यन्जना जायसी की अपनी विशेषता है। सहज उच्चार्यता के साथ प्रवाहमयता भी उनकी भाषा का गुण है। उसमें कृत्रिमता के दर्शन तक नहीं होते। इस कारण उसमें भारग्रस्तता का नितान्त अभाव है। ठेठ भाषा के कारण सर्वत्र स्वाभाविकता विद्यामान है। 'जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है, पर उसका माधुर्य निराला हैं। वह माधुर्य 'भाषा' का माधुर्य है, संस्कृत का माधुर्य नहीं। वह संस्कृत की कोमलकान्त पदावली पर अवलंबित नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है।'[२]

जायसी और तुलसीदास की भाषा

सगुण भक्तिधारा के कवियों में से केवल गोस्वामी तुलसीदास जी की भाषा के साथ ही जायसी की भाषा की चर्चा किसी प्रकार की जा सकती है। ये दोनों अवधी भाषा के अमर रत्न हैं। दोनों ने महाकाव्यों का निर्माण किया है। दोनों ने महाकाव्यों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी लिखे हैं। इन दोनों के महाकाव्य–'राम–चरित मानस' और 'पदमावत' हिन्दी के सर्वोत्तम प्रबन्ध काव्य के रूप में समादृत हैं। रामचरितमानस परवर्ती कृति है। पदमावत की रचना के ३५ वर्ष पश्चात्

१–जायसीकृत महरीनामा, (मनेर शरीफ की प्रति), हस्तलिखित प्रति से।
२–पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली, पृ० २०५।

गोस्वामी तुलसीदास ने १६३१ वि० में इसका प्रणयन किया था। आख्यानक काव्यों के लिए पहले से ही चली आती हुई अवधी भाषा और दोहा-चौपाई की शैली का दोनों महाकाव्यों में प्रयोग हुआ है।

इन दोनों कवियों ने 'भाषा' की महत्ता को स्वीकार किया था। इनके पहले विद्यापति कह चुके थे—

सवकय वाणी बहुअन भावइ। पाइय रस को मम्म न पावइ।
'देसिल बअना सब जन मिट्ठा। तैं तैसन जंपजों अबहट्ठा।
ऊ परमेसर हर सिर सोहइ। ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ।'[1]

कबीरदास ने भी कहा था 'संस्कीरत है कूप जल भाखा बहता नीर'। 'सूरदास' ने भी भागवत की कथा को 'भाषा' (व्रजभाषा) में कहा है—

'व्यास कहैं सुकदेव सों द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै, पद भाषा करिगाइ॥'

जायसी के परवर्ती कवि केशवदास ने भी 'भाषा' को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना था—

'भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
तेहि कुल महं मति मंद भो केशव केशवदास॥'

जायसी ने भी कहा था—

'आदि अंत जस गाथा अहै। लिखि भाखा-चौपाई कहै।'

इसी प्रकार की बात अपनी भाषा के विषय में तुलसीदास ने भी कही है—

'नाना पुराण निगमागम संमतंयद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबन्धमति मंजुलमातनोति।'[2]
'भाषा-भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई।'

स्पष्ट है कि लोक भाषा के ही माध्यम से इन दोनों कवियों ने अपनी अभिव्यंजनाएं की हैं। कहा जा सकता है कि जायसी ने 'कूपजल' की भांति बंधी हुई शास्त्रीय भाषा का प्रयोग नहीं किया है। उनकी 'भाषा' अवध प्रदेश के जनकंठ की अजस्र सलिला वाणी के तत्कालीन बहता नीर का सर्वोत्तम निदर्शन है। रामचरितमानस की अवधी परिनिष्ठत, परिमार्जित और संस्कृतगर्भित है। उसमें संस्कृत की कोमलकान्तता पूर्ण मात्रा में है और पदमावत की भाषा ठेठ अवधी की उत्कृष्ट माधुरी से आप्लावित है। उसमें अवधी अपनी निज की मिठास लिए हुए है।

१—विद्यापति, कीर्तिलता, प्रथम पल्लव, पृ० २।
२—रामचरित मानस, कशिराज सँस्करण, पृ० १।

दोनों महाकवियों की भाषा के स्पष्टीकरण के लिये एक-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

'जब हुँत कहिगा पंखि संदेसी। सुनिउँ की आवा है परदेसी।
तबहुँत तुम्ह बिनु रहै न जीऊ। चातक भएउँ कहत पिउ-पीऊ॥'
भइउँ चकोर सो पंथ निहारी। समुद सीप जस ननद पसारी।
'भएउँ बिरह जरि कोइलि कारी। डार-डार जिमि कूकि पुकारी।'
बन्दौं गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा
अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू।
सुकृत संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किये तिलकु गुन-गन बस करनी।
श्री गुर पद नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥''[१]

इन दोनों उद्धरणों की तुलना से स्पष्ट है कि पदमावत में 'संदेसी, सुनिउँ, पसारी, कारी, पंखि,' प्रभृति ठेठ अवधी के शब्दों में सहज माधुर्य, सहज उच्चार्यता, प्रवाह-मयता, स्वाभाविकता और व्यंजनात्मकता है, तो दूसरे छोर पर रामचरितमानस की भाषा में 'सुवास, सरस अमिय, मय, भव–रुज, सुकृत, तन, विमल, मंजुल-मंगल-मोद, जनमन–मंजु, मुकुल–मल, श्री-गुर-पद-नख, दिव्य–दृष्टि प्रभृति संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राचुर्य है। इसी कारण रामचरितमानस की भाषा संस्कृतगर्भित और शास्त्रीय हो गई है।

यदि गोस्वामी जी ने अपने 'रामचरित मानस' की रचना ऐसी ही भाषा में की होती जैसी कि इन चौपाइयों की है–

'कोउ नृप होइ हमें का हानी। चेरि छांड़ि अब होब कि रानी।[१]
जारै जोग सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा।'

तो उनकी भाषा पदमावत की ही भाषा होती और यदि जायसी ने सारी 'पदमावत' की रचना ऐसी भाषा में की होती जैसा कि इस चौपाई की है—

'उदधि आइ तेइ बँधन कीन्हा। हति दसमाथ अमरपद दीन्हा।'

तो उसकी और 'रामचरितमानस' की एक भाषा होती, पर जायसी में इस प्रकार की भाषा कहीं ढूँढ़ने से एकाध जगह मिल सकती है।[२] चित्ररेखा की भाषा पदमावत की अपेक्षा अधिक संस्कृतनिष्ठ किवां संस्कृतोन्मुख है। जैसे—

'सुनउ कथा जस अमृतबानी। जहां चित्ररेखा वह रानी।

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारणी सभा, काशी, पृ० २०५–६।

२–रामचरितमानस काशीराज संस्करण पृ० १।

नगर चन्द्रपुर उत्तम ठाऊँ। चन्द्रभानु राजाकर नाऊं।
नगर अनूप इन्द्र जस छावा। बसे गोमती तीर सुहावा।
जनु कबिलास क अछरी आई। चित्रमूर्ति चित चित्र सुहाई॥
दिन बसंत अस दीखे, रैन सोरती होय।
होहिं अनंद अस घर-घर निसि भो जान न कोय।[१]

"अवधी में इतनी बड़ी और व्यापक प्रबन्ध-रचना पहले इन्हीं की मिलती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस की रचना के समय इनकी पदमावती को बहुत सी बातों में आदर्श बनाया होगा। कम से कम मानस का वाह्य रूप और विशेषतः उसकी भाषा तो पदमावती से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं, अंतर केवल इतना ही है कि मानव में हम अवधी का परिमार्जित, सुसंस्कृत और सर्वथा साहित्यिक रूप देखते हैं पर पदमावत में यह अपने ठेठ रूप में है। जिस भाषा का प्रयोग जायसी ने किया है उस पर उन्हें पूरा अधिकार था। अवधी का स्वाभाविक माधुर्य जायसी की ही भाषा में प्रस्फुटित हो पाया हैं।"[२]

जायसी शब्दों में चित्र प्रस्तुत करने वाले हिन्दी के अन्यतम कलाकार हैं। चित्ररेखा में भी भाषा बड़ी ही अर्थपूर्ण हो उठी है-

'अहै चित्ररेखा जु कहानी। लिखे चित्र करि कंचन बानी।
कँचन-कंचन हीरा मोती। पिरुवा हार हुई तस जोती।
कविता औ गुन आगर सोई लैं पिरुई दुहुँ कहँ जिन्ह होई।

पदमावत की अवधी लोकोन्मुखी है और मानस की अवधी संस्कृतोन्मुखी है। चित्ररेखा की भाषा और मानस की भाषा के आदर्श एक हैं। सचमुच अवधी के इन दोनों महाकवियों की भाषा के समस्त गुणों से अलंकृत सुन्दर भाषा का आदर्श रूप है।

जायसी की अवधी और उनके प्रयोग का औचित्य

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का कथन है कि 'ग्रामीणता के क्षेत्र दोष से तो इनका (जायसी का) ग्रन्थ भरा पड़ा है। इन्होंने इतने ठेठ ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया है जो किसी प्रकार बोध-सुलभ नहीं। ग्रामीण शब्दों का प्रयोग इसलिए सदोष माना गया है कि उनमें न तो व्यापकता होती है और न तो वे उतना उपयोगी होते हैं जितना कविता की भाषा के लिए उन्हें होना चाहिए।

१-चित्ररेखा पृ० ७८।
२-गणेशप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी प्रेम गाथा संग्रह, पृ ४२।

कहीं–कहीं उसकी भाषा बहुत गँवारी हो गई है जो जो उनके पद्यों में अरुचि उत्पन्न करने का कारण होती है ।[१]

अपने इस वक्तव्य के लिए उन्होंने कई पद्य भी उद्धृत किए हैं । इनमें से एक-दो पद्यों के औचित्य पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा ।

'दीठि दँवगरा मेरवहु एका ।'

प्रस्तुत उद्धरण में हरिऔध जी ने 'दवँगरा मेरवहु' शब्द को 'गँवारी भाषा' के रूप में कहा है । स्पष्ट है कि इन्हीं शब्दों के सौन्दर्य की प्रशंसा आचार्य शुक्ल, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल तथा जायसी के अन्य अध्येता करने में अघाते नहीं । वस्तुतः 'दीठि दँवगरा मेरवहु एका' की अभिव्यंजना अत्यन्त तीव्र है –

'बिहरत हिया करहु पिउटेका । दीठि दवँगरा मेरवहु एका ।'

विरहिणी के मार्मिक मनोभावों की जो अत्यन्त चित्रात्मक और प्रभविष्णु व्यंजना की गई है, वह 'बिहरत' 'दवँगरा', 'मेरवहु' शब्दों द्वारा ही संभव थी । प्रिय-प्रवास के पाठकों को ज्ञात है कि 'हरिऔध' जी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के पुजारी थे । यदि वे जायसी की इन पंक्तियों में ग्रामीणता और 'गँवारी' होने का दोष देखें तो स्वाभाविक है । खेद है कि जायसी की भाषा के अत्यंत व्यंजनामय वास्तविक सौंदर्य का वे सही मूल्यांकन नहीं कर सके ।

भाषा–भावाभिव्यक्ति और जायसी

काव्य की भाषा केवल अर्थ बोध कराने के लिए ही नहीं होती, वह भावोन्मेष के साथ चमत्कारपूर्ण अनुरंजन भी कराती है । अन्य वाङ्मयों विज्ञान, ज्योतिष, दर्शन आदि की भाषा नियत अर्थ के अतिरिक्त कोई इतर अर्थ का बोध नहीं कराती, परन्तु कवि की वाणी जितने ही अधिक से अधिक अर्थों की व्यंजना करेगी उतने ही उत्कर्ष को प्राप्त होगी । नियत अर्थ तक पहुँचने के लिए अन्य वाङ्मय अभिधा शक्ति से ही काम लेते हैं । किन्तु काव्य प्रस्तुत के अतिरिक्त अन्य अर्थों की व्यंजना के लिए अभिधा के अतिरिक्त लक्षण और व्यंजना का भी सहारा लेता हैं । कविता की भाषा कलामय होती है और विज्ञान की कला–रहित । कविता की भाषा में हृदय–रंजकता, सरलता तथा मार्मिकता होती है और विज्ञान की भाषा में तथ्यात्मकता, कोरी सैद्धाँतिकता और शुष्कता होती है । भाषा मात्र शैली का प्रधान उपकरण ही नहीं कवि से परम साध्य भावाभिव्यंजना का प्रधान भी है । वह शैलीगत सौंदर्य -वर्द्धन ही नहीं करती, भावों के सौन्दर्य में तीव्रता भी लाती है । भावाभिव्यंजना की दृष्टि से भाषा के दो पक्ष होते हैं– (१) सांकेतिक और (२) बिम्बाधायक (सिम्बालिक एंड प्रजेन्टेटिव) । सांकेतिक भाषा में नियत

१–पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १७२ ।

सम्बन्ध द्वारा अर्थ-बोध मात्र लक्ष्य होता है। दूसरे प्रकार की भाषा में बिम्ब ग्रहण कराना लक्ष्य होता है। इससे वस्तु या प्रतिपाद्य का बिम्ब (इमेज) या चित्र का अन्तःकरण में उपस्थित होता है। प्राय: महान कवि विम्बाधायक भाषा का ही माध्यम गृहीत करते हैं। रसात्मक वर्णनों में यह आवश्यक है कि ऐसी वस्तुओं का बिम्बग्रहण कराया जाय जो प्रस्तुत रस के अनुकूल हों, प्रतिकूल या बाधक न हों।

जायसी प्राय: बिम्बाधायक पक्ष का ही आश्रय लेते हैं। वे सर्वत्र बिम्ब (इमेज) ग्रहण कराते चलते हैं। उन्होंने लिखा भी है –

'अहै चित्ररेखा जु कहानी। लिखे चित्रकरि कंचन बानी।'

(चित्ररेखा, पृ० ७७)

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का भी कथन है कि जायसी 'बाणभट्ट की भाँति शब्दों में चित्र लिखने के धनी हैं। चित्र भी ऐसे जिनके पीछे अर्थों का अक्षय्य रस-स्रोत बहता है।'[1] कहीं-कहीं फारसी परम्परा से प्रभावित होकर जायसी ऐसा बिम्बग्रहण कराते हैं जो अरुचि-सा उत्पन्न कर देता है —

'हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा। रुहिर भरी अँगुरी तेहि साथा।[2]'

प्रस्तुत पद्य पद्मावती के 'नख-शिख-वर्णन' के प्रसंग का है। कवि एक सुन्दरी का चित्र उपस्थित करना चाहता है जिसमें उसकी हथेलियाँ और अँगुलियाँ लाल हैं। यह कल्पना की गई है कि हृदय काढ़ लेने के कारण ये लाल हैं। यहाँ हेतूत्प्रेक्षा के माध्यम से बिम्ब-ग्रहण अवश्य कराया गया है, किन्तु प्रस्तुत रस के प्रतिकूलत्व के कारण कोई रुचिकर दृश्य सामने नहीं आता।

जायसी की भाषा (एक संक्षिप्त सिंहावलोकन)

जायसी की भाषा अधिकांश पूरबी या ठेठ अवधी है। जायसी की 'अवधी अर्द्ध मागधी का ही रूपान्तर है। और अर्द्धमागधी पर शौरसेनी का बहुत कुछ प्रभाव है। शौरसेनी का ही रूपान्तर ब्रजभाषा है। इस लिए इटावा इत्यादि के पास जहाँ अवधी ब्रजभाषा से मिलती है वहाँ की अवधी यदि ब्रजभाषा से प्रभावित हो, तो यह स्वाभाविक है[1]।' जायसी की भाषा में बीच-बीच में पुराने अपभ्रंश-प्रयोग और पश्चिमी प्रयोग भी आ जाते हैं। अत: भाषा ऊपर से कुछ अव्यवस्थित सी ज्ञात होती है, किन्तु उन रूपों का विवेचन कर लेने पर यह अव्यवस्था नहीं रह जाती। केशव अनुयायी भूषण, देव आदि फुटकलिए कवियों की भाषा से इनकी भाषा कहीं स्वच्छ और व्यवस्थित है। चरणों की पूर्ति के लिए अर्थ-सम्बन्ध और व्याकरण-सम्बन्ध-रहित शब्दों की भरती कहीं नहीं है। "शब्दों के व्याकरण-विरुद्ध-

---

१—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, प्राक्कथन, पृ० ५।

२—जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ४६।

रूप अवश्य कहीं-कहीं मिल जाते है जैसे —

'दसन देखि कै बीजु लजाना ।'

यहाँ लजाना के स्थान पर 'लजानी' चाहिए । पूरबी अवधी में भी लजानी रूप होगा, जिसे छन्द के विचार से यदि दीर्घांत करेंगे, तो 'लजानि' होगी ।''[१] किन्तु ऐसे व्याकरण--विरूद्ध--स्थल बहुत ही कम हैं। प्राय: सर्वत्र व्याकरण-सम्मत ठेठ अवधी भाषा का सौन्दर्य दर्शनीय है ।

तुलसीदास और जायसी की भाषा में चरण के अन्त में आए हुए किसी पद के लिंग का निर्णय करते समय यह विचार लेना चाहिए कि यह छन्द की दृष्टि से लघ्वन्त से दीर्घान्त तो नहीं कर दिया है । कुछ लोग जायसी के 'देखि चरित पदमावति हँसा और तुलसीदास के 'मरम बचन सीता जल बोला' को व्याकरण-विरुद्ध मानते हैं और अपनी सुबुद्धि का आरोप करके वे 'मर्म बचन सीता जब बोली । हरि प्रेरित लछिमन मति डोली ।' पाठ भी गढ़ लेते हैं। वस्तुत: ऐसे लोग भूल जाते हैं कि 'हँसा' और 'बोला' अवधी के वर्तमानकालिक 'हँस' और 'बोल' के पदान्त दीर्घ रूप हैं । इस प्रकार के दीर्घ रूप और संक्षिप्त रूप पदमावत में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन संक्षिप्त रूपों का व्यवहार दोनों लिंगों में समानरूप से हो सकता है । 'सो अन्धा जेहि सूझ न पीठी' में 'सूझ' शब्द 'सूझइ' का संक्षिप्त रूप है। वस्तुत: ऐसा प्रयोग १२वीं, १३वीं और १४वीं शती की अवधी में होता था। 'उक्ति व्यक्तिप्रकरण' (दामोदर भट्ट) १२वीं शती और 'चन्दायन'[२] (मुल्लादाऊद १३७९ ई०) नामक ग्रन्थों में ऐसे प्रयोग मिल जाते हैं ।

जायसी की भाषा में मिलने वाले न्यूनपदत्व दोष के विषय में विद्वानों की राय है कि इसका कारण है कि हमें उस काल का ठीक उच्चारण ज्ञात नहीं है। विभक्तियों का लोप, सम्बन्ध वाचक सर्वनामों का लोप तथा अव्यय पदों का लोप जायसी के यहाँ काफी संख्या में मिल जाता है । परवर्ती काल के कवियों की भाँति शब्दों के अंग-भंग करके छन्दानुकूल तथा रसानुकूल बना लेने की प्रवृति जायसी में नहीं है । वे केवल पदान्त में ह्रस्व का दीर्घ कर देते हैं, जो अपभ्रंश काल से चला आता हुआ परम्परानुमोदित तथा स्वीकृत नियम है ।

जायसी की भाषा में समस्त पदों के प्रयोग कम ही हुए हैं । जहाँ ऐसे प्रयोग हैं भी वहाँ दो से अधिक पदों के समास का नहीं । दो पदों के समास भी प्राय: तत्पुरुष हैं। वे भी प्राय: संस्कृत की रीति पर न होकर फारसी—परम्परा के अनु-

---

१–जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी भूमिका, पृ० २०१ ।

२—'चन्दायन' की रीलैंड लाइब्रेरी, इंग्लैंड की ३०५ पृष्ठों की सचित्र प्रति ।

सार हैं। 'सन्देस रासक' (अद्दहमाण) आदि अपभ्रंश ग्रन्थों में समासपद का व्यतिक्रम देखा जा सकता है, जैसे, णेवर चरण विलग्गिया। 'यही बात जायसी के' 'लीक-परवान' में दर्शनीय है —

(१) 'लीक परवान पुरुष कर बोला।' (—परवान लीक)

(२) 'भा भिनुसार किरिन-रबि फूटी।' (—रबि-किरिन)

इसी प्रकार अव्यय-पदों का लोप भी अपभ्रंशकाल में ही प्रारम्भ हो गया था। इतना तो स्पष्ट है कि परवर्ती ब्रजभाषा के कवियों के समान बेढंगा तोड़-मरोड़ जायसी में नहीं है।

तुलसीदास तुलनात्मक संस्कृत परम्परा के जानकर थे। अत: उनकी भाषा में प्राचीनता के अनेक लक्षण और संस्कृत पदावलियों के विन्यास मिल जाते हैं, परन्तु जायसी की पहुँच उतनी दूर तक नहीं थी। अत: वे संस्कृतनिष्ठ भाषा नहीं लिख सके हैं। उनमें ठेठ अवधी का ही निराला माधुर्य है। पुरानी अपभ्रंश-परम्परा के प्रयोग उनकी भाषा में मिल जाते हैं, ये प्रयोग सम्भवत: तत्कालीन प्रचलित बोलचाल की परम्परा से उठ चुके थे। पदमावत में कई पुरानी विभक्तियों के प्रयोग भी पाए जाते हैं। जैसे— अपभ्रंश की सम्बन्धवाचक 'ह' या 'हि' विभक्ति सभी कारकों में प्रयुक्त हुई है। सम्बन्ध बाचक तन का रूप भी जायसी में मिल जाता है। पंचमी में प्रयुक्त प्राकृत की 'सुन्तो' और अपभ्रंश की 'हुन्तो' विभक्तियाँ जायसी में हुँत होकर आई हैं —

'जब हुँत कहिगा पंखि सँदेसी। सुनिउँ कि आवा है परदेसी॥'

'तब हुँत तुम बिनु रहे न जीऊ। चातक भइउँ कहत 'पिउ-पीऊ॥''

तुलसीदास और जायसी दोनों कवियों ने कतिपय प्राचीन अपभ्रंश शब्दों के भी प्रयोग किए हैं। जैसे — दिनिअर, ससहर, अहुट्ठ, पुहुमी, विसहर, सरह, आदि। पदमावत की भाषा मूलत: अवधी है, परन्तु उसमें कहीं-कहीं पुरुष-भेद-शून्य पश्चिमी रूप भी मिल जाते हैं। सकर्मक भूतकालिक क्रिया-रूपों के लिंग और बचन अधिकतर पश्चिमी हिन्दी के ढंग पर कर्मानुसार प्रयुक्त हुए हैं। जैसे — 'बसिठन आइ कही यह बाता।'

साधारण क्रिया में 'आउब', 'जाब' आदि बकारांत रूपों के अतिरिक्त उनके 'आवन', 'जान' आदि नकारान्त रूप भी मिल जाते हैं। खड़ी बोली की भाँति जायसी की अवधी में अकर्मक कृदन्त (जो कभी-कभी लघ्वन्त भी होते हैं। प्रयोग भी मिलते हैं। जैसे —

'बैठ महाजन सिंघलदीपी।'

'रहा न जोवन आव बुढ़ापा।'

जायसी ने 'अछ', 'बार' 'आदि धातुओं का भी प्रयोग किया गया है। ये बंगला और

मैथिली में अब भी चलती हैं –

'आछ हिनैन अकाश,।'
'कँवल न आछै आपनि बारी।'

सम्भव हैं तत्कालीन ठेठ अवधी में यह प्रयोग प्रचलित रहा हो।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पदमावती की भाषा ठेठ अवधी है, तथापि उसमें पूरबी हिन्दी, पश्चिमी हिन्दी तथा प्राचीन अपभ्रंश के चिह्न मिल जाते हैं। मसला की भाषा ठेठ अवधी है। चित्ररेखा की भाषा कहीं–कहीं संस्कृतनिष्ठ अवधी है।

समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि लोकभा का जायसी जैसा पुष्ट और सार्थक प्रयोग हिन्दी के किसी कवि ने नहीं किया है। प्रायः सभी श्रेष्ठ कवि संस्कृतनिष्ठ भाषा, संस्कृत पदावली और संस्कृत के काव्यशास्त्र का पद-पद आश्रय लेते हैं, किन्तु धरती पर प्रवाहित होने वाली सर्व सुलभ सामान्य लोक–भाषा की जनगंगा को काव्यतीर्थ के छाया–तले लाने का भागीरथ प्रयत्न किसी श्रेष्ठ कवि ने नहीं किया। इस दृष्टि से जायसी की भाषा का बड़ा महत्व है।

११

सूफीमत : जायसी की प्रेम-साधना

'सूफी' : व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में बड़ा मतभेद है। विविध तर्कों एवं युक्तियों के द्वारा इस शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों को संगत एवं समीचीन ठहराने के प्रयत्न किए गए हैं। प्राय: ये व्युत्पत्तियां सूफी-साधकों के जीवन,को लक्ष्य में रखकर दी गई हैं। अब् नस्-अल-सर्राज' ने 'किताब-अल-लुमा'[1] में इस शब्द के विषय में लिखा है कि मूलत: सूफी शब्द अरबी के 'सूफ' शब्द से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ 'ऊन' है। भाषाशास्त्री इस व्युत्पत्ति को ठीक मानते हैं। अल-सर्राज का इसके विषय में कथन है कि ऊन का व्यवहार संत, साधक एवं पैगम्बर लोग करते आए हैं, विभिन्न हदीसों और विवरणों से यह बात स्पष्ट है। अत: 'ऊनी लिबास' धारण करके ऐकान्तिक जीवन व्यतीत करने वाले साधकों को दृष्टि में रखकर यह नाम रख दिया गया हो इसमें कुछ असंगति नहीं मालूम होती। नोएल्दके ने भी इस व्युत्पति का समर्थन करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि इस्लाम की प्रथम दो शताब्दियों में प्राय: लोग ऊनी वस्त्रों का प्रयोग करते थे संन्यास जीवन व्यतीत करनेवाले साधक तो इस प्रकार के 'ऊनी-चोगा विशेष' का व्यवहार करते ही थे।[2] अनेक सूफियों, भाषा वैज्ञानिकों और अध्यात्मशास्त्रियों ने इसी मत के समर्थन में अपने मत प्रकट किए हैं। ब्राउन ने इसी मत का समर्थन किया है। मासूदी को मूल आधार मानते हुए उसने लिखा है कि प्रारम्भिक काल से ही लोगों ने ऊनी वस्त्र धारण करने को जीवन की सहज सादगी, संयता और विलासिता से दूर रहने का

१—सं० जेम्स हेस्टिंग्ज, इन्साइक्लोपीडिया आव् रिलिजन एण्ड एथिक्स, वाल्यूम १२, १९२१।

२—इ० जी० ब्राउन, लिटरेरी हिस्ट्री आव् परशिया (१९०९), पृ० ४१६।

प्रतीक मान लिया था ।[1] हज़रत मुहम्मद और उनके बाद के चार खलीफों ने भी इसी बात पर बल दिया था । अब्-बकर अल-कलाबधी[2] एवं इब्न खल्दून ने भी 'सूफी' शब्द को 'सूफ' से ही व्युत्पन्न बताया है । लुई मासियों ने भी इसी व्युत्पत्ति को सर्वोत्तम माना है ।[3]

कतिपय विद्वान 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति 'सफा' शब्द से मानते हैं । सफा अर्थात् पवित्र । कुछ लोगों का कथन है कि व्याकरण में 'सफा' शब्द से 'सफबी' रूप होगा 'सूफी' नहीं । हुज्विरी का कथन है कि मूलतः 'सफा' शब्द से ही 'सूफी' शब्द बना है । उसका कहना है कि जो लोग पवित्र थे, वे सूफी कहलाए । कुछ विद्वानों का विचार है कि पैगम्बर मुहम्मद साहब के समय में मदीने की मस्जिद के सामने बेंच पर बैठने वाले संतों— 'अहूल-अल-सुफ्फाह' के 'सुफ्फाह' शब्द से ही 'सूफी' शब्द बना है । इस प्रकार जो लोग उस चबूतरे (सुफ्फ) पर बैठते थे वे सूफी कहलाए । इस व्युत्पत्ति में भी वही दोष है— 'सुफ्फाह' शब्द से 'सुफ्फी' बन सकता है 'सूफी' नहीं । कुछ विद्वानों के अनुसार 'सफ्फे-अव्वल' के सफ्फ शब्द से 'सूफी' शब्द बना है । 'सफ्फे-अव्वल' अर्थात् प्रार्थना में निरत ईमान लाने वालों की पहली पंक्ति ।[4] इस व्युत्पत्ति के विषय में भी वही बात है कि 'सफ्फ शब्द से सफ्फी बनेगा, सूफी नहीं । कुछ लोग 'बनू-सूफा' नामक एक यायावर जाति के 'सूफा' शब्द से इसकी व्युत्पन्न बताते हैं । सूफी संत भी अपने शिष्यों के साथ स्थान-स्थान पर घूमा करते थे । कतिपय विद्वानों ने ग्रीक शब्द 'सोफिस्ता' से 'सूफी' और 'थियोसोफिया' शब्द से 'तसव्वुफ' की व्युत्पत्ति करने के प्रयत्न किये हैं । सोफिया का अर्थ है ज्ञान । इस विषय में कहा जाता है कि सूफी साधक अनुभव-सिद्ध ज्ञान को महत्वपूर्ण मानते हैं । अलबरूनी (जन्मकाल ९७३ ई०) के समय में भी यह मान्यता थी कि 'सूफ' (ऊन के अर्थ में) शब्द से 'सूफी' शब्द बना । पर उसने यह मत प्रकट किया है कि उच्चारण में विकृति के कारण 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति 'सूफ' से की जाने लगी ।[5] उसका कथन है कि इसका अर्थ वह युवक है जो 'साफ़ी' (पवित्र) है । उसके अनुसार यह साफ़ी ही सूफी हो गया है । सूफी अर्थात् विचारकों का दल'।[6] ब्राउन का कहना है कि यह निश्चित है कि सूफी शब्द की व्युत्पत्ति

१—ई० जी० ब्राउन, लिटरेरी हिस्ट्री आव् परशिया (१९०९), पृ० ४१७ ।
२—ए० एम० शुश्तरी, आउट लाइन्स आव इस्लामिक कल्चर, वाल्यूम २०, (१९३८), पृ० ३७४ ।
३—इन्साइक्लोपीडिया आव् इस्लाम, वाल्यूम ८ (१९३४), पृ० ६८१ ।
४—शुश्तरी, आउट, लाइन्स, आव् इस्लामिक कल्चर, वाल्यूम २ सं० ४, पृ० ३७४ ।
५—अलबरूनीज इण्डिया, अनु० सचाऊ, पृ० ३३ । ६—वही, पृ० ३३ ।

सूफ से हुई है फारसी रहस्यवादी साधकों को 'पश्मीना पोश' (ऊनधारण करने वाला) कहा गया है, इससे भी इस मत की पुष्टि होती है।[1]

वास्तव में सूफीमत की साधना प्रेम पर आधारित है। अबुल हसन अल हुज्वेरी का कथन है कि "वह शख्स जो मुहब्बत के वास्ता से मुस्सफा होता है, वह साफी है और जो शख्स दोस्त की मुहब्बत में गर्क हो, गैर दोस्त से बरी हो, वह सूफी होता है।"[2] वस्तुत: सूफीमत का इतिहास मुहम्मद साहब के मक्का से मदीना भागने के समय से प्रारम्भ होता हैं।[3] अत: हम कह सकते हैं कि इस मत का इतिहास ६२३ई० के आस-पास से शुरू होता हैं। इस पर ईसाई, नव अफलातूनी भारतीय वेदान्त आदि के गहरे प्रभाव पड़े हैं। मंसूर हल्लाज[4] भारत वर्ष में रह चुके थे। उसने वेदान्त का अध्ययन किया था। उन्होंने गुजरात की भी यात्रा की थी। कट्टर इस्लामि पंथियों को उसके 'अनल हक' ने क्रुद्ध कर दिया था। उसे ९२२ ई० में कत्ल कर दिया गया।

सोफिया, सूफी और स्वभास (संस्कृत) शब्दों में अदभुत सामंजस्य है। वस्तुत: 'सूफी' शब्द सूफ' (ऊन) से ही व्युत्पन्न है। व्याकरण की दृष्टि से भी 'सूफी' शब्द की 'सूफ' शब्द से व्युत्पत्ति शुद्ध है। आरबेरी, निकल्सन, ब्राउन, मारगोलिथ मीर वली-उद्दीन प्रभृति विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वास्तव में सूफी शब्द 'सूफ' से ही बना हैं।[5] अब जो विद्वान 'सूफ' शब्द से सूफी शब्द को व्युत्पन्न मानते हैं उनके मत से सूफी वह मर्मी साधक है जो ऊनी चोगे का व्यवहार करता है और परम प्रियतम के रूप में परमात्मा की उपासना करता है तथा इसे अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता है।

सूफीमत या तसव्वुफ और उसका आविर्भाव

प्राय: विद्वान इस मत से सहमत हैं कि इस्लाम के रहस्यवादी सूफी नाम से प्रख्यात हैं और इस्लाम का रहस्यवाद या सूफी-दर्शन ही 'तसव्वुफ' है। प्रारंभ काल से ही 'सूफी' और 'सूफी मत' शब्दों की व्याख्याएँ की जाती रही हैं, इन व्याख्याओं ने इस शब्द का अर्थ और अधिक जटिल बना दिया है। फरीदुद्दीन अत्तार ने (१२३०

१—ए लिटरेरी हिस्ट्री आफ परशिया, भाग १, पृ० ४१७

२—कश्फुल महजूब हुज्वेरी, (उर्दू अनुवाद) पृ० ४१

३—मोहम्मडनिज्म, एच० ए० आर० गिब्ब, पृ० १००, १०१

४—अमृत बाजार पत्रिका, पूजा अंक १९५७ ई० पृ० १८ (इंडिया एन्डदी अरब-वर्ल्ड)।

५—ब्राऊन, इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, वाल्यूम १२, पृ० १०। (निकल्सन ने भाषाशास्त्र की दृष्टि से इसे ठीक नहीं माना है)।

ई०) 'तज़किरातुल औलिया' नामक ग्रन्थ में 'सूफी-तसव्वुफ' की सत्तर परिभाषाओं का उल्लेख किया है। कहा जाता है कि सूफी मत इस्लाम के अंतर्गत कोई ऐसा संघटित संप्रदाय नहीं है कि उसके मतों और सिद्धान्तों को एक सुसंगठित और नियमित प्रणाली के अंतर्गत रखा जाय। यानी धर्म की भाँति यह किसी संप्रदाय विशेष की प्रणाली में बँधा हुआ नहीं है। हुज्विरी (मृ० १०६२ ई०) का कथन है कि सूफियों के लिए सूफी सिद्धान्त सूर्य से भी अधिक स्पष्ट हैं। अतः स्पष्ट है कि वे सिद्धान्त व्याख्या सापेक्ष नहीं हैं। 'सच्चा सूफी वह है जो अपवित्रता को पीछे छोड़ आया है।'[१]

संत मारूफ अल-करखी का कथन है कि परमात्मा संबंधी सत्य को जानना और मानव-जीवन से संबद्ध वस्तुओं से संन्यास लेना ही सूफी का धर्म है। ए० निकल्सन ने इस परिभाषा को प्राचीनतम कहकर समादृत किया है। अबुल हुसेन अल-नूरी ने सूफी और सूफी धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'सूफी को संसार से घृणा होती है और ईश्वर से प्रेम।'[२] जुनेद का कथन है कि सूफी मत वह ईश्वरीय प्रेम का मत है जिसमें ईश्वर पुरुष की निजी स्वार्थों के लिए जीवन धारण करने दे। ईश्वर ऐसा कर देता है कि जीव उसी में लीन रहकर उसी के लिए जीता है। अबू अली कुजवीनी के अनुसार सूफी मत सुन्दर व्यवहार है। अबू सहर सालूकी के मत से विधि-निषेधों से बचना ही सूफी मत है। बिशर-अलहाफी ने बतलाया है कि सूफी वह है जो परमात्मा के सहारे अपने हृदय को पवित्र रखता है। अबू सईद फजलुल्ला[३] ने सूफीमत की परिभाषा देते हुए बतलाया है कि एकाग्र चित्त से परमात्मा का ध्यान लगाना ही सूफीमत है। अबू बकर शिबली ने कहा है कि यह परम त्याग अर्थात् इस संसार में अथवा आने वाले जीवन में परमात्मा के सिवाय अन्य किसी ओर ध्यान नहीं जाने देना ही इसकी विशेषता है। जून-नून मिश्री ने सूफी के लक्षणों को बतलाते हुए लिखा है कि सूफी वह है जो बचन और कर्म में सामंजस्य बनाए रखता है और उसका मौन ही उस अवस्था का परिचय देता है और जो संसारिक बंधनों को दूर कर देता है। कुछ लोगों का यह मत है कि सूफी की विशेषता यह है कि उसका हृदय पवित्र है, उसका कर्तव्य भी पवित्र है।

इन समस्त परिभाषाओं में इस बात पर जोर दिया गया है कि बाहर और भीतर की शुद्धि और पवित्रता बनाये रखना सूफी साधक का कर्तव्य है। उसके लिए

१—अल हुजविरी, दी कश्फ़ अल-महजूब, अनुवादक – ए० निकल्सन, १९११, पृ० ३५।

२—लिटरेरी हिस्टी आफ दी अरब्स, पृ० ३८५–३९२।

३—स्टडीज़ इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म, पृ० ४९।

४—इस्लामिक सूफीज्म, पृ० २०।

आवश्यक है कि वह अपनी समस्त इच्छाओं, समस्त वासनाओं को मिटाकर परमात्मा की इच्छा पर ही अपने को छोड़ दे। सूफी मत की विशद् रूप में विवेचना करनेवाले अल-कुरैशी ने बाह्य और आभ्यंतरिक जीवन की पवित्रता को ही सूफी धर्म माना है। उसका कहना है कि पवित्रता एक श्रेष्ठ वस्तु है चाहे जिस प्रकार की भाषा के द्वारा उसे क्यों न व्यक्त किया जाय और उसके विपरीत अपवित्रता है जिसका परित्याग करना चाहिए।'[1] विधि विधानों से मुख मोड़ निखिल विश्व में व्याप्त इस शाश्वत तथा अमूर्त शक्ति की झलक सर्वत्र पाकर मुश्लिम साधकों ने जो रहस्य अभिव्यक्त किए उन्हीं के सामंजस्य का नाम सूफी मत है। अतः सूफी मत या तसव्वुफ भी रहस्यवाद ही है जो अन्तर्निहित भावना के सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक होते हुए भी मूलतः मुस्लिम संप्रदाय के साथ संबद्ध है।'[2]

अरबी के प्राचीन साहित्य में 'लबीसुल सूफ' का प्रयोग उन साधकों के लिए किया गया है जो संसार को त्याग चुके हैं और जिन्होंने संन्यास-व्रत ले रखा है। कालान्तर में उनका ही प्रयोग इस प्रकार किया जाने लगा कि वह सूफी हो गया है।[3]

यह भी कहा जाता है कि ऊनी वस्त्रों का प्रयोग मुसलमानों में ईसाई संतों से आया है। 'इसका प्रमाण मिलता हैं कि ७१९ ई० में उनका व्यवहार ईसाइयों से लिया हुआ माना गया है। हसन-अल-बसरी के एक शिष्य फरकद साबखी को इस ऊनी वस्त्र के व्यवहार के लिए बुरा भला कहा गया है। ७८४ ई० में हम्माद बिन-सलमा बसरा में आया, तो उसने फरकद अल-सज्जी को समझाया कि उसे ऊनी वस्त्र नहीं पहनना चाहिए, क्योंकि वह ईसाइयों का वस्त्र हैं।'[4] कालान्तर में ऊनी वस्त्र का व्यवहार बढ़ता गया। सूफी साधकों ने इसे अपना लिया। ऊनी वस्त्रों को इस्लाम-सम्मत सिद्ध करने के लिए हदीसों का हवाला दिया गया। यहाँ तक कहा गया कि संन्यास लेने के पश्चात् जब अबू बकर ऊनी चोगा पहन कर पैगम्बर से मिलने गए तो उन्होंने पूछा कि तुमने परिवार वालों के लिए क्या छोड़ा है, तो उन्होंने कहा था कि 'परमात्मा और उसके पैगम्बर को।' इस प्रकार की कथाओं से भी स्पष्ट है कि ऊनी वस्त्र संन्यासियों, साधकों या परमात्मा के प्रेम में मस्त रहनेवाले मर्मियों के लिए स्वीकृत हो चुका था।

'सूफ' (ऊनी वस्त्र) के साथ ही 'सूफी' शब्द के सिलसिले में 'सफा' का भी बड़ा महत्व है। 'सफा' सर्वत्र प्रशंसनीय है। पवित्रता परमात्मा के प्रेमियों का

१—श्री रामपूजन तिवारी, सूफीमत—साधना और साहित्य, पृ० १६८-६९।

२—डा० विमलकुमार जैन, सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ४।

३—ब्राउन, इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, वा० १२, पृ० १०।

४—श्री रामपूजन तिवारी, सूफीमत साधना और साहित्य, पृ० १७२।

विशिष्ट गुण है। वे मेघमुक्त सूर्यों की तरह हैं। अत्तार ने जो सूफी शब्द की सत्तर परिभाषायें की हैं, उनमें १३ में 'सफा' शब्द का प्रयोग है। जब कि 'सूफ' शब्द का प्रयोग केवल दो बार किया गया है।'[१]

यह बात ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है कि सर्वप्रथम किसके नाम के साथ उपाधि-रूप में 'सूफी' शब्द का प्रयोग किया गया।

जामी[२] का कथन है कि 'सूफी' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग कूफा के अल-हाशिम (ई० ७७७) के नाम के साथ हुआ। मासित्रो[३] का कथन है कि सूफी शब्द का प्रथम-प्रथम प्रयोग करने वालों में इब्न हैयान मुख्य हैं। उसने लिखा है कि ८१४ई० के आस-पास कूफा में मुस्लिम रहस्यवादियों का सम्प्रदाय विद्यमान था। इसके अंतिम प्रधान अब्दअल-सूफी की मृत्यु ८२५ ई० में हुई। निकलसन[४] के मतानुसार बसरा के जाहिज ने (८६९ ई० में) सर्वप्रथम 'सूफी' शब्द का प्रयोग किया था।

प्रारम्भ में वह शब्द व्यक्तियों के नामों के साथ संतत्व की उपाधि के रूप में जुड़ा रहता था, किन्तु पचास वर्षों के ही भीतर इसका प्रयोग समस्त ईराक के रहस्यवादी साधकों के लिए होने लगा और दो सौ वर्षों के अन्दर ही सम्पूर्ण इस्लाम के रहस्यवादी साधकों के लिए होने लगा। तब से लेकर आज तक इस्लाम के संत रहस्यवादियों के ही लिए इसका प्रयोग होता है।

सूफीमत का आविर्भाव : प्रारम्भिक इतिहास

सूफीमत का इतिहास तब से प्रारम्भ होता है जब मुहम्मदसाहब मक्का से मदीना गए थे।[५] अतः ६२३ ई० के आसपास इसका प्रारम्भ मानना चाहिए। प्रवृत्तिमूलक इस्लामी धर्म में पहली बार कतिपय ऐसे व्यक्ति सामने आये जिनमें भक्ति का सन्निवेश हुआ। आत्मा का शुद्धीकरण आरम्भ हुआ। इनमें बसरा के अल्हसन (६४३ से ७२८ ई०), इब्राहिम बिन अधम (मृ० ७८३ ई०), अयाज (मृ० ८०१ ई०), राबिया (८१० ई०) आदि हैं। राबिया बसरा की रहने वाली थी। उसमें सर्वप्रथम प्रेम-दर्शन का उदात्त और प्रखर रूप सामने आता है। एक स्थान पर उसने कहा है—'खुदा के प्रेम ने मुझे इतना अभिभूत कर दिया है कि मेरे

१—श्री रामपूजन तिवारी सूफीमत साधना और साहित्य पृ० १७३।
२—जामी, नफाहतुल उन्स, नसाऊ लीज द्वारा संपादित, कलकत्ता, १८५९ ई०, पृ० ३४ और ए लिटरेरी हिस्ट्री आफ दी अरब्स, पृ० २२९।
३—इन्साइक्लोपीडिया आफ इस्लाम, वाल्यूम ८, १९३४, पृ० ६८१।
४—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, वाल्यूम १२, पृ० १०।
५—मोहम्मडनिज्म, एच० ए० आर० गिब्स, पृ० १००, १०१।

हृदय में अन्य किसी के प्रति न तो प्रेम शेष रहा, न घृणा शेष रही।"[1]

भारत में सूफीमत का प्रवेश

भारत में सूफी मत के प्रवेश की एक निश्चित तिथि बताना कठिन है, लेकिन इसमें सदेह नहीं कि यह प्रवेश मुसलमानों के आक्रमण के बाद ही प्रारम्भ हुआ। मुलाहिब ने ६६४ ई० में भारतवर्ष पर आक्रमण किया था। उसने मुल्तान, लाहौर और बन्नू तक के प्रदेश को लूटा था।[2] ७११ ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने बसरा के शासक हजाज बिन युसूफ के आदेश से भारतवर्ष पर चढ़ाई की। उसने सिन्ध से मुल्तान तक के प्रदेश को जीत लिया। एक ओर तो इस प्रकार के लुटेरे और देश को जीतने वाले आक्रमणकारी आते रहे और दूसरी ओर व्यापारी। इसी समय के आस-पास दक्षिण भारत में अरब व्यापारियों के दलों के आने-जाने का उल्लेख मिलता है। इन दलों के साथ आने वाले सईद नथरशाह और बाबा फरवर अलदीन (फरवरुद्दीन) के नाम इस्लाम धर्म-प्रचारकों में मुख्य हैं। मुसलमानों की सैनिक विजय के साथ इस्लाम का प्रचार तीव्रतर होता गया। कहा जाता है कि 'जबर्दस्ती धर्म-परिवर्तन करने वालों का प्रभाव हिन्दुओं पर नहीं पड़ा, लेकिन शान्त और उदार सूफी साधकों ने उनके हृदय पर विजय प्राप्त करना आरम्भ कर दिया। ईसा की तेरहवीं शताब्दी में तथा उसके बाद बड़े-बड़े धर्म-प्रचारकों, पीरों और सूफी साधकों के नाम सुनने को मिलते हैं। ईसा की चौदहवीं शताब्दी में इनका पूरा जोर रहा। धर्म-प्रचारकों का यह जोर ईसा की पन्द्रहवीं ओर सोलहवीं शताब्दी में बहुत कम हो गया और सत्रहवीं शताब्दी में प्राय: लुप्त हो गया।'[3]

शेख इस्माइल (१००५ ई०), नथरशाह (१०३९ ई०), शाह सुल्तान रूमी (१०३५ बंगाल में आए थे), अब्दुल्लाह (१०३५ ई० में), दातागन्जबक्श (१०७२ ई०) आदि सूफी दरवेश भारतवर्ष में धर्म प्रचार करने आए थे। अत: हुज्विरी ने 'कशफ अल महजूब' में सूफीमत का सुन्दर विवेचन किया है। वह एक महान् सूफी साधक था। वह कैदी के रूप में भारत में आया था। वह दातागंबख्श नाम से प्रख्यात है। उसकी मृत्यु लाहौर में १०२६ ई० में हुई। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (११९० ई०) के आगमन के पश्चात से भारत में सूफीमत का क्रमबद्ध इतिहास मिलने लगता है।

ईसा की तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में सूफियों का पूरा जोर देश के कई भागों में रहा। पंजाब, कश्मीर, डेक्कन, तथा देश के पूर्वी भाग में इन दो

१—मध्ययुगीन प्रेमाख्यान, डा० श्याममनोहर पाण्डेय, पृ० ४-५।

२—ग्लौसरी आफ पंजाब ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स (१९१९), वाल्यूम १ पृ० ४८६।

३—श्री रामपूजन तिवारी, सूफीमत साधना और साहित्य, पृ० ४०७।

शताब्दियों में इनका कार्य पूरे जोश के साथ हुआ।

यद्यपि सूफी सन्तों को इस्लाम-प्रचारक कहा जाता है, तथापि इन्हें केवल इस्लाम का प्रचारक कहना ठीक नहीं है। वस्तुतः ये अत्यन्त उदार दृष्टिकोण के संत थे। लोग इनसे प्रभावित होकर मुसलमान बन जाते थे, फिर भी इनमें धार्मिक दृष्टिकोण बड़ा व्यापक और उदार था। वे इस्लाम को अवश्य मानते थे, पर विचार-धारा की स्वतन्त्रता और धार्मिक विधि-विधानों के क्षेत्र में स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। विधि-विधानों का उल्लंघन करने के ही कारण धुल नून मिस्त्री एवं मंसूर अल-हल्लाज को कठोरतम दंड भोगने पड़े थे।

रूमी तक जिस उदात्त भावना के साथ सूफी मत का प्रचार हुआ था, वह धीरे-धीरे जन साधारण के लिए दुरूह होता गया। धार्मिक विधि-विधान, प्रमाद-पूर्ण जीवन, भिक्षा के साधन, अशिक्षित जनों की प्रवंचना प्रभृत्ति अनेक मार्गों ने इसमें प्रवेश पा लिया। अन्त में शिया-सुन्नी-विरोध ने सूफीमत को फारस से सदैव के लिए उखाड़ फेंका। विद्वानों का कथन है कि शिया मत द्वारा ही सूफी मत का फारस से अंत हो गया।'[१]

औरंगजेब के पूर्ववर्ती मुगल सम्राटों के शासनकाल में भारत में सूफीमत की बड़ी उन्नति हुई। कहा जाता है कि फारस, अरब तथा पश्चिमी एशिया के दूसरे देशों में बौद्धमत का पर्याप्त प्रचार हुआ था। सूफियों ने माला जपने की क्रिया बौद्धधर्म से ली है।[२] सूफियों में शहद खाने का निषेध और अहिंसा पालन के सिद्धान्त जैनधर्म से लिए गए हैं।[३] मंसूर भारतीय चमत्कार-विद्या-इन्द्रजाल-के अध्ययन के लिए भारतवर्ष में आया था।

भारतवर्ष के योगमत का भी सूफियों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। आसन प्राणायाम आदि के लिए सूफी योगियों के ऋणी हैं। अबू सईद (मृत्यु १०४९ ई०) ने योगियों से ही ध्यान धारणा की बातें सीखीं थीं।[४] फरीदुद्दीन अत्तार, शेख सादी प्रभृति अनेक प्रख्यात सूफी भारतवर्ष में आये थे।[५] इनके साथ ही फरीदुद्दीन फकरगंज, हुज्वीरी आदि सूफी साधक धर्म प्रचारार्थ आए थे। धीरे-धीरे सूफी साधकों ने धर्म-प्रचार

१—विशेष के लिए देखिए, ए हिस्ट्री आफ परशियन लिटरेचर इन माडर्न टाइम्स, पृ० २७।

२—दि मिस्टिक आफ इस्लाम, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १७।

३—स्टडीज इन इस्लामिक पोइट्री, पृ० १३७।

४—दी स्पिरिट आफ इस्लाम, पृ० ४५९।

५—ए लिटरेरी हिस्ट्री आफ परशिया, वा० २, पृ० ५०० से ५३०।

की ओर और हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की ओर ध्यान नहीं दिया ।[1] सूफियों को पहली बार एक ऐसी संस्कृति, एक ऐसी सभ्यता और एक ऐसे धर्म से पाला पड़ा कि वे उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके । उन पर भारतीय वातावरण का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा । मूलतः सूफी साधक और ज्ञान-पिपासु थे । उन्होंने भारत-वर्ष के अनेक धर्मों और विचारों का अध्ययन किया । धीरे-धीरे एक ऐसा समय आया जब इस्लाम को सर्वश्रेष्ठ मानने की हठधर्मिता उनमें नहीं रही । मूलतः सूफियों में हठधर्मिता कभी नहीं रही । इसीलिए फारस और भारत में (औरंगजेब के काल में) उन्हें अनेकानेक यातनाएँ सहनी पड़ीं ।

ईश्वराराधन उसका ध्येय था, प्रेम उसका मूलमन्त्र था । एकेश्वरवाद में उनकी आस्था थी । उनके लिए हिन्दू-मुस्लिम एक अल्लाह की ही संतान थे, उनकी दृष्टि में जाति-भेद निस्सार था । अनेक हिन्दू भी इसी प्रेम-व्यवहार के कारण उन पर श्रद्धा रखते थे ।

१४ सूफी संप्रदायों का उल्लेख

विद्वानों का कथन है कि अकबर भी वैचारिकतः एक सूफी था । अबुल फजल ने 'आईन-ए-अकबरी' में तत्कालीन चौदह सूफी सम्प्रदायों का उल्लेख किया है– चिश्ती, सुहारावर्दी, हबीजी, तफूरी, करखीं, सकती, जुनेदी, काजरूनी, तूसी, फिरदौसी, जैदी, इयादी, अधमी और हुबेरी ।

१—चिश्ती संप्रदाय

भारतवर्ष के चार प्रमुख सूफी संम्प्रदायों में चिश्ती सम्प्रदाय का स्थान बड़े महत्व का है ।[2] कुछ विद्वानों का विचार है कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक ख्वाजा इस-हाक सामी चिश्ती हैं ।[3] बहुत से विद्वानों की राय में ख्याजा अबू अब्दाल चिश्ती ही इस संप्रदाय के प्रवर्तक हैं ।[4] कहा जाता है कि ख्वाजा अबू-अब्दाल ख्वाजा इसहाक सामी के शिष्य थे । अबू इसहाक सामी एशिया माइनर से आकर चिश्त (खुरासन) में रहने लगे, इसीलिए इस संम्प्रदाय को लोग 'चिश्ती' कहने लगे ।

भारतवर्ष में चिश्ती सम्प्रदाय के प्रवर्तक ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२ ई० से १२३६ ई०) हैं । इनका जन्म सीस्तान के संजर शहर में ११४२ ई० में हुआ था । इन्होंने नीशापुर, मक्का, मदीना और खुराशान की यात्रायें की थीं । तत्कालीन

१–ऐन एक्जामिनेशन आफ दी मिस्टिक टेन्डेन्सीज इन इस्लाम, (१९३२), पृ० १४२ ।
२–इस्लासिक सूफीज्य, पृ० २८५ ।
३–जान ए० सुभान, सूफीजम इट्स सेन्ट्स एण्ड साइन्स, पृ० १७४ ।
४–ग्लौसरी आफ़ ट्राइब्स एण्ड कास्टस आफ़ पंजाब, १९१९ ई०, पृ० ५२८ ।

अनेक संतों से इनका सम्बन्ध था। अन्त में ये गजनी चले आए और ११९२ ई० में शहाबुद्दीन गौरी की सेना के साथ दिल्ली आए। ये ११९५ ई० में अजमेर गए और वहीं स्थायी रूप से रहने लगे। अजमेर में ही १२३६ ई० में ९३ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हो गई।[1] ये बहुत बड़े सूफी सन्त माने जाते हैं। इनके शिष्यों में कुतुबुद्दीन बख्तियार शेख फरीदुद्दीन शकरगंज, निजामुद्दीन औलिया, अलीअहमद साबिर और शेख सलीम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन शिष्यों के भी अनेक शिष्य-प्रशिष्य हुए। इन शिष्यों ने चिश्ती संप्रदाय का सन्देश सम्पूर्ण भारत में पहुँचाया। अमीर खुसरो को निजामुद्दीन औलिया का शिष्य कहा जाता है। निजामुद्दीन औलिया ने 'औलिया' नामक एक स्वतन्त्र संम्प्रदाय चलाया, जिसका केन्द्र बदायूं बना। कहा जाता है कि शेख सलीम चिश्ती के ही आशीष से अकबर को पुत्रोत्पन्न हुआ था जिसका नाम अकबर ने उसी के नाम पर सलीम रखा था। चिश्तिया सम्प्रदाय के सैयद अशरफ़ जहाँगीर का नाम जायसी ने बड़े आदर के साथ लिया है। उसमान के गुरू चिश्ती संम्प्रदाय के थे।

२—सुहरावर्दी सम्प्रदाय

ख्याजा हसन निजामी[2] जैसे कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं, जो मानते हैं कि 'सुहरावर्दी सूफी ही सर्वप्रथम भारत में आए थे और वे सिंध में आकर बस गए थे।

सुहरावर्दी सम्प्रदाय के प्रवर्तक या तो शहाबुद्दीन सुहरावर्दी थे या शेख जियाउद्दीन अथवा जियाउद्दीन के पिता अबुल नजीब।[3] शहाबुद्दीन के लिए कहा जाता है कि इनकी कब्र मुल्तान के किले में है, पर यह गलत है। इनकी कब्र बगदाद में है। ये कभी भी भारतवर्ष में नहीं आए थे।[4]

भारतवर्ष में इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं बहाउद्दीन जकारिया (मृत्युकाल १२६७ ई०)।[5] डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि 'भारत में सर्वप्रथम इस संप्रदाय को प्रचारित करने का श्रेय सैयद जलाउद्दीन सुर्खपोश (सन् ११९९-१२९१ ई०) को है, जो बुखारा में उत्पन्न हुए और स्थाई रूप से 'ऊंच' (सिंध) में रहे।[6]

१—इनके विषय में विशेष जानकारी के लिए देखिये—(क) ग्लिम्पसेज़ आफ मेडिवल इन्डियन कल्चर, पृ० ३६-३७-३८ (ख) लाइफ एण्ड टाइम्स आफ शेख फरीदुद्दीन गंजेशकर खालिक अहमद निजामी.........,.........पृ० ८०

२—ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री आफ सूफीज्म, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ८।

३—ग्लौसरी आफ पंजाब कास्ट्स ऐण्ड ट्राइब्श, प्रथम खण्ड, पृ० ५४४।

४—वही, पृ० ५४४।

५—श्री रामपूजन तिवारी, सूफीमत साधना और साहित्य, पृ० ४६६।

६—डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०४।

इन्होंने भारत के अनेक स्थानों में प्रचार किया। सिन्ध, गुजरात, पंजाब आदि स्थानों में इनके केन्द्र स्थापित हो गए थे। जलालुद्दीन तबरीजी सैयद जलालुद्दीन मख्दूमे जहानिया, बुरहानुद्दीन कुतुबे-आलम आदि संतों ने बंगाल, सिन्ध, बिहार, गुजरात आदि स्थानों में इस संप्रदाय का प्रचार किया। १५वीं शताब्दी तक संप्रदाय ने संपूर्ण भारतवर्ष में अच्छा प्रचार किया[1]। इस संप्रदाय वालों ने कई राजाओं को भी अपने धर्म में दीक्षित किया। हैदराबाद का वर्तमान राजवंश भी इसी संप्रदाय की परम्परा में है। फिरदौसिया भी सुहारवर्दी संप्रदाय की एक शाखा है। मृगावती के रचयिता कुतबन इसी संप्रदाय के थे।

३—कादरी सम्प्रदाय

इस संप्रदाय के प्रवर्तक हैं अब्दुल कादिर अल जीलानी (१०७८—११६६ ई०)। भारतवर्ष में इस संप्रदाय के प्रवर्तक मुहम्मद गौस थे। आज भी पेशावर से दिल्ली तक के लोग इनका नाम बड़े आदर से लेते हैं। दिल्ली का सुल्तान सिकन्दर लोदी[2] इनका ही शिष्य था। सुल्तान ने अपनी लड़की की शादी इनसे कर दी थी। ये १४२८ ई० में भारतवर्ष में आए थे। गौस ने सिन्ध (ऊँच) को अपना केन्द्र बनाया था। वहीं पर १५१७ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इस संप्रदाय के संतों में भावोन्मेष की प्रधानता थी। इस संप्रदाय वाले प्राय: अपनी टोपी में गुलाब का फूल लगाए रहते हैं। यह फूल इस संप्रदाय में अत्यन्त पवित्र माना जाता है। इसे पैगंबर का प्रतीक भी माना जाता है।[3] कादरी संप्रदाय के दो प्रमुख उपसंप्रदाय हैं—१—रजाकिया और २—वहाबिया। इसी संप्रदाय में प्रसिद्ध संत शेख मीर मुहम्मद 'मियाँमीर' हुए हैं। ये दाराशिकोह के दीक्षा-गुरु थे। मियाँमीर के प्रिय शिष्य नत्थे मियाँ की भी बड़ी ख्याति है।

४—नक्शबन्दी सम्प्रदाय

रहशात-ऐन अल-हयात के अनुसार इस संप्रदाय के प्रवर्तक ख्वाजा उबैदुल्ला हैं।[4] साधारणत: ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्द (मृत्यु १३८९ ई०) को ही इस संप्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। इस संप्रदाय की बड़ी व्यापक प्रतिष्ठा रही है। टर्की, चीन, भारत, जावा आदि देशों में भी इस संप्रदाय के अनुयायी पाए जाते हैं। भारतवर्ष में इस संप्रदाय का प्रचार करने वाले ख्वाजा बाकी गिल्लाह बेरंग माने

१—विशेष विवरण के लिए देखिए, इंडियन कल्चर, वा० १, पृ० ३६६—६७।

२—सूफीज्म इट्स सेंट्स एण्ड श्राइन्स, पृ० ५३८।

३—रोज, दी दरविशेस, पृ० ९९।

४—वही, पृ० ४३५।

जाते हैं। वे अपने शैख के आदेश पर भारत में आये थे। वे दिल्ली में आकर बस गए थे। यहीं पर आने के तीन वर्ष पश्चात उनकी मृत्यु हुई। भारतवर्ष में इस संप्रदाय का प्रभाव-विस्तार अहमद फारूकी के द्वारा हुआ। इनका जन्म सरहिन्द में १५६३ ई० में हुआ था। जहांगीर के शासनकाल में इस संप्रदाय वालों का बड़ा जोर था, पर स्वयं जहाँगीर इनसे अप्रसन्न था। जहाँगीर ने इन्हें कैद भी कर लिया था और इसी कारण इन्होंने अपने परिवार वालों को अफगानिस्तान भेज दिया था। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि जनसाधारण की रुचि इस संप्रदाय की ओर आकर्षित नहीं हुई। सूफी संप्रदाय के अन्तर्गत नक्शबन्दी संप्रदाय सबसे अधिक निर्बल और प्रभावहीन रहा।

५–शत्तारी संप्रदाय

भारतवर्ष के प्रमुख सूफी संप्रदायों में यह भी एक है। भारतवर्ष में इसके प्रवर्तक फारस के अब्दुल्ला शत्तारी हैं।[१] इनकी मृत्यु मालवा में १४०६ ई० में हुई। मुहम्मद गौस इसी संप्रदाय के संत हुए हैं। ये हुमायु के दीक्षा गुरू थे।[२] इस संप्रदाय वाले 'मैं हूँ, और मैं एक हूँ'[३] का सिद्धान्त मानते हैं। ये 'फना' की अवस्था को नहीं मानते। शाहपीर बहाउद्दीन जौनपुरी, मीर सैयद अली कौसाम इस संप्रदाय के प्रसिद्ध संत हुए हैं।[४]

६–मदारी संप्रदाय

इस संप्रदाय का भारत में प्रवर्तन करने वाले हैं शाह मदार बन्दीउद्दीन। यह मूलत:'उवैसी'संप्रदाय ही है। उत्तर भारत विशेषकर उत्तर प्रदेश में इसका १६वीं शती में बड़ा प्रचार हुआ था। अब्दुल कद्दूस गंगुई और शाह मदार महान् संतों में गिने जाते हैं। कहा जाता है कि जायसी की मां ने शाह मदार की मनौती की थी, और शीतला या अर्द्धागं रोग से जायसी तो बच गए, पर इनकी एक आंख जाती रही।

विशेष-

इन संप्रदायों का अपनी सरल ईश्वरोन्मुखी भावना के कारण जन-समुदाय में विशेष रूप से प्रभाव पड़ता रहा और समाज के निम्न धरातल के व्यक्ति जिन्हें हिन्दू समाज में विशेष सुविधाएँ नहीं थीं, इन संप्रदायों मे दीक्षित होते रहे।[५]

१–इण्डिन कल्चर, भाग १, पृ० ३३८।

२– वही, पृ० ३३९ तथा इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, वा०११ पृ० ६९।

३—इण्डियन कल्चर, भाग १, पृ०३३८। ४–वही पृ० ३४०–४१।

५–डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०६।

डा० विमलकुमार जैन का कथन है कि उपर्युक्त संप्रदायों के सूक्ष्म विवेचन से प्रतीत होता है कि इनका पूर्ण उत्थान मुगल काल में ही हुआ। अकबर, जहांगीर आदि अनेक मुगल समृाट पीरों के परम भक्त थे। शाहजहां का पुत्र दाराशिकोह तो मुसलिम और हिन्दू रहस्य-ज्ञान का अच्छा वेत्ता था। उसने सूफी मत और वेदान्त का गम्भीर अध्ययन किया। तदुपरांत उसने दोनों मतों के गूढ़ सिद्धान्तों की तुलनात्मक विवेचना की और बतलाया कि इसमें कोई तात्विक अन्तर नहीं है। कलेवर भिन्न अवश्य है, परन्तु आत्मा एक ही है। बहादुरशाह भी शाह होते हुए एक संत से कम न था। उसकी अनेक कविताओं में सूफी मत के उच्च सिद्धान्तों की बड़ी विशद् व्याख्या है। प्रस्तुत वक्तव्य में इतना जोड़ देना आवश्यक है कि उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि भारत में सूफी मत का उत्थान १४वीं १५वीं शतब्दी में खूब हुआ। मुगलकाल में यह उत्थान पूर्णता को प्राप्त हुआ। इन समस्त सूफी संप्रदायों में गुरू परम्परा और विशिष्ट वाह्याचारों का ही अन्तर था। इन संप्रदायों में आध्यात्मिक नेता को शेख मुरशिद या पीर कहते थे। मुसलमानों से स्वाभाविकत: इन्हें सम्मान मिलता था। हिन्दू भी इनको सम्मान देते थे। कहा जाता है कि हिन्दुओं ने तलवार के आगे गरदन झुका दी थी, परन्तु तलवार से जो विश्वास नहीं उत्पन्न किया जा सकता, उस कार्य को इन सूफी संतों ने पूर्ण किया। इन सूफी संतों ने आध्यात्मिक राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। मृत्यु के अनन्तर इन संतों के समाधिस्थान, दरगाह या मकबरे बने। दिल्ली, आगरा, अजमेर, फतेहपुर सीकरी, मुल्तान, हैदराबाद आदि स्थानों पर अनेक पीरों के समाधि स्थल और दरगाह दर्शनीय तीर्थ बने हुए हैं। इन स्थानों पर प्राय: 'उर्स' हुआ करते हैं।

हिन्दुओं में मूर्तिपूजा का प्रचार था। मुसलमानों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। वे समाधि-स्थानों की यात्रा करने लगे। इन स्थानों पर, दीप, चढ़ावे आदि के द्वारा उन्होंने भी पीरों की पूजा शुरू की।

सूफियों के कुछ संत पूर्णत: संयासी का जीवन बिताते थे। सैयद अशरफ जहाँगीर को संसार से विराग हो गया, तो उन्होंने इस्फहान की बादशाहत का त्याग करके सूफीमत में दीक्षा ले ली। एक मुहाविरा है कि 'आवे खाँ रहे तो बेहतर, दरवेशे खाँ रहे तो बेहतर।' ये संत भी ईश्वर के पक्के भक्त होते थे, ये प्राय: विरक्त जीवन व्यतीत करते थे। ज्ञान, प्रेम और ईश्वरीय विरह की अनुभूति

१–डा० विमलकुमार जैन, सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ८६।

२–ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दी हिस्ट्री आफ सूफीज्म, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ८।

इनके लिए सर्वस्व थी। इनमें ज्ञान की उत्कट पिपासा थी, अध्ययनशीलता, विद्वत्ता और कभी-कभी आश्चर्यजनक जादू आदि के कार्यों के कारण इनकी कीर्ति और विस्तार पाती गई। इन दरवेशों के करामातों की कथायें भी बड़ी रोचक हैं। इन करामातों ने भी साधारण जनता को आकृष्ट करने में पर्याप्त योग दिया होगा।

डा० कमलकुल श्रेष्ठ[१] का कथन है कि भारतवर्ष में सूफी सिद्धान्तों में कोई विशेष उन्नत्ति न हो सकी। परन्तु ऐसी बात नहीं है। यह सत्य है कि भारतीय सूफी संतों ने प्राय: फारस के सूफी सिद्धान्तों का ही विशेष विश्लेषण किया, किन्तु भारतीय सूफी संतों ने सूफी धर्म को अनेक महत्तम तत्व भी दिए हैं। दाराशिकोह और दातागंज उपनिषदों के प्रकांड पंडित हुए हैं। दाराशिकोह ने उपनिषदिक धर्म और सूफी धर्म में सामंजस्य स्थापन का सफल प्रयत्न किया है। सूफियों के तापसी जीवन में भारतीय सूफियों ने 'योग' का महत्तम तत्व जोड़ दिया है।[२] दातागंज ने भारतीय सिद्धान्तों के प्रकाश में सूफी सिद्धान्तों की व्याख्या की है। उन्हें बहुत बड़ा सिद्धान्त--निर्माता भी कहा जाता है। गोरखपंथी साधुओं की भाँति चमत्कार-प्रदर्शन की वस्तु भी सूफियों में प्रबल हो उठी थी। 'जो कछु पिंडे सो ब्रह्मण्डे' का सिद्धान्त सूफियों को योगियों से ही मिला।[३]

भारतवर्ष में अद्वैतवादी दर्शन तो अत्यंत प्राचीन है। शंकराचार्य ने दसवीं शताब्दी में इसमें पुन: प्राण प्रतिष्ठा का महान् अनुष्ठान किया। शंकराचार्य के ब्रह्म-सूत्र के भाष्य के भी अनेक भाष्य लिखे गए। विद्वानों का कथन है कि मध्ययुगीन समस्त भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों पर इस दर्शन की छाप अवश्य लगी है। एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद में साधारण लोग विभेद नहीं मानते। मध्य युग में उत्तरी भारत में गोरखपंथी योगियों के योग-सिद्धान्त की बड़ी धूम थी। योगमत की प्रबलता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि मध्ययुगीन कवि सूरदास, नन्ददास आदि ने अपने भ्रमरगीतों में योगमत और प्रेमभक्ति-मत का द्वन्द दिखाते हुए भक्ति को श्रेष्ठतर प्रतिपादित किया है। तुलसीदास ने भी खीझ कर कहा था 'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।'[५] कबीर पर योग संप्रदाय की पूरी छाप पड़ी थी। योग उनकी साधना का एक महत्वपूर्ण अंग था। योगियों में ध्यान, धारणा, प्राणायाम, सहज समाधि आदि का प्रचार था। गोरखनाथ ने हठयोग को एक प्रमुख

१--द्रष्टव्य कमलकुल श्रेष्ठ, हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य।

२--अल्बदायूनी, मुतखबुत्तवारीख, भाग ३, अनुवादक रैंकिंग।

३--देखिये गोरखबानी, (सं० १९९९), पृ० १३५।

४--वेणीप्रसाद, हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता, (१९३१), पृ० ३३१--३५।

५--तुलसीदास, कवितावली, उत्तरकाण्ड, पद ८४।

साधन माना था। इला, पिंगला और सुषुम्ना को क्रमशः गंगा, यमुना और सरस्वती की संज्ञायें दी गई थीं। इस प्रकार योगी शरीर में ही त्रिवेणी की स्थिति मानते थे। शरीर में ही विभिन्न चक्रों की स्थिति, अमृत, सहस्रार, त्रिपुटी, अनहदनाद, ब्रह्मरंध्र आदि की साधनामूलक बातें योगमत में अपना पूर्ण प्रभाव किए हुए थीं।

मध्ययुग में शैव धर्म का प्रचार था। नाथपंथियों का बोलबाला था, तांत्रिक-मांत्रिक सिद्धों का भी खूब प्रचार था। ये सब प्रायः शिव के भक्त हुआ करते थे। शंकराचार्य के अद्वैत के प्रचार और प्रबल प्रतिपादन के बावजूद भी योगियों ने शिव की महत्ता को ही स्वीकृत किया।

मध्ययुगीन हिन्दू साधनाओं में समन्वयात्मिका वृत्ति का प्राधान्य था। शैवों और वैष्णवों तक की धार्मिक भावनाओं में समत्वय के भाव प्रबल हो उठे थे। शिव को विष्णुभक्त और विष्णु को शिवभक्त तक बना दिया गया। राम और कृष्ण के भेद भी मिट रहे थे। इन दोनों को एक न माना जाने लगा था। भक्त और भगवान् का व्यक्तिगत सम्बन्ध, ज्ञान और प्रेम का समन्वय, ज्ञान के द्वारा या प्रेम के द्वारा चिन्मय में लीन होने की साधना, सृष्टि के कण-कण में परमात्मा की लीला, प्रेमा-भक्ति की महत्ता, नाम-महत्ता, नाम-स्मरण, भक्त की दीनता और आत्मसमर्पण की भावना प्रभृति कतिपय सामान्य विश्वास मध्ययुगीन सन्तों में दर्शनीय हैं। कबीर ने भक्ति और योग दोनों की महत्ता को स्वीकार किया है। रहस्यवादी प्रणयमूलक भक्ति भी उस समय के हिन्दू धर्म में विद्यमान थी। ग्यारह आसक्तियों में कान्ता-शक्ति भी एक थी। गोपियाँ कृष्ण की भक्ति इसी भाव से करती थीं। वल्लभाचार्य ने गोपी बनना मानव जीवन का परम लक्ष्य माना है।[1]

भारतवर्ष के सूफी कवियों का आध्यात्मिक मूल स्रोत फ़ारस का प्रेम काव्य रहा हो, परन्तु यहाँ के वातावरण, काव्य और मतों से वे पूर्णतः प्रभावित हैं। सूफी साधना पर बड़ा प्रभाव योगियों का है। सूफी संतों के पदमावत, मृगावती, मधु-मालती, चित्रावली आदि समस्त प्रेमाख्यानकों में नायक को योगाचार का संपादन करना ही पड़ता है—यह अवश्य है कि केवल योग से ही सब कुछ नहीं होता—उसके अंतर में प्रेम—भाव का होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। इन सभी काव्यों में गोरखनाथ, भर्तृहरि और गोपीनाथ के उल्लेख मिलते हैं। वेश—भूषा तथा आसन भी योगिकों के ही ग्रहण किए गए हैं। प्रायः इन प्रेमा-ख्यानों में शिव की अवतारणा की गई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि योग

१—डा० कमलकुल श्रेष्ठ, हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० १३६।
'यच्चदुःखं यशोदायाँ नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यददुःखं तद्दुःखं स्यात् ममक्वचित्॥'

संप्रदाय ने सूफियों को सम्यक् रूप से प्रभावित किया है। जायसी के पदमावत में योगमत अपने पूर्ण वैभववन्त रूप में उपस्थित है। 'सहजयानी सिद्धों की परम्परा और नाथ–योगियों की परम्परा इन दोनों के सम्पर्क में आकर जायसी ने जीवन में उनका प्रत्यक्ष अनुभव किया था उन्होंने दोनों की विशेषताओं को स्वीकार करके अपने काव्य में स्थान दिया।'[१] इतना ही नहीं जायसी कृत पदमावत तो जैसे नाथ-सिद्ध परम्परा का ही एक प्रतिनिधि आकर-ग्रन्थ हो गया है—'उसका पूर्वार्द्ध भाग तो सहजयान मार्ग और नाथ–योगियों के मार्ग का जैसे प्रतिनिधि ग्रन्थ ही बन गया है। इसमें इन दोनों धाराओं के अधिक से अधिक संकेत कौशल से यथास्थान पिरोए हुए हैं।'[२]

'सूफी-साधना में भी अद्वैतवादी दर्शन था। दाराशिकोह ने भी अद्वैतवादी दर्शन की महत्ता का स्पष्टीकरण किया है। जायसी ने भी अखरावट में अद्वैतवादी दर्शन के सिद्धांत की बातें लिखी हैं। इस्लाम के एकेश्वरवाद का भी सूफी समर्थन करते हैं। योगियों से प्रभावित होकर दाराशिकोह ने समाधि, प्राणायाम आदि की क्रियाएँ दी हैं। धार्मिक सहिष्णुता एवं सामंजस्य की भावना भारतीय सूफियों की विशेषता है। प्रसिद्ध संत निजामुद्दीन औलिया ने कहा था, हर कौम रास्त आहे, दीन व किबला गाहे'[३] (प्रत्येक कौम अपना रास्ता, अपना धर्म और अपना मंदिर होता है)। जायसी ने भी इसी बात को स्पष्ट शब्दों में कहा था–विधिना के मारग हैं ते ते। सरगनखत तन रोवाँ जेते ॥' '(अखरावट)। रहस्यवादी प्रणयमूला भक्ति सूफी धर्म की रीढ़ है।

तत्कालीन मुस्लिम आक्रमणकारियों और शासकों के अत्याचारों से जनता का मन अवश्य ही खिन्न था। सगुण-निर्गुण धाराओं में भक्ति की मंदाकिनी प्रवहमान थी। वेदान्त का प्रतिपादन विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत रूपों में हो रहा था।

प्राय: मध्यकालीन धर्मों में गुरु की महत्ता का प्रतिपादन मिलता है। सूफियों के यहाँ गुरु को ईश्वर की ही तरह महत्व दिया गया है। उसे पथ–प्रदर्शक माना गया है। रामानन्दी, बल्लभी आदि सम्प्रदायों में भी गुरु की महत्ता पर जोर दिया गया है। कबीरदास और उनके अनुयायियों के यहाँ भी गुरु की महत्ता का जमकर प्रतिपादन किया गया है। गोरखनाथ, सूरदास, तुलसीदास आदि ने भी गुरु की महत्ता को स्वीकार किया है। ईश्वर की कृपा पर सूफी और भारतीय दोनों संत

१—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, प्राक्कथन, पृ० ४४।

२—वही, पृ० ४४।

३—हिन्दुस्तानी, भाग १, पृ० १०५।

विश्वास करते हैं। दाराशिकोह ने लिखा है —

'वास्तव में अपने गुरु एवं ईश्वर को पाना उसी की कृपा पर अवलम्बित है, मानव के प्रयत्न पर नहीं।'

तुलसलीदास भी 'मूक की बाचलता, पंगु की गतिमानता उसी की कृपा का फल' मानते हैं। सूरदास के पुष्टिमार्ग में तो भगवान का अनुग्रह ही सब कुछ है। सूफियों का भी विश्वास है कि परमात्मा ही अनुग्रहपूर्वक प्रेम के बाण मारता है। उसने ही धरती, गगन आदि सबको प्रेम-अनुग्रह से अपनी ओर खींचा है। जायसी ने पदमावत, अखरावट, चित्र रेखा आदि में गुरु–परम्परा और गुरु-महिमा का सविस्तार गुणगान किया गया है। उसकी मान्यता है कि 'बिन गुरु पंथ न पाइय, भूले सो जो भेंट।' (पदमावत पृ० ६३) स्पष्ट है कि सूफी साधक का लक्ष्य है प्रियतम का साक्षात्कार और इस प्रेम पंथ पर गुरु साधन है मार्ग दर्शक हैं।' 'पेम पियाला पंथ लखावा। आपु चाखि मोहिं बूंद चखावा।' (चित्ररेखा)। गुरु की कृपा से समस्त पाप धुल जाते हैं। – 'धोवा पाप पानि सिर मेला।' (चित्र–रेखा, पृ० ७४)। कबीर ने 'गुरु गोबिन्द तो एक है' कह कर दोनों में अन्तर नहीं माना है। जायसी ने भी इसी बात की पुष्टि की है– 'आपुहि गुरू आपु ही चेला।' (अखरावट, पृ० ३३४)।

जायसी की प्रेम–भक्ति साधना

सूफीमत में प्रेम का महत्व और जायसी

सूफी-साधना और साहित्य में 'प्रेम' का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी साधना प्रेम की साधना है, उनका साधना मार्ग प्रेम-पंथ है, उनका साध्य प्रेम–प्रभु है, उनका 'एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास 'प्रेम ही है। यदि सूफी साधकों को प्रेमी-साधक कहा जाय तो असंगत न होगा। 'प्रेम उनके काव्य के समस्त प्रतीकों में सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। रति का जो आलंबन है वही प्रियतम का प्रतीक है। सूफी चाहे जिस किसी को प्रेम का पात्र कहें, परन्तु उनका प्रियतम परमात्मा ही है। उसी प्रियतम को वे अपने प्रेम का आलंबन मानते हैं। उसी के प्रेम में वे समस्त संसार को निमग्न देखते हैं। प्रेम के पुल पर चलकर ही सूफी साधक भवसागर पार करते हैं। प्रेम ही उनका अमोघ अस्त्र है, वही उनका परम साधन है।'[1] "प्रेम ज्ञान मारिफ की भाँति ईश्वरीय देन है, यदि संपूर्ण संसार भी प्रेम को अर्जित करना चाहे, तो वह संभव नहीं है। ईश्वर के प्रेमी वे हैं जिनसे ईश्वर

१—पदमावत का काव्य सौन्दर्य पृ० २२१।

२—मिस्टक्स आफ इस्लाम, निकलसन, पृ० ११२।

स्वयं प्रेम करता है। मैं सोचता रहा कि ईश्वर से प्रेम करता हूँ। पर विचार करने पर ज्ञात हुआ कि प्रेम जो मेरे ऊपर छाया हुआ है उसका है।"[१]

मानव स्वयं परमात्मा का अंश है। उसमें प्रेम भी दिव्य स्रोत से ही आया है और वह दैवी विभूति स्वयं प्रेम-रूप है। इब्नुल अरबी[२] के अनुसार प्रेम का मूल कारण सौंदर्य ही है, परमात्मा सर्वाधिक सौंदर्य-रूप है और सौन्दर्य की अनिवार्य प्रकृति है कि वह प्रेम किए जाने के लिए अपने को प्रकट करता है। ईश्वर ने अपने ही सौन्दर्य को देखने के लिए दर्पण-रूपी विश्व का निर्माण किया है।

'आपु आपु चाहसि जो देखा। जगत साजि दरपन कै लेखा।
घट-घट जस दरपन परछाहीं। नान्हें मिला दूर फुनि नाहीं ॥[३]

अल्फराबी में कहा है "ईश्वर स्वयं प्रेम है। सृष्टि का कारण भी प्रेम है। प्रेम के माध्यम से सृष्टि की इकाइयाँ जो प्रेम के महास्रोत में, जो पूर्ण सौंदर्य और सर्वोत्तम भी हैं, निमग्न हो जाने के लिए जुड़ी हुई हैं।"[४]

विद्वानों की राय है कि वाह्य-सौंदर्य की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती। जिस पदार्थ विशेष की ओर जिसका मन आकर्षित हो जाय, वही सुन्दर है। यों समय समय पर सभी सुन्दर लगते हैं, कोई रूप-कुरूप नहीं होता, पर जिसकी जिधर रुचि हो, उसके लिए वही सुन्दर है। 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रणीय मताया: भी कहा जाता है। वह अवश्य सत्य है कि मानव निसर्गत: सौंदर्य प्रेमी है। अन्त: सौन्दर्य से तात्पर्य समत्व और पूर्णता से है। मानव के समस्त प्रयत्नों के मूल में सुन्दर और पूर्ण होने का लक्ष्य है। परम सौन्दर्य रूप ईश्वर ही है, अत: विश्व में एक मात्र वही पूर्ण है, अत: वही मानस का काव्य और आदर्श भी है। उस पूर्णता को प्राप्त करने के लिए मानव ईश्वर में अनुरक्त होता है। वह उसके साक्षात्कार की अभिलाषा करता है। सचमुच प्रेम के लक्षणों में प्रियतम के साक्षात्कार की कामना महत्वपूर्ण है।[५] "सौन्दर्य वह है जो वास्तव में प्रेम को जन्म देता है। अत: आत्मा की दृष्टि सांसारिक सौन्दर्य से गुजरते हुए अन्यत्र लगी रहती है। पूर्ण सौन्दर्य ईश्वर में है। अत: वही सच्चे प्रेम का अधिकारी भी है।"[६]

१—इन ऐन ईस्टर्न रोज गार्डेन।
२—चित्ररेखा, सं० शिवसहाय पाठक, पृ० ६६।
३—आउट लाइन आफ इस्लामिक कल्चर, ए० एम० ए० शुस्तरी, पृ० ३११।
४—स्टडीज इन अरली मिस्टीसिज्म इन दी नीयर एंड मिडिल इस्ट, पृ० २०३।
५—अलगज्जाली दि मिस्टिक, मार्गरेट स्मिथ, पृ० १०६।
६—आवारिफुल मारिफ (शेख शहाबुद्दीन उमर बिन सुहरवर्दी) अनुवादक : एच० विल्टर फोस क्लार्क, पृ० १०१।

(अलगज्जाली)[1]।

वस्तुत: सुन्दरता में एक जादू है जो, मानव चित्त को अभिभूति कर लेता है। सौन्दर्य और प्रेम में अन्योन्य सम्बन्ध है। सौंदर्य जितना ही अधिक होगा, प्रेम की मात्रा उतनी ही तीव्र होगी। ईश्वर सुन्दरतम है, अत: उसका प्रेम ही वास्तविक और पूर्ण प्रेम है। वेदों में ईश्वर की उपासना का भाव वर्तमान है, उसके मूल में एक यह भी कारण है। प्रारम्भ में सौन्दर्य की स्तुति या प्रशंसा की भावना रहती है, यही भावना विकसित होकर तल्लीनता के रूप में परिणत हो जाती है। हसन सुहरवर्दी ने ठीक ही कहा है कि "सौन्दर्य के गहरे चिन्तन के लिए हृदय का झुकाव ही प्रेम है।"।[1]

ईश्वरीय प्रेम ज्ञान-जन्य होता है, अत: प्राप्त आनन्द अनिवर्चनीय होता है। ईश्वरीय सौन्दर्य ही वास्तविक सौन्दर्य है। अत: उससे प्राप्त सौंदर्यानन्द का कोई आरपार ही नहीं होता, भक्त या प्रेमी विस्मय से अभिभूत होकर निर्वाक् रह जाता है।

प्रेमानुरागी मर भी जाए, तो अमर हो जाता है। प्रेमी केवल प्रेमी ही नहीं रहना चाहता है, वह प्रियतम से मिलकर तादात्मता का अनुभव करना चाहता है। वह प्रेम पंथ पर चलने के लिए अपना सर्वस्व त्याग देने को प्रस्तुत रहता है। शलभ दीपकमय हो जाना चाहता है, कमल जल के सूखने के साथ ही सूख जाता है। मछली जल के वियोग में तड़प-तड़प कर प्राण दे देती है। वास्तव में प्रेमी प्रेम की अग्नि में झुलस-झुलस कर सदैव प्राण दे देने को उद्यत रहता है। अलहल्लाज ने अपने बध के समय शिबली से कहा था, 'ओ शिबली' प्रेम का प्रारम्भ दग्ध-कारक अग्नि है और अन्त मृत्यु है।'[2] ऐसा होने पर भी प्रेमी साधक अमरता को ही प्राप्त करता है। मंसूर ने कहा था कि ईश्वर से मिलन तभी संभव है जब हम कष्टों के बीच से होकर गुजरें।"[3] इसीलिए सूफी साहित्य में प्रेमी को भयावह कष्टों का सामना करना पड़ता है।

यह अवश्य द्रष्टव्य है कि सूफियों की दृष्टि सदैव इस तथ्य की ओर रही है कि वासना का उन्नयन और परिमार्जन किया जाए। सूफी संसार से अपना संबन्ध बनाए रखते हुए भी वासना को उपस्थित नहीं होने देना चाहता। ईरान के अनेक सूफी महात्माओं (यथा-अलगज्जाली बाबा फरीद आदि) ने वैवा-

---

१-अलगज्जारी दी मिस्टिक, पृ० १७७, (सूफी मत साधना और साहित्य पृ० ६५ से उद्धृत)।

२-आउट लाइन आफ इस्लामिक कल्चर, पृ० ३५०।

३-अलगज्जाली दी मिस्टिक मार्गरेट स्मिथ अध्याय ४।

हिक जीवन का समर्थन किया है। 'मात्र संतानोत्पत्ति के लिए ही नहीं, अपितु ताजगी और और संतोष के लिए भी वैवाहिक जीवन आवश्यक है। पत्नी के साहचर्य से हृदय को संतोष का अनुभव होता है। इससे ईश्वर की सेवा करने के लिए शक्ति मिलती है।

वासना के परिष्कार के साथ ही लौकिक प्रेम ईश्वरीय प्रेम में परिणत होने लगता है। सूफ़ियों के अनुसार सांसारिक प्रेम (इश्क मजाजी) ईश्वरीय प्रेम (इश्क हकीकी) का प्रथम् सोपान है। संपूर्ण सूफी प्रेम काव्य इसी आधारशिला पर अलंकृत हैं। जब प्रेमी में पूर्ण स्फुरण हो जाता है, तब उसमें सम दृष्टि आ जाती है। वह सभी मजहबों से ऊपर उठ जाता है। उसका धर्म केवल खुदा का प्रेम है। रूमी का कथन है। "इश्क का मजहब सभी मजहब से अलग है। खुदा के आशिकों के लिए खुदा के अलावा कोई मजहब नहीं है।"[1]

सच्चा प्रेमी सदा प्रणय की मदिरा से मतवाला रहना चाहता है—

मैं कुव्वते जिस्मों कुव्वते जानस्त मरा।
मैं काशिफे असरारे निहानस्त मरा॥
दीगर तलबे दीनवो उकवा न कुनम।
यक जुरआ पुर अज् हर दो जहाँनस्त मरा॥'[2]

सचमुच 'प्रेम की मदिरा अपार गुणकारी है। उससे शरीर और प्राणों को शक्ति प्राप्त होती है। उसके पीने से रहस्य का उद्घाटन होता है अतः मैं उस मदिरा का एक घूँट पीना चाहता हूँ। पीने के बाद मुझे जीवन और मृत्यु की चिन्ताएँ न सताएँगी। ईश्वर के प्रेमी से यदि प्रश्न किया जाए कि 'तुम कहाँ से आए' तो उसका उत्तर होगा' प्रियतम के पास से ?'

'तुम क्या चाहते हो ?'
'प्रियतम।'
'तुम्हें कहाँ जाना है ?'
'प्रियतम के पास।'
'कब तक प्रियतम प्रियतम-करते रहोगे ?'
'जबतक मिलन न होगा।'

— — — —

'उसने कहा क्या नाम है ?'
'मैंने कहा आशिक तेरा।'

१—रूमी पोस्ट एण्ड मिस्टक, ए० निकल्सन, पृ० १७१।
२—ईरान के सूफी कवि, पृ० ५१ (उमर खैयाम)।

'उसने कहा क्या काम है ?'
'मैंने कहा सौदा तेरा ।'
उसने कहा आए कहाँ ?
मैंने कहा 'कूचा तेरा ।'
कब तलक पे फेरी—फाके मस्ती ?'
'जाने मन दीदारे तक ।'

अल् हुज्विरी[1] ने ठीक ही कहा है कि 'प्रेम प्रियतम की प्राप्ति के लिए विकलता का ही नाम है ।'

यह ईश्वरीय प्रेम कुछ ऐसा निराला है कि 'इसमें एक बार गिरफ्तार हुआ व्यक्ति बंधन-मोक्ष की कामना ही नहीं करता । इस प्रेम-बंधन में बँधा हुआ व्यक्ति छूटना ही नहीं चाहता—

'अशी रस न खाहद रिहाई जे बन्द ।
शिकारश न खाहद खलास अज् कमन्द ॥'[2]

इस प्रेम-माधुर्य के कारण कटु भी मिष्ट हो जाता है । प्रेमी शूल को फूल समझ लेता है । इसी प्रेमोन्माद में शूली—सिंहासन और कारागार उद्यान बन जाता है । मंसूर इसी तरंग में हँसते-हँसते सूली पर चढ़ गया था । निस्संदेह प्रेम स्वर्गीय गुणों का स्रोत है ।

स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने ठीक ही कहा था—'इस शिथिल सुरभि से खिचें—कर तुम आओगे—आओगे !' 'प्रेम की इस बेकली को जानकर प्रणय पात्र का मन भी गल ही जाता हैं । यदि कोई सच्चा प्रेमी है, सच्चे प्रेम में व्याकुल है तो उसका प्यार अवश्य उससे मिलेगा—

'आशिक कि शुद के यार बहालश नजर न कर्द ।'[3]

जब इश्क मजाजी इश्क हकीकी में परिणत हो जाता है, तब साधक आत्मानन्द पाता है, वह ध्यान द्वारा ईश्वरीय सौन्दर्य पर विस्मय-विमुग्ध होता हुआ चरम साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील रहता है । एक ऐसी स्थिति आती है जब कि प्रेमी स्वयम् प्रेमरूप हो जाता है । प्रेम एक ऐसी रागिनी छेड़ देता है जिसके प्रभाव से प्रेमी का संपूर्ण व्यक्तित्व प्रेममय हो जाता है—

'बरऊदे दिलम नबाख्त यक जमजमा इश्क ।
जाँ जमजमाँ अमजे पाए ता सर हम इश्क ॥'[4]

१—आउट लाइन आफ इस्लामिक कल्चर, वा० २ पृ० ५०२ ।
२—ईरान के सूफी कवि, पृ० २२४ (शेख शादी) ।
३—वही, पृ० ३३८ हाफिज) ।
४—वही, पृ० ४०० (जामी) ।

सूफियों की रति में माधुर्य के साथ-साथ मादक भाव भी रहता है, परन्तु उसमें निहित वासना को पवित्र वासना ही कहना उचित है, क्योंकि ईश्वरीय रति का आनन्द नित्य और शान्तिप्रद होता है। पूर्वांकित पंक्तियों में कहा जा चुका है कि ईश्वर से प्रेम करना, उसकी प्रेमानुभूति द्वारा उसका साक्षात्कार एवं उसकी सत्ता में अपनी सत्ता का विलयन ही सूफी-साधना का चरम उद्देश्य है। साधक की उत्कट प्रेमानुभूति अनिर्वचनीय होती है। उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि सूफी कवि प्रायः प्रतीकों या रूपकों का माध्यम ग्रहण करते हैं। सनाई, फरीदुद्दीन अत्तार, रूमी, फिरदौसी निजामी, उमर खैयाम हाफिज, जामी आदि सूफी कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों, संकेतों और तर्कों का आश्रय लिया है।

अलगज्जाली की यहाँ दो कथाएँ दी जा रही हैं। इनसे सूफी प्रेम-साधना का अच्छा परिचय मिल सकेगा।

जुलेखा का यूसुफ से प्रेम हो गया है। उसका प्रेम इतना घना है कि जब कोई आकर कह देता था कि मैंने यूसुफ को देखा है तो वह उसे अपने गले का हार दे देती थी। उसके पास सत्तर हीरे थे। धीरे-धीरे इसी प्रकार देते सब चुक गए। वह यूसुफ को याद किया करती थी। उसे तारों में यूसुफ का नाम दिखाई देता था। विवाह के पश्चात् उसके प्रेम में अधिक घनत्व आ गया था। उसने यूसुफ के साथ रहने से इनकार कर दिया। उसने यूसुफ से कहा — 'मैं तुमसे उस समय तक प्रेम करती थी जब तक ईश्वर को नहीं जानती थी। अब ईश्वरीय प्रेम मेरे हृदय में व्याप्त हो उठा है, उस स्थान में अब मैं ईश्वर के अतिरिक्त किसी को नहीं रख सकती[1]। इसी प्रकार की एक और कथा अलगज्जाली ने दी है, मजनूं लैला के प्रेम में पागल हो गया। जब कोई उससे उसका नाम पूछता तब वह कहता था— 'लैला'। यह पूछने पर कि 'क्या लैला मर गई।' वह उत्तर देता था — लैला मेरे हृदय में है, मैं लैला हूं। उसकी मृत्यु नहीं हुई है। 'एक दिन जब वह लैला के घर के पास से जा रहा था, तब किसी ने कहा कि 'तुम आकाश की ओर न देखो। लैला के घर की दीवालों की ओर देखो। शायद वह दिखाई पड़ जाय।' मजनूं ने उत्तर दिया — 'मैं तो आकाश के उन तारों से ही संतुष्ट हूँ जिनका प्रतिबिम्ब लैला के घर पर पड़ रहा है।' और यही कारण है कि मजनूं 'लैला' में ही खुदा का 'नूर' देखता था। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने कहा है — 'ऐ मुईन ! अक्ल की आँख से दोस्त का हुस्न न देख। तू मजनूं की आँख से लैला के हुस्न को

१—मार्गरेट स्मिथ, अलगज्जाली दी मिस्टिक, अध्याय १२।

देख।''[1]

स्पष्ट है कि लौकिक प्रेम जब उच्च, पवित्र और व्यापक भाव भूमि पर पहुँच जाता है, तब वह ईश्वरीय प्रेम में परिणत हो जाता है। भारतवर्ष का सूफी काव्य भी इसी प्रकार की विचारधारा से आप्लावित है।

इस्लाम के इतिहास से ज्ञात होता है कि हसन की मृत्यु के पश्चात् सूफी मतवाद के प्रेम-प्रवाह की मनोमुग्धकारी तरंगों में समस्त मुस्लिम संसार तरंगित होने लगा। इस प्रेम धारा को प्रवाहित करने का श्रेय बहुलंश में राबिया तथा उसकी सहेलियों को है, साथ ही मंसूर को भी। तत्कालीन अन्य सूफी संतों ने इस कार्य में महत्वपूर्ण योग दिया। राधा, मीरा तथा अंदाल के सदृश राबिया तथा उसकी सहेलियाँ अपने को अल्लाह की दुलहिन समझती थीं। राबिया कहती है –

'हे नाथ ! तारे चमक रहे हैं। लोगों की आँखें मुँद चुकी हैं। सम्राटों के द्वार की अर्गलाएँ बन्द हैं। प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रिया के साथ एकान्त सेवन कर रहा है और मैं यहाँ अकेली साथ हूँ[2]।' उसने निर्देश किया है, 'हे नाथ ! मैं तुमसे द्विधा प्रेम करती हूँ। एक तो यह मेरा स्वार्थ है कि मैं आपके अतिरिक्त किसी अन्य की कामना नहीं करती। दूसरे यह मेरा परमार्थ है कि आप मेरे परदे को मेरी आँखों से हटा देते हैं ताकि मैं आपका साक्षात्कार करके आपकी सुरति में निमग्न रहूँ। किसी भी दशा में उसका श्रेय मुझे नहीं मिल सकता। यह तो आपकी कृपाकोर का प्रसाद है[3]।'

अन्य सूफी कवियों के सदृश राबिया भी रसूल की प्रार्थना करती है। 'हे रसूल, भला ऐसा कौन–सा प्राणी होगा, जिसे आप प्रिय न हों, पर मेरी तो दशा ही कुछ और है। — — – उसमें उसके अतिरिक्त किसी और के लिए स्थान ही नहीं है[4]।' इन संत महिलाओं तथा मंसूर आदि के समय में सूफीमत अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। फिर भी इनकी रचनाओं तथा वाणियों में अल्लाह के पुनीत प्रेम के दर्शन होते हैं। पं० चन्द्रबली पांडेय का कथन है कि कबीर आदि साधकों की तरह सूफी संत महिलायें भी अपने को अल्लाह की बहुरिया मानकर अपने प्रणय निवेदन को उस तक निवेदित करना चाहती थीं। सूफियों का परम प्रिय से प्रेम मीरां और अन्दाल की भांति है। मीरां को गिरधरगोपाल के प्रेम में लोक–लाज

१—मुईन बचश्मे खिरद हुस्ने दोस्त न नुमायद। बबीं बदीदये मजनूं जमाले लैलारा।'' दीवान ख्वाजागरी वनेवाज, पृ० २४।

२—राबिया दी मिस्टिक, पृ० २७।

३—ए लिटरैरी हिस्ट्री आफ दी अरब्स पृ० २३४।

४—स्टडीज़ इन तामिल लिटरेचर, पृ० ११३।

खोनी पड़ी और संत मत में आ जाने के कारण कुछ अधिक स्वच्छन्द होना पड़ा। देवदासी अन्दाल माधव — मूर्ति पर आसक्त थी। वह कृष्ण के प्रणय की प्यासी थी। कहा जाता है कि अन्त में मीरा की ही तरह वह उसी में समा गई। भगवान् श्रीकृष्ण ने उसके प्रणय को स्वीकार किया[1]। यहाँ पर यह कथन असंगत न होना मीरां पर सूफी प्रभाव पड़ा है। इसी प्रबन्ध में अन्यत्र यह सप्रमाण सिद्ध किया गया है। वस्तुत: सूफियों के अनुसार सौंदर्य वह है जो वास्तव में प्रेम को जन्म देता है अतः आत्मा सांसारिक सौन्दर्य से गुजरते हुए सर्वोत्तम की ओर झुक जाती है। वही ईश्वरीय सौन्दर्य है। यही संसार के सौन्दर्य का कारण है। पूर्ण सौन्दर्य ईश्वर में है। अत: वह सच्चे प्रेम का अधिकारी है[2]।'

सूफी साफ--साफ कह देते हैं कि इश्कमजाजी इश्क-हकीकी की सीढ़ी है और इसी के द्वारा इन्सान सुदी को मिटाकर खुदी बन जाता है। सूफियों के प्रेम का उदय देवदास और देवदासियों में हुआ। कर्मकाण्डी नबियों के घोर विरोध के कारण उसको 'परम प्रेम' की पदवी मिली। सूफी साधकों को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। प्रेमोन्मत्त मंसूर को 'अनलहक' कहने के अपराध में फाँसी दी गई। राबिया को दु:खों के सागर का संतरण करना पड़ा। इस प्रकार के अनेक प्रत्यूहों का प्रत्याख्यान करते हुए प्रेम–पीर के ये सच्चे साधक अपने प्रेम पंथ पर प्रगतिमान रहे। यह द्रष्टव्य है कि अपने मूल रूप में यह प्रेम--भावना इस्लाम की नहीं है। ईसा के पूर्व से ही अलवारों, शैवों तथा बौद्धों में इस प्रकार की प्रेम–साधना की परम्परा चली आती थी। ईरान, अरब आदि देशों में इस साधना का प्रचार हुआ था। आठवीं--नौवीं शताब्दी में इसी प्रेम–साधना ने इस्लाम के अन्तर्गत सूफी प्रेम–भावना का रूप ग्रहण किया। राबिया उसके पश्चात् मंसूर (मृत्यु सन् ७८४) के समय से अलगज्जाली (सन् ११११३) के समय तक अविच्छिन्न रूप के इस्लाम के साथ ही प्रेम या मादन–भाव की सूफी साधना भी चलती रही। सूफियों की साधना का मूलमन्त्र है 'प्रेम'। सूफी साधक परम प्रेममय ईश्वर के ज़िक्र (नाम–स्मरण) एवम् फ़िक्र (ध्यान) में दीवाने बने रहते हैं और संसार के समस्त ऐश्वर्य को वे प्रेम–रूप की मुहब्बत में पाते हैं वे हर जर्रे में प्रियतम का 'जलवा' देखते हैं —

'बेहिजाबी यह कि हर ज़र्रे में जलवा आशिकार।
फिर भी पर्दा यह कि सूरत आज तक देखी नहीं॥'

१—पं० चन्दावली पांडेय, तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ११।
२—अलगज्जाली दी मिस्टिक, मार्गरेट स्मिथ पृ० १०६।

जुनैदी[1] का कथन है कि प्रेम की विशेषता यह है कि अपने निजी व्यक्तित्व को समाप्त कर दिया जाय। इस आनन्द पर नियंत्रण नहीं है। यह ईश्वरीय कृपा निरन्तर विनय करने और आकांक्षा करते रहने से प्राप्त होती है।

वस्तुत: सूफी–साधकों का प्रधान लक्ष्य है कि सृष्टि के कण–कण में प्रियतम का जलवा देखना उसके प्रेम–विरह में तड़पन प्रलपन का आनन्द उठाना, साक्षात्कार का आनन्द उठाना और अन्तत: चिर मिलन का आनन्द प्राप्त करना।

जायसी, कुतबन, मंझन आदि कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने परलौकिक प्रेम का वर्णन किया है।

जायसी अपनी साधना द्वारा निराकार प्रेम–प्रभु की आरती उतारते हुए अपना सब कुछ उसी में निमग्न कर देते हैं। पदमावत में प्रेम--मार्ग, उसका महत्व, प्रेम की गरिमा, उसका सौन्दर्य, उस पंथ की कठिनाई का स्थान–स्थान पर अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया गया है। जिसका हृदय प्रेम–बाणों से बिद्ध है वही इसके मर्म को जानता है —

'प्रेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई।।

मंसूर ने ठीक ही कहा था – 'ईश्वर से मिलन तभी सम्भव है जब हम कष्टों के बीच से होकर गुजरें।'[2] प्रेम की व्यवस्था मृत्यु से भी कठिन है – 'कठिन मरन तें पेम बेवस्था।' क्रान्तदर्शी कबीरदास पर भी सूफियों के प्रेम भाव का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उनके प्रेम के आदर्श और शूर हैं। उनके अनुसार प्रेम के पंथ पर चलना असिधारा पर चलना है। यह कोई खाला के घर की राह नहीं है, यह कोई खाला का घर नहीं है कि जब जी में आया चल पड़े। इसमें प्रवेश पाने के लिए शीश को उतार देना पड़ता है–

'सीस उतारै भुइँ धरै तापर राखे पावँ।
दास कबीरा यौं कहै ऐसा होय त आव।।'
'सीस उतारै भुइँ धरै सो पैठे घर माहिं।'

जायसी ने भी प्रेम-पंथ पर चलने की बात को कुछ इसी प्रकार से स्पष्ट किया है–

'ज्ञान दिष्टि सों जाय पहूँचा। पेम अदिस्ट गगन ते ऊँचा।।
'धुव ते ऊँच पेम धुव ऊआ। सिर देइ पाँव देइ सो छूआ।।'

प्रेम खाला का घर समझने वालों को कबीर ने सावधान किया था। जायसी ने भी कहा है कि वहाँ पहुँचने के लिए 'सिर काट कर उस पर पैर रखना पड़ेगा।' 'करब पिरीत कठिन है काजा।' प्रेम के पहाड़ पर वही चढ़ सकेगा जो सिर (अभिमान–

१—आउटलाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर, ए० एम० ए० शुस्तरी, पृ० ३११।
२—आउटलाइन्स आफ इस्लामिक कल्चर पृ० ३५०।

अहंभाव देकर चढ़ना चाहे। उस पंथ पर काम, क्रोध तृष्णा आदि चोर बटमारी करते हैं। पथिक को उनसे क्षण-क्षण सावधान रहने की आवश्यकता है। यह प्रेम-पीर 'प्रबोध' से संवर्द्धित होती है —

'उपजी प्रेम पीर जेहि आई। परबोधत होइ अधिक सो आई ॥'

अलफराबी का कथन है कि 'ईश्वर स्वयं प्रेम है। सृष्टि रचना का मूल प्रेम है। सृष्टि की इकाइयाँ प्रेम के सहारे प्रेम के महास्रोत में जो पूर्ण और सर्वोत्तम है। डूब जाने के लिए पूर्ण रूप से जुड़ी हुई हैं।'[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सूफियों के यहाँ प्रेम का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। प्रेम ही कर्म है ओर प्रेम ही धर्म है, प्रेम ही पंथ है और परमात्मा भी प्रेममय ही है। इसी प्रेम से हिन्दी सूफी काव्य पोषित हुआ है। हिन्दी सूफी काव्य की प्रत्येक कहानी का मूलाधार 'प्रेम' है। इसका बीज और अन्त प्रेम की ही विजय हैं। फारसी के जितने कवि हैं वे मानों कविता में प्रेम के अतिरिक्त कुछ जानते ही नहीं। प्रमाणस्वरूप जलालुद्दीन रूमी, जामी, फरीदुद्दीन अत्तार, अलगज्जाला आदि के उदाहरण दिए जा सकते है। जायसी ने भी पदमावत में लिखा है —

मानुष पेम भयउ बैकुंठी। नाहित काह छारि भरि मूठी ॥'
'विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा ॥
मधू पाछ मुगधावति लागा। गगन पूर होइगा बैरागा ॥ आदि

जायसी ने पदमावत में सविस्तर प्रेम-पीर की विशद् और प्रांजल अभिव्यञ्जना की है।

परम सत्ता की प्रेममय कल्पना

(जायसी की कान्ता रति या मधुर भाव की साधना)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सूफी ईश्वर को ही प्रियतम-रूप में देखते हैं। वे सारे संसार को इसी की ज्योति से प्रोद्भाषित बताते हैं। उन्होंने सर्वत्र लौकिक प्रेम के बहाने अलौकिक प्रेम का वर्णन किया है। जायसी ने भी ईश्वर की 'कान्तारति' को ही प्रधानता दी है। यहाँ उनका साध्य है। प्रेम प्रभु से 'बंदा' (जीव या साधक) दूर है, परन्तु यह दूरी नगण्य है (उससे मिलने की उत्कन्ठा और उसके दीदार की लालसा कभी कम नहीं होती है।'[२]

१—आउटलाइन्स इस्लामिक कल्चर, ए० एम० शुस्तरी, पृ० ३११।
२—आवारिफुल मारिफ, पृ० १०४।

'बसै मीन जल धरती अम्वा बसै अकास।
जो जाही का भावता सो ताही के पास।'

उस प्रेम सत्ता के दर्शन सबको सहज नहीं हैं। वह जिसे दर्शन देना चाहता है उसके हृदय में प्रेम के डोरे डाल देता है, प्रेम-बाणों से बेध देता है, या प्रेम की चिनगारी से उसके हृदय को जला देता है –

'कठिन पेम चिनगी विधि मेला।'

संसार का कण-कण उसके प्रेम बाणों से बिंधा हुआ है। (राबिया ने कहा है 'मेरे रोग का निराकरण तब होगा जब प्रिय से मिलन होगा)। बिना प्रियतम से मिले निस्तार नहीं –

उन बानन्ह अस को जो न मारा।
बेधि रहा सगरौ संसारा।'

'धरती गगन बेधि सब सखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
गगन-नखत जो नाहिं न गने। वे सब बान ओहिं के हने॥'

जायसी ने इस जागतिक सौंदर्य को उस रहस्यमय ईश्वरीय सौंदर्य के प्रेम-सूत्र में बँधा हुआ माना है। इसी का अवलम्बन पाकर जीव उस प्रेममय तक पहुँच सकता है। सूफी ही क्यों? सभी भारतीय मनीषी उस सत्ता को सर्वत्र व्याप्त देखते हैं। इसीलिए वे सकल संसार को प्रणाम करते हैं –

सियाराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
(तुलसीदास)

मैथिल कोकिल विद्यापति भी उसके साथ अपना जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध मानते हैं –

'जनम जनम हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल॥' (विद्यापति पदावली)

रूमी[२] ने कहा है कि "स्त्री ईश्वर की किरन है। वह केवल सांसारिक प्रेमिका नहीं है। वह निर्माता है, निर्मिति नहीं।" इसीलिए 'अलमजा जो कंतरतुल हकीक़ा, अर्थात् मजाज़ हकीकत का पुल है। इसीलिए सूफी कवि सांसारिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम की व्यञ्जना कल्पना और वर्णन करते हैं। मध्य युगीन हिन्दी साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्म-साधना ही रही है। धर्म-साधना के परिणामस्वरूप धर्म ग्रन्थों के आवरण में सुन्दर कवित्व का विकास हुआ है। पदमा

१–राविया दिमिस्टिक मार्गरेट स्मिथ, पृ० ११०, (तुलनीय : मीराबाई का भवरोग भी तभी मिटेगा जब बैद सँवरिया होय)।

२–रूमी, दी पोएट एण्ड मिस्टिक, निकल्सन, पृ० ४४।

वत और रामचरितमानस के सभी सौंदर्य का मूल प्रेरणा-स्रोत यही है। बौद्ध योगियों सूफियों, निर्गुणियों तथा सगुणमार्गी भक्तों के साहित्य का केन्द्र बिन्दु ईश्वर या या प्रियतम के साथ लीला या उसी की साधना है। तटस्थ दृष्टि से देखने पर लगता है कि इन सबकी साधना प्रेम-मूलक है और है भक्त हृदय की रागात्मिका वृत्ति का प्रसाद।"[1]

पदमावत और चित्ररेखा जायसी की सर्वश्रेष्ठ काव्यात्मक रचनाएँ हैं। इनमें उन्होंने अपनी प्रेम-साधना का सविस्तर विवेचन किया है। चित्ररेखा में उन्होंने स्पष्ट कहा है –

'जब लगि बिरह न होइ तन हिये न उपजइ पेम।
तब लगि हाथ न आव तप करम, धरम, सत, नेम॥'[2]

अर्थात् विरह का हृदय में उत्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। पदमावत की समस्त कथा का केन्द्र 'प्रेम-साधना' ही है।

शेख बुरहान महदी गुरु ने ही उन्हें 'प्रेम-प्याला' पंथ को दिखाया था –

'पेम पियाला पंथ लखावा। आपु चाखि मोहि बूँद चखावा।'
'पेम पियाला जिन्ह पिया, किया पेम चित बंध।
सांचा मारग जिन्ह लिया, तजि झूठा जग धंध॥'[3]

जायसी ने अपने को 'प्रेम-मधु-भौरा' कहा है —

'मुहमद मलिक पेम मधु भौरा॥'

उन्होंने प्रेम प्रीति का अन्त तक निर्वाह किया है —

'हाथ पियाला साथ सुराही। पेम पीति लइ ओर निवाही॥'[4]

प्यारे पीर सैयद अशरफ की कृपा से उनके हृदय में प्रेम-दीप प्रज्ज्वलित हुआ था —

लेसा हिये पेम कर दिया। उठी जोति भा निरमल हिया॥'[5]

हीरामन शुक द्वारा वर्णित पद्मावती के नखशिख वर्णन के अनन्तर राजा रत्नसेन के हृदय में प्रेम-भाव का उदय होता है। वह अपना राज-पाट, सुख-वैभव, भोग आदि का परित्याग करके जोगी बन जाता है और तब तक प्रयत्न करता है जब तक उसे प्राप्त नहीं कर लेता। चित्तौड़ से सिंहल तक का मार्ग एक प्रकार से

१–पदमावत का काव्य सौंदर्य, पृ० २२४ २२५।
२–चित्ररेखा, पृ० ७०।
३–वही, पृ० ७४।
४–चित्ररेखा, पृ० ७५।
५–जायसी ग्रन्थावली, छन्द १८।

प्रेम-पंथ ही है। इस पर वह विघ्नों, अतरायों और नाना-विध प्रत्यूहों का प्रत्या-ख्यान करता हुआ गतिमान होता है —
हीरामन ने रत्नसेन को समझाया था–

पेम सुनत मन भूल न राजा। कठिन पेम सिर देइ तो छाजा।
पेम फांद सो मरा न छूटा। जीउ दीन्ह बहु फाँदन छूटा ॥[1]

पदमावती का रूप-वर्णन सुनकर राजा मूर्छित हो गया। इस प्रेम-भाव को भला कौन जान सकता है—

प्रेम-घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई ॥
परा सो पेम समुंद अपारा। लहरहि लहर होइ बिसंभारा ॥

प्रेम मार्ग निश्चयमेव दुर्गम है। दु:ख के भीतर भी प्रेम और सुख का अमृत स्रोत रहता है। इसको वही पाता है जो मृत्यु की पीड़ा सहने को उद्यत हो, फिर तो प्रियतम का मिलन और अनन्त सुख ही सुख मिलता है–

'भलेहिं पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइँ खेला।'
दुख भीतर जो पेम मधु राखा। जग नहिं मरन सहै जो चाखा।
जो नहिं सीस पेम पथ लावा। सो प्रिथिमी महँ काह क आवा।
अब मैं पंथ पेम सिर मेला। पावँ न ठेलु राखि कै चेला।
पेम-बार सो कहँ जो देखा। जो न देख का जान बिसेखा।
तौ लगि दुख पीतम नहि भेंटा। मिलै, तौ जाइ जनम दुख मेटा।[2]

मानव प्रेम के ही कारण अमर होता है अन्यथा वह एक मुट्ठी राख ही है—

मानुष, पेम भएउ बैकुण्ठी। नाहि त काह छार भरि मूठी।
पेमहिं माह विरह रस रसा। मैन के घर मधु अमृत बसा।[3]

प्रेम प्राय: सौण्दर्य-जन्य होता है। पदमावती भी अप्रतिम-सौन्दर्य संपन्न है। उसके सौन्दर्य की भास्वरता ईश्वरीय सौन्दर्य की ही भास्वरता है इसीलिए तो रत्नसेन उसके लिए जोगी भिखारी तक हो जाता है।

प्रारम्भ में प्रेम प्राय: वासनात्मक होता है। विरह की तपाग्नि में प्रज्ज्वलित होकर प्रेमी द्वादशवर्णी कांचन की तरह कांतिमान हो जाता है। हीरामन से पदमा-वती ने कहा कि यदि में चाहूँ ती उससे आज ही मिल सकती हूँ, परन्तु अभी तक उसे मेरा मर्म ज्ञात नहीं है। मुझे अभी पूर्णत: ज्ञात नहीं है कि वह प्रेम के रंग में रंग उठा है या नहीं–

'पै सो मरमु न जानै भोरा। जानै प्रीति जोआरि कै जोरा।
हौं जानति हौं अबही काँचा। ना वह प्रीति रंग थिर राँचा।

१–जायसी ग्रन्थावली, दोहा ६७। २–वही, पृ० ४० (दोहा ७)।
३–वही, पृ० ७१ (दोहा २।२–३)।

ना वह भएउ मलयगिरि बासा। ना वह रबि होइ चढ़ा अकासा।
ना वह भयउ भौर कै रंगू। ना वह दीपक भएउ पतंगू।
ना वह करा भृंग कै होई। ना वह आपु मरा जिउ खोई॥

इस प्रकार जब दोनों का मिलना होता है, तो प्रेमी मर कर भी अमर हो जाता है। वे पुनः कभी अलग नहीं होते।

रत्नसेन देवपाल के साथ द्वन्द्व युद्ध करते समय घायल हो जाता है। साँग की सांघातिक चोट के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। उसकी दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं। चिता में जलते हुए वे कहती हैं कि 'हे कान्त, जीते जी तुमने हमें जिस कंठ से लगाया था, मरने पर भी हे स्वामिन् हम उस कंठ को न छोड़ेंगी। हे प्रियतम, जो गाँठ तुमने हमारे साथ जोड़ी थी, आरम्भ से लेकर जीवन के अन्त तक के लिए लगाई थी, वह छूट नहीं सकती–

एक जो भाँवरि भई बियाही। अब दुसरे होइ गोहन जाहीं।
जियत, कंत ! तुम हम्ह गर लाई। मुए कंठ नहिं छोड़हि साई।
औ जो गाँठ कंत, तुम्ह जोरी। आदि अन्त लइ जाइ न छोरी।
यह जग काह जो अछहि न आथी। हम तुम, नाह ! दुहूँ जम साथी।
लागीं कंठ अगि देइ होरी। छार भई जरि, अंग न मोरी।
रातीं पिउ के नेह गइँ, सरग भएउ रतनार।
जो रे उवा सो अथवा, रहा न कोइ संसार।[1]

जायसी का कथन है कि जो कोई भी इस संसार में उदय होता है वह अवश्यमेव अस्त भी होता है। प्रेम एक ऐसा अमर एवम् शाश्वत सत्य है जिसका कभी अस्त नहीं होता। अलाउद्दीन और राघव कहाँ हैं ? वह सुरूपा रानी पदमावती कहाँ है ? रत्नसेन और हीरामन कहाँ हैं ? वे सब नहीं रहे, पर उनकी प्रेम कहानी जगत में है–

'कहँ सुरूप पदमावति रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी।'
धन सोई जस कीरति जासू। फूल मरै, पै मरै न बासू॥[2]

अलाउद्दीन भी पदमावती का प्रेमी है, पर उसका प्रेम सच्चा नहीं है। उसकी वासना का पर्युत्थान नहीं हुआ है। वह पदमावती का शरीर चाहता है, अतः वह बाह्य सौंदर्य पर प्रलुब्ध कामी पुरुष है। उसमें एक सच्चे साधक की-सी तपस्या, लगन और त्याग नहीं है। उसमें शक्ति-जन्य अहंकार, तृष्णा और वासना का प्राधान्य

१–जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३००, दोहा ३
२–वही, पृ० ३०१

है। इसीलिए उसके हाथ में चिता की राखमात्र आती है–

छार उठाइ लीन्हि एक मूठी। दीन्हि उड़ाइ पिरथिमी झूठी।[1]

प्रेम-मार्ग के पथिक के लिए हृदय की पवित्रता आवश्यक है। कल्मषयुक्त हृदय से प्रेमप्रभु का मिलन असम्भव है। महादेव जी ने रत्नसेन को उपदेश दिया था कि दुःख सहो पर प्रेम पँथ पर गतिमान रहो–

'कहेसि न रोव, बहुत तैं रोवा। अब ईसर भा दारिद खोवा।
अब तैं सिद्ध भरसि सिधि पाई। दरपन कया छूटि गई काई।
कहौं बात अब हौं उपदेसी। लागु पंथ भूले परदेसी'।

प्रेम-पंथ के पथिक के हृदय में क्रोध, ईर्ष्या आदि के लिए स्थान नहीं रहता। वह सहिष्णु उदार और तपस्वी हो जाता है–

गुरू कहा चेला सिद्ध होहू। पेम-बार होइ करहु न कोहू।
जाकहँ सीस जाइ कै बीजै। रंग न होइ ऊभ जो कीजै।
जेहि जिउ पेम पानि भा सोई। जेहि रंग मिलै ओहि रंग होई।
जो पै जाइ पेम सौं जूझा। कित तप मरहिं सिद्ध जो बूझा।
सीस दीन्ह मैं अगमन, पेम पानि सिर मेलि।
अब सों प्रीति निबहौं, चलौं सिद्ध होइ खेलि।[2]

सचमुच रत्नसेन एक उत्कृष्ट प्रेम-पथिक के रूप में चित्रित किया गया है। बन्दी रत्नसेन को सूली पर चढ़ाए जाने की आज्ञा होती है, उसका हृदय अपने परम प्रिय में पूर्णतः निमग्न है।

राजपुरुषों ने कहा, 'जिसका स्मरण करना चाहते हो, उसे सुमिर लो। अब हम तुम्हें केतकी का भ्रमर बना देंगे (सूली से बींध देंगे)। उस समय रत्नसेन ने कहा है, 'मैं हर श्वास में उसी का स्मरण करता हूँ–मरते और जीते दोनों अवस्थाओं में जिसका हो चुका हूँ। मैं उस पदमावती का स्मरण करता हूँ जिसके नाम पर मेरा यह जीव निछावर है। मेरी काया में जितनी रक्त की बूंदें हैं, वे सब पदमावती-पदमावती कहती हैं। यदि मैं जीवित रहा, तो मेरे एक-एक बूँद रक्त में उसी पदमावती का स्थान है। यदि सूली पर चढ़ूँगा, तो उसी का नाम लेकर मरूँगा। मेरे शरीर का रोम–रोम उसी से बिंधा हैं। प्रत्येक रोमकूप बेधकर जीव उसके द्वारा शुद्ध किया गया है। मेरी हड्डी-हड्डी में वही–पदमावती-पदमावती शब्द हो रहा है। मेरी नस-नस में उसी की ध्वनि हो रही है। वस्तुतः उत्कृष्ट प्रेम का यह

१–जायसी ग्रंथावली पृ० ३००
२–वही, पृ० १०४, दोहा ५

एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है—

कहेसि सँवरू जेहि चाहसि सँवरा। हम तोहि करहिं केत कर भँवरा।
कहेसि ओहि सँवरों हरि फेरा। मुए जियत आहौं जेहि केरा।
रकत क बूँद कया जस अहही। 'पदमावति पदमावति' कहही।
हाड़हि हाड़ सबद भो होई। नस-नस माहँ उठे धुनि सोई॥[1]

प्रेमी के मन में लोभ और अहंकार नहीं रहना चाहिए। रत्नसेन जब सिंहल से लौट रहा था, तो उसके मन में लोभ और अहंकार दोनों थे और वे रत्नसेन को ले डूबे।[2] वह रो-रोकर कहता है कि आह घमण्ड मुझे ले डूबा।

पूर्वांकित पंक्तियों में चित्ररेखा के उदाहरणों (जब लगि विरह न होइ तन हिये न उपजइ प्रेम) द्वारा स्पष्ट किया गया है कि प्रेम-साधना में विरह का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। गुरू विरह की चिनगारी डाल देता है—

'गुरू विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला।'

ज्ञान ही भूले हुए साधक को प्रभु का स्मरण कराता है। साधक को सुधि आती है कि इस दुःख स्थिति के पूर्व वह ईश्वर के साथ एक था। वहाँ धरती और स्वर्ग मिले हुए थे? वहाँ से इन्हें किसने वियुक्त कर दिया?

धरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ निनार के दीन्ह बिछोऊ।[3]

मृत्यु तो एक ही बार प्राण लेती है, पर विरह में अनेक बार प्राणान्त पर प्राणान्त का सामना करना पड़ता है।[4] विरही अपने को संभाल नहीं पाता, उसे शरीर ओर परिधान की सुधि–बुधि नहीं रहती। प्रिय को रटते-रटते उसका मुख सूख जाता है।[5] विरह वज्राग्नि से भी भयंकर है। अग्नि तो जल पड़ने पर शान्त हो जाती है, पर विरह सान्त्वना के जलसीकर पाकर और भी अधिक उत्तप्त होता है। सूर्य भी विरहाग्नि के ही कारण जल रहा है। विरही की वियोगाग्नि प्रिय की प्राप्ति पर ही शान्त होती है।

'विरह बजागि बीच का कोई। आगि जो छुटै जाइ जरि सोई।
बिरहि के आगि सूर नहिं टिका। रातिहुँ दिवस जरा औ धिका।[6]

१—जायसी ग्रन्थावली पृ० १११-११२, दोहा ३
२—वही, पृ० १७२-७३
३—वही, खंड २२ दोहा ७।३
४—वही, खँड २२, पृ० ९८
५—वही
६—वही, पृ० ७८, दोहा ६

प्रभु-विरह का अनुभव करने वाला साधक धन्य है। वियोग की चिनगारी का नाम सुनते ही पृथ्वी और आकाश काँप जाते हैं, पर धन्य है विरही और धन्य है उसका हृदय जहाँ विरह की वह चिनगारी ही नहीं, उसकी सम्पूर्ण ज्वाला भी समा जाती है-

'मुहमद चिंनगी पेम कै, सुनि महि गगन डराइ।
धनि विरही औ धनि हिया तहँ अस अगिनि समाइ।'[१]

जिसके हृदय में विरह की निष्पत्ति होती है वह धन्य-धन्य हो जाता है। प्रत्येक स्थान पर ज्योतिर्मय नग उत्पन्न नहीं होते। सर्वत्र जल में मोती नहीं मिलती। प्रत्येक वन में चन्दन के वृक्ष नहीं होते—वैसे ही प्रत्येक प्राणी के हृदय में ईश्वर के विरह की भावना भी उत्पन्न नहीं होती। विरले अध्यात्म के पथिक ही इस विरह-भाव का अनुभव करते हैं—

थल-थल नग न होहिं जेहि जोती। जल-जल सीप न उपनहिं मोती।
वन-वन बिरिछ न चंदन होई। तन-तन बिरह न उपनै सोई॥'[२]

जब प्रिय निकटतम होते हुए भी दूर रहे, तब प्रेमी के विरह संताप का पारा सहन शक्ति के चरम विन्दु का स्पर्श करने लगता है। पुष्प में सौरभ और दुग्ध में घृत की भाँति वह तत्वों का तत्व सब में ओतप्रोत है। वह प्यारा प्रभु इस घट को ही अपना घट बनाकर रमण करता है। आत्मा के ही अन्दर परमात्मा विद्यमान है। देशकाल की किंचित्मात्र भी दूरी दोनों में नहीं है, परन्तु भावना की दृष्टि से परमात्मा जीव से कितनी दूर है। साधक प्रभु का सामीप्य चाहता है, वह उसके विरह में अतीव क्लेष सहता है, अग्नि के कौर खाकर जीवन धारण करता है—

फल बास घिउ छीर जिमि नियर मिले एक ठाइँ।
तस कंता घट घर कै, जियउँ अगिनि कहँ खाइँ।[३]

विरह की ज्वाला बड़ी दाहक होती हैं—

जग महँ कठिन खरग कै धारा।
तेहिं ते अधिक विरह कै झारा।[४]

पदमावती भी विरह की अग्नि में तप रही है। उसे भी नींद नहीं आती मानो कोई सेज पर 'केवांछ' रख गया हो।'[५]

१—जायसी ग्रन्थाली पृ० ८८, दोहा ७
२—वही, पृ० १३६, दोहा २२।१-२
३—डा० मुन्शीराम शर्मा, भक्ति का विकास, पृ० ५९३
४—जायसी ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ६५ (४।५)
५—वही, पृ० ७३ (१।२)

जब तक जीव ईश्वर से मिल नहीं जाता, यह तड़पन बनी ही रहती है और मिलन के पूर्व विरह का जगाना अत्यन्त आवश्यक है। सच तो यह है कि विरह के बिना प्रेम होता ही नहीं।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि पदमावत की कथा मूलतः एक लौकिक कथा है, किन्तु इस लौकिक कथा के माध्यम से जायसी ने ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यंजना की है। प्रेम-पीर के साधनात्मक जीवन-दर्शन का जैसा काव्यात्मक निरूपण पदमावत में हुआ है वैसा हिन्दी के शायद ही किसी काव्य में हुआ हो।

४–चित्ररेखा, पृ० ७०

१२

प्रेमाख्यानक परम्परा

प्रेमाख्यानों का महत्व और जायसी

प्रेमाख्यान का अर्थ

'प्रेमाख्यान' का आख्यान शब्द मूलत: आख्यायिका का ही भाषान्तर-सा प्रतीत होता है और इसके ही अर्थ में कथा शब्द का भी प्रयोग होता है। परन्तु आख्यायिका के लिए जहाँ कहा गया है कि वह केवल नायक द्वारा ही वर्णित गद्य के रूप में होती है वहाँ कथा स्वयं नायक या किसी अन्य पात्र द्वारा भी कथित हो सकती है और साहित्यशास्त्र के पण्डितों ने आख्यानादि को इन दोनों के ही अन्तर्गत मान लिया है।[1] फिर भी जैसा 'पुराणमाख्यानम्' से प्रकट होता है 'आख्यान' शब्द का प्रयोग किसी समय पुराणों के लिए भी किया जाता था और उसके अन्तर्गत पाई जानेवाली अन्तर्कथाओं को 'उपाख्यान' की संज्ञा दे दी जाती थी। 'महाभारत' को कदाचित् इसी कारण कहीं-कहीं 'भारताख्यान' कहा गया मिलता है और उसकी कतिपय अन्तर्कथाओं को 'शकुंतलोपाख्यानम्' 'नलोपाख्यानम्' आदि कहा गया है। आख्यानों का स्वरूप स्वभावत: वर्णनात्मक हुआ करता है और उसमें आई हुई कथा को इतिवृत्तात्मक रूप में दिया जाता है। उनके कथानकों का किसी रचयिता द्वारा कल्पित कर लिया जाना ही पर्याप्त नहीं, क्योंकि वे साधारणत: लोक-प्रचलित या ऐतिहासिक भी हो सकते हैं। इसमें मुख्य अन्तर केवल इसी बात का रहता है कि प्रथम वर्गबालों के पात्र कल्पना-प्रसूत होते हैं तथा उनसे सम्बन्धित घटनाओं के परिवर्तन वा विकास में जहाँ कवि को किसी प्रकार के बन्धन का अनुभव नहीं करना पड़ता, वहाँ दूसरे वर्गवाली रचनाओं में ऐसी गुंजाइश रहा करती है। प्रेमाख्यानों

१–दण्डी, काव्यादर्श १।२३—८ तथा विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद ३२५–६।

में प्रधानतः किसी पुरुष का किसी स्त्री के प्रति या किसी स्त्री का किसी पुरुष के प्रति प्रेमासक्त होना दिखलाया जाता है।'[1] इस प्रकार की घटनाओं के मूल में प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र दर्शन, स्वप्न-दर्शन, गुण श्रवण-अथवा किसी आभूषणादि की प्राप्ति जैसी बातें हुआ करती हैं। इस प्रकार प्रेमाभिभूति होने पर प्रेमी व प्रेमिका अपने प्रेम-पात्र को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। उनके प्रेम में एकान्त निष्ठा आ जाती है। वे अपने समक्ष के समस्त प्रत्यूहों, अन्तरायों और विघटन-बाधाओं को तृणवत् मानते हैं। जोगी बनना, विकट यात्राओं के लिए निकल पड़ना, सात सात सागरों को पार करना, युद्ध करना आदि में से कोई न कोई उनका धर्म हो जाता है। 'भारतीय प्रेमकथाओं का अन्त बहुधा प्रेमी और प्रेमपात्री के बीच विरह सम्बन्ध के घटित हो जाने पर ही अवलम्बित रहता है और इसके सम्बन्ध में कर्म-विपाक और पुनर्जन्म की कथायें तक जोड़ दी जाती हैं, किन्तु कभी-कभी प्रेमाख्यानों का रूप दुःखान्त भी बन जाया करता है जिनके अधिक उदाहरण ऐसी सूफी रचनाओं में ही मिलते हैं। सूफी प्रेमाख्यनों में और विशेषकर उनमें जिनके कथानक अभारतीय स्रोतों से लिए गए रहते हैं ऐसे प्रेम-सम्बन्ध की कहानी प्रचुर मात्रा में मिलती है जिसके लिए वैध या अवैध का कोई प्रश्न नहीं उठा करता और जहाँ प्रायः प्रत्येक कार्य पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ किया जाता है। परन्तु भारतीय कथानकों में अधिकतर ऐसी नारियों का ही समावेश रहा करता है जो पातिव्रत धर्म का पालन अत्यन्त आवश्यक समझती हैं तथा जो पति के अभाव में प्रायः सती भी हो जाती हैं।'[2] 'पदमावत' और 'चित्ररेखा' की कथाएँ मूलतः भारतीय ही हैं। पदमावत में तो महत्कार्य रानियों का सती होना ही है। 'चित्ररेखा' में भी पति के अभाव में रानी चित्ररेखा चिता में जल मरने को प्रस्तुत है। वह कहती है कि 'हे प्रिय, जो तुमने मुझे भुला दिया है तो मैं भी अपने को जलाकर तुमसे मिलूंगी —

'जो तुम पिउ हौं अइस बिसारी। आपुहि जारि मिलौं तौ नारी।'[3]

भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा

भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वस्तुतः प्रेम एक ऐसी सहज मानवीय प्रवृत्ति है जो मनु और श्रद्धा में भी विद्यमान थी। ऋग्वेद के दशम मण्डल[4] में अप्सरा उर्वशी की प्रेमकथा का मूल मिलता है। इस उर्वशी और पुरूरवा

१—पं० परशुराम चतुर्वेदी, सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य, पृ० २४५—४६ से उद्धृत।
२—वही, पृ० १—३।
३—चित्ररेखा, पृ० १०६—७।
४—ऋग्वेद, १०।९५।

के प्रेमाख्यान के विषय में पेंजर ने लिखा है कि 'अभी तक ज्ञात हुई भारत-भारो-पीय प्रेम-कहानियों में यह सर्वप्रथम प्रेम-कहानी है, बहुत सम्भव है कि समस्त विश्व के प्रेमाख्यानों में भी यह प्राचीनतम समझा जा सके।'[1] पूरूरवा और उर्वशी से सम्बद्ध अनेक काव्य-नाटक संस्कृत साहित्य में विद्यमान हैं और वे सब इसी मूलकथा के स्फीत-पीत रूप हैं। ऋग्वेद में ही ऋषि श्यवाश्व और मनोरमा[2] की प्रेमकथा भी मिलती है। वैदिक कहानियाँ देवता और मानवी, अप्सरा और मानव, ऋषि और राजकन्या के प्रेम से सम्बन्धित हैं।

उपनिषदों में अनेक छोटी-बड़ी प्रेमकथाएँ मिलती हैं। याज्ञवल्क्य और गार्गी सत्यकाम और जाबालि, अहल्या और इन्द्र प्रभृति अनेक सुमधुर कथा-प्रसंगों से उपनिषदों के ज्ञान-भंडार को मनोमय बनाया गया है। रामायण और महाभारत तो कथाओं के अक्षय भंडार ही बन गए हैं। महाभारत के 'सम्भव-पर्व' में अर्जुन-सुभद्रा, दुष्यंत-शकुंतला, भीम-हिडिम्बा आदि के प्रेमाख्यान मिलते हैं। कहानियों का एक बृहत् और प्राचीन संग्रह गुणाड्य कृत 'बृहत्कथा' है। इसे उस समय में प्रचलित कहानियों का कोश कहा जाता है।[3] आज यह अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं है तथापि क्षेमेन्द्र, सोमदेव प्रभृति कवियों द्वारा 'बृहत्-कथामंजरी' और 'कथा सरित्सागर' के नाम से संस्कृत साहित्य में रूपान्तरित होकर सुरक्षित रह सका है। विक्रमीय शताब्दी के प्रारम्भ के पूर्व संस्कृत में कुछ ऐसी कथाएँ लिखी जा चुकी थीं जिनका पता महाभाष्यकार को था।' अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्र की व्याख्या में भैमरथी, सुमनोत्तरा और बासवदत्ता की प्रेमकथाओं का उल्लेख पतंजलि ने किया है। सुबंधु की 'वासवदत्ता' की ही भाँति पतंजलि कथित 'वासवदत्ता' भी रही होगी। 'बाणभट्ट की कादम्बरी 'जन्म-जन्मान्तर में चलने वाले प्रेम की चमत्कारपूर्ण गाथा' है। कालिदास कृत 'मेघदूतम, 'कुमारसंभव' 'अभिज्ञान शाकुन्तल,' 'विक्रमोर्बशीयम्' प्रेमाख्यानों के ज्वलंत उदाहरण हैं। बृहत्कथा वेतालपंचविशंति, और पचतन्त्र भी आख्यानों के अक्षय भंडार हैं। इनमें पशु-पक्षियों की पात्ररूप में बहुलता है।"[4]

पौराणिक प्रेमाख्यानों की पुरूरवा[5] उर्वशी, नल दमयन्ती, दुष्यन्त-शकुन्तला,

---

१—एन० एम० पेंजर दी अरेशन आफ स्टोरी पृ० २४५

२—ऋग्वेद, १०।६१

३—ए० बी० कीथ, क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, (१९२३)

४—डा० हरिकान्त श्रीवास्तव, भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० १०

५—विष्णु-पुराण अध्याय ६।४, श्रीमद्भागवत स्कन्ध ९, अध्याय १४, वांयु पुराण अध्याय ९१, ब्रह्मपुराण १०, विष्णुधर्मोत्तर, प्रथम खंड १३०-६ (भारतीय प्रेमाख्य की परम्परा के उद्धृत)।

उषा-अनिरुद्ध, श्रीकृष्ण-रुक्मिणी, प्रद्युम्न-मायावती, अर्जुन–सुभद्रा, भीम-हिडिम्बा, प्रभृति कथाओं ने परवर्ती साहित्य को बहुत प्रभावित किया है। स्वयंवर और सुन्दरी हरण इन कथाओं में पाय: मिलते हैं। पृथ्वीराज रासो की कथाओं में इस पौरा–णिकता की छाप द्रष्टव्य है।

बौद्ध जातकों और जैन धर्म की कथाओं में भी प्रेमाख्यानों के दर्शन होते हैं। 'कट्ठहारिजातक', 'मणिचोर जातक'[1] जैसी जातक कथाओं में भी प्रेम के प्रसंग मिलते हैं, पर उनमें प्रेमाख्यान वाले अंश गौण हैं, उपदेशांश प्रमुख हैं।

'थेरी गाथा' में 'शुभा' नाम की एक भिक्षुणी और एक नवयुवक के प्रेम की कथा है। जैनों की कथाओं में प्रमुख नाम के सेठ और बनमाला नाम की स्त्री की प्रेमकथा के साथ ही वज्रमुष्टि और भंगी की कथा[2] की भी पर्याप्त चर्चा है। इन जैन चरितकाव्यों में स्त्रियों के बनावटी प्रेम-सम्बन्धी विविध प्रसंग एवं 'निवृत्ति मार्ग' की बातें ही प्रधान होती हैं।

प्राकृत की बहुचर्चित 'रयणसेहरी कथा' का भी सिंहल और चित्तौड़ की कथाओं के साथ उल्लेख किया जाता है। संक्षेप में यहां उसकी रूपरेखा दी जा रही है।

रयणसेहरी कहा (रत्नशेखरी कथा)

जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्षगणि[3] इस प्राकृत ग्रन्थ के लेखक हैं जो पंद्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुए हैं। इस ग्रन्थ की रचना चित्तौड़ में हुई है। ये संस्कृत और प्राकृत के बड़े भारी पंडित थे। इन्होंने बड़ी सरस और प्रौढ़ शैली में इस कथा की रचना की है।

गौतम गणधर भगवान महावीर से पर्वों के फल के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं और उसके उत्तर-स्वरूप महावीर राजा रत्नशेखर और रत्नवती की कथा सुनाते हैं।

रत्नशेखर रत्नपुर का राजा था। उसके मन्त्री का नाम मतिसागर था। रत्नशेखर राजकुमारी रत्नवती के रूप की कथा सुनकर व्याकुल हो उठता है।

१–जातक कथा, (द्वितीय खँड) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ० २८५–८
२–पं० परशुराम चतुर्वेदी, भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा, पृ० ३२–३३
३—आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला में सं० १९७४ वि० में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।
द्रष्टव्य—'प्राकृत साहित्य का इतिहास' (चौखम्भा)।

मतिसागर ने जोगिनी का वेश धारण करके सिंहलदीप[1] की ओर प्रस्थान किया। सिंहल में पहुँचकर उस जोगिनी ने कहा कि 'कायारूपी नगरी में हंस-रूपी राजा रहता है, वहाँ पवन-रूपी नगर-रक्षक है उस नगरी में जोगी बसता हैं।'

तत्पश्चात् रत्नवती ने अपने वर की प्राप्ति के विषय में प्रश्न किया। जोगिनी ने उत्तर दिया कि कोई द्यूत-क्रीड़ा-रत राजा कामदेव के मन्दिर में तुम्हारा प्रवेश रोक देगा—वही तुम्हारा पति होगा।

जब मतिसागर ने लौटकर राजा से सभी बातें कहीं, तो राजा उसके साथ सिंहलद्वीप की ओर चल पड़ा। अनेक विपत्तियों को पार करने के पश्चात् वह वहां पहुँच गया। उसने कामदेव के मन्दिर में मन्त्री के साथ जुआ खेलना शुरू किया।

रत्नवती अपनी सखियों के साथ कामदेव की पूजा करने आई। रत्नवती की सखी ने उन लोगों से कहा कि हमारी स्वामिनी राजकुमारी किसी पुरुष का मुख नहीं देखती, अतः आप लोग हट जांय, जिससे वह पूजा कर सकें। मन्त्री ने कहा कि हमारा राजा रत्नशेखर बहुत दूर से आया है, वह किसी नारी का मुँह नहीं देखता, अतः तुम अपनी स्वामिनी से कहो कि मन्दिर में प्रवेश न करें, जिससे हमारे राजा की द्यूत-क्रीड़ा में विघ्न न आए।

सखी ने राजा के रूप की भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजकुमारी को जोगिनी की बात याद हो आई। हर्ष से पुलकित होकर उसने मन्दिर में प्रवेश किया। इतने में राजा ने वस्त्र से अपना मुँह ढँक लिया। कारण पूछने पर मन्त्री ने कहा कि हमारे राजा किसी स्त्री का मुख नहीं देखते। अन्त में रत्नवती और रत्नशेखर का बड़ी धूमधाम से विवाह होता है। दोनों रत्नपुर लौट आते हैं और बड़े सज-धज के साथ नगर में प्रवेश करते हैं।[2]

एक बार कलिंग देश के राजा ने उसके राज्य पर चढ़ाई कर दी। सामंतों ने यह समाचार राजा रत्नशेखर से कहा। किन्तु राजा ने अपने आत्म धर्म और प्रौषध को प्रधान माना। विजय उसे ही मिली। अन्त में दिखाया गया है कि राजा और रानी धार्मिक प्रवृत्तियों में अपना समय बिताते हैं।

इस कथा में भी सिंहलदीप, मन्दिर, द्यूतक्रीड़ा, युद्ध आदि अनेक कथानक रूढ़ियों के प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

१—देखिए कथावस्तु का संघटन (में कथानक रूढ़ि) और गौरीशँकर हीराचन्द ओझा कृत निबन्ध संग्रह, पृ० २८१ (चित्तौड़ से करीब ४० मील पूर्व में सिंगौली नामक स्थान)।

२—मिलाइए, पदमावत और गोरा बादल की बात (जटमल) की कथाओं के साथ।

अपभ्रंश के प्रेमाख्यान

अपभ्रंश की रचनायें विक्रमोर्वशीयम्[1] से ही प्राप्त होने लगती हैं। अपभ्रंश के सिद्ध साहित्य में कण्ह या कण्हपा की रहस्मयी अनुभूतियों की बड़ी चर्चा है। सिद्धों की कविता में गुरु-महिमा, रूढ़ि-खण्डन, जाति-भेद पर प्रहार, सहज क्षण की महिमा का बखान आदि के साथ 'डोमिन', 'ब्राह्मणी' आदि का गुह्य साधना के प्रतीक के रूप में प्रयोग हुआ है। वाममार्गीय पंचमकारों में मैथुन का भी एक प्रमुख स्थान रहा है। उनकी कविताओं में वासनाजन्य-साधना की बातें मिल जाती हैं। हेमचन्द्र के 'सिद्धहेम' में उदाहरण रूप में आए हुए दोहों में नारी की दर्पोक्ति, सुललित शृंगारमूलक अभिव्यक्ति के साथ ही 'मुंज-मृणालवती', 'कृष्ण-राधा' से संबद्ध दोहे भी मिलते हैं—ये दोहे निश्चित रूप से किसी प्रचलित कथा के अंश हैं। संयोग और वियोग से संबद्ध दोहे भी बड़े ही मार्मिक हैं। अद्दहमाण कृत 'संदेश रासक' इसी प्रकार का एक विरह–काव्य है। विरह निवेदन के अंतराल में षड्ऋतु वर्णन और विरहिणी के भावों का अत्यन्त मार्मिक किन्तु सहज चित्रण इस काव्य में हुआ है। 'कुमारपाल प्रतिबोध' (१२४१ वि०) नामक चम्पू काव्य में 'नल', 'प्रद्योद', 'तारा ओर रुक्मिणी' के प्रेमाख्यान मिलते हैं।'[2] 'जीवमनःकरण संलाप कथा' और 'मयण-पराजय' दो छोटे रूपकात्मक खंड काव्य हैं। अपभ्रंश के चरितकाव्यों को प्रेमाख्यानों के ढंग का काव्य कहा जा सकता है। 'पउमचरिउ', 'जसहरचरिउ' 'णय कुमार चरिउ', 'करकण्डु चरिउ', 'सनत्कुमार चरिउ', सुपामणहं चरिउ', नैमिनाहचीउ 'भविसयत्त कहा', 'महापुराण' प्रभृति प्रबन्ध काव्यों में—सबमें—एक प्रेमकथा अवश्य है। इनमें प्रेम का प्रारम्भ रूप-गुण-श्रवण, चित्रदर्शन, स्वप्न दर्शन आदि में से किसी एक के द्वारा होता है। नायक को नायिका की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होना पड़ता है। दोनों का विवाह भी हो जाता है। 'पदमावती' और 'करकण्डु चरिउ' के नायकों को 'सिंहल' की यात्रा भी करनी पड़ी है। प्राकृत की रयणसेहरी कथा में भी नायक की सिंहल यात्रा का उल्लेख है। यह अवश्य हैं कि जैनाचार्यों ने प्रेम की इन मधुर कथाओं में उपदेश और धर्मतत्वों को मिलाकर धर्म कथा बना देने का प्रयत्न किया है। प्रतिनायक, आश्चर्य-तत्व (गंधर्व, मुनि, राक्षस आदि), मंगलाचरण, देश, नगर, प्रासाद आदि के वर्णन, कड़बकात्मक छन्द योजना, अध्याय या संधि आदि के साथ ही काव्य-गुण, अलंकृति आदि की बातें भी इनमें मिल जाती हैं।

१—विक्रमोर्वशीयम्, चतुर्थ अंक, ('मइँ जाणिउं मिअ लोअणी···।' आदि)
२—ज्ञानशिखा, लखनऊ विश्वविद्यालय, अक्टूबर, १९५१, पृ० ८१
(डा० विपिनविहारी त्रिवेदी का लेख)।

स्वयंभू का रामायण नब्बे सन्धियों का एक बृहत् प्रकथन प्रधान महाकाव्य या 'पुराण' है। इसमें 'आदर्श चरित्र-स्थापन' स्वयंभू का लक्ष्य रहा है। स्त्रियों का सौन्दर्य--वर्णन इस काव्य में अत्यन्त सजीव रूप में हुआ है। राम--सीता की कथा में अलौकिकता के संकेत भी यत्र-तत्र द्रष्टव्य हैं। इन काव्यों का महत्व, छन्द-विधान कथा-संघटन, अलंकृति आदि की दृष्टियों से भी है, क्योंकि परवर्ती हिन्दी आख्यानक काव्यों में इन्हीं चरित काव्य की परम्परा को बहुलांश में गृहीत किया गया है। कथानक रूढ़ियों के प्रयोग और लौकिक कथाओं में अलौलिकता विधायक तत्वों का समावेश भी इन काव्यों में प्रभूत परिमाण में मिलता है और हिन्दू और मुसलमान प्रेमाख्यान लेखकों की कथाओं पर इनका व्यापक प्रभाव पड़ा है।

— — — —

अध्ययन की सुविधा के लिए हम प्रेमाख्यानों को दो विभागों में बाँट सकते हैं –

(१) शुद्ध भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा,

(२) सूफ़ी प्रेमाख्यों की परम्परा ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हिन्दी के अनेक सूफी प्रेमाख्यानों में भी भारतीय प्रेमाख्यानों के गुण मिलते हैं और कतिपय सूफी प्रेम गाथाएँ तो मूलत: शुद्ध भारतीय प्रेमगाथाएँ ही हैं और अनेक भारतीय प्रेमाख्यानों में सूफी प्रेमगाथाओं के गुण भी मिलते हैं अत: यह विभाजन मात्र अध्ययन की सुविधा के लिए ही किया गया है।

हिन्दी-साहित्य में प्रेमाख्यानकों का विकास —'संदेश-रासक', 'हम्मीर रासो' और 'बीसलदेव रासो 'मूलत: प्रेमाख्यान ही हैं, प्रोषितपतिका संदेश, विरह-निवेदन षड्ऋतु वर्णन प्रभृति तत्व इन काव्यों में मुख्यरूप से मिलते हैं। 'मध्य युग के हिन्दू प्रेमाख्यानों की यह परम्परा सं० १००० (ढोला मारू रा दूहा) से प्रारम्भ होकर सं० १९१२ (प्रेम पयोनिधि) तक चलती हुई मिलती है। 'हिन्दी साहित्य में सूफी कवियों के समानान्तर हिन्दू कवियों की प्रेमाख्यान धारा भी सतत प्रवाहित होती रही है। जिस प्रकार मुसलमान कवियों का कथा-साहित्य पौराणिक, काल्पनिक एवं लोक प्रचलित तथा ऐतिहासिक कथाओं पर अवलम्बित मिलता है, उसी प्रकार हिन्दुओं ने भी जायसी के पूर्व और उनके पश्चात् आख्यानक काव्यों का विपुल साहित्य निर्मित किया है। नलदमयन्ती की कथा, रुक्मिणी मंगल, नल दमन, नल चरित्र, नलदमयन्ती चरित्र, ऊषा की कथा, बेलि कृष्ण रुक्मिणी री आदि हिन्दुओं के रचित पौराणिक प्रेमाख्यान मिलते हैं।

लोक प्रचलित और कल्पना प्रसूत कहानियों में प्रेमविलास, प्रेमकथा, ढोल मारू रा दूहा, कामरूप चन्द्रकला की कहानी, रमणशाह छबीली भठियारी की कथा

कामरूप की कथा, मृगावती की कथा, राजा चित्रमुकुट की कथा, मधुमालती, चन्दन मलय गिरि वार्ता, बात सयाणी चारिणी री आदि आती हैं।

ऐतिहासिक कहानियों में माधवानल काम कंदला और रूपमंजरी भी रखी जा सकती हैं[१]। इन भारतीय प्रेमाख्यानकों को डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने तीन भागों (१–शुद्ध प्रेमाख्यान, २–आन्यापदेशिक काव्य और ३–नीति प्रधान प्रेमाख्यान) में विभाजित किया है। इनमें से प्राप्य ग्रन्थों की सूची इस प्रकार हैं[२] –

(१) शुद्ध प्रेमाख्यान –

(१) ढोला मारू रा दूहा – इसके मूल कवि का नाम ज्ञात नहीं है। कुशललाभ नामक कवि ने जैसलमेर रावल की आज्ञा से चौपाइयाँ जोड़कर इसे ठीक ठाक किया है। इसे एक विकसनशील काव्य कहा जा सकता है। इसका रचनाकाल सं० १००० से १६१८ वि० तक है। अन्य प्रेमाख्यानों की सूची इस प्रकार है।

ग्रंथ–नाम	कवि	रचना काल
(२) बेलि कृष्ण रुक्मिणी री	(महाराजा पृथ्वीराज)	सं० १६४७ प्रकाशित
(३) रसरतन	पुहकर	सं० १६७५ न०प्र० सभा से प्रकाशित होने जा रहा है।
(४) छिताईवार्ता	नारायण दास	रचना काल के विषय में मत भेद प्रकाशित।
(५) माधवानलकामकंदला	विरहवारीश बोधाकृत	सं० १८०९ से १५ के मध्य, प्रकाशित।
(६) ”	गणपति	
(७) ”	दामोदर	सं० १७३७ प्रकाशित।
(८) ”	राजकविकेश (नाटक)	सं० १७१७, अप्रकाशित।
(९) ”	—	संस्कृत हिंदी मिश्रित।
(१०) बीसलदेव रास	नरपतिनाल्ह	सं० १२१२ ?, (१४वीं शती) प्रकाशित।
(११) प्रेमविलास प्रेमलता कथा	जटमल नाहर	अप्रकाशित।
(१२) चँदकुँवरि री बात	हंस	सं० १७४०, प्रकाशित।

१—डा० हरिकान्त श्रीवास्तव, भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० ३०–३१।

२—द्रष्टव्य 'भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य'।

(१३) राजाचित्र मुकुट रानी चन्द्रकिरन की कथा		अप्रकाशित।
(१४) उषा की कथा	रामदास	१८९४, अप्रकाशित।
(१५) उषा चरित	मुरलीदास	सं० १८१८, अप्रकाशित।
(१६) उषाहरण	जीवनलाल नागर	सं० १८८६, प्रकाशित।
(१७) उषाचरित	जनकुंज	सं० १८३१, अप्रकाशित।
(१८) रमणशाह छबीली भटियारी की कथा	अज्ञात	सं० १९०५ के पूर्व।
(१९) बात सयाणी चारिणी री		प्रकाशित।
(२०) नल दमयंती कथा		
(२१) प्रेम पयोनिधि	मृगेंद्र	सं० १९१२, अप्रकाशित।
(२२) रुक्मिणी परिणय	महाराज रघुराज सिंह जू देव	सं० १९०७ अप्रकाशित।
(त्र) अन्यापदेशिक प्रेमाख्यान —		
(२३) पुहुपावती		सं० १७२६, अप्रकाशित।
(२४) नल चरित	मुकुन्दसिंह	सं० १७९८, अप्रकाशित।
(२५) नल दमन	सूरदास	सं० १७१४ अप्रकाशित।
(२६) नल दमयंती चरित	सेवाराम	सं० १८५३, अप्रकाशित।
(२७) लैला मजनू	सेवाराम ? राम जी सहाय कृत	अज्ञात अप्रकाशित।
(२८) रूपमंजरी	नन्ददास	सं० १६२५, प्रकाशित।
(ज्ञ) नीतिप्रधान प्रेमकाव्य —		
(२९) मधुमालती	चतुर्भुजदास कायस्थ	सं० १८३७, अप्रकाशित।
(३०) माधवानलकाम कंदला चौपाई	कुशललाभ	सं० १६१३, अप्रकाशित।
(३१) सत्यवती की कथा	ईश्वरदास	सं० १५५८, प्रकाशित।
अन्य		
(३२) माधवानल आख्यानम्	आनन्दधर	प्रकाशित।
(३३) माधवानलकाम कंदला	आलम	सं० १६४०, अप्रकाशित।

'आलम' का 'माधवानलकामकन्दला' और 'श्यामसनेही', 'गुलाम मुहम्मद का प्रेमरसाल, सुन्दरकली की 'सुन्दरकली कहानी' दुली कुतुबशाह की 'कुतुबमुशतरी', नुसरती का 'गुलश्ने इश्क, 'इब्जनिशाती का 'फूलबन', निसार का 'युसुफ जुलेखा,

गवासी का किस्सा सेफुलमुल्क वदी उज्जम, तसीनुद्दीन का कामरूप और कला किस्सा फाजिलशाह का 'प्रेमरतन' तथा रज्जन का 'प्रेम जोबन निरञ्जन' मुल्ला गाजी बक्स का 'उषा चरित' आदि कितने स्वतन्त्र आख्यानक भी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अकेले जान कवि ने 'रत्नावली' 'लैला मजनूँ' 'नल दमयन्ती' 'पुहुपबरिखा' 'कनकावती' 'छबि सागर' 'मोहनी' 'खिजरखाँ' व देवल दे की कहानी, कामलता, रूपमञ्जरी, छीता, कनकावती, मधुकर-मालती आदि अट्ठारह प्रेम कथाएँ लिखी हैं, इनमें कुछ सूफी ढंग की हैं और कुछ शुद्ध प्रेमाख्यान हैं।[१]

शुद्ध भारतीय प्रेमाख्यानों में 'बीसलदेव रासो' बहुचर्चित हैं। यहाँ संक्षेप में उसका परिचय दिया जा रहा है। इससे सूफी प्रेमाख्यानों से उसकी पृथक्ता का अनुमान लगाया जा सकेगा।

नरपति नाल्हकृत बीसलदेव रास

(शुद्ध भारतीय प्रेमाख्यानक परम्परा का ग्रन्थ)

महत्व—गीत प्रबन्ध के रूप में लिखा हुआ 'बीसलदेव रासो' नरपति नाल्ह की रचना है। यह हिंदी का गौरव-ग्रन्थ माना जाता रहा है, क्योंकि इसमें एक स्वस्थ प्रणय की सुन्दर गाथा कही गई है और सामान्यत: इसके संबन्ध में विश्वास यह रहा है कि यह हिन्दी का सबसे प्राचीन ग्रन्थों में से है। कुछ इतिहासकारों ने तो इसे हिन्दी का सर्वप्रथम ग्रन्थ तक कहा है।[२] पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत था कि 'वीर गीत के रूप में हमें सबसे पुरानी पुस्तक बीसलदेव रासो मिलती है।[३]' इसीलिए उन्होंने इस ग्रन्थ को 'वीरगाथा काल' के द्वितीय ग्रन्थ के रूप में स्थान दिया था। उनका कथन था कि इस ग्रन्थ में न तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोषितपतिका के वर्णन के लिए) मनमाना वर्णन है।[४] इस ग्रन्थ में शृङ्गार की ही प्रधानता है, वीर रस का किंचित् आभास मात्र है। संयोग और वियोग के गीत कवि ने गाए हैं।[५] इस प्रकार स्पष्ट है कि यह एक शृङ्गार रस प्रधान प्रेम काव्य है न कि वीर गाथा।

हस्तलिखित प्रतियाँ और संपादन—डा० माताप्रसाद गुप्त ने श्री अगरचन्द नाहटा से प्राप्त १६ हस्तलिखित प्रतियों की सहायता से 'बीसलदेवरास' का संपादन

१—डा० हरिकान्त श्रीवास्तव, भारतीय प्रेमाख्यानक परम्परा, पृ० ३०।

२—'बीसलदेव रास' सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, भूमिका पृ० १।

३—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र, शुक्ल, पृ० ३२।

४—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३५।

५—वही, पृ० ३७।

किया है।[1] कहा जाता है कि यह काव्य २००० चरणों में समाप्त हुआ है।[2] और कुल मिला कर लगभग पौने पाँच सौ छन्द आते हैं।[3] किन्तु डा० गुप्त ने १२८ छन्दों को ही प्रमाणित माना है।[4] इस संस्करण के पूर्व नागरीप्रचारणी सभा, काशी द्वारा बीसलदेवरासो का प्रकाशन हुआ था। इस संस्करण में कुल चार खण्ड हैं—

सर्ग (खण्ड) १—इसमें ८५ कडवक हैं। इसका मुख्य प्रतिपाद्य है मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से साँभर के बीसलदेव का विवाह होना।

सर्ग (खण्ड) २—इसमें ८६ कड़वक हैं। बीसलदेव का रानी से रूठना और हीरे की खान उड़ीसा देश की ओर प्रस्थान, इस सर्ग के विषय हैं।

सर्ग (खण्ड) ३—इसमें १०३ कड़वक हैं। राजमती का विरह और बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना इस सर्ग की कथा है। और

सर्ग (खण्ड) ४— इसमें ४२ कड़वक हैं। भोज को अपनी पुत्री का लिया जाना और बीसलदेव का वहां जाकर राजमती को चित्तौड़ लाना और राजमती का सुख भोगना इस सर्ग के प्रतिपाद्य हैं। इस प्रकार सभावाले संस्करण में कुल मिलाकर ३१६ कड़वक हैं।

छन्द—

यह एक गेय प्रबन्ध काव्य है। १२८ छन्दों में कथा का सुन्दर निर्वाह हुआ है। इसके प्रत्येक छन्द या कड़वक में छः पंक्तियाँ रखी गई हैं, कहीं-कहीं आठ पंक्तियाँ भी मिल जाती हैं। छंद मात्रिक हैं। मात्राओं की गिनती ठीक-ठीक नहीं है। आरम्भ के दो चरण पद्धरी के जान पड़ते हैं। गीत होने के कारण इसमें कहीं-कहीं अतिरिक्त शब्दों का अन्तःपात हो गया है। ऐसे ही मात्रा भी निष्प्रयोजन यथास्थान दीर्घ कर दी गई है। पद्धरी के दो चरणों के अनन्तर कहीं तेरह और कहीं चौदह मात्राओं की टेक और फिर पद्धरी छन्द का एक चरण है, जो प्रायः गीत के खिंचाव के कारण अधिक मात्राओं का हो गया है, फिर तेरह या चौदह मात्राओं की टेक और तदनन्तर पद्धरी छन्द का वैसा ही बढ़ा हुआ रूप मिलता है।

१—बीसलदेवरास, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, भूमिका, पृ० ३--१२।

२—हिंदी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३४।

३—बीसलदेव रास, डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ३।

४—वही, पृ० ४८।

५—बीसलदेव रास, डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद, प्रयाग।

कथा—

जैसलमेर के भोजराज की राजकुमारी राजमती का विवाह अजमेर के बीसलदेव से ठीक हुआ। विवाह में बीसलदेव को टोंक, बूंदी, कुडाल मंडोवर, सोरठ, गुजरात एवम् चित्तौर दहेज में दिए गए। एक दिन बीसलदेव ने सगर्व अपनी प्रशंसा की, तो राजमती ने कहा कि आप के ऐसे अनेक नरेश हैं। एक तो उड़ीसा का ही राजा है। आपके देश में साँभर नमक निकलता है, और उड़ीसा में हीरे की खानें हैं। पूछने पर राजमती ने कहा कि 'मैं पूर्व जन्म में हरिणी थी और उड़ीसा के जंगलों में रहती थी। निर्जला एकादशी-व्रत किया करती थी। एक व्याध के बाणों से बिद्ध होकर मैं भागी और जगन्नाथ जी के द्वार पर परलोक सिधार गई। जगन्नाथ जी ने प्रसन्न होकर मुझे जैसलमेर में जन्म धारण करने और पूरब देश में न पैदा होने का वरदान दिया'।

बीसलदेव ने कहा कि तूने मेरी अश्लाघा की है अत: अब मैं प्रयत्न करूँगा कि मेरे भी राज्य में हीरे की खान हो जाय। राजा ने राजमती, भावज आदि के अनुनय-विनय को तिरस्कृत करके ज्योतिषी को बुलाया। राजमती के कहने पर ज्योतिषी ने चार महीने बाद की यात्रा का मुहूर्त निकाला जिसके बदले में राजमती ने उसे मुंदरी और सोने की सीगोंवाली गाय दी। ज्योतिषी के चार महीने की लग्न बताने के बीच में राजमती पति को नाना प्रकार से समझाने का यत्न करती रही, किन्तु सब व्यर्थ रहा। राजा ने परदेश की ओर प्रस्थान किया। राजमती उसके विरह में करुणा-कातर हो उठी। बारहमासे के द्वारा कवि ने राजमती के विरह का चित्रण किया है। वह विलाप करती है कि हे ईश्वर, तूने स्त्री का जन्म क्यों दिया। यदि अन्य जीव-जन्तु हुई होती, तो ऐसी स्थिति से तो सुख में ही होती।

एक कुटनी ने उसे विचलित करने का प्रयत्न करते हुए कहा—'मैं तुम्हारे लिए दूसरे प्रिय को खोज देती हूं।' रोषाविष्ट राजमती ने उसे मार भगाया। राजमती ने पंडित को बुलाकर उड़ीसा की ओर प्रियतम के यहाँ संदेश देकर भेजा और कहा कि जाकर कह देना कि मेरे बाँयें हाथ की मुंदरी दाहिनी बाँह में सामने लगी है। पंडित पत्नी की सूचना लेकर उड़ीसा की ओर चला। सात महीने के पश्चात् वह उड़ीसा पहुँचा। वह अनेक बातें भूल गया था। उसने उड़ीसा में कई विचित्र दृश्य देखे।

उसने बीसलदेव को पत्रिका देकर विरहिणी की दशा से उसे अवगत कराने का पूर्ण प्रयत्न किया। उड़ीसा नरेश की पट्टमहादेवी ने उसे रोका और कहा कि तुम्हारे चार विवाह करा दूँगी। राजा ने एक योगी को राजमती के यहाँ भेजा। योगी ने अजमेर में आकर राजमती को राजा की चिट्ठी दी और कहा कि राजा

आज के तीसरे दिन आ जायेंगे। राजा आया, रानी ने थोड़ा मान भी किया और अन्त में वे सुखपूर्वक मिल गए। जैसे रानी राजा से मिली, वैसे ही इस संसार में सभी कोई मिलें—

'रांणी राज्या सऊँ मिली।
तिम एण संसार मिलिज्यो सहु कोइ॥"[1]

ग्रन्थ की रचना-तिथि–

'बीसलदेव रास' की अनेक प्राप्त प्रतिलिपियों में ग्रन्थ की रचना-तिथि के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख हैं।[2]

(१) 'संबत् सहस्र सतिहुत्तरई जाणि। नल्ह कबी सरि कही अमृतबाणि।'
(२) 'संबत् सहस तिहुत्तर जाणि।'
(३) संबत तेर सतोत्तरह जाणि। सुक पंचमी न इ श्रावण मास।'
(४) 'बारह सैं बहोत्तराँ मझारि। जेठ बदी नवमी बुधवारि॥
नाल्ह रसाइण आरम्भइ। सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि।
कासमीराँ मुख मण्डली। रास प्रगासौं बीसलदे राइ॥'

डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है कि 'पाठालोचन के सिद्धान्तों के अनुसार इनमें से कोई भी पाठ मान्य नहीं हो सकता। ये रचना-तिथि वाले छन्द कई प्रतियों में अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से प्रक्षेप की भावना से रखे गए ज्ञात होते हैं[3]"। गुप्त जी का विचार है कि उपर्युक्त चार पाठों से निम्नलिखित छः तिथियाँ निकली हैं –

(१) सं० १०७७।
(२) सं० १०७३।
(३) सं० १३७७ } 'तेरसतोत्तरह' से ये दो भिन्न अर्थ लिये जा सकते हैं।
(४) सं० १३०७ }
(५) सं० १२७२ } 'बारह से बहत्तराँ' से ये दोनों अर्थ लिए जा सकते हैं।
(६) सं० १२१२ }

डा० गुप्त ने प्रक्षेपों की समस्या के कारण लिखा है कि 'इन पाठों के आधार पर ग्रंथ की रचना-तिथि निर्धारित करना उचित नहीं जान पड़ता।'[4] महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा[5] ने सं० १२७२ की तिथि को कार्तिकाद वर्ष

१–बीसलदेवराव, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १६७।
२–वही, पृ० ५१
३–वही, पृ० ५१
४–नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, (सं० १९९७) पृ० १६३।
५–वही, पृ० ५१

में लेने पर गणना से ठीक बताया था। 'बीसलदेव रास' में तीन ऐतिहासिक नाम आते हैं—बीसलदेव, राजमती और भोज परमार। बीसलदेव (विग्रहराज) नाम के चार राजा हुए हैं, जिनमें से बीसलदेव (तृतीय) १२वीं शताब्दी विक्रमी में (सं० ११५० के लगभग) हुआ है। पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के बीजोल्याँ के शिलालेख में दी हुई चौहानों की बंशावली में विग्रहराज (तृतीय) की रानी का नाम राजदेवी दिया है। हो सकता है कि इसी को कवि ने राजमती कहा हो। किन्तु भोज परमार एक ही हुआ है जिसका समय सं० १११२ के आसपास पड़ता है। इसलिए इस कथा के बीसलदेव से विग्रहराज (तृतीय) का ही आश्रय लेना चाहिए।[१] किन्तु विग्रहराज (तृतीय) और भोज के समय न अजमेर ही बसा था, जिसे ११६५ वि० के लगभग अजयराज ने बसाया था, न आनासागर ही था, जिसे अर्णोराज (सं० ११९६–१२०७) ने खुदवाया था, न जेसलमेर ही था, जिसे जेसल ने (ख्यातों के अनुसार) सं० १२१२ में बसाया था।[२] इसलिए यह प्रकट है कि यह रचना बारहवीं शताब्दी विक्रमी तक की किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती।

ओझा जी कार्तिकादि सं० १२७२ को गणना से शुद्ध आने के कारण ठीक मानते हुए कहते हैं कि १२७२ में ग्रन्थ-रचना करते समय विग्रहराज (तृतीय) का शासन-काल १५० वर्ष के लगभग पुराना हो गया। डा० गुप्त का कथन है कि उनका यह विचार ध्यान देने योग्य है, और मान्य भी हो सकता है। तथ्य यह ज्ञात होता है कि विग्रहराज (तृतीय) की रानी का नाम राजदेवी था। उसी संबंध में राजमती नाम से कुछ कहानियाँ समय पाकर प्रसिद्ध हो गईं। फिर भोज परमार आदि से उसे सम्बन्धित कर विग्रहराज (तृतीय) ने बहुत दिन बाद किसी नरपति नाल्ह नामक कवि ने इस ग्रंथ की रचना कर डाली।[३] डा० गुप्त ने प्राप्त प्रतियों की पाठ परम्परा के दृष्टिकोण से विचार करते हुए कहा है कि प्राप्त प्राचीनतम प्रतियाँ सं० १६३३ और सं० १६६९ की हैं। प्रेक्षेपों और प्रतिलिपि-परम्पराओं के आधार पर विचार करने के अनन्तर उन्होंने लिखा है कि मेरा अनुमान है कि बीसलदेव रास की रचना १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अवश्य हो गई हो होगी।'

विशेष—

मूलत: बीसलदेव रासो गीत-प्रबन्ध रूप में लिखा हुआ विरह-काव्य है।

१—महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, पृ० १६५–६७।

२—श्री अगरचन्द्र नाहटा, राजस्थानी, जनवरी १९४०, पृ० २२।

३—बीसलदेव रास, डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ५२–५३–५४ से उद्धत।

इसका मूल प्रतिपाद्य विरह ही है। यों कवि ने इसे 'स्त्रीकाव्य' और 'अमृतकाव्य' की भी संज्ञायें दी हैं–(१)बाग वाणी मो बर दिया। अस्त्री रसायण करूँ बरवाण।"[१] (२) 'अमृत रसायण नरपति व्यास।'[२]

बीसलदेव रास को हम एक 'प्रणय-कथा' या 'लोक गाथात्मक काव्य' भी कह सकते हैं। यह मूलत: लोकगीत है। ग्रामगीतों का साहित्य में जो महत्व स्वीकार किया जाय, वही इसे भी मिल सकता है।[३] इस काव्य में गेय-तत्व पूर्ण मात्रा में विद्यमान हैं। गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में समयानुसार बहुत कुछ फेरफार होता आया है।

इतिहास की दृष्टि से इस काव्य का कोई महत्व नहीं है, क्योंकि इसमें एक कल्पनाशील कवि ने विरह-वर्णन को प्रतिपाद्य बनाया है। ऐतिहासिक घटनाएँ अनुश्रुतियों के आधार पर दी गई हैं। बीसलदेव का उड़ीसा जाना और उससे सम्बद्ध समस्त वर्णन कवि के कल्पना-बिलास मात्र हैं। बीसलदेव से सौ वर्ष पूर्व भोज परमार का भी देहान्त हो चुका था, अत: उसकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह भी पीछे का भट्ट-भणंत मात्र है। इस काव्य में कवि ने सहज शैली में विरहिणी की मनोदशाओं का चित्रण किया है। 'साहित्यिक महत्ता के संबन्ध में इतना कह सकते हैं कि स्थान-स्थान पर कुछ उपमा-उत्प्रेक्षाएँ ऐसी मिल जाती हैं जिसके कारण कभी-कभी नाम मात्र की काव्य की झलक आ जाती है अन्यथा इसमें उक्ति-भंगिमा का प्राय: अभाव है।

'यह रचना कालिदास के मेघदूत की लौकिक–परम्परा में दृष्टिगोचर होती है। इसमें बहुत सी बातें यक्ष की स्थिति से मिलती हुई भी पड़ी हैं।[४] परम्परामुक्त बातें इसमें ऐसी रखी गई हैं, जो प्रेम की परीक्षा से संबंध रखने वाली हैं, जैसे राज-मती के निकट कुटनी का आना और प्रेम के व्रत से विचलित करने का प्रयत्न करना। बीसलदेव के सम्मुख उड़ीसा की पट्टमहादेवी का वैवाहिक प्रस्ताव भी इसी प्रकार का है। इसमें कुछ पूरबी शब्दों का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। जायसी तथा अन्य सूफी कवियों की रचना में प्रयुक्त होने वाला 'कबिलास' शब्द स्वर्ग के अर्थ में इसमें भी मौजूद है।[५]

१—बीसलदेवरास, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० २–८६।

२—वही, पृ० ३-१०३।

३—हिन्दी साहित्य का अतीत, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ७६।

४—हिंदी साहित्य का अतीत, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ७६।

५—बीसलदेव रास, डा० मातप्रसाद गुप्त, छंद ६७, (छोड़ा घर-मंदिर कबिलास)।

श्री अगर चन्द नाहटा[1] ने इसके भाषा–विषयक दृष्टिकोण को समक्ष रखकर लिखा था इसकी भाषा सोलहवीं–सत्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा है। जिन विद्वानों ने ग्यारहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक की राजस्थानी भाषा का अध्ययन किया है, उनका यह मत हुए बिना नहीं रह सकता कि ग्रन्थ में प्राचीन भाषा का अंश बहुत कम–नहीं के बराबर —है। सोलहवीं शताब्दी में नरपति नाल्ह नाम एक जैन कवि हुए हैं, जिनका उल्लेख 'जैन गुर्जर कविओं भाग १' में हुआ है। असंभव नहीं कि बीसलदेवरास का रचयिता भी वही हो। बीसलदेवरास के डा० माताप्रसाद गुप्त वाले संस्करण के प्रकाशन के साथ विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है कि इसकी भाषा प्राचीन है और १६वीं शती की राजस्थानी से बहुत पूर्व की है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि बीसलदेवरास एक प्रेम कथा है। यह न तो वीर गाथा है और न सूफी प्रेमगाथा। षड्ऋतु, बारहमासा और विरहाभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से इसका महत्व है।

सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य

'भारतीय सूफी कवियों ने भी अपने प्रेमाख्यानों की सर्जना सोदेश्यत: पहले-पहल फारसी भाषा के ही माध्यम से आरम्भ की थी तथा मसनवी पद्धति को ही अपनाया था। उदाहरण के लिए खुसरो ने ईरान के फारसी कवि निजामी के 'पंचगंज' नामक 'खम्स' (पांचमसनवियों का संग्रह) के जवाब में एक अपना भी 'खम्स' तैयार' किया था जिसकी 'शीरीं-खुसरू' एवं 'मजनूं-लैला 'नामक दो मसनवियों का संबंध प्रसिद्ध प्रेम-कहानियों से था। उसने इसी प्रकार एक तीसरी भी मसनवीन्दुवलरानी खिज्र खाँ' के नाम से प्रत्यक्षत: किसी ऐतिहासिक प्रेम-व्यापार का आधार लेकर लिखी थी जिसे कदाचित् सूफी प्रेमाख्यान का नाम नहीं दिया जा सकता और न जिसे ऐतिहासिक दृष्टि से भी वैसा महत्व प्रदान किया जा सकता है। उसकी प्रेम कहानी 'निरी कल्पित और मन गढ़ंत है, क्योंकि तथ्य है कि बहुत से इतिहासज्ञों के मत से खुसरो द्वारा निर्दिष्ट समय में कोई देवल रानी जैसी प्रसिद्ध राजपूत बाला ही नहीं थी।[2]

खुसरो की इस काल्पनिक और मनगढ़ंत पद्धति का अनुसरण कई सूफी कवियों ने भी किया। भाषा के लिए कुछ ने अवधी को गृहीत किया और कुछ ने दक्खिनी हिन्दी को, फारसी मसनवी काव्यों का रूप उनके समक्ष था ही, दोहों-चौपाइयों के प्रयोग का आदर्श अपभ्रंश की प्रबन्ध रचनाओं ने बहुत पहले से ही प्रस्तुत कर

१—राजस्थानी, जनवरी, १९४०, पृ० २१।

२—प्रो० के० आर० कानूनगो, ए क्रिटिकल एनालिसिस आफ दी पद्मिनी लीजेंड-माडर्न रिव्यू, नवम्बर १९५६, पृ० ३६१–८ और विशेषतया, पृ० ३६५ की पाद, टिप्पणियाँ, पं० परशुराम चतुर्वेदी, सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य, पृ० २४९।

रखा था – और फिर तो लोक-प्रचलित कहानियों में अपने प्रेम-पीर का पुट देकर सूफ़ी कवियों ने प्रेमाख्यानकों की रचनायें प्रारम्भ कर दीं।

सूफी प्रेमाख्यान प्राय: भारतवर्ष की अनेक आधुनिक भाषाओं में लिखे गए हैं। प्रेमाख्यानों की रचना करते समय हम इन भारतीय कवियों को इसी कारण ईस्वी सन् की चौदहवीं शताब्दी से दो भिन्न-भिन्न मार्गों को अपनाते हैं। इनमें से एक जिसके अनुसार अवधी को प्रधानता दी जाती है और जिसके लिये दोहा-चौपाई जैसे छन्दों का प्रयोग होता है, भारतीय भावना एवं भारतीय संस्कृति से अधिक सम्पर्क रखता हुआ चलता है तथा उनकी पद्धति पर निर्मित रचनाओं को पीछे हिन्दी साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग भी समझ लिया जाता है, किन्तु दूसरा जो प्रधानत: हिन्दी के तत्कालीन दकनी उर्दू (दक्खिनी हिन्दी) को अपनाकर आगे बढ़ता हैं और जिसके लिए फ़ारसी बहरों का भी प्रयोग किया जाने लगा है न अधिकतर ईरानी वा शामी परम्परा की ही ओर उन्मुख रहना पसन्द करता है तथा उसकी शैली में रचित प्रेमाख्यानों का झुकाव परवर्ती उर्दू साहित्य की दिशा में हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी अथवा दकनी उर्दू (दक्खिनी हिन्दी) कही जाने वाली भाषा मूलत: उत्तर की खड़ी बोली हिन्दी का ही एक रूप उद्धृत करती हैं और फारसी एवं अवधी से अधिक प्रभावित होती हुई भी, उनकी रचना उतनी विलक्षण नहीं प्रतीत होती, किन्तु इसके साथ ही इतना और भी कह दिया जा सकता है कि सूफी कवियों एवं लेखकों ने इन रचनाओं के ही कारण वह पीछे क्रमश: अपना रंग-रूप बदलती भी दीख पड़ी, तथा अन्त में उसे उर्दू का वर्तमान वेश मिल गया। जब तक ऐसे साहित्य की रचना का लगाव दक्षिण के बीजापुर एवं गोलकुण्डा वाले राज्यों तक सीमित रहा, ऐसा अन्तर उतना स्पष्ट न हो सका था, किन्तु पीछे दिल्ली जैसे नगरों के भी साथ सम्बन्ध दृढ़ हो जाने पर उसके आमूल परिवर्तित हो जाने तक का समय आ गया। इस कारण ईस्वी सन् की सत्रहवीं शताब्दी तक रचे गए सूफी प्रेमाख्यानों का न्यूनाधिक समावेश यदि हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत भी कर लिया जाय, तो उतना अनुचित नहीं कहा जा सकता।[1] इस समय तक दक्षिण में मसनवी रचनाओं का निर्माण प्रचुर मात्रा में हो गया था और दकनी निजामी ने 'कदमरावत' ओ पदम' (सन् १४६०—६२ ई०), शाह हुसेनी ने 'वशीरतुल अनवर' (सन् १५६३) गवासी ने 'सैफुलमुल्क व वदी पुज्जमाल' (सन् १६२६ ई०), मुल्लावज़हीने 'सबरस' (सन् १६३६ ई०), मुकीमी ने 'चन्दर बदन व माहियार, (सन् १६४० ई०)

१–पं० परशुराम चतुर्वेदी (सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य) हिन्दी साहित्य, भाग १ पृ० २४।

नुसरती ने गुलसने इश्क (सन् १५५७ ई०), तवई ने 'किस्सा बहराम वो गुल अन्दाज' (१६६० ई०), गुलामअली ने 'पदुमावत' (१६६६ ई०) तथा 'हाशिमी ने 'यूसुफओ जुलेखा' (१६८० ई०) जैसे प्रसिद्ध प्रेमाख्यानों को उक्त प्रथम शैली में प्रस्तुत कर दिया था। अवधी भाषा और दोहे-चौपाई वाली पद्धति को गृहीत करके सर्वप्रथम किस सूफी कवि ने अवधी रचना प्रस्तुत की यह ज्ञात नहीं है। यह अवश्य है कि अभी तक ज्ञात रचनाओं के आधार पर मौलाना दाऊद दलमई के प्रेमाख्यान 'चन्दायन' से ही हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानक परम्परा का आरम्भ माना जाता है।

अप्राप्त प्रेमगाथाएँ

विद्वानों का विचार है कि 'चन्दायन' के 'अनन्तर जिन सूफी प्रेमगाथाओं की रचना हुई उनकी संख्या बड़ी जान पड़ती है, किन्तु अभी तक उनमें से बहुत कम उपलब्ध हैं और कई एक का तो आजतक साधारण उल्लेख मात्र मिला है। साधारण उल्लेख या परिचय प्राप्त ऐसी प्रेमगाथाओं में शैखरिज़कल्ला मुश्ताकी (सं० १५४९ १६३८) की रचना 'प्रेम जीव निरञ्जन' की चर्चा की जाती है और कहा जाता है कि 'वह सूफी मत का था, 'हिन्दुई' में बड़ी योग्यता रखता था और उसका उपनाम रञ्जन था। इसी प्रकार किसी राघा ग्यानदीप एवं रानी देवजानी की प्रेमगाथा का 'ज्ञानदीप' नाम से लिखने वाला दोसपुर (जौनपुर) का निवासी शेख नबी भी इस ढंग का सूफी कवि बतलाया जाता है (देखिए आगे पृ० ५७७)। उसका समय १६७६ अनुमान किया जाता है। बादशाह औरंगजेब के शासन काल सं० १७१५-१७६४ के अंतर्गत वर्तमान किसी 'पेमी' नामक कवि की रचना 'पेम परकाश' को भी इसी श्रेणी की कहानी समझा गया है और बतलाया गया है कि वह केवल ६०—६५ पृष्ठों में ही लिखी जान पड़ती है। मुहम्मद अफजल की रचना 'बारहमासा उर्फ विकट-कहानी' (सं० १६४८) तथा फाजिल शाह द्वारा लिखी हुई नूरशाह एवं माहे मुनीर की प्रेमकथा 'प्रेम-रतन' (सं० १९०५) के सम्बन्ध में भी अनुमान किया जाता है कि वे सूफी प्रेमगाथाएँ रही होंगी, किन्तु इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं है।[1]

हिन्दी के कतिपय उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानों की सूची

(१) मुल्ला दाऊद[2]	चन्दायन	७८१ हि० (१३७९ ई०)	अप्रकाशित[3]

१—सूफी काव्य संग्रह, पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६३—६४।
२—यह ग्रन्थ डा० परमेश्वरीलाल गुप्त द्वारा सम्पादित।
३—द्रष्टव्य : डा० विश्वनाथ और डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'चन्दायन' क० म० मुन्शी भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा।

(२) शेख कुतबन	मृगावती	६०६ हि० (१५०३ ई०)	अप्रकाशित
(३) मालिक मुहम्मद जायसी	पदमावत	६४७ हि० (१५४० ई०)	अप्रकाशित
	चित्ररेखा	अज्ञात	
(४) मंझन	मधुमालती	६५२ हि० (१६१३ ई०)	प्रकाशित
(५) शेख उसमान	चित्रावली	१०२२ हि० (१६१३ ई०)	,,
(६) जान	कनकावती	सं० १६७५ (१६१८ ई०)	अप्रकाशित
(७) शेखनवी	ज्ञानदीप	१०२६ हि० (१६१६ ई०)	,,
(८) जान	कामलता	१६७८ सं० (१६२१ ई०)	,,
(९) ,,	मधुकर मालती	सं० १६६१ (१६३४ ई०)	,,
(१०) ,,	रतनावली	सं० १६६१ (१६३४ ई०)	,,
(११) ,,	छीता	सं० १६६३ (१६३६ ई०)	,,
(१२) हुसेन अली	पुहुपावती	११३८ हि० (१७२५ ई०)	,,
(१३) कासिम शाह	हंसजवाहर	११४६ हि० (१७३६ ई०)	प्रकाशित
(१४) नूरमुहम्मद	इन्द्रावती	११४७ हि० (१७४४ ई०)	,,
(१५) ,,	अनुराग बाँसुरी	११७८ हि० (१७४४ ई०)	,,
(१६) शेख निसार	यूसुफ जुलेखा	१२०५ हि० (१७६० ई०)	अप्रकाशित
(१७) ख्वाजाअहमद	नूरजहाँ	१३१२ हि० (१६०५ ई०)	,,
(१८) शेख रहीम	भाषा प्रेमरस	१६१५ ई०	प्रकाशित
(१९) कवि नसीर	प्रेम दर्पण	१३३५ हि० (१६१७ ई०)	प्रकाशित
(२०) अली मुराद	कथा कुँवरावत	अज्ञात	अप्रकाशित

चन्दायन (१३७९ ई० या ७८१ हि०)

सूफी प्रेमाख्यानों की शैली में रखी जाने योग्य सर्वप्रथम रचनामुल्ला दाऊद कृत 'चन्दायन', ही है। इस ग्रन्थ की एक खण्डित प्रति बिहार के मनेरसरीफ खान-काह से प्रो० हसन अस्करी को प्राप्त हुई है।[1] इस प्रति की प्राप्ति के पहले हिन्दी के शोधियों ने 'चन्दायन' 'चन्दावत'[2] आदि अनेक नामों की कल्पनायें की थीं। चन्दायन के रचना-काल के विषय में भी अनेक अटकलबाजियाँ की गई हैं —

१—जे० बी० आर० एस०, प्रो० हसनअस्करी का लेख, १९५३ 'रेयर फ्रेगमेन्ट् आफ चन्दायन एण्ड मृगावती, पृ० ७—८।

२—डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १३१। डा० विमलकुमार जैन, सूफी मत और हिन्दी साहित्य, पृ० ११२।

(क) मिश्र बन्धुओं के अनुसार सं० १३८५ (१३२८ ई०) ।[१]

(ख) डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल सं० १४६७ (१४४० ई०) ।[२]

(ग) डा० रामकुमार वर्मा 'कन्दावत,[३] चन्दावत, चन्दाबन, सं० १३७५ ।

(घ) पं० परशुराम चतुर्वेदी : सं० १४३६ (१३७६) ।

(ङ) ,, ,,[४] सं० १३७५ ।

(च) डा० कमलकुल श्रेष्ठ, १३७० ई० ।

वस्तुत: चन्दायन का रचनाकाल ७८१ हि० (१३७६ ई०) है। मुल्ला दाऊद ने स्वयम् लिखा है —

'बरिस सात से होइ इक्यासी। तिहिं जाह कवि सरसेउ भासी ॥
साहि फिरोज दिल्ली सुल्तानू । जौनासाहि अजीरु बखानू ॥
दलमउ नगर बसै नवरंगा। ऊपर कोट तरे बहै गंगा ॥
धरमी लोग बसै भगवन्ता। गुण गाहक नागर जसवन्ता ॥
मलिक बयाँ पुत उधरन धीरू। मलिक मुबारक तहाँ कम मीरू ॥[५]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वे रायबरेली के अन्तर्गत डलमऊ नगर के रहने वाले थे। डलमऊ के प्रसंग में 'अवध गजेटियर में लिखा है कि 'फिरोजशाह तुगलक ने यहाँ मुस्लिम धर्म और विद्या के अध्ययन के लिए एक विद्यालय की स्थापना की थी। इसकी महत्ता इसी बात से स्पष्ट है कि डलमऊ के मुल्ला दाऊद नामक कवि ने ७१९ हि० (१२५५ ई०) में भाषा में चन्द्रैनी नामक ग्रंथ का सम्पादन किया था।[६] इस वर्णन से इतना सूचित है कि डलमऊ के मुल्ला दाऊद ने 'चन्द्रैनी गाथा के आधार पर ग्रंथ सम्पादित किया था। 'चन्दायन' के आधार पर आज यह बात प्रमाणित है कि इसका रचना काल १२५५ ई० नहीं बल्कि १३७९ ई० है। इस सूचना की दूसरी महत्ता यह है कि दाऊद के ग्रन्थ का आधार लोक-प्रचलित चनैनी, चन्द्रैनी या लोरिक-चन्दा की कथा ही है। मुला दाऊद की ही तरह प्राय: सभी सूफी कवियों ने लोक प्रचलित कथाओं को ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए माध्यम रूप में गृहीत किया है। विद्वानों का ध्यान इस गजेटियर की सूचना की ओर नहीं गया था। इसलिए लोग शुक्ल जी के ही अनुकरण पर कुतबुन

१—मिश्रबन्धु विनोद सं० १६७०, भाग १, पृ० २४१ ।

२—डा० बड़थ्वाल, दी निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री, पृ० १० ।

३—डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ६३ ।
डा० वर्मा ने १३५३ से १३७३ बि० के बीच चन्दायन का रचनाकाल माना है ।

४—सूफी काव्यसंग्रह, पृ० ६३ ई० ।

५—चन्दायन ।

६—गजेटियर आफ प्राविंस आफ अवध, भाग १ (१८५८ ई०) पृ० ३५५ ।

से ही सूफी प्रेमाख्यानक परम्परा का प्रारम्भ मानते रहे क्योंकि शुक्ल जी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'[1] और 'जायसी ग्रन्थावली'[2] को हीसूफी परम्परा का प्रथम प्रेम-काव्य स्वीकार किया है।

'चन्दायन के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि मौलाना दाऊद ने इसके प्रारम्भ में मसनवी परंपरा पर ईश्वर-स्तुति, शाहेतख्त की प्रशंसा, रचनाकाल का निर्देश आदि किया है। जायसी ने भी ऐसा ही किया है और इन दोनों के मूल में मसनवी पद्धति और अपभ्रंश के चरित काव्यों की शैली का मंगलाचरण ही है। मुल्लादाऊद ने 'चन्दा' के सौन्दर्य का उल्लसित वर्णन किया है और जायसी ने भी 'पद्मावती' का रूप-वर्णन विलसित भाव से किया है। चन्दा और लोरिक का मिलन शिव मंदिर में होता है और पद्मावती—रत्नसेन का भी। दोनों काव्यों में भारतीय कथानक रूढ़ियों और कथा चक्रों की योजना मिलती है। 'लोरिक' का भाग जाना, लोरिक और चन्दा के मार्ग में अनेक बाधाओं का आना, चन्दा को साँप का डसना, गारुड़ी का आकर जीवित करना, जुआ में चन्दा तक को हार जाना आदि में 'नल कथा' का प्रभाव स्पष्ट द्रष्टव्य है। इसकी भाषा ठेठ अवधी है, पर है बड़ी शुद्ध। कहीं कहीं अत्यन्त सुन्दर भाषा के भी चारु प्रयोग हुए हैं, जैसे—

'धरमी लोग बसै भगवन्ता। गुन गापक जागर जसवन्ता।

चन्दायन की एक सचित्र प्रति रीलैंड, लाइब्रेरी, मैनचेस्टर से प्राप्त हुई है। इसमें कुल ३२६ पृ० हैं। यह फारसी अक्षरों में सुलिखित प्रति है। इसके चित्र बड़े जीवन्त हैं।[3] इसकी एक हस्तलिखित प्रति लाहौर के संग्रहालय में थी। भारत-पाकिस्तान विभाजन के बाद पटियाला के संग्रहालय में इसकी दस सचित्र प्लेटें रह गई हैं, शेष १४ पृष्ठ लाहौर संग्रहालय को दे दी गई हैं।[4] बीकानेर के श्री पुरुषोत्तम शर्मा के पास लगभग १६२ पृष्ठों की एक खंडित प्रति है।[5] मनेरशरीफ खानकाह की प्रति भी खंडित है।[6] इन सब प्रतियों की माइक्रोफिल्म कापी या फोटोस्टेट प्रतियाँ डा० परमेश्वरी लाल गुप्त ने प्राप्त करली है।

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास का इतिहास, पृ० ८१।
२—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, भुमिका, पृ० ३।
३—इस प्रति की माइक्रोफिल्म डा परमेश्वरी गुप्त ने मंगाई है।
४—पटियाला संग्रहालय के दस 'प्लेट्स'।
५—हिन्दुस्तानी, भाग १५ पृ० १७।
६—रेयर फ्रेगमेंट्स आफ चन्दायन एण्ड मृगावती, प्रो० अस्करी।

इस ग्रन्थ के विषय में अलबदायूनी ने लिखा है कि 'मुल्ला दाउद ने चन्दायन नामक एक हिन्दी मसनवी जौनाशाह के सम्मान में लिखी है, इसमें लोरिक वा नूरक और चन्दा की प्रेम कथा बड़ी सजीव शैली में दी गई है।' 'मखदूम शेख तकीउद्दीन वायज् रब्बानी मुल्ला दाऊद की इस पुस्तक की कुछ कविताएं पढ़ा करते थे। जनता उनसे बड़ी प्रभावित थी। इस बार शेख से कुछ लोगों ने पूछा कि आपने इस हिन्दी मसनवी को ही क्यों चुना है इस पर शेख ने उत्तर दिया कि यह सम्पूर्ण आख्यान ईश्वरीय सत्य है। पढ़ने में मनोरंजक है, प्रेमियों को आनन्द भरे चिन्तन की सामग्री देने वाला है, कुरान की कुछ आयतों का उपदेश देने वाला है और हिन्दुस्तानी गायकों और भाटों के गीत जैसा है। जनता में इसे गाने से उसके हृदय पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है।'[१]

पं० परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि 'यह रचना अपने वास्तविक रूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु यदि 'लोरिक', 'नूरक' 'लोरिक' हो, तो इसकी कथा प्रसिद्ध लोरिक और चन्दा की भी हो सकती है।'[२]

चतुर्वेदी जी का अनुमान सत्य है और इंगलैंड वाली प्रति एवम् मनेरशरीफ खानकाह वाली खंडित प्रति में वीर लोरिक और चन्दा की ही कहानी वर्णित है।

चन्दायन का कथा-सार

गोबर नगर के महर राजा सहदेव के चौरासी रानियां थीं। पट्टमहादेवी फूलारानी के बहुत दिनों के पश्चात एक कन्या हुई और उसका नाम चन्दा रखा गया चार वर्ष की अवस्था होने पर उसका विवाह बावन बीर नामक व्यक्ति से कर दिया गया। बारह वर्ष की युवती होने पर ससुराल गई। वहाँ उसे पति की आवश्यकता की बात ज्ञात हुई। वह असंतुष्ट रहने लगी। एक दिन सास से झगड़ा कर वह मायके लौट आई। वहाँ उसने अपनी सखी सहेलियों से अपना कष्ट कहा—

एक दिन चाँद अपने महल की अटारी पर खड़ी थी। उधर से भिक्षा मांगता हुआ एक बाजिर निकला। उसकी दृष्टि अटारी पर गई और वह चाँद के सौन्दर्य को देखकर मूर्छित हो उठा। प्रेमशर से विद्ध वर बाजिर विरह के गीत गाता राजापुर के रामचन्द के राज्य में पहुँचा। राव रूपचन्द उससे चाँद के नखशिख का वर्णन

१—जार्ज एस० ए० रैंकिंग, मुतखबुत्तवारीख (अल्बदायूनीकृत) १८९७ ई०, कलकत्ता, पृ० ३३३।

२—ना० प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५४, पृ० ४२, भारतीय प्रेमाख्यानक परंपरा पृ० ८९ से उद्धृत।

सुनकर उस पर आसक्त हो गया और गोबर पर आक्रमण कर दिया। गोबर नरेश सहदेव के साथ युद्ध हुआ। युद्ध में अपने प्रमुख वीरों को मारे जाते देख सहदेव ने निकट ही रहने वाले एक वीर लोरिक को सहायता के लिए बुलाया। वीर लोरिक ने आकर राव रूपचन्द के वीरों को तहस-नहस कर डाला।

लोरिक की वीरता देखकर चांद उस पर मोहित हो गई और उसने अपने मन की बात अपनी सखी बिरसपति से कहा, और लोरिक को देखने की इच्छा प्रकट की। बिरसपति ने इसके लिए एक उपाय बताया। उसके अनुसार चांद ने अपने पिता से विजय की खुशी में समस्त नागरिकों को भोज देने को कहा। तदनुसार भोज का आयोजन हुआ और उस भोज में लोरिक भी आया। चांद और लोरिक ने एक दूसरे को देखा। वे एक दूसरे पर मुग्ध हो गए। फलतः विरसपति के माध्यम से उन दोनों का एक शिव-मंदिर में मिलन हुआ और अनुराग प्रगाढ़ होने लगा। फिर गुप्त रूप से लोरिक चांद के महल में भी आने-जाने लगा।

लोरिक और चांद के गुप्त प्रेम की बात लोरिक की पत्नी मैना को ज्ञात हुई। वह अत्यन्त क्षुब्ध हुई और बसन्त पूजन के अवसर पर जब उसकी भेंट चांद से हुइ तो उसने उसे खूब खरी खोटी सुनाई। निदान दोनों के बीच विवाद बढ़ गया और हाथापाई होने लगी। उस दिन की घटना के बाद चांद और लोर दोनों को अपने प्रेम–व्यापार के प्रकट हो जाने की आशंका हुई। दोनों ने सलाह कर एक दिन अपना नगर छोड़ दिया।

चाँद और लोरिक के भाग जाने की खबर जब उसके पति बावनवीर को ज्ञात हुइ तो उसने उनका पीछा किया लोरिक का उसके साथ युद्ध हुआ और बावन घायल हो गया। उसे घायल छोड़कर लोरी और चन्दा आगे चल पड़े। मार्ग में उनके रास्ते में अनेक बाधाएँ आईं। एक दिन जब वे दोनों एक पेड़ के नीचे सो रहे थे, चांद को सांप ने डस लिया। जब लोरिक जगा तो वह अत्यन्त दुखी हुआ और करुण विलाप करने लगा। तब गारुड़ी ने आकर चांद को जीवित किया। आगे बढ़ने पर एक जुआरी के चक्कर में आकर लोरिक जुआ खेलने लगा और दांव में अपना सब कुछ यहाँ तक कि चाँद को भी हार गया। चाँद अपनी बुद्धि चातुरी से उस जुआरी के पंजे से बच निकली और तब लोरिक उस जुआरी को मार कर आगे बढ़ा। इस तरह अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करके दोनों हरदीं जा पहुँचे और वहां सुखपूर्वक रहने लगे।

इधर लोरिक के चले जाने पर मैना दुखी रहने लगी और एक वर्ष तक प्रतीक्षा करने पर भी जब लोरिक लौट कर गोवर न गया तो उसने व्यापार के लिए जाते हुए सिरजन नामक व्यापारी से अपनी कष्ट कथा लोरिक तक पहुँचाने

का अनुरोध किया। तद्नुसार सिरजन ने लोरिक से सब हाल जाकर कहा। मैना का हाल सुन कर चांद के विरोध करने पर भी लोरिक गोवर के लिए चल पड़ा और शीघ्र घर आ पहुँचा।

आरम्भ

'पहले गाऊँ सिरजनहारू
जिन सिरज्या यह देवस बयारू ॥
सिरजसि धरती और अकासू
सिरजसि मेहु मदर कबिलासू ॥
सिरजसि चांद सुरुज उजियारा
सिरजा सरग नरक कय मारा ॥
सिरजस छांह सीत औ धूपा
सिरजस किरतन (?) और सरूपा ॥
सिरजसि मेघ पवन अंधकारा
सिरजसि बीजु करै चमकारा ॥
जाकर सभै पिरिथिमी सिरजन, कह्यो एक से गायि।
हिय घबरै मन हुलसै, दूसर चित न समायि ॥'

साधनकृत[1] मैनासत (असूफी प्रेमाख्यान)

यह ग्रंथ कब रचा गया और साधन कौन थे इस संबंध में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका। किन्तु प्रिंस आव वेल्स म्यूजियम तथा नेशनल म्यूजियम में इसके जो सचित्र पृष्ठ हैं, उनके चित्रों का समय कलामर्मज्ञ १५४० ई० के आसपास आंकते हैं। इसकी ख्याति के देखते हुए यह अनुमान गलत न होगा कि उसकी रचना पंद्रहवीं शती में अथवा उससे पूर्व ही हुई होगी। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसकी रचना काल सं० १६२४ (१५६७) विक्रमी के पूर्व माना है।

इसकी कथा एक प्रकार से चन्दायन की उप कथा है। इसमें कहा गया है कि जब लोरिक चन्दा को लेकर भाग गया तो उसकी पत्नी मलिन रहने लगी। एक दिन सातन नामक किसी कामुक राजकुमार ने उसे देख लिया और उसे फुसलाने के लिए एक कुटनी मालिक को नियुक्त किया। वह अपने को मैना की बचपन की धाय बता कर मैना के यहां जाकर रहने लगी और उसे फुसलाने की चेष्टा करने लगी। वह प्रत्येक मास के कामुक रूप को उपस्थित करती और पुरुष प्रसंग के

१—मनेर शरीफखानकाह से प्राप्त प्रति के अनुसार यह कथा दी गई है।

लिए प्रेरित करती। मैना उसका प्रतिकार यह करके कहती कि पति के अतिरिक्त उसके लिए अन्य कोई अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार कवि ने बारह महीनों का कुटनी मैना संवाद के रूप में वर्णन किया हैं। वर्ष समाप्त होने पर मैना कुटनी को निकाल बाहर किया करती है।

इसका साधन कृत जो रूप है उसमें सूफी तत्व स्पष्ट परिलक्षित नहीं हैं। लक्षण रूप में उसे ग्रहण किया जा सकता है। जहाँगीर के शासनकाल में एक फारसी कवि हमीदी ने अस्मत-नामा नाम से इसी कहानी को लिखा हैं जिसमें चांद के मर जाने पर लोरक के मैंना के पास वापस आने का उल्लेख करते हुए कथा की तात्विक व्याख्या की गई है। इसमें चांद के प्रेम की मायावी और मैना के प्रेम को असली बताते हुए कहा गया है कि लोरिक की तरह मनुष्य असली प्रेम तत्व को छोड़कर मायावी प्रेम की ओर जाता है पर तत्व ज्ञात होने पर पुनः असली प्रेम की ओर लौट आता है। सातन कुंवर के सत को डिगाने वाला शैतान बताया गया है। इस कृति में कवि ने बार-बार मैना के सतीत्व की ही महिमा का गान किया है। 'मैनासत पहले लोर कहा के एक प्रसंग के रूप में रचा गया था। जिसका प्राचीनतम रूप उसके लोरकहा पाठ में मिलता है। उसके बाद किसी समय इस प्रसंग को अलग कर स्वतन्त्र रचना के रूप में प्रकाशित किया गया और कदाचित उसी समय उसमें बन्दनादि की पंक्तियाँ रख दी गई।"[1]

संभवतः इसी फारसी रूप को नुसरती ने अपनी दखिनी हिन्दी के मसनवी में अपनाया है।

विशेष—

श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने साधनकृत 'मैनासत' को प्रकाशित किया है। उनके अनुसार यह ग्रंथ १४८० के पश्चात् और १५०० ई० के पूर्व लिखा गया है।[2]

२—मृगावती

कुतबन ने ६०६ हि० (१५७३–४ ई०) में मृगावती की रचना की है। मसनवी पद्धति का अनुसरण करते हुए उन्होंने ईश्वर-स्तुति, मुहम्मद-स्तवन आदि के अनन्तर 'शाहे–वख्त' का वर्णन किया है—

साह हुसेन अहै बड़ राजा। छत्र सिंहासन उन कहँ छाजा॥
पंडित औ बुधवंत सयाना। पढ़ै पुरान अरथ सब जाना॥

* * *

१—भारतीय साहित्य, डा० माताप्रसाद गुप्त सन् १६५६

२—मैनासत, सं० हरिहर निवास द्विवेदीं, पृ० ८८

दान देइ औ गनतन आवै । बलि औ कंस न सरबरि पावै ।
राज जहाँ लौं गंध्रब रहहीं । सेवा करहिं बार सब चहहीं ।।
इन्हके राज यह रे हम कहे । नौ सै नौ जो संवत् अहे ।।

इस हुसेनशाह के विषय में बड़ा मतभेद है । शुक्ल जी का कथन है कि ये चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे । और जौनपुर के बादशाह हुसेनशाह के आश्रित थे ।[1] शुक्ल जी ने जायसी–ग्रंथावली में इस मत का संशोधन करते हुए लिखा था कि 'पूरब में बंगाल के शासक हुसेनशाह शर्की के अनुरोध से, जिसने सत्यपीर की कथा चलाई थी, कुतबन मियाँ एक ऐसी कहानी लेकर जनता के समक्ष आए जिसके द्वारा उन्होंने मुसलमान होते हुए भी अपने मनुष्य होने का परिचय दिया ।'[2] हुसेनशाह के नाम से उस समय दो शासक थे । जिनमें से एक हुसेनशाह शर्की जौनपुर का शासन करता था । और दूसरा उसी प्रकार बंगाल में राज्य करता था । पहले को बहलोल खां लोदी ने सन् १४८८ ई० में हटा दिया और फिर वह अपने यहाँ से भाग कर बंगाल वाले हुसेनशाह की शरण में रहने लगा । उसकी मृत्यु भी हि० सन् ९०५ (१४९९ ई०) में ही हो गई, जो मृगावती के रचनाकाल सन् १५०४ ई० से चार साल पहले पड़ता है ।'[3] फिरिश्ता[4] और स्मिथ ने[5] भी खिला है कि ९०१ हि० में सिकन्दर लोदी ने उसे परास्त कर दिया और वह भाग कर हुसेनशाह शर्की के यहाँ बंगाल में गया और वहीं उसकी मृत्यु ९०५ हिजरी में हुई । इस घटना का उल्लेख इस्लामी बाँगला साहित्य में भी हुआ है । कवि कुतबन जौनपुर के अनुचर थे । उन्ही के साथ कवि बंगाल में चला आया था और सुल्तान हुसेनशाह शर्की के यहाँ रहा । मृगावती काव्य ९०९ हि० में वहीं गौड़ देश में लिखा गया ।[6] प्रा० अस्करी के अनुसार हुसेनशाह शर्की ९१० हि० तक जीवित रहा ।[7] यों उसके ९१० हि० तक सिक्के भी चलते रहे हैं । अस्करी साहब का मत शाह शर्की ले १९१० हि० तक चलने वाले सिक्कों के कारण प्रबल है, पर प्राय: इतिहासकार यह मानते हैं कि उसकी मृत्यु ९०५ हि० में हो चुकी थी, अत: अधिक सम्भव यही है कि

१–हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ९५
२–पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ३
३–हाफिज मुहम्मद शीरानी, पंजाब में उर्दू पृ० २१२
४–ब्रिग्स, ए हिस्ट्री आफ दी राइज आफ मुहम्डन पावर (फिरिश्ता के इतिहास का अंगरेजी अनुवाद) वा० १, पृ० ५७२ ।
५–स्मिथ, शर्की आर्किटेक्चर आफ जौनपुर, पृ० १३ ।
६–सुकुमार सेन, इस्लामी बाँगला साहित्य, पृ० ८ ।
७–जे० बी० आर० एस० प्रो अस्करी, कुतुबन्स मृगावत, १९५५ ।

मृगावती बंगाल के हुसेनशाह की छत्रछाया में ही रची गई, वह एह एक धर्मपरायण पुरुष था और उसने हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के दृष्टिकोण से 'सत्यपीर' नामक एक संप्रदाय भी चलाया था। मृगावती में नायक राजकुमार है। नायिका भी राज-कुमारी है। वह उड़ने की विद्या भी जानती है। वह अपने प्रेमी को धोखा देती है। पिता के देहान्त के बाद राज्य भी करने लगती है। इस प्रकार इस काव्य में घटनाओं का बाहुल्य है। मंझन ने कहा है कि वे किसी रहस्यमयी बात को खोलकर स्पष्ट करने जा रहे हैं और एतदर्थ वे गाथा, दोहा, चौपाई, अरिल्ल, सोरठा आदि का प्रयोग करके 'देसी' शब्दों के माध्यम से उसे 'सरल' बना रहे हैं। मुल्ला दाऊद जायसी आदि ने भी इसी प्रकार की अभिव्यक्ति की है—

'अउर गीत मैं करूँ वीनती सिरनामे कर जोर।
एक एक बोल मोति जस पुरवा कहूँ जो हीरा तोर॥
(चंदायन)

यक यक बोल मोति जस पुरवा, इकठा भव चित लाय।
(मृगावती)

'कुंचन-कंचन हीरा मोती। पिरुवा हार हुई तस जोती।' (चित्ररेखा)

कुतबन के गुरु सुहरावर्दिया संप्रदाय के बूढ़न (जौनपुर वाले)

'शेख बूढ़न जगसाँचा पीर। नाउँ लेत सुध होय सरीर॥
कुतबन नाउँ ले रेपा धरे। सुहरावर्दि जिन्ह जगनिरभरे॥

✓मृगावती' की कथा

'मृगावती' की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

चन्द्रगिरि के राजा गणपति देव का पुत्र कंचन नगर के राजा रूपमुरारि की पुत्री मृगावती के रूप पर विमोहित हो जाता है। राजकुमारी संयोगवश उड़ने की विद्या जानती थी। अनेक कष्ट सहते हुए राजकुमार उसके यहाँ पहुँचा। एक दिन राजकुमारी उसे धोखा देकर उड़ जाती है। राजकुमार उसकी खोज में जोगी बन कर निकल पड़ता है। चतुर्दिक समुद्र से घिरी एक पहाड़ी पर पहुँचकर उसने 'रुकमिनी' नामक सुन्दरी को एक राक्षस के हाथ में पड़ने से बचा लेता है, इस कार्य से प्रसन्न होकर उस सुन्दरी के पिता ने राजकुमार के साथ उसका विवाह कर दिया। अन्त में राजकुमार वहाँ पहुँचता है जहाँ पिता की मृत्यु के अनन्तर मृगावती सिंहासनारूढ़ होकर राज्य कर रही है। वहाँ वह बारह वर्षों तक ठहरा रहता है और जब राजकुमार के पिता को पता चला तो उसे बुलाने के लिये दूत

१—नागरीप्रचारिणी सभा, खोज रिपोर्ट १९००
डा० रामकुमार वर्मा को इनकी एक पूर्ण प्रति 'एकडला' गाँव से मिली है।

भेजा। पिता का संदेश पाकर के राजकुमार मृगावती के साथ चल पड़ा। मार्ग में उसने रुक्मिनी को भी ले लिया। वह दीर्घकाल तक उन दोनों के साथ भोग-विलास करता रहा, पर एक दिन आखेट में हाथी से गिर कर मर गया। दोनों रानियां उसके साथ ही सती हो गईं।' ✓

रुकमिनी पुनि वैसहि मरि गई। कुलवन्ती सत सों सति भई।
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥
विधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू।
गंग तीर लैके सर रचा। पूजी अवधि कहो जो बचा।
राजा संग जरि रानी चौरासी। ते सब गए इन्द्र कबिलासी॥
मिरगावति और रुकमिनी (लैके) जरीं कुँवर के साथ।
भसम भई जरि तिल एक मन्ह तिन्ह रहा न गात॥

कुतबन ने कथा के प्रारम्भ में मुहम्मद-स्तवन और उनके चार मीतों का भी उल्लेख किया है -

'उसमां बचन दीन के लिषे जेरे मुहम्मद अघरहु सिषे।
अली सेरे बिध आपुन कीन्हा। आगम गड़ उनसो कर दीन्हा।
चार मीत हैं पडित, चारौ हैं समतल।
मानसरोदक अमल भर-रहे कंवल के फल।'

३-पदमावत (१५४०)

जायसी द्वारा प्रेमाख्यानों का उल्लेख

जायसी ने पदमावत में कतिपय प्रेम-गाथाओं की ओर संकेत किया है-

बहुतन्ह ऐस जीउ पर खेला। तूं जोगी केहि माहं अकेला।
विक्रम धसा पेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा।
सुदैवच्छ मुगुधावति लागी। कंकनपूरि होइ गा वैरागी।
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कहं जोगी भएऊ।
साधा कुंवर मनोहर जोगू। मधुमालति कहं कीन्ह वियोगू।
पेमावति कहं सरसुर साधा। उरवा लागि अनिरुध बर बांधा।[1]

इन पंक्तियों के साक्ष्य पर स्पष्ट है कि पदमावत की रचना के समय तक वे (इन पंक्तियों में कथित) कहानियाँ किसी न किसी रूप में अवश्य प्रचलित थीं।

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ४

पं० रामचन्द्र शुक्ल,[1] सत्यजीवन बर्मा,[2] डा० रामकुमार बर्मा,[3] हरिऔध[4] प्रभृति विद्वानों का विचार है कि जायसी द्वारा दी गई यह सूची जायसी के पूर्व लिखे जा चुके प्रेमाख्यानों की है। इन विद्वानों की बात इसलिये मान्य है कि धीरे-धीरे शोध में ये ग्रन्थ मिलते जा रहे हैं।

ए०जी० शिरेफ[5] का अनुमान है कि जायसी ने प्रेमाख्यानों की जो नामावली दी है वह प्रेमाख्यानों की न होकर लोक-प्रचलित प्रेम-कहानियों की है जिनके स्वरूप के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि ये कहानियाँ लिखित हों ही। सम्भव है कि ये मात्र मौखिक परम्परा से चली आती हों।

इस सूची पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है कि 'विक्रमादित्य और 'ऊषा अनिरुद्ध' की प्रेम कथाओं को छोड़ देने से चार प्रेम-कहानियाँ जायसी के पूर्व लिखी हुई पाई जाती हैं। इनमें से मृगावती की एक खंडित प्रति का पता तो नागरीप्रचारिणी सभा को लग चुका है। 'मधुमालती' की भी फारसी अक्षरों में लिखी हुई एक प्रति मैंने किसी सज्जन के पास देखी थी, पर किसके पास है यह स्मरण नहीं। चतुर्भुजदास कृत 'मधुमालती री कहा, नागरीप्रचारिणी सभा को मिली है जिसका निर्माणकाल ज्ञात नहीं और जो अत्यन्त भ्रष्ट गद्य में है। मुग्धावती और प्रेमावती का अभी तक पता नहीं चला।[6]

डा० कमलकुल श्रेष्ठ का कथन है कि 'मधुमालती री कहा' की फोटो कापी सभा में है और गद्य में नहीं अपितु पद्य में है।[7]

मधुमालती की दो प्रतियाँ भारतीय विद्याभवन के श्री हरिवल्लभ भायाणी जी को मिली हैं। इनमें सवा सात सौ से ऊपर छन्द हैं।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि 'विक्रमादित्य और स्वप्नावती सिंहासन बत्तीसी में पांचवीं पुतली लीलावती की कथा है कि विक्रम ने सिंहासन की प्राप्ति के लिये बहुत कष्ट भोगा। उसी का पाठ यहाँ स्वप्नावती (पाठान्तर चम्पा-वती) मिलता है (६५२ आ।६) श्री अगरचन्द नाहटा जी को स्वप्नावती की

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ४

२—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ६, पृ० २६४

३—डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०७

४—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, हरिऔध, हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृ० १६१।

५—ए०जी० शिरेफ, पदुमावती, पृ० ६

६—पं० रामचन्द्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, जायसी ग्रन्थावली, भूमिका पृ० ४

७—हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य, ना० प्र० सभा खोज रिपोर्ट १६०२, नोटिस ४४।

कहानी लोक-साहित्य में मिल गई है।[1] 'सुदेवच्छ-मुग्धावती' की कहानी अत्यन्त लोकप्रिय थी। संदेशरासक में इसका उल्लेख आया है—

'कह व ठाइ पउवेइहि वेउपयासियइ, कह बहुसवि णिबद्धउ।
रासउभासियइ। कहव ठाइ सुदवच्छ कत्थवर नल चरिउ॥
कत्थव विविहवि णौइहि भारतु उच्चरिउ॥'

'सदेश रासक[2]' की इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि कहीं पर चारों वेदों के ज्ञाता वेदों की व्याख्या करते हैं, कहीं विविध रूपों से निबद्ध रासक पढ़े जाते हैं। कहीं सुदय-वच्छ, कहीं 'नलचरिउ' और कहीं विविध विनोद पूर्वक महाभारत की कथाए' पढ़ी जाती हैं। यहां पर यह द्रष्टव्य है कि सुदयवच्छ की कथा का उल्लेख 'वेद', 'नलचरिउ' और 'महाभारत' के साथ किया गया है।

सुदयवच्छ और रानी सावलिंगा की कहानी आज भी बिहार से गुजरात तक गांव-गांव में कही जाती है। (सुदयवच्छ सावलिंग की कहानी के लिए देखिये, अगर चन्द नाहटा का लेख, राजस्थान भारती, अप्रैल १९५०)।

मधुमालती[3] की कथा का उल्लेख—

मधुमालती नाम की कई रचनाओं का पता चलता है। मंझनकृत मधुमालती नामक अवधी प्रेम कहानी की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। कई हस्त— लिखित प्रतियों के आधार पर श्री शिवगोपाल मिश्र ने मंझन कृत मधुमालती का संपादन किया है।[4] कवि बनारसी दास ने लिखा है कि वे मधुमालती और मृगा— वती की पोथियाँ रात्रि के समय जौनपुर में बांचा करते थे। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि १६५१ ई० में ये पोथियां विद्यमान थीं।

१---डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, पृ० २२३-२४।

२---संदेशरासक (पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी और विश्वनाथ त्रिपाठी) पृ० १२। ४३-४४ वां पद्य।

३–देखिए, मधुमालती पर ब्रजरत्न दास का लेख, हिंदुस्तानी पत्रिका, अप्रैल १९३८ पृ० २१२।
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, मंझन कृत मधुमालती, पं० चद्रबली पांडेय, १९९५ पृ० २५५—६६।
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हीरक जयंती, अंक, डा० माताप्रसाद गुप्त का लेख वर्ष ५८, सं० २०१०।

४–मंझनकृत मधुमालिती, डा० शिवगोपाल मिश्र (हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, काशी) १९५७।

तब घर में बैठे रहैं, जाँहि न हाट बजार।
मधुमालति मिरगावति, पोथी दोइ उदार।'
ते बाँचहि रजनी समै, आवहिं नर दास बीसे।
गावहिं अरु बातैं करहिं, नित उठि देहिं असीस'।।

बनारसी दस इन पोथियों को लगभग १६०५ ई० (सं० १६६२) में पढ़ा[१] करते थे पदमावत १५४० ई० (१५६७) में लिखा गया था। जायसी और बनारसी दास के उल्लेखों से स्पष्ट है कि ये मात्र मौखिक कहानियाँ ही नहीं पुस्तक रूप में भी थीं। मधुमालती की कथा का उल्लेख उस्मानकृत 'चित्रावली' में भी मिलता है।

'मधुमालति होइ रूप दिखावा। प्रेम मनोहर होइ तहं आवा।"
मृगावती मुख रूप बसेरा। राजकुंवर भयो प्रेम अहेरा।।
सिंहल पदुमावति मो रूपा। प्रेम कियो है चितउर भूपा।।'

इन साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि ये प्रेमकाव्य हैं। इनमें से कुछ तो प्राप्त हो गए हैं और 'सरसुर-प्रेमावती की कहानी'[४] प्रभृति प्रेम-गाथायें अभी तक अज्ञात हैं। यह अभी भी ज्ञातव्य है कि ये प्राप्त-अप्राप्त कथाएँ सूफी प्रेमाख्यानों की परम्परा में हैं या असूफी भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा में।

४—शेख (मियाँ) मंझन कृत मधुमालती (रचनाकाल १५४५ ई०)

पं० रामचन्द्रशुक्ल[५] का अनुमान था कि मधुमालती की रचना पद्मावत के पूर्व हुई थी, किन्तु शुक्लजी ने यह मनुमान एक खंडित प्रति और 'मधुपाछ मुगुधावति लागी' वाले पदमावत के उल्लेख को दृष्टि में रखकर किया था। इधर मधुमालती की कई प्रतियों[६] का पता चला है 'एकडला' से प्राप्त प्रति के आधार पर

१—अर्द्धकथान, पं० नाथूराम प्रेमी, पृ० ३८ (३३५), १६५७।
२—वहीं, पृ० २६ (अब सोरह सै बासठै कातिक हूऔ काल) २५७
३— चित्रावली, उसमान, (३०।५-७)।
४— पदमावत, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २२३–२४।
५— हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६८।
६— डा० कमलकुल श्रेष्ठ ने (हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों, पृ० ३८) इन दोनों प्रतियों को नागरीप्रचारणी सभा में देखा था, एक वह वस्तुतः भारतकला भवन में सुरक्षित प्रतियाँ हैं।
(क) नागरीप्रचारिणी सभा की दो प्रतियां (ये प्रतियां खण्डित और अपूर्ण हैं)। एक फारसी लिपि में हैं और दूसरी देवनागरी में। फारसी लिपि वाली प्रति के प्रारम्भ में २७३ और अंत ने ८० दोहे नहीं हैं। इसकी पुष्पिका में प्रति-

—शेषांश अगले पृष्ठ पर देखिए

डा० शिवगोपाल मिश्र ने मधुमालती[1] का प्रकाशन करके एक बड़े अभाव की पूर्ति

गत पृष्ठ से आगे–

लिपि का समय सं० १६४४ वि० दिया हुआ है।

(ख) जगमोहन वर्मा की प्रति–(गुदड़ी बाजार से प्राप्त ?) चित्रावली से संपादक श्री जगमोहन वर्मा को गुदड़ी बाजार (काशी) से एक खंडित प्रति प्राप्त हुई थी। यह ग्रन्थ १७ पन्ने से १३३ पन्ने तक है। पुस्तक उर्दू (फारसी ?) में अत्यन्त शुद्ध अक्षरों में लिखी हुई है। भाषा मधुर है। पांच-पांच पंक्तियों के बाद एक दोहा है। आदि और अन्त में पृष्ठ न होने से ग्रन्थकर्त्ता के ठीक नाम, सिवाय मंझन के, जो उसका उपनाम है, और उसके निर्माणकाल आदि का पता नहीं चलता। ग्रन्थ के आदि के ३६ पन्नों तक बायें पृष्ठ पर के किनारे पर दो-दो पंक्तियों फारसी भाषा में कुछ यादद्राश्त लिखी है, जिनके अन्त में ११ रबि उस्सानी १०६६ हि० की मिती है। याददाश्त में उसी समय का वर्णन है। इससे अनुमान होता है कि यह प्रति उसी समय सं० १७१६ के पहिले की लिखी हुई है।'

देखिए, चित्रावली, भूमिका (सं० जगमोहन वर्मा)

(ग) श्री चन्द्रबली पांडेय जी को भी 'गुदड़ी' बाजार से एक प्रति मिली थी। उनकी भी प्रति में १७ से १३३ पन्ने हैं। तथि भी फारसी है। इस प्रति के भी बाए पृष्ठों पर दो-दो पंक्तियां याददाश्त के रूप में मिलती है। इसके अंत में ११ रबि उस्सानी, सन् १०६६ हिजरी दिया हुआ है।

देखिये, ना० प्र० पत्रिका, मंझन कृत मधुमालती, (पं० चन्द्रबली पांडेय का लेख) सं० १९९३, सं० ४३, पृ० २२५।

(घ) भारतकला भवन, काशी विश्वविद्यालय की प्रति इसमें प्रतिलिपि का काल सं० १६४४ दिया हुआ है। (इस ससय भारतकला भवन में मधुमालती की तीन प्रतियां हैं)। रामपुरवाली प्रति का हिन्दी रूपान्तर भी इसमें सुरक्षित है।

(ङ) रामपुर स्टेट लाइब्रेरी की प्रति–इसमें कुल २४६ पृष्ठ हैं, प्रत्येक पृष्ठ पर १५ पंक्तियां हैं। प्रत्येक पृष्ठ स्वर्णालंकृत है। पुष्पिका के अनुसार इसका प्रतलिपिकाल 'मुहम्मदशाह बादशाह गाजी' का समय है। इस प्रति का फारसी भाषा में अनुवाद भी हुआ था।'

फारसी अनुवाद : देखिये कैटलाग आफ दी परशियन मेन्युस्क्रिप्टस इन दी ब्रिटिश म्यूजियम, पृ० ८०३, (१८८१ ई०)।

रामपुर वाली प्रति के आधार पर ना० प्र० पत्रिका में सत्यजीवन वर्मा का एक लेख छपा था। देखिए ना० प्र० पत्रिका, सं० २००२, भाग ६, पृ० २९७।

१– डा० शिवगोपाल मिश्र।

की है। मधुमालती में मंझन ने इसके रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख किया है—

संवत् नौ सै बावन भएऊ। सती पुरुष कलि परिहर भएऊ॥
तौ हम चित उपजी अभिलाखा। कथा एक बांधौ रस भाखा॥
सुरस बचन जहाँ लगि सुनै। कवि जो सामने ते सब गुने॥
जो सभ कहै सुरस रस भाखी। सुनौ कान दे पेम अभिलाखी॥

(मधुमालती, मंझन, पृ० १४)

अतः यह निश्चित है कि मंझन ने मधुमालती नामक प्रेमकथा की रचना हिजरी सन् ९५२ तद्नुसार सन् १५४५ ई० अथवा सं० १६०२ वि० में की।

मधुमालती की कथा—

कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर को एक रात कुछ अप्सरायें सुप्तावस्था में उठाकर रातो-रात महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी में रख आईं। जागने पर दोनों ने एक दूसरे को देखा—दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गए। मनोहर ने उसके पूछने पर कहा कि मेरा अनुराग तुम्हारे ऊपर अनेक जन्मों से है। जिस दिन मैं इस संसार में आया—उसी दिन से तुम्हारा प्रेम मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ है। बहुत देर तक वार्तालप करने के पश्चात् वे सो गए। अप्सराओं ने सोये हुये मनोहर को उठाकर उसके महल में पहुंचा दिया। जागने पर दोनों के हृदयों में विरह जन्य व्याकुलता छा गई। राजकुमार मनोहर उसके वियोग में योगी होकर निकल पड़ा। समुद्र के मार्ग से जाते समय उसके इष्टमित्र तितर-वितर होकर बह गए। मनोहर बहता हुआ किसी जंगल के तट पर जा पहुँचा। वहाँ एक सुन्दरी पलंग पर लेटी हुई थी। पूछने पर उसने बताया कि वह चितबिसरामपुर के राजा चित्रसेन की बेटी प्रेमा थी। उसे वहाँ पर कोई राक्षस उठा लाया था। राजकुमार ने राक्षस का बध किया और प्रेमा का उद्धार किया। उसने कहा कि मैं मधुमालती की सखी हूँ और मैं उसे तुमसे मिला दूंगी। मनोहर के साथ प्रेमा अपने पिता के घर में आई। मनोहर के उपकार को सुनकर प्रेमा के पिता ने उसको मनोहर से व्याह देना चाहा। प्रेमा ने इसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि मनोहर मेरा भाई है और मैंने उसे अपनी सखी मधुमालती से मिलाने का वचन दिया है।

दूसरे दिन जब मधुमालती अपनी मां रूपमंजरी के साथ प्रेमा के घर आई, तो प्रेमा ने उसे मनोहर से मिला दिया। प्रातः रूपमंजरी ने चित्रसारी में दोनों को एक साथ देखा, तो बहुत फटकारा। जब उसने देखा कि पुत्री मनोहर का प्रेम छोड़ने को प्रस्तुत नहीं है, तो उसने उसे पक्षी हो जाने का शाप दिया। वह पक्षी होकर उड़ गई। माता अपने शाप की बात सोचकर पछताने लगी। उसने बहुत विलाप किया। वह मधुमालती को खोजने लगी, पर उसका पता न चला।

कुंवर ताराचन्द नामक राजकुमार ने उसे पकड़ना चाहा। मधुमालती ने उसे देखा कि ताराचन्द और मधुमालती के रूपों में साम्य है—अतः वह ठहर गई। राजकुमार ने उसे पकड़ कर सोने के पिंजरे में डाल दिया। एक दिन उस पंक्षी ने अपनी सारी प्रेम-कहानी ताराचन्द से कह सुनाई उसे सुनकर उसने प्रतिज्ञा की कि मुझे तेरे प्रियतम मनोहर से अवश्य मिला दूंगा। उस पिजरग पक्षी को लेकर वह महारस नगर में पहुँचा। उसकी माता रूपमंजरी ने प्रसन्न होकर मन्त्र पढ़कर उसे फिर मधुमालती के रूप में परिवर्तित कर दिया। मधुमालती के माता-पिता ने ताराचन्द के ही साथ उसका ब्याह करना चाहा, किन्तु ताराचन्द ने कहा कि 'मधुमालती मेरी बहिन है और मैंने उसे वचन दिया है कि जैसे भी होगा मैं उसे मनोहर से अवश्य मिलाऊंगा।'

मधुमालती की मां ने तब सारा हाल लिखकर प्रेमा के पास भेज दिया। मधुमालती ने भी अपनी व्यथा-कथा को लिख भेजा।

प्रेमा जिस क्षण दोनों पत्रों को पढ़ कर दुःख के सागर में डूब रही थी—ठीक उसी समय एक सखी ने योगी-वेश में मनोहर के आगमन का सन्देश दिया। मधु-मालती का पिता अपनी रानी और दल-बल-सहित वहाँ गया। पश्चात् मधुमालती और मनोहर का विवाह हो गया। मनोहर, मधुमालती और ताराचन्द्र प्रेमा के घर बहुत दिनों तक अतिथि बने रहे। एक दिन शिकार से लौटने पर ताराचन्द प्रेमा और मधुमालती को एक साथ झूला झूलते देखकर प्रेमा पर मोहित होकर मूर्छित हो गया। मधुमालती और उसकी सखियां उपचार में लग जाती हैं।

प्रेमा के सौंदर्य पर मोहित होने के पश्चात् (कथा ६ खण्ड और है)

मधुमालती ताराचन्द से उसकी मूर्छा का कारण पूछती है। उसने अपने मोह और प्रेमा के रूप सौन्दर्य का वर्णन किया। मधुमालती ने अपने पिता जी के समक्ष उन दोनों के विवाह का प्रस्ताव रखा। दोनों का व्याह हो जाता है। राजकुमार मनोहर–मधुमालती और ताराचन्द प्रेमा सुखपूर्वक साथ रहने लगते हैं।

कुवार महीने के लगते ही दोनों राजकुमारों ने राजा चित्रसेन से विदा की प्रार्थना की। राजा बड़ा ही दुखित होता है। अन्तःपुर में भी शोक और करुणा के भाव छा जाते हैं। मधुमालती की माँ ने विदा के क्षणों में कहा—

'साईं सेवा करब चित लाए। जनि डोले चित दाहिन बायें।'

सखियों ने भी 'स्नेहातिरेकवश कहा—

'जौ बिछुरत दुख जन त्यौं एहा। कत करतिउं बालापन नेहा॥'

अन्ततः मां ने आशीष दिया—

'जौ लगी धरती गंगजल, और ससि सूर अपार।
तौ लगि राज सोहाग तुअ, राखौ सिरजनहार॥'

चारों की एक साथ ही विदाई होती है। कुछ दूर जाने पर दोनों दो मार्गों पर चल पड़ते हैं। इस समय इन युग्मों के वियोग का कारुणिक दृश्य उपस्थित होता है। ताराचन्द और मनोहर गले मिलते हैं। सभी एक दूसरे से अत्यन्त प्रेम-भाव से मिलते हैं पुन: 'कोउ पूरब कोउ पश्चिम जाई'। मनोहर दो वर्ष में कनै-गिरि पहुंचता है। महल में पहुंचने पर आनन्दोत्सव मनाया जाता है। राजकुमार को पाकर उसका पिता–राजा अत्यन्त हर्षित होता है।

'कुँवर पिता पां लागा आई। नैन जोति जनु अन्धरे पाई।।'

चारो ओर आनन्द ही आनन्द छा जाता है।

अन्त में कवि ने प्रेम की प्रशस्ति करते हुए 'मधुमालती' का उपसंहार किया है।

'पेम अमिअ जे पाइय बासा। सेसकाल तेहि आव न सांसा।
जेहि भौ पेम अमी सौं, परिचे करै क पार।
औधि सहसदल कली सो, त्रिअहि पेम आधार।।'

मञ्झन (जीवन चरित)

अभी तक मंझन जीवन के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। अन्त: एवम् बहि: साक्ष्यों के आधार पर इतना कहा जा सकता कि ये मुसलमान सूफी संत थे। इनका पूरा नाम है शेख (मियाँ) गुफ्तार मंझन [1]।

मधुमालती के प्रारम्भिक मंगलाचरण के कारण श्री ब्रजरत्नदास[2] जी ने मंझन को हिन्दू माना है, किन्तु पुस्तक के प्रारम्भ में ईश्वर, मुहम्मद, पीर, गुरु, प्रेमपीर प्रभृति प्रसंगों एवं अन्त:साक्ष्यों और एकडला एवम् रायकृष्णदास जी की प्रतियों के साक्ष्य पर स्पष्ट है कि ये मुसलमान थे।

इनके गुरु 'शेख गौस मुहम्मद थे'।

शेख मुहम्मद पीर अपारा। सात समंद नाव के कंठ हारा।

दाता गुन गाहक गौस मुहम्मद पीर।'

मंझन ने १२ वर्षों तक कठिन तपस्या की और उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हुआ

१– मंझन कृत मधुमालती की एकडला से प्राप्त प्रति की पुष्पिका।
इति श्री मधुमालती पोथी समाप्त है, जो संवत् १७४४ समै नाम जेठ सुदी दुजी को तैयार भई बार बुधवार को। पंडितजन सौं बिनती मोरी। टूटा अक्षर मेरवहि जोरी। गुफ्तार मियां मंझन क्रित: राममूलक सहाय लिषितं गहिराम।
श्री रायकृष्णदास की प्रति पुष्पिका में भी 'शेख मंझन' लिखा है।

२—हिन्दुस्तानी, अप्रैल, १९३८, पृ० २११।

पिता के स्वर्गवासी होने पर उन्हें दूसरा घर बसाना पड़ा। ज्ञानोदय के पश्चात् ही 'स्वान्त:सुखाय सन् ९५२ हि० में मधुमालती की रचना की। मधुमालती से इनकी कोमल कल्पना और स्निग्ध सहृदयता का पता चलता है। 'बूझि पढ़ै मोर आखर लोई' से स्पष्ट है कि मधुमालती की कथा में मंझन ने ज्ञान की चर्चा की है। अत: समझ बूझकर ही उसको पढ़ना चाहिए। मधुमालती में अनेक स्थलों पर (विशेषत: पण्डितों से त्रुटियों के लिए क्षमा मांगते समय या पंडित-मूर्ख चर्चा के स्थलों पर) मंझन की विनयशीलता के दर्शन होते हैं।

बारहमासा

मंझन का बारहमासा सावन से प्रारम्भ होता है। संम्पूर्ण बारहमासे में मलिक मुहम्मद जायसी का अनुकरण द्रष्टव्य है। यद्यपि मंझन ने मलिक मुहम्मद का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है किन्तु इनके काव्य को पढ़ने से स्पष्ट है कि ये पदमावत से पूर्णत: प्रभावित हैं। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जा सकती हैं—

'सिंध मघा बरसैं झकझोरी। प्रेम सलिल दुइ लोयन बोरी॥
(मंझन)
'बरसै मघा झकोरि झंकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जस ओरी॥'
(जायसी)

'सरद रैनि तेहि सीतल, जेहि पिउ कंठ नेवास।
सबके परब देवारी, मोहिं सखी बनवास।' (मंझन)
'सरद रैनि तेहि सीतल भावै। जेहि प्रीतम कंठ लागि बिहावै। (मंझन)
'सखि मानहिं त्योहार, सब, गाइ देवारी खेलि।
हौं का खेलौं कंत बिनु, रही क्षार सिर मेलि॥ (जा० ग्रं० ३०१८)।

मधुमालती : (शिल्प-विधि एवं अन्य वैविष्ट्य)

'मधुमालती' के कथा-शिल्प पर 'कथासरित्सागर' और 'हितोपदेश' के कथा-शिल्प का प्रभाव है। मूलकथा के विकास के साथ-साथ तमाम अन्तर्कथायें और उपकथायें उससे फूटती रहती हैं और इन कथाओं की चरम परिणित मूलकथा में ही होती है।[१] कथा में आध्यात्मिक प्रेम-भाव की व्यंजना के लिए प्रकृति के भी दृश्यों का समावेश मंझन ने किया है। मंझन की कल्पना कुतबन से विशद है और वर्णन भी अधिक विस्तृत और हृदयग्राही हैं।

कवि ने नायक और नायिका के अतिरिक्त उपनायक और उपनायिका की भी योजना करके कथा को तो विस्तृत किया ही है, साथ ही प्रेमा और ताराचन्द के चरित्र द्वारा सच्ची सहानुभूति, अपूर्व संयम, और नि:स्वार्थ भाव चित्र भी दिखाया है। जन्म-जन्मान्तर और योन्यंतर के बीच प्रेम की अखंडता दिखाकर मंझन ने

१—हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० ३० (१९५३)।

प्रेमतत्व की व्यापकता और नित्यता का आभास दिया है। सारा जगत् एक ऐसे रहस्यमय प्रेम-सूत्र में बंधा है जिसका अवलम्बन करके जीवन उस प्रेम-मूर्ति तक पहुँचने का मार्ग पा सकता है। समस्त रूपों में जीव परम-सत्ता की छिपी ज्योति को देखकर मुग्ध होता है। मंझन कहते हैं—

'देखत ही पहिचानेउ तोहीं। एही रूप जेहि छंदग्यो मोहीं।
एही रूप बुत अहै छपाना। एही रूप रब सिष्टि समाना।।
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा।

ईश्वर का विरह साधक की प्रधान संपत्ति है जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता। किसी की आंखें खुल नहीं सकतीं।

'पेम दीप जाके हिय बारा। ते सब आदि अन्त उजियारा।
जगत जन्म फल जीवन ताही। पेम पीर जिय उपजा जाही।
कोटि माहिं बिरला जग कोई। जाहि सरीर बिरह दुख होई।
रतन कि सागर सागरहिं गजमोती गज कोइ।
चन्दन कि बन-बन उपजै, बिरह कि तन तन होइ।

जिसके हृदय में विरह होता है उसके लिए यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा के आभास अनेक रूपों में पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं।'[1]

प्राय: जायसी, कुतबन आदि सूफी कवियों ने रानियों के सती होने और 'छारि उठाइ लीन्हि इक मूठी।' की बातें कही हैं किन्तु मंझन ने इसका अत्यन्त निराले ढंग से किया है उनका वक्तव्य है कि कलि में सभी प्राणी नाशवान हैं। अत: मधुमालती को क्यों सती होते हुए चित्रित करूँ। वह तो स्वयं मर जायगी, किन्तु सत्य और प्रेम ये अनादि और अनन्त हैं—

उतपति जग जेती चलि आई। पुरुष मारि त्रज सती कराई।
मैं छोहन एहि मार न पारेउं। सही मरिहि जो कलि औतारे।
सती सुनौ संसार सुभाऊ। जो मरि जिए सो मरे न काऊ।।

स्पष्ट है कि मंझन ने मधुमालती और मनोहर का मिलन तो करा दिया है, किन्तु मानव प्रेम के नाते उसे सती नहीं होने दिया। सती-प्रसंग को उन्होंने जान बूझकर अपने काव्य में नहीं आने दिया।

५—उसमान कृत चित्रावली-[2]रचनाकाल १६१३ ई०

श्री जगन्मोहन वर्मा ने चित्रावली को संपादित करके १९१२ ई० में काशी

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ९७—९८।
२—चित्रावली की एक संपूर्ण एवं सुन्दर हस्तलिखित प्रति महाराज काशी नरेश के

नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित किया था।

ये जहाँगीर के समय में वर्तमान थे और गाजीपुर[1] के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम शेख हुसेन था। ये पाँच भाई थे। चार भाइयों के नाम हैं–शेख अजीज, शेख मानुल्लाह, शेख फैजुल्लाह, और शेख हसन—

कवि उसमान बसै तेहि गाऊं। शेख हुसेन तबै जग नाऊं।
पाँचा भाइ पांचौ बुधि हिए। एक-एक सौं पाँचौ लिए।
शेख अजीज पढ़ै लिखि जाना। सागर सील ऊंच कर दाना।
मानुल्ला विधि मारग गहा। जोग साधि जो मोन होइ रहा।
शेख फैजुल्ला पीर अपारा। गनै न काहु गहे हथियारा।
शेख हसन गाए न भल अहा। गुन विद्या कहं गुनी सराहा।[2]

ये चिश्ती संप्रदाय के निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा के संत थे। इनके गुरु थे 'हाजी बाबा'—

"गहि मुज कीन्हे पार जे, बिन साहस बिनु दाम।
कपूती सकल जहान के, चश्ती शाह निजाम।
बाबा हाजी पीर अपारा। सिद्धि देत जेहि लाग न बारा।[3]

इन्होंने १०२२ हिजरी (१६१३ ई०) में चित्रावली नाम की पुस्तक लिखी—

'मन सहसु बाइस जब अहे। तब हम बचन चारि एक कहे।'[4]

इन्होंने इस प्रेमाख्यान के स्तुति-खंड' में शाहेतख्त जहाँगीर की प्रशस्ति लिखी है,

कथा मान प्रभु गाएउ नई। गुरु परसाद समापत भई॥

'योगी ढूंढ़ना खण्ड में काबुल, बदख्शां, खुरासान, रूम, साम, मिस्र, इस्तबोल, गुजरात, सिंहलद्वीप, करनाटक, उड़ीसा, मनीपुर एवं बलेदीप आदि के उल्लेख मिलते हैं।' सबसे विलक्षण बात यह है जोगियों का अंग्रेजों के द्वीप में पहुँचना बहुत

पुस्तकालय में है। इसका प्रतिलिपिकाल है सं० १८०२ (१७४५ ई०) महाराजा का पुस्तकालय सरस्वती भवन, रामनगर किला ४–३२)।
श्री जगन्मोहन वर्मा ने एक अन्य प्रति का भी उल्लेख किया है–चित्रावली की भूमिका में उन्होंने किसी रमजान मियां की चित्रावली की उर्दू प्रति का उल्लेख मात्र किया है। देखिए चित्रावली, जगमोहन वर्मा, (१९१२ ई०) ना० प्र० सभा, काशी, भूमिका।

१–चित्रावली, ना० प्र० सभा, पृ० ११–१२ गाजीपुर उत्तम अस्थाना। देवस्थान आदि जग जाना।

२–वही, पृ० १२।

३–वही, पृ० १०।   ४–वही, पृ० १४।

संभव है कि उस समय अंगरेज़ भारतवर्ष में आ गए थे—

'बलंदीप देखा अंगरेजा। तहाँ थाइ जेहि कठिन करेजा।
ऊँच-नीच धन-सम्पति हेरा। मद-बराह भोजन जिन्ह केरा।'[1]

जायसी का पूरा अनुकरण कवि ने इस रचना में किया है। जो-जो विषय जायसी ने अपनी पुस्तक में रखे हैं उन विषयों पर उसमान ने भी कुछ कहा है। कहीं-कहीं तो शब्द और वाक्य-विन्यास भी वही है पर विशेषता यह है कि कहानी बिलकुल कवि की कल्पित है, जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है—

'कथा एक मैं हिए उपाई। कहत मीठ और सुनत सोहाई।'[2]

उसमान ने जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जायसी के पहले के कवियों ने पांच चौपाइयों (अर्द्धालियों) के पीछे एक दोहा रखा है। पर जायसी ने सात-सात चौपाइयों का क्रम रखा और यही क्रम उसमान ने भी रखा है। कहानी की रचना भी बहुत कुछ आध्यात्मिक दृष्टि से हुई है। कवि ने सुजानकुमार को एक साधक के रूप में चित्रित ही नहीं किया है बल्कि पौराणिक शैली का अवलम्बन करके उसने उसे परम योगी शिव से उत्पन्न तक कहा है। इस काव्य में योगी प्रभावजन्य अद्वैत की छाप सर्वत्र लगी हुई है। महादेव जी ने उससे प्रसन्न होकर राजा धरनीधर को वरदान दिया था—

'देखु देत हों आपन अंसा। अब तोरे होइहौं निजवंसा।'[3]

कंवलावती और चित्रावली अविद्या के रूप में कल्पित जान पड़ती हैं। सुजान का अर्थ ज्ञानवान है। साधनाकाल में अविद्या को बिना दूर रखे विद्या (सत्यज्ञान) की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी से सुजान ने चित्रावली के प्राप्त न होने तक कंवलावती के साथ समागम करने की प्रतिज्ञा की थी। जायसी की ही पद्धति पर नगर, सरोवर, यात्रा, दान-महिमा के वर्णन चित्रावली में भी हैं।

चित्रावली के आखेट-प्रसंग[4], जलक्रीड़ा-प्रसंग[5], रूपनगर वर्णन[6], चित्रावली का नखशिख वर्णन[7], लौकिक-बहुज्ञता[8], संबन्धी उल्लेख, संयोग[9]-वियोग[10] वर्णन, स्त्री-

---

१—चित्रावली, ना० प्र० सभा, पृ० १६० गाजीपुर उत्तम अस्थाना। देवस्थान आदि जग जाना।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०६।

३—वही, पृ० १६ चित्रावली। ४—वही, पृ० १।

५—चित्रावली, ना० प्र० सभा, पृ० २५—२६ (पदमावत, ना० प्र० सभा,)

६—वही, पृ० ४७—४८। ७—वही, पृ० ६१—६२।

८—वही पृ० ७१—७२, ७३—७७। ९—वही, पृ० २३, २६, ८५।

१०—वही, पृ० २०४।

भेद वर्णन[1] (मुग्धा, वासका-सज्जा धीरा), दान[2]-महात्म्य, सत्य-महात्म्य[3] प्रभृत्ति प्रसंगों में भी मलिक मुहम्मद जायसी कृत पदमावत का प्रभावातिशय्य स्पष्ट दर्शनीय है।

यद्यपि उसमान जायसी से पूर्णत: प्रभावित हैं तथापि कहीं-कहीं उन्होंने अपनी कल्पना-शक्ति और सरस वर्णना-शक्ति के द्वारा सरस एवं प्रभविष्णु दृश्य भी उपस्थित किए हैं। विरह वर्णन के अन्तर्गत षट्ऋतु से सम्बद्ध एक उद्धरण सौन्दर्य दर्शन हेतु पर्याप्त होगा—

ऋतु बसन्त नौतन बन फूला। जहं तहं भौंर कुसुम रंग भूला।
आहि कहां सो भवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसंत उजारा।
रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहु दवा दहूं दिसि लाई।
रति पति-दुरद ऋतुपती बली। कानन देइ आइ दलमली।[4]

चित्रावली की कथा

नैपाल के राजा धरनीधर पंवार संतानहीन थे। शिव के प्रसाद से उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सुजान रखा गया। वह बड़ा हुआ। एक दिन शिकार से लौटते समय वह मार्ग भूल गया और एक देव (प्रेत) की मड़ी में जाकर सो गया। देव ने आकर उसकी रक्षा स्वीकार की। एक दिन वह देव रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की वर्ष गाँठ का उत्सव देखने के लिए गया और अपने साथ सुजानकुमार को भी लेता गया। वहां पहुँचकर देवों ने राजकुमार के राजकुमारी की चित्र सारी में ले जाकर लिटा दिया। जागने पर उसने चित्रसारी को देखा—एक से एक सुन्दर चित्रों को देखकर वह आश्चर्य में पड़ गया। उसने वहां पर एक राजकुमारी का चित्र देखा—उस पर आसक्त हो गया। उसने अपना एक चित्र बनाकर उसी की बगल में टांग दिया। देव से उसी अवस्था में उठा कर मढ़ी में ले आए। जागने पर उसे लगा कि स्वप्न देख रहा था किन्तु अपने हाथ और वस्त्रों में लगे रंग को देखकर उसने घटना को सत्य मान लिया। वह व्याकुल हो उठा। इसी समय उसके सेवक वहाँ आ पहुँचे और उसे राजधानी में ले गए। अपने साथी सुबुद्धि की सलाह से कुमार ने मड़ी में एक अन्न सत्र खोल दिया।

चित्रावली ने जब राजकुमार के चित्र को देखा तो वह भी प्रेम-विह्वल हो गई। उसने अपने भृत्यों को जोगियों के वेश में कुमार का पता लगाने को भेजा। एक कुटीचर की चुगली पर कुमारी की मां ने वह चित्र धुलवा दिया। राजकुमारी

१—वही, पृ० ३७, ३८, ५४, १६७, १७२—७३।
२—वही पृ० ३२८—२९ (पदमावत पृ० २०७—२०८)।
३—वही, पृ० १६। ४—वही पृ० १८।

ने क्रोधित होकर उस कुटीचर का मुंडन कराके निकाल दिया। कुमारी के भेजे हुए जोगियों में से एक राजकुमार ने अन्नसत्र तक पहुँचा। वह राजकुमार को अपने साथ रूपनगर ले आया। एक शिव मंदिर में उसका कुमारी के साथ साक्षात्कार हुआ। इसी समय कुटीचर ने राजकुमार को अन्धा बना दिया और बहकाकर एक गुफा में छोड़ आया जहां उसे एक अजगर ने निगल लिया उसके विरह की ज्वाला से घबड़ाकर उसने उसे उगल दिया। एक बनमानुष के अंजन से उसकी दृष्टि पुनः ज्यों की त्यों हो गई। बन में उसे एक हाथी ने पकड़ लिया। एक बड़ा भारी पक्षी उस हाथी को लेकर उड़ गया। घबड़ाकर हाथी ने राजकुमार को छोड़ दिया। राजकुमार एक समुद्र तट पर गिरा। घूमते-फिरते वह सागर गढ़ नामक नगर में पहुँचा। वहां उसने राजकुमारी कंमलावती के प्रमदवन में विश्राम किया। राजकुमारी उसके ऊपर मोहित हो गई। राजकुमारी ने उसे अपने यहां भोजन के बहाने बुलवाया। भोजन में अपना हार रखवाकर चोरी के अपराध में उसे कैद करवा लिया।

× × ×

चित्रावली का भेजा हुआ वह जोगीदूत सुजान कुमार को एक स्थान पर बैठाकर उसके आगमन की सूचना देते राजकुमारी के यहाँ चला। इस बीच एक दूती ने द्वेषवश यह समाचार रानी से कह दिया। बेचारा जोगीदूत बन्दी बना लिया गया। पर्याप्त बिलम्ब जब हो गया और दूत नहीं लौटा तो सुजानकुमार विकल हो उठा। वैकल्यवश उसने चित्रावली का नाम ले-लेकर पुकारना प्रारम्भ कर दिया। अपयश के डर से राजा ने उसे मारने के लिए एक मतवाला हाथी छोड़ा, किन्तु कुमार ने हाथी को मार डाला। राजा ने सदलबल उस पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया। इसी बीच एक चित्रकार सागरगढ़ से लौटा और उसने उस राजकुमार का चित्र दिखलाया जिसने सोहिलगढ़ के राजा को मारा था। वह चित्र सुजान-कुमार का ही है—यह जानकर राजा ने चित्रावली और सुजान का विवाह कर दिया। कुछ दिनों के पश्चात् कंवलावती ने विरह से संतप्त होकर हंस मिश्र को दूत बनाकर भेजा। उसने भ्रमर की अन्योक्ति के द्वारा सुजान को कंवलावती के प्रेम की सुधि दिलाई। सुजान ने चित्रावली के साथ स्वदेश की ओर प्रस्थान किया। उसने मार्ग में कंवलावती को भी साथ में ले लिया। वापस लौटते समय समुद्र में तूफान आने के कारण उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। राजकुमार अपनी दोनों रानियों के साथ नैपाल लौट आया। पिता का हृदय आनन्द से भर गया। माता अन्धी हो गई थी, परन्तु पुत्र के दो रानियों के साथ आगमन-जन्य हर्षातिरेक से उसके नेत्र खुल गये। राजा ने पुत्र का राज्याभिषेक करके उसे गद्दी दे दी। सुजान अपनी रानियों के साथ सुखपूर्वक राज्य करने लगा।

चित्रावली का मूल-स्रोत

'चित्रावली सूफी कवियों की प्रेमगाथाओं की कोटि की है। यद्यपि उसमान ने यह दावा किया है कि—

'कथा एक मैं हिए उपाई। कहत मीठ औ सुनत सुहाई।
कहीं बनाय वैस मोहिं सूझा। जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा ।।

तथापि इस कहानी के प्रमुख तत्व इधर-उधर लोकवार्ताओं में बिखरे मिलते हैं। उन्हीं से लेकर यह चित्रावली उसमान ने 'उपाई' है।[1] इस कहानी का आधार निश्चय ही लोकवार्ता है।[2] यह जायसी के पदमावत और आलम की कामकन्दला की भांति ही प्रेमगाथा है। इसमें चित्रदर्शन से प्रेम का उदय हुआ है और उसके लिए अनेक कष्ट उठाने पड़े हैं।

इस कहानी के विश्लेषण से इसके कथा-विधान में निम्नलिखित तत्वों की संयोजकता मिलती है[3]—

१—दैवी तत्व (अ) शिव-पार्वती का आना, सिर की भेंट मांगना, वरदान देना।
(आ) देव की मढ़ी, सुजान को उड़ाकर रूपनगर में ले जाना और ले आना।

२—अद्भुत विलक्षण तत्व—
(अ) सुजान को अजगर लीलता है, विरह की अग्नि से व्याकुल हो उगल देता है।
(आ) पुनः उसे हाथी पकड़ता है, हाथी को पंक्षी लेकर उड़ जाता है, हाथी उसे छोड़ देता है। बनमानुष उसे बनौषधि-अंजन देता है।
(इ) पागल सुजान का हाथी को मारना।
(ई) अंधी माता का पुत्र आगमन से दृष्टि पाना।

३—चित्र-दर्शन-द्वारा प्रेम—सुजान तथा चित्रावली में।

४—प्रत्यक्ष-दर्शन से प्रेम—(अ) वनमानुष का। (आ) कंवलावती का।

५—मिलन और विवाह में विविध बाधायें—
(अ) कुटीचर द्वारा
(आ) माता द्वारा
(इ) पिता द्वारा—जो सुजान पर युद्ध करने बढ़े।

१—मध्ययुगीन हिन्दी का लोक तात्विक अध्ययन, डा० सत्येन्द्र, पृ० १६२।
२—वही, पृ० २०१। ३—वही, पृ० २०३।

६—चित्र द्वारा विवाह का मार्ग खुलना – युद्ध के लिए आरूढ़ राजा चित्र पाकर सुजान की चित्रावली का विवाह करने को सन्नद्ध ।

७—मुख्य विवाह से पूर्व एक विवाह– कंवलावती से ।

८—नायक का अन्धा किया जाना, तथा पुन: एक प्रेमी के माध्यम से औषधोपचार से पुन: दृष्टि पाना –

(अ) कुटीचर द्वारा अन्धा किया गया ।

(आ) बनमानुष ने प्रेम में पड़कर औषधोपचार से अच्छा किया ।

प्रस्तुत विश्लेषण से स्पष्ट है कि उस्मान ने जायसी की ही भांति भारतीय कथानक रूढ़ियों के पर्याप्त प्रयोग किए हैं । अत: यह कहा जा सकता है कि लौकिक तत्वों के माध्यम से उसमान ने इस सुन्दर प्रेमकाव्य की कथावस्तु का संघटन किया है ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि चित्रावली पर जायसी के पदमावत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है ।

शेख नवीकृत ज्ञानदीप

(रचनाकाल १६१४ ई०—१६१९ ई०)

ज्ञानदीप की एक प्रति का उल्लेख नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट[1] (सन्१९०२) में किया गया था । शेख नवी जोनपुर के दोसमऊ के पास 'मऊ' नामक स्थान के रहने वाले थे । सं० १६७६ में जहाँगीर के समय में वर्तमान थे । ज्ञानदीप के अन्त:साक्ष्य से स्पष्ट है कि यह काव्य १०२६ हिजरी में लिखा गया –

'एक हजार सन् रहे छबीसा । राज सुलही गनहु बरीसा ।
सम्बत सोलह सै छिहरा । उक्ति गरत कीन्ह अनुसारा ।
अदलेमऊ दोसपुर थाना । जाउतुपुर सरकार सुजाना ॥
तहवां शेष नवी कवि कहीं । शब्द अमर गुन पिंगल महीं ।
वीर, सिंगार विरह किछु पावा । पूरन पद लै जोग सुनावा ।'

इस काव्य की कथा के द्वारा आनन्द की निष्पत्ति ही उनका लक्ष्य है, यदि कवि के श्रम से पाप का विनाश और पुण्य का प्रकाश हुआ तो वह अपना श्रम सार्थक समझेगा —

१—खोज रिपर्ट : १९०२, नोटिस १०२ । इसमें १५०० श्लोक हैं । यह प्रति खोज के समय मौलवी अब्दुल्ला, धुनियाँ टोला, मिरजापुर के पास प्राप्त हुई थी ।

सबरस पाइ किहेउ सनमाना। जो आनन्द हिय होइ निदाना।
विनती एक किहेउ विधि पाही। मिटै पाप, पुन्न ऊपजै ताही।'

कवि ने अत्यन्त ईमानदारी के साथ प्रारम्भ में ही कह दिया है कि यह कथा उसने सुनी थी –

पोथी बाच नबी कवि कही। जे कछु सुनी कहूं से रही।
आखर चारि कहा में जोरी। मन उपराजा न कीन्हेंउ चोरी।'

मसनवी–पद्धति के अनुसार कवि ने प्रारम्भ में 'ईश्वर–स्तुति' की है पश्चात् मुहम्मद साहब की प्रशस्ति की है। कवि ने सम्राट् जहांगीर 'शाहे तख्त' का भी उल्लेख किया है –

मुरादीन दिनपति जहांगीर नितनेम।
सहि सलीम छत्रपति छौनी दल के मार कंवल दस द्रोनी।

कथा

नैमिसार के राजा का नाम राय शिरोमणि था। भगवान् शंकर की कृपा से उनके एक पुत्र हुआ – उसका नाम उन्होंने ज्ञानद्वीप रखा। वह प्रातिभ था। एक दिन शिकार में वह भटक गया। वहां सिद्धनाथ योगी ने उसे संसार से विरक्त करने का प्रयत्न किया। उसे ये बातें बड़ी नीरस लगीं, अतः योगी ने उसे संगीत द्वारा विरक्त करने का यत्न किया।

विद्यानगर के राजा सुखदेव के देवाजानी नामकी एक विदुषी पुत्री थी। ज्ञानदीप जोगी के वेश में बेसुध पड़ा था। देवजानी की सखी सुरज्ञानी ने उसे संगीत के द्वारा जगाया। उसने देवजानी से सारी बातें कहीं। ज्ञानदीप के रूप को देखकर देवजानी विमोहित हो गई। ज्ञानदीप की समाधि और उदासीनता के कारण देवजानी का वशीकरण मंत्र भी विफल हो गया। सुरजानी ने मंत्रबल से कागज का एक अश्व बनाया। पार्वती जी की कृपा से उसे जीवन मिला और प्रतिदिन ज्ञानदीप उस घोड़े पर सवार होकर महल की छत पर उतरता और देवजानी से मिलता। एक दिन छत पर उतरते समय राजा ने उसे मार गिराया। उसे मृत्युदंड की आज्ञा दे दी गई। मंत्री की सलाह पर उसे नहीं मारा गया। राजा ने उसे एक काष्ठ–मंजूसा में बन्द करके नदी में प्रवाहित कर दिया। वह मंजूषा बहती मानपुर में पहुंची। उसमें से ज्ञानद्वीप को निकालकर मानराय के दरबार में उपस्थित किया गया। उसकी बातें सुनकर राजा ने अपने यहाँ रख लिया।

जब देवजानी को ज्ञानद्वीप के बहा दिए जाने का समाचार मिला, तो वह अग्निकुण्ड में कूद पड़ी, पर पार्वती जी की कृपा से बच गई। शंकर जी ने राजा सुखदेव को सपने में बताया कि ज्ञानदीप निर्दोष है राजा ने चारो ओर देवजानी के

स्वयंवर का समाचार भेज दिया। स्वयंवर में देवजनी ने ज्ञानदीप का वरण किया धूमधाम से दोनों का विवाह हुआ। इसी बीच मानराय का स्वर्गवास हो गया और ज्ञानदीप को मानपुर जाना पड़ा। देवजानी का विरह बढ़ता गया और सुरज्ञानी के श्रम से पुनः दोनों का मिलन हुआ। जब देवजानी के साथ ज्ञानद्वीप अपनी राजधानी की ओर लौट रहा था, तो रास्ते में छलपूर्वक सुन्दर पुर के राजा ने उसे अपनाने का प्रयत्न किया, किन्तु ज्ञानदीप ने उसे हरा दिया। देवजानी के साथ ज्ञानदीप स्वदेश लौटा। माता–पिता के हर्ष का पार न रहा।

'ज्ञानद्वीप' में कवि ने प्रत्यक्ष–दर्शन–जन्य प्रेम और उसके विकास की कथा कही है। इसके मूल में है गुरु सिद्धिनाथ – जो उसे देवजानी के पास तक पहुँचा आते हैं। देवजानी परम–ज्योति-स्वरूपा है। गुरू, सखी का प्रयत्न, मंत्र, जोगी–रूप, युद्ध, यात्रा, पार्वती एवम् शंकर की कृपा, स्वयंम्वर प्रभृति कथानक–रूढ़ियों की योजना से कथावस्तु का संघटन किया गया है।

ज्ञानद्वीप की कथा सुखान्त है। प्रेमोदय पहले नायिका के हृदय में दिखाया गया है। मूलतः इस काव्य में श्रृंगार–रस की प्रधानता है। श्रृंगार के क्षेत्र में भी कवि ने केवल विप्रलम्भ तक ही वर्णन किया है। संयोगावस्था के वर्णन का प्रायः अभाव है।

देवजानी का विरहावस्था के चित्रण में प्रकृति का उद्दीपक रूप अधिक निखार पा सका है। कोयल की कूक, मोर का शोर और पपीहे की पी–पी आदि उसकी अवस्था को करुणातर बना देते हैं –

देखत चन्द चन्द बिरारा। पपिहा बोल सबद जिउ मारा।
बोलहि मोर सोर बन माहा। झीली कूकति कामतन ढाहा॥
कोकिल कूकत कलख बोली। बिरह पसीजि मीजि तन चोली॥

विद्यापति की राधा, सूर की राधा और जायसी की नागमती की ही भांति ज्ञानदीप की देवजानी को भी वीणावादन के कारण चन्द्रमा मुग्ध है, उसके मृग आगे नहीं बढ़ते और रात नहीं बीतती —

'कबहुं बीन का ढाह बनावे। मधुरा मधुर सुर गाइ सुनावै।
म्रीग थकित होइ चन्द को, रैन घटत बढ़ जाइ।
मदन सूता तब जागे, तेहि गुन दिहेसि अड़ाइ॥'

उपचार–स्वरूप वह राह 'सार्जारी, फूल, भुजंग, सोहिल आदि का आलेखन करती है –

'चैननि सौ लिखेसि भुमिह राहू। चात्रिक कह से चाननि बाहू।
लिखि भुअंग औ सोहिल लिखा। बिरह संमुद्र जेइ सोखे सीखा॥'

'ज्ञानदीप' का बारहमासा पदमावत की ही भांति 'आषाढ़' से ही आरम्भ होता

है। जायसी का प्रभाव इस बारहमासे में द्रष्टव्य है। परिवर्तमान ऋतुओं और उनके उपकरणों के विरहिणी पर पड़ते हुए प्रभावों को कवि ने स्पष्ट किया है। एक ही साथ कवि ने प्रकृति के सुखद एवम् दुखद – दोनों आयामों का वर्णन किया है –

संयोगिनियों के लिए सुखद प्रकृति –

'हरिअर पुहुमी भइ चहुं ओरा। राजहि सखी बिराजि हिंडोरा।
झुलहिं औ मलार रस गावहिं। रीझि कंत सो रीझि झुलावहिं।
सुख–समेत सब रैन बिहाई। चैन चाउ रस भाउ अघाई।
सारंग मोर पपीहा, विरह भरे मुख बैन।
सुनि–सुनि सुष संजोगिनि, देखि देखि पिय नैन।'

वियोगियों के लिए दाहक प्रकृति –

एहि सावन बिरहिन तन तावन। बरसत जल दुष बीच जमावन।
मेचक मेघ मनो कज सैना। अंकुस चढ़ित महाउत मैना।
पिक नकीब चात्रिक हरवारे। सोक सबद वोलिहिं षडवाहे।
बुंद बान बरसै चहुं ओरा। दुखै प्रान चढ़ि त्रास हिंडोरा।
भरा न धाम पैठि विश्रामी। नैन मूंदि संरखि सुषसामी॥
एह दुष बितबैं नायिका, नायक जिनहिं विदेस।
भूल सबै सिंगार रस, भई सो जोगिन बेस॥

'हरिपर पुहुमी भइ चहुं ओरा' प्रभृति वर्णनों में जायसी का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

कासिमशाह कृत हंस जवाहिर — रचनाकाल १७९३ वि० (१७३६ ई०)

प्राप्त प्रतियां – 'हंस जवाहिर' एक अत्यन्त लोकप्रिय प्रेमाख्यानक काव्य है। इस ग्रंथ के दो संस्करण फारसी लिपि[1] में प्रकाशित हुए हैं। ये दोनों संस्करण लखनऊ से क्रमशः १९०१ ई० और १९१० ई० में प्रकाशित हुए थे। हिन्दी में भी इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। एक नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में प्रकाशित हुआ था और दूसरा अयोध्या से इसकी एक हस्तलिखित प्रति श्री शेख कादिरबख्श, मकड़ी खोह, मिरजापुर[2] के पास सुरक्षित है। इसकी लिपि कैथी है और इसमें कुल ३९८ पृ० हैं। उसकी लिखावट अत्यन्त सुन्दर और सुपाठ्य है। इसकी एक दूसरी हस्तलिखित प्रति श्री हबीदुल्ला रखहाबाजार, डा० खास प्रतापगढ़[3] के पास है।

१–नामी प्रेस, लखनऊ (से हंस जवाहिर का फारसी अक्षरों में प्रकाशन हुआ था)।
२–ना० प्रचारिणी सभा, खोज रिपोर्ट, १९०२।१। ३—वही, १९२६।२८७।

कथा

बलख के सुल्तान की मृत्यु के पश्चात् उसके एकमात्र पुत्र हंस को शत्रुओं ने बन्दी बना लिया, किन्तु उसकी मां उसे लेकर रूम देश के शाह यहाँ भाग के गई-वहाँ उसका बड़ा सम्मान हुआ। एक वर्ष पश्चात् हंस ने सपने में एक सुन्दरी को देखा। वह उसके रूप पर विमुग्ध हो गया।

चीन देश के बादशाह आलमशाह की रानी के गर्भ से जवाहिर नाम की एक पुत्री हुई। बड़ी होने पर एक दिन वह एक तालाब में स्नान करने गई। वहाँ उसकी एक परी से मित्रता हो गई। वह परी 'शब्द' नाम से जवाहिर के ही धवलगृह में रहने लगी। जवाहिर के पिता ने उसका विवाह सुल्तान भोलाशाह के पुत्र दिनौर से ठीक कर दिया। शब्द ने दिनौर की बड़ी निन्दा की। वह पंक्षी-रूप में जवाहिर के लिए वर ढूँढ़ने चल पड़ी। वह रूम देश में पहुँची। उसने हंस से जवाहर के सौंदर्यादि की प्रशंसा की। शब्द के नखशिख-वर्णन से वह अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसे अपने सपने की सुधि हो आई। वह जोगी रूप में उसकी खोज में निकलना चाहता था, किन्तु शब्द ने उसे सात दिनों तक ऐसा न करने के लिए मना किया। उसने लौटकर जवाहिर से सारी बातें बता दीं। किसी के चुगली करने पर शब्द वंदिनी बना ली गई और उसका वस्त्र भी छीन लिया गया। अब वह उड़ने में असमर्थ हो गई। दिनौर के विवाह की तैयारियां हुई। हंस भटकते हुए एक पहाड़ पर पहुँचा और वहां सो गया। वहां से परियां उसे उठा ले गई और दिनौर के बारात से उठा ले गई। उसके स्थान प हंस को बिठा आईं। हंस और जवाहर का विवाह हो गया। रात में अंगूठियाँ बदली गई और रात्रि में आनन्द-केलि के अनन्तर वे सो गए। परियाँ हंस को उठा ले गईं और दिनौर को रख आईं।

रानी जवाहिर ने दिनौर को अस्वीकार कर दिया। इधर हंस बहुत व्याकुल हुआ। जवाहिर की मां ने शब्द परी को मुक्त कर दिया। वह हंस के यहां पंछी रूप में पहुँची। जवाहिर का वृत्तान्त सुनकर हंस जोगी होकर निकल पड़ा। उसके साथ उसके बहुत से साथी भी चले। 'शब्द' पंक्षी उनका पथ प्रदर्शक बना। किसी प्रकार अनेक विघ्नों को पार करके वे जवाहर के नगर में पहुँचे। दोनों प्रेमियों का मिलन हुआ। हंस को अपने देश की सुधि हो आई। वह जवाहिर के साथ रूम की ओर चला, पर मार्ग में वीर नाथ के चेले ने उन्हें विलग कर दिया। हंस योगी होकर भटकता रहा। वह भोलाशाह के यहां पहुँचा। वहां दिनौर की बहिन से उसका विवाह हुआ। शब्द के प्रयत्न से जवाहर और हंस का पुनर्मिलन हुआ। हंस अपनी दोनों रानियों के साथ रूम लौटा। वह रूम का बादशाह बना और उसने

बलख को जीत लिया। जवाहिर के गर्भ से 'हसीन' नामक एक पुत्र हुआ। हंस के विरोधी मीरदौला के पुत्र ने अनेक सुलतानों के साथ उस पर आक्रमण किया। उसकी छुरी के वार से हंस की मृत्यु हो गई। दोनों रानियों ने प्राणत्याग दिए। बाद में हसीन राजा हुआ।

'हंस जवाहिर' की कथावस्तु कल्पनिक है। प्रेमाख्यानक काव्यों की काव्य रूढ़ियों के प्रयोग इसमें द्रष्टव्य हैं कवि आदि से अन्त तक (प्रायः) जायसी और उनकी कृति पदमावत से प्रभावित है। कवि के समक्ष पदमावत और उसकी कथा थी। उसने उसी के साँच में इस कथा को ढालने का प्रयत्न किया है। स्थान-स्थान पर जायसी की पदावली भी ज्यों की त्यों ले ली गई है। इस काव्य में प्रौढ़ता का प्रायः अभाव है।

पदमावत की ही भाँति यह कृति भी विषादांत है।

'पांतिहि पांति सोवाय की, देह उपर ते छार।
छानहि करत ओढ़ाय के, अन्त छार के छार॥'[१]

छार उठाइ लीन्हि एक मूठी। दीन्हि उड़ाइ पिरिथमी झूठी।[२]

कवि ने कथा के अन्त में कथा की आध्यात्मिकता की ओर स्पष्ट संकेत किया है—

'कासिम कथा जो प्रेम बखानी। बूझे सोई जो प्रेम गियानी।
कौन जवाहर रूप सोहाई। कौन शब्द जो करत बड़ाई॥
कौन हंस जो दरसन लोभा। कौन देस जेहि ऊंची शोभा।
कौन पंथ जो कठिन अपारा। कौन शब्द जो उतरे पारा।
कौनमीत जिन संग जिव दीन्हा। कौन सो दुरजन अतिछल कीन्हा।
को ज्ञानी जिन बानि सुनावा। कौन पुरुष जिवसुन चित लावा।
कौन दुष्ट जेहि दरस न जूझा। कौन भेद जेहि शब्दहिं सूझा।[३]
बांच कथा पोथी भुवन, परसन तेहि जगदीश।
हमहिं बोल सुमिरे सोइ, कासिम दई अशीश॥

इन पंक्तियों पर जायसी की निम्नांकित पंक्तियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है—

'मुहम्मद यदि कवि जोरि सुनावा। सुना जो प्रेम पीर गा पावा :
जोरी लाइ रक्त कै लेई। गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई॥
जौ मन जानि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महं चीन्हा॥
कहां सो रतनसेनि अस राजा। कहां सुना अस बुधि उपराजा।

१—हंस जवाहिर कासिमशाह, पृ० २७०–७१।
२—पदमावत, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ७१२।६५१।४।
३—हंस जवाहिर प्रति, कासिमशाह, पृ० २७२।

कहां अलाउद्दीन सुलतानू । कहं राघौं जेई कीन्ह बखानू ।
कहं सुरूप पदुमावति रानी । कोइ न रहा जग रही कहानी ।
धनि सो पुरुख जस कीरति जासू । फल मरै पै मरै न बासू ।।
केहूं न जगत जस बेंचा, केहूं न जगत जस मोल ।
जो यह पढ़ै कहानी, हम संवरै दुइ बोल ।।[१]

इसी प्रकार 'हंस जवाहिर' का औपसंहारिक छंद (जिसमें कवि ने वृद्धावस्था का वर्णन किया है) पदमावत के छंद से प्रभावित है । उदाहरण के लिए एक-एक पंक्ति पर्याप्त होगी—

'कासिम यौवन हाथ है, चाहे सो काज संवार ।
पुनि हस्तीबल जयगो, कौन उठाए भार ।।'[२]
'मुहमद बिरिध बएस अब भई । जोबन हुत सो अवस्था गई ।
+ + +
तब लगि जीवन जोबन साथा । पुनि सो मींचु पराए हांथा ।
बिरिध जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस ।
बूढ़े आढ़े होहु तुम्ह केइं यह दीन असीस ।।'[३]

जायसी से प्रभावित होकर काशिमशाह ने अपने राज्य में अनेक मार्मिक स्थलों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । हंस के पिता की मृत्यु के पश्चात् परिवार की करुण दशा (जवाहर का सौन्दर्यवर्णन, प्रेममार्ग, जवाहर की वियोगदशा, परियों की सहायतायें, आदि प्रसंगों पर जायसी की छाप तो है, पर कासिमशाह काव्य-सौन्दर्य के आनयन में असफल है ।

नूरमुहम्मद कृत 'इन्द्रावती'

रचनाकाल ११५७ हि० (सं० १८५१ या १७४४ ई०)

प्रतियां—'इन्द्रावती' की रचना पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में हुई थी । डा० श्यामसुन्दरदास ने इन्द्रावती के पूर्वार्द्ध को संपादित करके नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित किया था । इसका उत्तरार्द्ध अभी तक अप्रकाशित है । सं० १९६० की एक हस्तलिखित प्रति के आधार[४] पर डा० श्यामसुन्दरदास ने 'उत्तरार्द्ध इन्द्रावती की एक प्रतिलिपि करवा दी है— जो नागरीप्रचारिणी सभा में सुरक्षित है । खोज

१—पदमावत, ६५२ ।
२—हंस जवाहिर, कासिमशाह, पृ० २७२–७३ ।
३—पदमावत ६५३ ।
४—इन्द्रावती नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ४ (१९०६) ।

रिपोर्ट[1] में इसकी एक हस्तलिखित प्रति का विवरण दिया हुआ है। इसमें कुल ६०० पत्रे हैं। यह कैथी लिपि में है और मौलवी अब्दुल्ला, धुनियाना टोला, मिरजापुर के पास सुरक्षित है। इन्द्रावती के सौन्दर्य-वर्णन, शिव मंदिर में,मिलन-वर्णन, विरह-वर्णन और युद्ध-वर्णन के प्रसंगों में पदमावत का स्पष्ट प्रभाव है । अब इन्द्रावती के दोनों भाग प्रकाशित हो चुके हैं।

कथा (पूर्वार्द्ध)

कालिंजर के राजा 'राजकुंवर' ने एक रात स्वप्न में दर्पणगत किसी सुन्दरी का प्रतिबिम्ब देखा। दूसरी रात पुन: उसने उस रूपवती को मुख पर बिखरी लट-छवि वाले रूप को स्वप्न में देखा। राजुकुंवर के राजकाल से विपत्ति–सी ले ली। उसकी चिंता से सभी लोग दु:खित हुए। एक तपस्वी ने उसे बताया कि यह सुन्दरी सागर के उसपार स्थिति आगमपुर नगर के जगपति राजा की रतनसेन इन्द्रावती नामक पुत्री है। वह रूप-गुण की खान है।

'राजकुंवर' ने तपस्वी गुरुनाथ को अपना पथप्रदर्शक बनाया और अपने आठ साथियों के साथ जोगी होकर आगमपुर की ओर चल पड़ा। अनेक विघ्नों और अन्तरायों को पार करके वह आगमपुर पहुंच गया । वहां शिव-मंदिर में आकाशवाणी हुई और वह राजकुमारी की मन-फुलवारी में गया। वहां होली की धूम थी। इन्द्रावती ने अपना शृंगार किया–दर्पण में अपनी छवि देखकर वह स्वयं पर रीझ गई। राजकुंवर की सहायता चेता नामक एक मालिक ने की। वाटिका में दोनों का मिलन हुआ, किन्तु राजकुमारी के रूप को देखते ही राजकुंवर[2] मूर्छित हो गया। राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए समुद्र से 'प्रण मोती' निकालना आवश्यक था–इस कार्य में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, युद्ध करना पड़ा, वह बन्दी हुआ। उसके मंत्री बुद्धसेन और 'कृपा' राजा की सहायता से वह मुक्त हुआ।

जब इन्द्रावती ने सुना कि उसका प्रियतम बन्दी हुआ है तो उनकी वेदना बढ़ गई। सखियों ने अनेक प्रकार के उपचार से और रात में 'मधुकर मालती,' 'हीरामानिक' प्रभृति प्रेमगाथाओं को सुना करके उसके दु:ख को कम करने का प्रयत्न किया। तपस्वी गुरूनाथ की सहायता से सच्चा प्रेम जान लेने के बाद सागरपुत्री कमला देवी ने प्रसन्न होकर उसे वह मोती दिया । राजकुंवर से वह मोती पाकर जगपति ने इन्द्रावती और राजकुंवर का विवाह कर दिया।

१—खोज रिपोर्ट, १९०२, देखिए इन्द्रावती, पृ० ३०४।

२—द्रष्टव्य–मदमावती के रूप-वर्णन को सुनकर और शिव-मंदिर में उसे देखकर रत्नसेन का मूर्च्छित हो जाना।' पदमावत

दक्खिनी हिन्दी के प्रेमाख्यान

दक्खिनी हिन्दी में भी सूफी प्रेमाख्यानों की रचना हुई है। हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों के रचयिताओं के समक्ष सम्भवत: ऐसा कोई उपयुक्त आदर्श उपस्थित रहा होगा जिसका अनुसरण करना उन्हें स्वाभाविक जान पड़ता होगा। यह विशेष कर उनके समय तक प्रचलित उन विशिष्ट अपभ्रंश का प्राकृत आख्यानों के रूप में रहा होगा जिनमें से कुछ की रचना का उद्देश्य धार्मिक प्रचार भी हो सकता था। सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं का ढाँचा अधिकतर इन्हीं के अनुरूप खड़ा किया होगा जिस कारण उनकी रचनाओं के अन्तर्गत वे सारी बातें आप से आप आ गई होंगी जो इसके लिए सामान्य समझी जा सकती थीं। परन्तु ऐसा करते समय उनका ध्यान सम्भवत: उन फ़ारसी सूफी प्रेमाख्यानों की ओर भी अवश्य आकृष्ट हुआ होगा जिनका निर्माण अधिकतर निज़ामी (मृ० १२०३ ई०) के समय से होने लगा था और जिनकी कुछ बातों को अपने यहाँ समाविष्ट कर लेना उनके लिए स्वाभाविक भी था। पं० परशुराम चतुर्वेदी[1] का कथन है कि 'उत्तरी भारत के हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानों के लिए कोई पूर्व प्रचलित भारतीय रचनादर्श वर्तमान रहने के कारण इधर फारसी साहित्य का प्रभाव उतना नहीं पड़ सका जितना दक्खिनी हिन्दी की ऐसी रचनाओं पर पड़ा।

परन्तु इसका परिणाम भी केवल इसी रूप में लक्षित होता है कि दक्खिनी हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों का वाह्य रंगढंग उत्तरी भारत की ऐसी रचनाओं से बहुत कुछ भिन्न जान पड़ता है और भाषा-शैली, काव्यरूप एवं छन्द प्रयोग जैसी बातों में वे एक दूसरे के समान नहीं हैं। वर्ण्य विषय एवं मूल उद्देश्य के सम्बन्ध में दोनों के कवियों में बहुत अधिक अन्तर नहीं है। दक्खिन वाले शामी संस्कृति और शामी आदर्शों द्वारा अवश्य अधिक प्रभावित हैं और उनमें कभी-कभी इस्लामी कट्टरता तक दीख पड़ने लगती है। किन्तु अपनी रचनाओं के अंतर्गत लोक तत्व की प्रतिभा करते समय ये उत्तर वालों से किसी प्रकार भिन्न नहीं जान पड़ते। इनके काव्यों में कहीं-कहीं प्राचीन बेदुइन अरबों के प्रेम की स्वच्छन्दता है तो कभी-कभी ईरानी प्रेम की आध्यात्मिकता भी मिलती है।

निज़ामीकृत 'कदम राव व पदम'

(रचना काल १४५७ ई० के बाद)

निज़ामी सुलतान अहमदशाह सालिस बहमनी (हिज़री ८६५) के ज़माने में मौजूद था। वह सुलतान का दरबारी शायर था। कहा जाता है कि इसकी एक प्रति

१–हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान पृ० १५।

'अंजुमन तरक्किए उर्दू (पाकिस्तान) में सुरक्षित है। इस प्रेमाख्यान के कतिपय पृष्ठों के चित्र इस संस्था के मुखपत्र — 'कौमी जबान' में प्रकाशित हो चुके हैं।'[1]

हाशमी साहब के विवरण से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की रचना-शैली साधारणतः वही है जो बहुत सी अन्य सूफी मसनवियों में देखी जा सकती है। "यहाँ पर भी उसी प्रकार से 'गुसाईं' परमेश्वर की स्तुति की गई है, उसी प्रकार बड़े लोगों का गुणगान किया गया है। अभी तक इसकी कथा का पूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं हो सका है। इसलिए कहा नहीं जा सकता कि इसका कथानक निरा काल्पनिक है अथवा किसी प्रचलित आधार पर आश्रित है। इस रचना का छन्द अवश्य फ़ारसी का कोई बहर जान पड़ता है और इसकी भाषा में बहुत से हिन्दी व संस्कृत के शब्दों का समावेश दीख पड़ता है। स्वयं हाशमी साहब का कथन है कि 'हसन खाज़ कदीम इसमें और अरबी फारसी के बजाय हिन्दी अल्फाज़ ज्यादा हैं। इसकी ज़बान इस क़दर मुश्किल है कि इसका समझना दिक्कत तलब है।"[2] बड़े दुख की बात है कि इतनी महत्वपूर्ण पुस्तक की प्रति पाकिस्तान में है और हमें प्रयत्न करने का पर भी कोई विवरण नहीं मिल सका। हाशमी साहब ने जो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि इस कथानक का नायक कौन है और नायिका कौन है—

'कि तूं सोच मेरा गुसाईं कदम। पदम राव तुज पाँव केरा पदम॥
जहाँ तूं धरे पांय हो सर धरूं। आयस सार कील कतराई करूँ॥[3]

मुल्ला वजहीकृत 'कुतुबमुश्तरी'

(रचनाकाल सं० १६६६ ई०)

मुल्ला वजही गोलकुण्डा के इब्राहीम कुतुबशाह के दरबार का कवि था।[4] 'कुतुब मुश्तरी' का रचनाकाल के विषय में उसने लिखा है —

'तमामइसकिया दीस बारामने। सन् एक हजार और अठारा मने॥"[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि इसका रचना काल १०१८ हि० अर्थात् १६१० ई० है।

उसने इसके कथानक स्वयं अपने समय के शाहजादे मुहम्मद कुली के जीवन

१—नसीरुद्दीन हाशमी, दकन में उर्दू (१९५२ ई०) मकतब : मुईउन अदब उर्दू बाज़ार लाहौर पृ० ३३।
२—वही पृ० ३५।
३—वही, पृ० ३७ (दक्खिनी हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान पृ० १२४ से उद्धृत।
४—श्रीराम शर्मा द्वारा सम्पादित 'सबरस' प्र०, पृ० १।
५—कुतुब मुश्तरी, दक्खिनी प्रकाशन समित हैदराबाद, पृ० ५।

से तैयार किया है। उसी के आधार पर उसके बाल्यकाल से लेकर उसके किसी मुश्तरी नाम की सुन्दरी के साथ प्रेम सम्बन्ध तक की कहानी प्रस्तुत कर दी है। कदमराव व पदम तथा कुतुब मुश्तरी के बीच के १५० वर्षों के मध्य लिखी हुई किसी मसनवी का पता नहीं चलता। कुतुबमुश्तरी में ऐसे प्रसंग या स्थल बहुत ही कम हैं, जिनमें ईश्वरीय प्रेम की ओर इंगित हो या जिनकी व्याख्या सूफी विचार धारा के अनुसार की जाय।

'गवासी' कृत 'सैफुलमुलूक व यदीउल जमाल' और तूतीनामा'—

गोलकुंडा का गवासी मुल्ला बजही का समकालीन कवि था। इसकी उपर्युक्त दो मसनवियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। 'सैफुल मुलूक व वदीउल जमाल' का रचना काल १०२७ हिज़री अर्थात् १६१७ अथवा १६१६ ई० हैं। कि इसकी कहानी किसी फारसी की गद्य-पुस्तक से ली गई है। इसमें मिश्र के बादशाह आसिमनवल के फरजंद सैफुलमुलूक और गुलिस्तानें ऐरम की शाहज़ादी वदीउल जमाल के 'इश्क' की कथा वर्णित है। कथा का प्रारम्भ मिश्र देश के बादशाह से होता है। इसमें यवन-देश, चीनदेश, सिंहलद्वीप, इसकन्दद्वीप आदि अनेक स्थलों की चर्चा आती हैं। इसकी कथा वस्तु का संघटन उत्तरीभारत के प्रेमाख्यानों से बहुत कुछ मिलता जुलता है। मृगावती में रुकमिनी की सहायता से नायक को नायिका की प्रप्ति होती है, प्रेमा की सहायता मे मधुमालती और मनोहर का मिलन होता है। इसी प्रकार इस कथा में भी एक राजकुमारी की ही सहायता से नायक को नायिका की प्राप्ति होती है। जादुई अंगूठी, तस्वीर देखकर प्रेम—विभोर होना, सागर-यात्रा, तूफान और जलयान ध्वंस, राक्षसतत्व, राक्षस का वध करके राजकुमारी की रक्षा प्रभृति कथानक रूढ़ियों के दर्शन हमें इस कथा में होते हैं।

मिश्र के बादशाह आसिमनवल की यवनदेशीय पत्नी से एक लड़का पैदा हुआ, उसका नाम सैफुलमुलूम रखा गया। उसी दिन वज़ीर को भी एक लड़का पैदा हुआ, उसका नाम साऊद रखा गया। बादशाह ने अपने बेटे को एक जरीदार कपड़ा और एक सुलेमानी अंगूठी दी। कपड़े पर गुलिस्ताने ऐरम की शाहजादी की तस्वीर बनी थी। सैफुलमुलूक साऊद के साथ उसकी खोज में चल पड़ा। समुद्रों को पार कर वे चीन पहुँचे। वहाँ से वे कुस्तुन्तुनियाँ के लिए चले। सागर में तूफान आया। वे बह गए। उसने इस्फन्द द्वीप में एक राक्षस की कैद से एक राजकुमारी का उद्धार किया। उसी की सहायता से उसे वदीउल जमाल की प्राप्ति हुई। दोनों का विवाह हुआ और वह अपने देश लौट आया।

गवासी कृत 'तूतीनामा का मूलस्त्रोत शुकसतिए' है शुकसप्तति की सत्तर कहानियों में से ५२ से लेकर मौलाना जियाउद्दीन नख्शवी ने उसका फारसी अनुवाद

(७३० हि० अर्थात् सं० १३२९) में किया था।

उनमें से ३५ से लेकर मुल्ला सैयद मुहम्मद कादरी ने हि० १०९३ अर्थात् १६८१ में उसका एक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया था-इन दिनों की भाषा फारसी रही। कहा जाता है कि गवासी ने मौलाना नख्शवी के तूतीनामा से ४५ कहानियों को चुनकर अपनी कृति का निर्माण किया है।[1] इसका रचनाकाल सं० १६९५ बतलाया गया है। इसकी कथा का आरम्भ हिन्दुस्तान के एक धनी सौदागार की वाणिज्य यात्रा से होता है। 'इसकी मूलकथा के एक रहते हुए भी प्रशंगवश ऐसी अनेक अन्य कहानियों का समावेश हो जाता है । जिनसे उसका कोई भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं, प्रत्युत जिनकी संख्या केवल दृष्टान्त प्रदान के व्याज से उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है। उत्तर भारत के हिन्दी सूफी कवियों ने ऐसी रचना–शैली को इस रूप में कदाचित कभी न अपनाया था, यद्यपि उनके लिए यहाँ वैसे आदर्शों की कमी भी नहीं कही जा सकती।[2]

गवासी की 'चंदा और लोरक' नामकी एक और मसनवी मिली है। 'यह भी फारसी से तर्जुमा की गई है। इसकी तसनीफ़ सन् १०३५ हि० के पहले हुई होगी।[3] "दकन में उर्दू" के अन्तर्गत इसकी केवल कुछ ही पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं जिनसे कहानी की मूल कथा का ठीक पता नहीं चलता । फिर भी अन्यत्र[4] दिए गए इसके कतिपय पद्यों को इनको मिलाकर देखने से यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इस मसनवी का संबंध प्रसिद्ध लोरिक व चन्दा की ही कहानी से है।

गवासी की कुछ पंक्तियों को मिलाकर पढ़ने से प्रतीत होता है कि इसकी कहानी कुछ भिन्न है। यहाँ पर चन्दा किसी नगर के बादशाह की पुत्री है। जिसका नाम संभवत: बाला या मालाकुँवर है। इसके सिवाय जब चन्दा को चोरी से लेकर लोरिक भाग निकलता है और बादशाह को इस बात की सूचना दी जाती है, तो वह वहाँ पर कहता है "अच्छा हुआ मेरी बाधा टल गई। लोरिक के घर उसकी एक परम सुन्दरी नारी है जिसे मैं प्यार करता हूँ और उसे अब किसी कुटनी द्वारा पालने में मुझे सुविधा हो सकेगी।"[5]

इस कहानी में न तो कहीं चन्दा के किसी पूर्व पति बावन की चर्चा है, न

१–तूतीनामा, सं० मीर सआदत अली रिज़वी, (हैदराबाद हि० १३५७) मुकदमः पृ० ३१

२–हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान: पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १२९

३–दकन में उर्दू, पृ० ७८

४–दक्खिनी का पद्य और गद्य सं० श्रीराम शर्मा, पृ० २८६-८९ (१९५४ ई०)

५–वही, पृ० २८८-८९

न उसके भागते समय के विघ्नों का ही वर्णन है। लोरिक की पत्नी मैना के पतिव्रता होने की ओर संकेत कुछ अवश्य मिलते हैं। चंदा से लोरिक स्वयं कहता है—

"यौं सुनकर कहा मेरे घर नार है। ओ सतवंतनार वा ईमान औतार है।
के साहब मुझे चन्दा होर सूर का। मेरे घर में शोला है कोहतूर का।
इस्म पाक कहूं मैं टुक एकं। पतिव्रत मैनासो है नाँव नेक॥"[1]

दोनों कहानियों में लोरिक जाति का ग्वाला ही है और 'गोरू' चराने का काम भी करता है। इसके रचनाकाल के विषय में किए गए हाशमी साहब के अनुमान 'इसकी तसवीफ़ हि० स० १०३५ के पहले हुई होगी।' से केवल यही जान पड़ता है कि यह समय चन्दायन से लगभग २५० वर्ष पीछे का होगा।[2] स्वयं मुल्ला दाऊद की कतिपय पंक्तियों से ध्वनित होता है कि लोरिक एवं चन्दा की कथा उनके समय से भी प्रसिद्ध रही होगी। किस्सा मैना सतवंती के रचयिता के सम्बन्ध में अनुमान किया गया है कि वह संभवत: गवासी ही रहा होगा और इसके लिए उसके अन्त की दो पंक्तियाँ भी उद्धृत की गई हैं–

"गवासी यों करना करम की नज़र दुआ हक़ सो मंगना मेरे हक़ उपर॥"[3]

ये पंक्तियां हासमी साहब द्वारा 'चन्दा और लोरक' मसनवी से ली गई पंक्तियों में भी दीख पड़ती हैं। इन बातों की विवेचना करते हुए पं० परशुराम चतुर्वेदी ने निष्कर्ष निकाला है कि "उपलब्ध सामग्री के आधार पर हमें इतना और अनुमान कर लेने के लिए कोई साधन नहीं कि इस रचना का रूप किसी सूफी प्रेमगाथा का था अथवा यह केवल किसी युद्ध प्रेमगाथा की परम्परा के ही अनुसार निर्मित की गई थी। यदि इसका रचना-काल सं० १६८२ के पूर्व का भी मान लिया जाय उस दशा में भी यह मसनवी की कृति होने के नाते उसके जीवन-काल से पहले की रची नहीं कही जा सकती और इसी कारण यह साधन कवि की 'मैनासत' के पीछे की ठहरती है। अतएव हो सकता है कि मैना व मीना के सतीत्व पालन की कहानी इन दोनों कवियों के बहुत पहले से सम्भवत: चन्दायन के रचयिता मुल्ला दाऊद के समय से भी पूर्व से किसी न किसी रूप में चली आती रही होगी और यह भी असम्भव नहीं कि यह किसी समय लोरिक व चन्दा की कथा से स्वतंत्र भी रही होगी॥"[4]

१–दक्खिनी का गद्य और पद्य सं० श्रीराम शर्मा, २८७–८९
२–दकन में उर्दू पृ० ७८, हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान, पृ० १३१।
३–दकन में उर्दू पृ० ८७, दक्खिनी का गद्य और पद्य, पृ० ४८५।
४–हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान, पृ० १३५–३६।

मुक़ीमी कृत 'चन्दर बदन व महियार'

मुकीमी बीजापुर की आदिलशाही सल्तनत की छत्रछाया में रहने वाला एक प्रख्यात कवि हुआ है । चन्दरबदन व महियार की रचना के समय बीजापुर का सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (सं० १६३६–८४) था अथवा अभी कुछ ही समय पहले मर चुका था । इस काव्य की रचना सन् १६२७ ई० में हुई बताई जाती है ।[१] मुकीमी ने इस काव्य की प्रस्तावना में गवासी का स्मरण एक 'उस्ताद की तरह' किया है और उसने मसनवी को उसके तुतब में रचा है ।[२] चन्दर बदन व व महियार की रचना का "मक़सद मज़हबे इस्लाम की अज़मत जाहिर करना" भी बतलाया गया है ।"[३]

महियार नामक एक युवक चन्दर बदन के राजा की कन्या के रूप-गुण की बात सुनकर उस पर आसक्त हो जाता है । उसे खोजता हुआ वह चन्दर पटन पहुँचता है और उसे देख भी लेता है । वह उसके चरणों पर गिर पड़ता है, पर वह उसे ठुकरा देती है । महियार विक्षिप्त हो जाता है । वह उसके प्रेम में पागल होकर प्राण दे देता है । उसका जनाज़ा चन्दर बदन के महल की ओर से जाने लगा, तो एक लौंडी ने उसे समाचार दिया । उसे बड़ा दुख हुआ । नहा-धोकर वह एक कोने में जाकर सो रही । महियार के गम से उसकी भी मृत्यु हो जाती है । दोनों एक ही स्थान पर एक साथ दफना दिए गए ।

"इस कथा के आधार पर बीजापुर के ही किसी 'आतिशी' नामक कवि ने एक फ़ारसी मसनवी लिखी । पीछे रचना का दक्खिनी हिन्दी अनुवाद बुलबुल नामक कवि द्वारा किया गया जो पहली मसनवी से कहीं विस्तृत तथा विशाल है परन्तु इनमें से किसी की भी कोई प्रति उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर उसके ऊपर पड़े किसी सूफी विचारधारा के प्रभाव का समुचित निर्णय किया जा सके ।"[४]

नुसरती कृत 'गुलशने इश्क़'

इस मसनवी का रचना काल सं० १७१४ अर्थात् १६५८ ई० है ।[५] इसमें

१–दक्खिनी हिन्दी काव्य-धारा, राहुल सांस्कृत्यायन, पृ० २२३ ।

२–हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान, पृ० ११६ ।
उर्दू मसनवी का इर्तका, अब्दुल कादिर सरवरी, पृ० ४८—५० ।

३–चन्दरबदन व महियार कथा, सं० मुहम्मद अकबरुद्दीन सिद्दीकी, भूमिका ।

४–हि० के सू० प्रे०, पृ० १३६–३७ ।

५–दक्खिनी का गद्य व पद्य, पृ० ४६० ।

मनोहर और मधुमालती के प्रेम की कथा वर्णित है। डा० एहतिशाम हुसेन[1] का कथन है कि यह मसनवी ईरान की क्लैसिकल मसनवियों के आधार पर लिखी गई है। कुछ फारसी मसनवियों की तरह 'गुलशने इश्क' के प्रत्येक 'बाव' के पहले एक ऐसा शेर लिखा मिलता है जिससे उसके प्रसंगों का स्पष्ट निर्देश हो जाता है। सम्भवत: मंझन की 'मधुमालती' और गुलसने इश्क' का कथानक-चक्र एक ही है।

इब्ननिशाती कृत 'फूबलन' भी एक प्रसिद्ध प्रेम कथा है। इसकी रचना-काल १६६५ ई० कहा जाता है।[2] इस काव्य की मूल कथा पृष्ठ भूमि भी भारतीय है। बीजापुर के हाशमी की यूसुफजुलेखा (सं० १७४४ ई०) तथा गोलगुण्डा के तबई की मसनवी 'किस्से बहराम व गुलबदन भी दक्खिनी हिन्दी की मसनवियाँ है।

अरबी-फारसी : शामी परम्परा का अनुवर्तन—

दक्खिनी हिन्दी के अधिकाँश प्रेमाख्यान या तो किसी न किसी फारसी मसनवी के अनुवाद हैं अथवा किसी अन्य प्रसिद्ध एवं प्रचलित प्रेमगाथा के आधार पर लिखी गई मसनवी के रूप में उपलब्ध होते हैं। स्वतन्त्ररूप से रचित मसनवियों की संख्या अधिक नहीं।" कहा जाता है कि इब्ननिशाती की रचना 'फूलबन' कुछ अंशों में मौलिक है, पर वह भी अलिफ़-लैला के आदर्शों पर लिखी गई है। दक्खिनी हिन्दी के अधिकांश मसनवी लिखने वालों ने भारतीय प्रेमगाथा परम्परा को न अपनाकर फारसी मसनवियों को ही अपना आदर्श बनाया था। इस प्रकार उन्होंने अपने पीछे आने वालों के लिए मार्ग-प्रदर्शन करके ऐसी भावी उर्दू-रचनाओं की बुनियाद भी कायम कर दी। फ़लत: ऐसी मसनवियों में न केवल शामी परम्परा की रक्षा एवं प्रचार का प्रयत्न किया गया, अपितु कभी इनमें हिन्दू समाज एवं संस्कृति का सफल चित्रण भी नहीं किया जा सका, न उन्हें कोई महत्व ही मिला। जिन, परी, शाही दरबार, देव, दरवेश, एवं खिजूखाँ विषयक प्रसंगों को कभी-कभी अनावश्यक होने पर भी स्थान दिया जाने लगा और विदेशी पशु-पक्षी तक आने लगे। इन मसनवियों के रचयिता प्राय: मुस्लिम सुल्तानों की छत्रछाया में रहा करते थे जिस कारण उनके उपर्युक्त वर्णनों की प्रचुरता दीख पड़ने लगी और फ़ारसी एवं अरबी की वहाँ विशेष प्रतिष्ठा होने के कारण इन दोनों भाषाओं की शब्दावली को भी अधिक महत्व दिया जाने लगा और उसका ही आदर्श प्राय: उन सभी प्रेमगाथाओं के लिए भी उपयुक्त समझा जाने लगा जिनका उद्देश्य केवल विशुद्ध प्रेम का प्रचार मात्र ही रहा करता था। इन मसनवियों के अन्तर्गत फ़ारसी तथा कभी-कभी अरबी बह्रों (छन्दों) को भी अपनाया गया। ऐसी छोटी से छोटी रच-

१—उर्दू साहित्य का इतिहास, डा० एहतिशाम हुसेन, पृ० ४३।
२—उर्दू साहित्य का इतिहास, डा० ऐजाज़ हुसेन, पृ १९।

नाओं में भी बराबर केवल उन्हीं बातों की ओर विशेष ध्यान दिया जो अधिकतर मुस्लिम सामाजिक वातावरण के अनुकूल थीं। निज़ामी जैसे पहले के कुछ कवियों ने अपनी भाषा में अपने यहाँ की ठेठ प्रचलित भाषा के भी प्रयोग प्रचुर मात्रा में किए थे। परन्तु उनके पीछे आने वाले इस बात में क्रमश: अधिकाधिक ढीलापन दिखलाते गए और फ़ारसी एवं अरबी शब्दों को अपनाते भी चले गए।"[१]

सूफी गाथाओं के दो मुख्य केन्द्र—

भारतीय साहित्य का अनुशीलन करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि बँगला, हिन्दी, गुजराती, सिन्धी, पंजाबी, तमिल, तेलगू आदि अनेक भाषाओं में प्रेमाख्यानक काव्य विद्यमान हैं। इन भाषा भाषी क्षेत्रों में रहकर अनेक सूफी कवियों ने वहाँ की भाषाओं को अपने प्रेम-पीर की अभिव्यक्ति से आप्यायित किया है। हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानों के निर्माण के दो प्रमुख केन्द्र रहे हैं। उत्तर भारतीय हिन्दी प्रेमाख्यानों की सर्जनाएँ मुख्य रूप से जौनपुर प्रदेश या जौनपुर सरकार के अन्तर्गत हुई हैं। जौनपुर[२] नगर को लगभग ७६१ हि० (सन् १३६० ई०) में बनवाया था। कड़ा, डलमऊ, अवध, संडीला जफराबाद, जौनपुर बिहार आदि उसी के आधीन थे।[३] इस प्रकार जौनपुर जनपद पर्याप्त विस्तृत था। १३६४ ई० में बहराइच, तिरहुत, कन्नौज, अवध आदमी जौनपुर से सम्बन्द्ध हो गए थे।[४] फिरोजशाह ने डलमऊ में एक बड़ा मदरसा बनवाया था[५]। वस्तुत: डलमऊ तत्कालीन शिक्षा का एक मुख्य केन्द्र था। चुनार, जायस आदि भी जौनपुर से संम्बद्ध थे। इब्राहीम शाह[५] शर्की के शासनकाल में जौनपुर उत्तर भारत का एक प्रख्यात शिक्षाकेन्द्र बन गया। अनेक बड़े सूफी कवि फारसी के विद्वान् इस क्षेत्र से सम्बद्ध रहे हैं। इन उत्तर भारतीय सूफ़ी प्रेमगाथाकारों पर भारतीय लोकजीवन - परम्परा संस्कृति और साहित्य का प्रर्याप्त प्रभाव पड़ा है। दक्षिण भारत में बीजापुर और गोलकुण्डा की रियासतें दक्खिनी सूफी प्रेम गाथाकारों की आश्रय-स्थल रही हैं। दक्खिनी हिन्दी के प्राय: सभी कवि दरबारी रहे हैं। प्राय: उन पर शामी परम्परा और फारसी मसनवियों का ही प्रभाव पड़ा है।

परवर्ती सूफी कवियों पर जायसी का प्रभाव – यह कहा जा चुका है कि अब तक प्राप्त प्रेमाख्यानकों में 'चन्दायन' प्रथम प्रेमाख्यानक काव्य है। उसके पश्चात्

१–हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यान, पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १४२

२–तारीखे फीरोजशाही, (अफीफ), पृ० ८१, तुगलककालीन भारत, भाग २

३–मेडीवल इंडिया,लेनपूल, पृ० १४७

४–तारीखे मुबारकशाही, पृ० २१५, (तुगलककालीन भारत, भाग २)

५–गजेटियर आफ़ अवध, वा० १, पृ० ३५५

कुतबन तक और भी बहुत से प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए थे। शोध के सिलसिले में ये काव्य मिलते जा रहे हैं। जायसी का पदमावत हिन्दी साहित्य की एक अमर विभूति है। इसकी प्रेम कथा ने ऐसा मधुर प्रभाव डाला है कि उसके पश्चात् बीसवीं शताब्दी तक प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गये हैं। जायसी ने परवर्ती प्रेमाख्यानक काव्यों का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्राय: इन पर जायसी का अमिट प्रभाव पड़ा है।

हिन्दी के सूफी काव्य प्राय: मुसलमानों द्वारा लिखे गये हैं। ये सभी कवि प्राय: अत्यन्त उदार थे। प्राय: इन सब कवियों ने हिन्दू कथाओं को लेकर ही प्रेम-कथाएँ लिखी हैं। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का जो सत्प्रयास इन मुसलमानों ने किया वह अन्यत्र नहीं हो सका। इन कवियों ने हिन्दू धर्म, देवी, देवता आदि का ससम्मान उल्लेख किया है। इन काव्यों में प्रधानत: फारसी की मसनवी पद्धति ही प्रयुक्त है। जायसी ने पदमावत में जैन अपभ्रंश चरित काव्यों – संस्कृत महाकाव्यों की भारतीय शैली को भी ग्रहीत किया था और जायसी के प्रभावित परवर्ती सूफी काव्यों में भी पदमावत की शैली को ही स्वीकृत किया गया है। जायसी की ही शैली पर परवर्ती सूफी प्रेमाख्यानों में ईश्वर–स्तुति, मुहम्मद साहब की प्रशस्ति, गुरु पम्परा, शाहेवक्त का वर्णन, भारतीय शैली में प्रकृति–चित्रण, मसनवी–पद्धति पर वस्तुओं का सांगोपांग निरूपण मिलते हैं। बहुत सी बातें तो इन कवियों ने जायसी की शब्दावली को हेर–फेर कर ही कह दी हैं। प्राय: अवधी भाषा इनकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। चौपाई के निश्चित एक क्रम के पश्चात् ये कवि एक दोहे की योजना करते हैं।

जायसी की ही भांति ये समस्त कथाएँ अध्यात्म से अप्लावित हैं। लौकिक प्रेम कथाओं के माध्यम से अलौकिक–प्रेम की दिव्य झांकी इनमें प्रस्तुत की गई है। इन काव्यों पर योग–सम्प्रदाय और योग–भावना का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। नायक प्रिया प्राप्त के लिए योगी बनकर निकल पड़ता है। ये कवि भर्तृहरि, गोरखनाथ और गोपीनाथ के नाम आदरपूर्वक स्मरण करते हैं।

भारतीय सूफीमत में बाह्य--सूफीमत से अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। इसमें हिन्दू मुस्लिम विचार–धाराओं के संमिश्रण द्वारा निर्गुण–सगुण के समन्वय में जो अद्वैत का पुट दिया गया है उससे ऐसा विचित्र रंग आया है कि देखते ही बनता है। ये प्रेम–कथाएँ अत्यन्त मनोमय और काव्यात्मक हैं।

सूफी कवियों का वैशिष्ट्य (सूफी कवियों की देन)

आठवीं शताब्दी ईस्वी के प्रथम चतुर्थांश से ही भारत पर मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गए थे। प्रारम्भ में उनके आक्रमणों के मूल में लूटपाट, धर्मप्रचार,

धन और विजय की लिप्साएँ ही प्रधान थीं। बारहवीं शताब्दी के साम्राज्य–स्थापना की लालसा इन आक्रमणों के मूल में आ गई लक्षित होती है। धीरे-धीरे मुस्लिम शासन की स्थापना होती गई और हिन्दू राज्य का सूर्य अस्त होता गया।

अभी तक भारतवर्ष में जितने धर्म और आक्रमणकारी आए थे, वे सब यहाँ के हो गए थे, पर इस्लाम इन सबसे निराला था। इसने हिन्दू संस्कृति के प्रत्येक आयाम पर गहरा प्रभाव डाला है। अनेक मुसलमान वंश शताब्दियों तक भारत में राज्य करते रहे। इनमें से बहुत से राजा इस्लाम की कट्टरता और विदेशी भावनाओं से आपूरित थे। ये हिन्दुओं से विद्वेष रखते थे। समय-समय पर हिन्दुओं पर अनेक प्रकार के अत्याचार भी होते रहे। हिन्दुओं के धर्म, रीति--रिवाज मन्दिर आदि विध्वन्स होते रहे। उनका हृदय भी भग्न होता रहा। सचमुच भारत में ऐसा विषम समय कभी नहीं आया था। शक, हूण आदि अनेक विदेशी जातियां इससे पूर्व यहां आई थीं और उन्होंने शासन भी किया था, परन्तु वे राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टियों से शीघ्र ही भारतीयता में निमग्न हो गई थीं। इसलिए कभी प्रेम--प्रचार की आवश्यकता न पड़ी थी। मुसलमान इससे विपरीत ही सिद्ध हुए। वे भारत में आकर भी भारतीय न बन सके और सदैव यहां के निवासियों को घृणा की दृष्टि से देखते रहे। जिसके परिणामस्वरूप समय-समय पर अनेक अत्याचार भी करते रहे[१]। जब उद्धत और मदान्ध मुसलमान आक्रान्ताओं ने यहाँ की प्रशान्त जनता को रौंदना प्रारम्भ किया, तो उसको ढाढ़स दँधानेवाले भी साथ ही आए। ये सूफी दरवेश थे। मुहम्मद गोरी की शासन--स्थापना के साथ ही साथ हम सूफियों को प्रेम का मनोरम बीज बोते हुए देखते हैं। 'मुसलमान शासक अपने उद्धत स्वभाव के कारण तलवार की धार में अपने इस्लाम को देखना चाहते थे और किसी भी हिन्दू को इस्लाम या मृत्यु – दो में से एक चुनने के लिए बाध्य कर सकते थे। पर दूसरी ओर एक शासक वर्ग ऐसा भी था, जो हिन्दुओं को अपने पथ पर चलने में आज्ञा प्रदान करने में सुख का अनुभव करता था। ऐसे शासक वर्ग में शेरशाह का उदाहरण दिया जा सकता है। जिससे उल्माओं की शिक्षा की अवहेलना कर हिन्दू धर्म के प्रति उदारता का भाव प्रदर्शित किया[२]। शासकों में ऐसे मुसलान भी थे, जो हिन्दू धर्म के प्रति उदार ही नहीं, वरन् उस पर आस्था भी रखते थे। जहां वे एक ओर इस्लाम के अन्तर्गत सूफी धर्म के प्रचार की भावना में विश्वास मानते थे, वहां दूसरी ओर वे हिन्दुओं के धार्मिक आदर्शों को भी सौजन्य

१—डा० विमलकुमार जैन, सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० २१६।

२—ईश्वरीप्रसाद : ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया।

की दृष्टि से देखते थे । प्रेम--काव्य की रचना में इसी भावना का आधार है[1]। सूफियों ने भारतीय वातावरण के अनुकूल केवल प्रचार ही नहीं किया था, वरन सुन्दर काव्य भी लिखे थे, जिनमें प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में सूफी मत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ था। इनका उद्देश्य ईश्वरीय प्रेम के अतिरिक्त जन समाज को प्रेम पाश में आबद्ध करना भी था। इन लोगों ने मुख और लेखनी से जो कुछ भी व्यक्त किया वह जनता के आश्वासनार्थ सुधा-सिन्धु ही सिद्ध हुआ और भारतीय साहित्य के लिये एक अनूठी निधि की बन गया। उसने तृषित मानव हृदय को शान्ति प्रदान की। अत: भारतीयों ने इन संतों में अपने परम हितैषी और शुभ चिन्तक ही पाये। प्यासे को पानी देनेवाला और भूखे को भोजन प्रदाता सदैव संमान्य होता है। इसी प्रकार ये सन्त भी लोगों के शीघ्र ही संमाननीय हो गये। यही कारण था कि हिन्दू ओर मुस्लिम जनता पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं ने तो अपने परम हितैषी सहायक ही पा लिये।[2]

जायसी, मंझन, उसमान आदि सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों की रचना द्वारा जिस एक महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर हमारा ध्यान दिलाया है वह मानव जीवन के सर्वांगपूर्ण विकास के साथ संबन्ध रखता है और जो प्रधानत: उनके एकोदृष्टि और एकान्तनिष्ठ हो जाने पर ही संभव है। इनका कहना है कि यदि हमारी दृष्टि विशुद्ध प्रेम द्वारा प्रभावित हो सके और हम उसके आधार पर अपना संबन्ध परमात्मा से जोड़ लें, तो हमारी संकीर्णता सदा के लिए दूर हो जा सकती है। ऐसी दशा में हम न केवल सर्वत्र एक व्यापक विश्व-बंधुत्व की स्थापना कर सकते हैं, प्रत्युत अपने भीतर की अपूर्व शान्ति एवम् परम आनन्द का अनुभव भी कर सकते हैं। इन प्रेमाख्यानों का मुख्य संदेश मानव हृदय को विशालता प्रदान करना, उसे सर्वथा परिष्कृत करना तथा अपने भीतर दृढ़ता और एकान्तनिष्ठा की शक्ति-भक्ति लाना है। सूफियों के इस प्रेमाधारित जीवनादर्श के मूल में उनका यह सिद्धाँत भी काम करता है कि वास्तव में ईश्वरीय प्रेम तथा लौकिक प्रेम में कोई अन्तर नहीं है। इश्कमिजाजी तभी तक सदोष है जब तक उसमें स्वार्थ परायणता की संकीर्णता जान पड़े और आत्मत्याग की उदारता न लक्षित हो। जबतक वह अपने विशुद्ध रूप में नहीं रहा करता तभी तक उसमें वासना के संयोग की आकांक्षा भी की जा सकती है। व्यक्तिगत सुख-दु:ख अथा लाभ–हानि के स्तर से ऊपर उठते ही वह एक अपूर्व रंग पकड़ लेता है और फिर क्रमश: उस रूप में ही आ जाता है जिसे इश्क-

१–डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २६६।
२–डा० विमलकुमार जैन, सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० २१८–१९।

हकीकी के नाम से अभिहित किया जाता है। सूफियों ने उसे यह रंग प्रदान करने के ही उद्देश्य से प्रत्येक प्रेमी को विभिन्न संकटों और बाधाओं की आग में तपाने की चेष्टा भी की है।

सूफियों की इस व्यापक नियम और उसकी जटिलता में बहुत बड़ी आस्था है और इसके कारण उनमें हम कभी-कभी एक विचित्र अंध-विश्वास अथवा सांप्र–दायिकता की कदाचित गंध पाकर उनपर धार्मिक कट्टरता का आरोप करने लग जाते हैं। कभी-कभी तो इसमें हमें उनके इस्लाम धर्म के प्रचार से उद्देश्य से दिए गए किसी ऐसे प्रलोभन का भी संदेह होने लगता है जो मनोहर कहानियों के प्रति आकर्षण उत्पन्न कराकर प्रतिफलित किया जाय, परन्तु सूफियों के प्रेमाख्यानों द्वारा ही इसी प्रकार की शंकाएं निर्मूल होती जान पड़ती हैं। इन कवियों ने अपनी ऐसी रचनाओं में इसकी ओर कभी कोई संकेत नहीं किया और न इनके कथानकों से लेकर उनके क्रम, विकास अथवा अन्त तक भी कोई ऐसा प्रसंग छेड़ा जिससे उन का कोई सांप्रदायिक अर्थ लगाया जा सके। यह आवश्यक है कि जहां तक घटनाओं की क्रम योजना का प्रश्न है, उसे इस प्रकार निभाया गया है जिससे सूफी प्रेम-साधना का भी मेल बैठ जाय। परन्तु ऐसी बातें अधिक से अधिक केवल दृष्टान्तों के ही रूप में पाई जाती है जिस कारण उनके सांप्रदायिक आग्रह का भी रहना अनिवार्य नहीं है।

डा० कमलकुल श्रेष्ट का कथन है कि ये कवि इस्लाम का प्रचार करने वाली संस्था में संबन्धित अवश्य थे। इस कारण इनकी नियत पर उसका प्रभाव संभव है। मध्ययुग के ये सूफी इस्लाम का प्रचार बड़े जोर से कर रहे थे। इन प्रेमाख्यानों के द्वारा इस्लाम—प्रचार की पृष्ठभूमि तैयार की गई है। जायसी, कासिमसाह, नूर–मुहम्मद आदि कवियों में सामंजस्य या सहानुभूति की भावना नहीं थी। हिंन्दू धर्म को ये न तो इस्लाम के समकक्ष रखने को तैयार थे और न उसे कोई महत्वपूर्ण धर्म ही मानते थे। इन्हें सूफी प्रेममार्गी कहना गलत है।[1]

इस प्रकार के अनेक आरोपों द्वारा कमलकुल श्रेष्ठ ने जायसी, मंझन आदि को इस्लाम का प्रच्छन्न-प्रकट प्रचारक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। डा० श्रेष्ठ ने इस विषय में संबद्ध कोई प्रौढ़ तर्क भी नहीं दिया है। उनका कथन है कि

'इस मौलिक दृष्टिकोण का उद्घाटन करते हुए भी इसके पक्ष में अति प्रबल प्रमाण देने में समर्थ है और इस कारण इसे पूर्णरूप से सही नहीं कहा जा सकता।''[2]

१—हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० १५७–१७५

२ वही पृ० १६३।

ऊपर स्पष्ट कहा जा चुका है कि इन सूफी कवियों की रचनाओं और कथाओं में आदि से अन्त तक कोई ऐसा प्रसंग नहीं आया है जिसके आधार पर उन्हें इस्लाम का प्रचारक या सांप्रदायिक कहा जा सके। मिश्र जी ने ठीक ही कहा है–

'हिन्दी के सूफी मुसलमान कवियों का हिन्दी के क्षेत्र में कर्तृत्व कोरा तसव्वुफ का उपदेशष्टत्व नहीं है। वह यदि शुद्ध साहित्य की सर्जना नहीं है, तो निष्केवल तसव्वुफ की उपासना भी नहीं। उनके समस्त प्रयासों में साहित्य की संवर्द्धना भी कहीं अपने प्रमुख रूप में है। इस दृश्य-दर्शन की ओर से आँख मूंद लेना न्याय न होगा। जायसी ने साहित्य को प्रमुख रूप से दृष्टिपथ में रखकर भी प्रेमगाथा लिखी है।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी या किसी अन्य सूफी कवि पर इस्लाम के प्रचारक होने का डा० श्रेष्ठ का आरोप उचित नहीं है। वस्तुत: जायसी अत्यन्त उदार और महान् संत थे। वे इस्लाम के अनुयायी थे, पर सूफी सन्त होने के कारण इस्लाम और हिन्दू की भावना से वे ऊँचे उठे हुए थे–

'तिन्ह संतति उपराजा, भांतिहि भांति कुलीन।
हिन्दू तुरक दुवौ भये, अपने अपने दीन ।।[2]

'मातु के रकत पिता कै बिन्दू। अपने दुवौ तुरुक और हिन्दू ।।[3]

जायसी ने सर्वत्र इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। इसके अतिरिक्त पदमावत आदि प्रेमाख्यानों के नायक–नायिका, उनके दैनिक व्यापार, वातावरण, तथा उनके सिद्धांत या संस्कृति में भी कोई परिवर्तन नहीं लाया जाता है और न कहीं पर यही चेष्टा की जाती है कि कथाप्रवाह के किसी भी अंश में किसी संप्रदाय या धर्म के महापुरुषों द्वारा कोई मोड़ ला दिया जाय। इनमें प्रसंगत: यदि कोई हिन्दू योगी या तपस्वी आ जाता है, तो ख्वाजा खिज्र भी आ जाते है और दोनों लगभग एक ही उद्देश्य से काम करते पाए जाते हैं। हम जैनियों द्वारा लिखे गए प्रेमाख्यानों में भी महापुरुष का समावेश कर दिया गया पाते हैं जो अत्यन्त गंभीर प्रेम वाले दो व्यक्तियों के जीवन में एक नया मोड़ घटित कर देते हैं और इस प्रकार उन्हें उस आदर्श की ओर आकृष्ट कर लेते हैं जो जैन धर्म पर आश्रित है।[4]

१—चित्ररेखा 'एक बोल' आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ९–१०।

२—जायसी ग्रंथावली, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ३१३।

३–वही, पृ० ३०८।

४–पं० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य, सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य, पृ० २९१–९२।

तुलसीदास को जायसी की देन

अनेक कवियों की अभिव्यक्तियों में पारस्परिक साम्य ढूँढ़ निकालना विद्वानों के लिये दुष्कर कार्य नहीं हैं। भिन्न देशों की विभिन्न भाषाओं में अनेक कालों में विरचित कवियों की रचनाओं में वैसी समानतायें देखी गई हैं। इस प्रकार के साम्यों के मूल में विचारों की अनुकूलता और कुछ विशिष्ट परम्परायें आती हैं। अभिप्रायों, संस्कारों, रूढ़ियों और परम्पराओं का भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है।

प्राय: ज्ञात या अज्ञात रूप से कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों की महार्घ विचार-धाराओं एवं भावनाओं को गृहीत करते चले आए हैं और यही कारण, है कि जब हम किसी कवि के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं तो उस विषय से संबद्ध प्राचीन साहित्य से अनेक साम्यमूलक अभिव्यक्तियां मिलने लगती हैं। जायसी ने 'पदमावत' की प्रस्तावना के सिलसिले में इसीलिये कहा था कि 'आदि-अन्त गाथा का जैसा स्वरूप है वैसा ही मैं भाषा चौपाई में लिख रहा हूँ।'[1] तुलसीदास ने भी कहा था–

नानापुराण निगमागम संमतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।
स्वान्त: सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंधमति मंजुलमातनोति॥[2]

यदि परवर्ती साहित्य का भी अनुशीलन किया जाय, तो उसमें भी इसी प्रकार के भाव-साम्य मिल जायेंगे। किन्तु इस प्रकार प्राप्त हुई सामग्री के आधार पर हम किसी कवि के ऊपर चौर वृत्ति का आरोप नहीं कर सकते। यद्यपि साहित्य के क्षेत्र में ऐसी कुप्रवृत्तियों का बोलबाला रहा है। मंझन के काव्य मधुमालती में भी अनेक भाव ऐसे हैं जो उनके पूर्ववर्ती कवियों कुतबन और जायसी से मिलते हैं। यही नहीं अनेक दोहे तो संस्कृत श्लोकों के अनुवाद मात्र दिखेंगे, किन्तु ऐसे तत्व मंझन की अध्ययनशीलता एवं संस्कृत आदि से घनिष्ठता की ओर ही संकेत करने वाले हैं।[3] इस प्रकार के विचारों के मूल में भारतीय समाज, साहित्य और संस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा को भी गृहीत किया जा सकता है। प्राय: कवि उससे समान रूप से परिचित-प्रभावित हुए हैं। पैतृकसम्पति के रूप में परम्परायें, अभिप्राय, रूढ़ियां सूक्तियाँ आदि भी कवि के लिए संबल-स्वरूप हैं जिनके बल पर कवि अपने कर्म-पथ पर गतिशील रहते हैं। काव्य की अलंकृति से सम्बद्ध उपमा, रूपक, प्रतीक, छन्द आदि के लिये भी कवि प्राय: परम्परा का आश्रय लेते रहे हैं। लीक छोड़कर चलने वाले कवि भी होते रहे हैं।

१–आदि अन्त जस गाथा अहै। लिखि भाखा चौपाई कहै। जा०ग्रं०, ना०प्र०सभा

२–रामचरितमानस, बालकांड, पृ० १।

३–डा० शिवगोपाल मिश्र, मंझनकृत मधुमालती, भूमिका, पृ० ५५।

जहाँ तक सूफियों का प्रश्न है उनमें परम्परा का सीमोल्लंघन कम ही मिलता है। प्रायः सभी सूफी कवियों के काव्यों में प्रेमानुभूति की प्रवणता, प्रेम-पीर की उदात्तता कथा की लौकिकता में अलौकिकता का समावेश प्रभृति तत्व मिलते हैं। हिन्दी के इन सूफी कवियों ने अवधी भाषा को प्रांजल बनाने और भारतीय लोक-प्रचलित कथाओं को अमरता प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

मुल्ला दाऊद कृत 'चन्दायन' (७८१ हि०) १३७९ ई० से हिन्दी प्रेमाख्यानक परम्परा का प्रारम्भ माना जाता हे, किन्तु इस परम्परा के बीज खुसरो के 'खम्स' (पाँच मसनवियों का समूह) में मिल जाते हैं।

जायसी के काव्य पर चन्दायन और मृगावती (१५०३ ई०) का पर्याप्त प्रभाव है। लोक गाथात्मक पद्धति पर काव्य का जो स्वरूप-निर्माण इन काव्यों में मिलता है, वही जायसी के काव्य में भी द्रष्टव्य है।

यह सर्वसंमति से स्वीकृत है कि जायसी हिन्दी सूफी कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। परवर्ती संपूर्ण सूफी काव्य पर उनका प्रभाव पड़ा है। साथ ही निर्गुण-सगुण भक्ति काव्यों पर भी उनका प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पाया गया है।

यद्यपि दोहा-चौपाई वाली शैली जायसी से बहुत पहले की है। सरहपाद, मुल्लादाऊद और कुतबन की कृतियों में यह शैली प्रयुक्त है और जायसी ने भी इसी शैली का प्रयोग किया है, तथापि कुछ लोगों का अनुमान है कि तुलसीदास ने जायसी की ही शैली पर 'रामचरितमानस' का प्रणयन किया है।

पदमावत की रचना १५४० ई० में हुई थी। इसके पहले प्राकृत और अपभ्रंश में चरित और आख्यान काव्य लिखे गये थे। मसनवी-पद्धति के साथ ही पदमावत में इस भारतीय काव्य पद्धति का भी सुन्दर उत्कर्ष हुआ है। इसके ३४ वर्ष के पश्चात् संवत् १६३१ में तुलसीदास ने अपने रामचरित मानस की सर्जना की है। उनमें दोहा-चौपाई के अतिरिक्त और भी छन्दों के प्रयोग हुए हैं, तथापि उसकी मुख्य शैली दोहा-चौपाई वाली ही है। जायसी की महानता इस बात में भी है कि उन्होंने तुलसीदास से पूर्व दोहा चौपाई में इतने विशाल और प्रौढ़ काव्य की सर्जना की थी। आश्चर्य नहीं कि उन्हें (तुलसीदास को) जैसे विविध छन्दों में अपने विभिन्न काव्यों की रचना करने की प्रेरणा अपने पूर्ववर्ती अन्य कवियों से मिली हो वैसे ही पदमावत से मानस की शैली का सुझाव भी मिला हो 'साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान' के द्वारा गोस्वामी जी 'किहनी उपाख्यान, रचयिता सूफी कवियों की ओर संकेत तो करते ही हैं, आश्चर्य नहीं कि इससे उनका अभिप्राय जायसी से ही हो, जैसे साखी सबदी दोहरा के द्वारा स्पष्ट ही कबीर का निर्देश है ओर यह अनुमान भी सम्भव है सच निकले कि तुलसीदास ने पदमावत

का अध्ययन किया था।[1] श्री इन्द्रचन्द्र नारंग जी ने तुलसीदास द्वारा वर्णित कतिपय घटनाओं का उल्लेख करते हुए उनका मूल पदमावत में बताने का प्रयत्न किया है।

बसन्त पंचमी आने पर पदमावती महादेव की पूजा के लिए महादेव के मंडप में जाती है। वहां उसने पूजा की, बरदान मांगा, आकाशवाणी हुई, वह राजा रत्नसेन से मिली, पर वह मूर्छित हो गया। इन समस्त बातों का विवरण पदमावत में सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है—

दैव दैव कहते कहते श्रीपंचमी आ पहुँची। पदमावती ने सब सखियों को बुलाया। सभी सुरूपा और पद्मिनी जाति की थीं। पान-फूल, सिन्दूर आदि से सब अनुराग-राग में पगी थीं—

'चली पउनि सब गोहने, फूल डार लेइ हाथ।
विस्वनाथ के पूजा, पदमावति के साथ॥
बाजहिं ढोल दुंदुभी भेरी। मादर तूर झांझ चहुंफेरी।
पदमावति गै देव दुबारा। भीतर मंडप कीन्ह पैसारा॥
फर फूलन्ह सब मंडप भरावा। चन्दन अगर देव नहवावा॥
लेइ सेंदुर आनगै मैं खरी। परसि देव पुनि पायन्ह परी॥
और सहेली सवै बियाहीं। मो कहँ देव कतहुँ बर नाहीं।
हौ निरगुन जौ कीन्ह न सेवा। गुनि निरगुनि दाता तुम देवा॥
बर संयोग तुम मेरवहु, कलस जाति हौं मानि।
जेहि दिन हीछा पूजै, बेगि चढ़ावहुँ आनि॥
हींछा हींछि विनवा जस रानी। पुनि करजोरि ठाढ़ भइ रानी।
उतरु को देइ देव मरि गएऊ। सबद अकूट मंडप महं भएऊ।

और इसके पश्चात्—

'ततखन एक सखी बिहंसानी। कौतुक आइ न देखहु रानी।
पुरुबद्वार मढ़ जोगी छाए। न जनौं कौन देस तें आए॥
उन्ह महं एक गुरू जो कहावा। जनु गुर दै काहू बौरावा॥
कुंवर बतीसौ लच्छन राता। दसएं लछन कहै एक बाता॥
सुनि सो बात रानी रथ चढ़ी। कहं अस जोगी देखौं मढ़ी॥
लेइ संग सखी कीन्ह तहं फेरा।'

जब उसे राजा ने देखा, तो वह अचेत हो गया। पद्मावती ने उसे जगाने के अनेक विध, उपचार किये, पर वह नहीं जगा। अन्ततः उसने रत्नसेन की छाती पर अपना संदेश लिख दिया—

१—इन्द्रचन्द्र नारंग, पदमावत-सार, पृ० १७६—७७

'भीख लेइ तुम जोग न सिखे ।'

तुलसीदास ने भी रामचरितमानस के बालकांड में इसी प्रकार के एक प्रसंग की योजना की है। (रत्नसेन पदमावती के लिये शिव मन्दिर में डेरा डाले पड़ा था) और राम अपने भाई लक्ष्मण के साथ मालियों से पूछ कर बाटिका में फूल चुन रहे थे)।

तेहि अवसर सीता तहँ आई । गिरिजा पूजन जननि पठाई ।
संग सखी सब सुभग सयानी । गावहिं गीत मनोहर बानी ।

'पदमावती के साथ रूपवती सहेलियाँ थीं और बाजे बज रहे थे, तो जानकी के साथ सुभग सखियाँ गीत गाती जा रही थीं, और 'कंकण किंकिणि नूपुरध्वनि' मुखर हो रही थीं वहाँ पदमावती स्वतः महादेव को पूजने चली थी तो यहां सीता गिरिजा को पूजने जा रही थीं। पदमावती ने महादेव की पूजा के अनन्तर अपने लिये खुल कर वरदान माँगते हुए कहा था कि मेरा बर-संयोग मिला दोगे तो तुम्हें कलश चढ़ाऊँगी। जानकी मर्यादा की देवी थीं। उन्होंने पूजा के पश्चात् इतना ही कहा कि 'मोर मनोरथ जानहु नीके ।' उन्हें भी पति की कामना थी। उन्हें आशीस भी मिला था कि 'पूजहि मन कामना तिहारी ।' इस प्रसंग में तुलसीदास ने जायसी की ही भाँति एक विशिष्ट सखी को उपस्थित किया है—

'एक सखी सिय संग बिहाई । गई रही देखन फुलवाई ।
तेहिं दोउ बन्धु बिलोके जाई । प्रेम-बिबस सीता पहि आई ।।'

उसने आकर सीता से राम के रूप का बखान किया। सीता उन्हें देखने के लिए उत्सुक हुई। अन्य सखियों ने भी समर्थन किया—'अवसि देखियहिं देखन जोगू' और वे उस प्रिय सखी को आगे करके उन्हें देखने चलीं—

'एक सखी सिय संग बिहाई । गई रही देखन फुलवाई ।'

और 'ततखन एक सखी विहंसानी । कौतुक आइ न देखहु रानी ।'

वाले प्रसंग में अद्भुत साम्य हैं। सम्भव है यह योजना जायसी के उपर्युक्त सखी के द्वारा पदमावती के योगी के पास पहुँचने के सुझाव से ही तुलसी ने अपनाई हो और महादेव के मण्डप का अकूट शब्द ही तो कहीं उस मन्दिर मांझ भई नभवाणी का प्रेरक नहीं है जो रामचरितमानस में कागभुशुंडि को अपने पूर्वजन्म में उज्जैन के महाकाल (शिव) मन्दिर में गुरु का अपमान करने पर सुनाई पड़ी थीं।[1]

इसी प्रकार का एक और प्रसंग द्रष्टव्य है। अलाउद्दीन चित्तौड़ पर घेरा डाले पड़ा है और रत्नसेन नाच-रंग में मस्त है—

तबहूं राजा हिये न हारा । राजपौरि पर रचा अखारा ।
सोह साह कै बैठक जहाँ । समुहैं नाच करावे तहाँ ।।

१—पदमावत सार, पृ० १७९-८० ।

जहवां सौंह साह कै दीठी। पातुरि फिरत दीन्हि तहं पीठी।

इस पर गढ़ के ऊपर बाण चलने लगे। कन्नौज के राजा जहाँगीर का बाण उस वेश्या की जाँघ में लगा। वह गिर पड़ी और 'उड़सा नाच नचनिया मारा। रहसे तुरुक बजाइ कै तारा।' इसी मिलता जुलता दृश्य रामचरितमानस में अंकित है। सुबेल पर्वत पर ससैन्य रामचन्द्र शिविर बनाकर आसीन हैं। वे दक्षिण दिशा में बादल के घुमड़ने और बिजली के चमकने की बात विभीषण से कर रहे हैं—

कहत विभीषण सुनहु कृपाला। होइ न तड़ित न वारिदमाला।
लंका सिखर उपर आगारा। तहं दसकंधर देख अखारा।
छत्र मेघडंबर सिर धारी। सोइ जनु जलद घटा अतिकारी।

और उस समय—

छत्र मुकुट ताटंक तब हते एक ही बान।
सबके देखत महि परे, मरमु न कोऊ जान॥[१]

इन दोनों अखाड़ों में विचित्र सादृश्य है। श्री इन्द्रचन्द्र नारंग ने इन सब वर्णनों के अनन्तर लिखा है क्या जायसी ने तुलसी को इस प्रसंग की उद्भावना करने की सूझ नहीं दी? हमारे देखने में तो संस्कृत रामायणों में ये प्रसंग इस रूप में नहीं आए और हम इन्हें तुलसी की मौलिक सूझ ही मानते थे। परन्तु क्या यह सम्भव नहीं कि जायसी की उपर्युक्त प्रसंगों की उद्भावना उस कवि के लिए पथ-प्रदर्शक रही हो जिसकी अमर रचना रामचरितमानस के सामने जायसी की पदमावत को लोग भूल ही गये।

इसी प्रकार (पदमावत में) पदमावती के विवाह के समय निर्मित-रंग-महल के वर्णन और रामचरितमानस में सीता-स्वयंवर के समय निर्मित वितान के वर्णनों में भी अद्भुत साम्य है।

'पुतरी गाडि गढ़ि खम्भन्ह काढ़ी। जनु सजी सेवा सब ठाढ़ी।'
—जायसी

सुर प्रतिमा खम्भन्ह गढ़ि काढ़ीं। मंगल द्रव्य लिए सब ठाढ़ीं।
—तुलसीदास

इस प्रकार साम्यमूलक प्रसंगों के विषय में यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास ने पदमावत से प्रेरणा ग्रहण की थी। एक बात यह भी है कि इस प्रकार के प्रसंग (जैसे—शिव—मन्दिर, गढ—वर्णन आदि) मध्यकालीन कविता में कथानक-रूढ़ि बन गये थे। अतः बहुत संभव है कि इन कवियों के इन प्रसंगों का मूल स्रोत लोक जीवन की ये काव्यगत रूढ़ियां ही हों।

१—रामचरितमानस, पृ० ८७४,, दोहा १३ (क)

यह संभावना की जा सकती है कि तुलसीदास ने पदमावत को पढ़ा था और वे उसकी छन्द-योजना से प्रभावित हुए हों।

जायसी और कबीरदास (तथा अन्य सन्त कवि)

भक्तिकालीन कवियों में कबीर को संतमत का प्रवर्तक कहा जाता है। यद्यपि कबीर ने कभी किसी संप्रदाय या पंथ-विशेष के प्रवर्तन का आग्रह नहीं किया था, तथापि कालान्तर में उन्हें एक पंथ विशेष से सबद्ध कर दिया गया। वे एक क्रान्तदर्शी संत हुए हैं। उनका पंथ निराला था। उन्होंने जायसी की भाँति समन्वय का पल्ला नहीं पकड़ा, वे एक क्रान्तिकारी भक्त थे। भारतीय अद्वैतवाद, मुस्लिम एकेश्वरवाद और सूफीमत के प्रेमपंथ को स्वीकार करते हुए भी वे सबसे अलग थे। उन्होंने हिन्दू मुसलमान पीर, पैगम्बर, पंडित आदि के वाह्या डंबरों का प्रवल खण्डन किया। कविता को तो विद्वान कबीर की 'बानियों' में 'बाई प्राडक्ट' मानते हैं—वे मूलतः भक्त थे। इस स्वतन्त्र विचारक वाह्याडंबरों के खंडक और प्रतिभा के धनी संत कवि के रूप में कबीरदास हिन्दी भक्ति साहित्य में समादृत हैं। संत कवियों में कबीरदास को छोड़कर और कोई भी ऐसा विचारक या कवि नहीं है जो जायसी की समकक्षता में आ सके। कवि रूप में कबीरदास से जायसी की श्रेष्ठता स्वतः सिद्ध है। कबीरदास की बहुत सी रचनाओं को काव्य-कोटि में रखने से विद्वान् हिचकिचाते हैं। उनका कथन है कि उन्होंने अधिकतर नीची श्रेणी के अपढ़ लोगों को प्रभावित करने का प्रयत्न किया था। पढ़े-लिखे लोगों पर इनका तथा इसी प्रकार के अन्य निर्गुणपंथी संतों का वैसा प्रभाव नहीं दिखाई देता। अपढ़ जनता को आकृष्ट करने के लिए योग साधना और ज्ञान मार्ग की फुटकल बातों को अपनी उलटवाँसियों तथा चमत्कारपूर्ण रूप से लक्षित कराने का इन्होंने प्रयास किया था। कबीर ने ज्ञान को तो ग्रहण किया था पर कर्म की वैसी व्यवस्था उनके पंथ में न हो सकी। कबीर की सब रचनायें शुद्ध काव्य के अन्तर्गत आ सकती हैं, इसमें संदेह हैं। योग-साधना का उल्लेख करने वाली नाड़ी, चक्र, सुरत, निरत ब्रह्मरंध्र आदि का विवरण देनेवाली रचनायें काव्य के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकतीं। जिनमें प्रेमतत्व का निरूपण है या जिसमें पति-पत्नी, सेव्य-सेवक, पिता पुत्र, आदि अनेक लौकिक संकेतों से रहस्य-संकेत किए गए हैं वे ही काव्य के भीतर ली जा सकती हैं।[१] इस प्रकार उनकी बहुत सी रचनायें काव्य-कोटि में नहीं आतीं। कहाँ उनकी स्फुट नीरस पद रचना और कहाँ साहित्य की अमूल्य निधि पदमावत। कहाँ कबीर की असाहित्यिक 'सधुक्कड़ी भाषा' और पदमावत की शास्त्रसंमत सरल

१—आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाङ्मय विमर्श पृ० २५५-५६।

और अलंकृत काव्यभाषा ।[1] इतना तो स्पष्ट है कि जायसी की भाषा कबीर से अधिक सरल,अलंकृत और काव्यमय है। इसका कारण है कि जायसी का लक्ष्य 'काव्य' था और कबीर का भक्ति–ज्ञान ।

कबीर का रहस्यवाद हिन्दी में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ऐसे पदों में उनका कवि रूप भी मुखर हो उठा है । कबीर के पहले ही हिन्दी सूफी कवियों की रहस्यवादी रचनायें प्रकाश में आ गई थीं । मुल्ला दाऊद का चन्दायन कबीर के बहुत पहले ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था । कबीर के रहस्यवाद में जो प्रेममूलक सौन्दर्य है । वह सूफियों से ली हुई वस्तु है। इसीलिए कबीर के रहस्यवाद का अस्थिपंजर यदि अद्वैतवाद और हठयोग है, तो उसका प्राण सूफीमत का प्रेम ही है यदि सूफीमत के प्रेम-पीर की अभिव्यंजना उसमें से निकाल ली जाय, तो उसमें रहस्यवाद रह ही नहीं जाता। कबीर के 'पीव', 'साईं', 'करतार', 'भरतार' में सूफियों की प्रेम-पद्धति का ही एक रूप द्रष्टव्य है। कबीर के रहस्यवाद में भी अव्यक्त-अशरीरी प्रियतम के प्रति दाम्पत्य भाव का प्रणय है । उसमें भी प्रेम की पीर और विरह की भावना सूफियों की है । भारतीय भक्ति और ज्ञानमार्ग सर्वथा भिन्न वस्तु हैं । भक्ति में सगुण और ज्ञान में निर्गुण का स्पष्ट आधार है। केवल सूफी पद्धति में ही निर्गुण के प्रति भी दाम्पत्य प्रणय का योग होता है। निर्गुण के प्रति दाम्पत्य प्रेम ही उसे रहस्य की संज्ञा भी देता है । इस प्रकार कबीर का रहस्यवाद निश्चय ही सूफीमत पर अवलम्बित है । फिर कबीर का रहस्यवाद मूलतः साधनात्मक है । उसमें ब्रह्म, माया, तथा हठयोग के षड्दल कमल, कुंडलिनी, इङ्गला, पिंगला, सुषुम्ना आदि का योग है । कहीं-कहीं तो उलटवाँसियों का भी इन सबके साथ योग हो गया है और अटपटापन आ गया है। दार्शनिकता और हठयोग के समन्वय के कारण कबीर का रहस्यवाद जटिल हो गया है। जायसी का रहस्यवाद सहज, सुबोध और सरस है । सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्गुण का सूफीमत भले ही साहाय्य हो, किन्तु प्रबन्ध-श्रृंखला में उसके प्रियतम और प्रियतमा सुस्पष्ट हैं, उनके माध्यम से उपस्थित होने पर कवि सरलता से प्रियतम के प्रति प्रणय तथा प्रेम की पीर की सहज अभिव्यक्ति कर देता है । जायसी के यहाँ साधनात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवादों का सुन्दर उत्कर्ष देखा जा सकता है। शुक्ल जी ने ठीक ही कहा था कि 'जायसी सच्चे रहस्यवादी हैं। कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं सरस सुन्दर और रमणीय अद्वैती रहस्यवाद है, तो जायसी में जिनकी भावुकता उच्चकोटि की है। वे सूफियों को भक्ति-भावना के अनुसार कहीं परमात्मा को प्रियतम के रूप

१—डा० मनमोहन गौतम, जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० १४२ ।

में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप-माधुर्य की छाया देखते हैं। और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का पुरुष के समागमन के हेतु प्रकृति के शृंगार, उत्कंठा या विरह विकलता के रूप में अनुभव करते हैं।[1] इस प्रकार क्या कवि-कर्म और क्या सिद्धान्त निरूपण, क्या रहस्यवाद की सम्पन्न काव्य-पद्धति और क्या प्रबन्धत्व—सभी दृष्टिकोणों से जायसी कबीरदास जी की अपेक्षा हिन्दी-काव्य धारा में सम्मानपूर्ण पद के अधिकारी हैं।

सूफी मत ज्ञान और भक्ति का मध्यम मार्ग है जिसमें निर्गुणोपासना का प्राधान्य है। ध्यानपूर्वक देखने पर स्पष्ट हो जाता है इस निर्गुणोपासना में सगुणोपासना भी अनुस्यूत है। भारतीय भक्ति-साधना पद्धति ने उस पर अपना भी गहरा रंग चढ़ा दिया है। योगियों-सिद्धों ने भी उस सूफी मत पर अपनी गहरी छाप लगा दी है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सूफियों ने भी भारतीय समाज धर्म, साहित्य और साधना-पद्धति पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला है। साहित्य के क्षेत्र में सूफियों की सर्जना-प्रणाली अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस प्रणाली ने समकालीन और परवर्ती साहित्य पर अपना प्रभाव अमर कर दिया है।

भारतीय साधना-पद्धति में योग-मार्ग का भी बड़ा महत्व है। योग वाले तो अपनी प्राचीनता वेदों से भी पहले ले जाते हैं। जो भी हो प्राचीन योगमार्ग का ग्रहण बौद्धधर्म के भीतर उस समय विकृत रूप में किया गया जब उसमें हीनयान और महायान की शाखायें फूटीं। महायान में भी हीनयान और सहजयान नाम के मार्ग निकले। सहजयान की उपासना तांत्रिक रूप में भारत में बहुत दिनों तक चलती रही। यही संप्रदाय बौद्धों के विध्वस्त हो जाने पर सहजिया नाम से बना रहा, जिसमें से आगे चलकर नागपंथ फूटा। नागमत में मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि प्रसिद्ध सिद्ध हो गए हैं। कबीरदास के विषय में कहा जाता है कि 'शेख तकी ऐसे सूफी फकीर से इनका सत्संग हुआ था। सूफियों के सत्संग के कारण इनमें प्रेमतत्वपरक बचन भी पाए जाते हैं। ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद, प्रेममार्गी सूफीमत, अहिंसा प्रधान प्रपत्तिवादी वैष्णव मत, मुसलमानी एकेश्वरवाद और नाथपंथियों का योगमार्ग ये उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर दिखाई देते हैं।'[2] कबीरदास जैसे ज्ञानमार्गी संतों की साधना पद्धति में जो माधुर्यभाव-प्रणय भाव दृष्टिगोचर होता है उसे सूफियों की देन कहा जा सकता है। भागवत में भी गोपी-कृष्ण प्रसंग में इसी प्रकार के प्रणय की बात मिलती है, पर वह साकार कृष्ण को लेकर है। सूफियों का प्रणय निराकार के प्रति है। इस प्रकार सूफियों की यह प्रणय भावना कबीर, दरिया आदि संतों से प्रणय में अभिव्यक्त हुई है। उदाहरणार्थ सूफी

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जा० ग्रं०, भूमिका, पृ० १६४।
२—वही, पृ० २५४—५५।

प्रणय-भावना से प्रभावित ज्ञानमार्गी संतों की कुछ वाणियाँ ली जा सकती हैं—

'बालम आओ हमारे गेह रे ।
तुम बिन दुखियां देहरे ।।[१]
'पीतम साहब आए मेरे पहुना, घर आँगन लगै सुहौना ।[२]
बहुरि नहिं आवना यहि देस । जो रे गये बहुरि ।
नहिं आये, पठवत नाहिं संदेस ।।[३]
तोको पीव मिलेंगे घूंघट के पट खोल रे ।[४]
'साई बिन दरद करेजे होय ।[५]
तलफै बिन बालम मोर जिया ।
नैन थकित भए पंथ न सूझे साईं बेदरदी सुधि न लिया ।[६]
समुझ सोच मन मीत पियरवा आसिक होकर सोना क्या रे ?
कहै कबीर प्रेम का मारग सिर देना तो रोना क्या रे ।[७]
दास दिवाना बावरा अलमस्त फकीरा ।
एक अकेला ह्वै रहा असमत का धीरा ।
हिरदे में महबूब है हरदम का प्याला ।'[८]
एक प्रेम बह्मांड छाप रह्यो समझै बिरला पूरा ।
अंधभेदी कहाँ समायेंगे ज्ञान के घर है दूरा ।[९]

कबीर की ही भाँति अन्य निर्गुणोपासक ज्ञानमार्गी सन्त भी सूफियों की प्रेम-भावना से प्रभावित हैं । उदाहरण के लिए कुछ ज्ञानमार्गी संतों की बानियों में से एक-एक पंक्तियां दी जा रही हैं—

'मोरा पिया बसै कौने देस हो ।'[१०] (धर्मदास)
'प्रभु मेरे प्रीतम प्रान पियारे ।'[११] (नानक)
अजहूँ न निकसै प्रान कठोर ।
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर ।।'[१२] (दादूदयाल)
'तेरा मैं दीदार दीवाना ।

१—कबीर, पृ० २५८ (पद ३५)। २—वही, पृ० २८३ (पद ८८)।
३—वही, पृ० ३१२ (पद १३७)। ४—वही, पृ० ३५० (पद २२४)।
५—वही, पृ० २६६ (पद ५२) । ६—वही, पृ० ३२९ (पद १७३)।
७—वही, पृ० २८९ (पद ९६) । ८—वही, पृ० ३४५ (पद ३१०) ।
९—वही, पृ० २८७ (पद ९७)।
१०—संतबानी संग्रह, पृ० ४४ (भाग २)
११—वही, पृ० ४९ । १२—वही, पृ० ९३ ।

घड़ी घड़ी तुझे देखा चाहूं, सुन साहिब रहिमाना ।।
हुआ अलमस्त खबर नहिं तन की पीया प्रेम पियाला ।'[1]

इनके अतिरिक्त यारी, दरिया, बुल्लेशाह और बरकतुल्ला आदि तो सूफी ही थे। इन सब संतों के प्रणयवाद में जो रहस्यात्मकता गर्भित है वह सूफियों की ही उपज है। इस प्रणयवाद का प्रभाव साधना तक ही सीमित न था, वरन् यह मानव समाज के लिए वरदान के रूप में था। जो मनुष्य मनुष्य से प्रेम नहीं कर सकता, वह ईश्वर से क्या कर सकता है ? प्रथम आये हुए सूफियों ने हिन्दू और मुसलमानों के मध्य विद्वेष को मिटाने के लिए जो प्रेम का बीज बोया था वह शीघ्र ही अंकुरित हुआ और ज्ञानमार्गी संतों ने उसे पल्लवित किया।

डा० विमलकुमार जैन[2] का विचार है कि सूफियों के यहाँ धार्मिक रूढ़ियों और ब्रह्माडम्बरों के विरोध का अभाव है। जायसी ने कई स्थलों पर साधना और धर्म के पक्षों में वाह्याडम्बर का विरोध किया है। उन्होंने कहा है—

'का भा परगट क्या परवारें। का भा भगति भूइ सिर मारें।
का भा जटा भभूत चढ़ाएँ। का भा गेरू कापरि लाएँ।
का भा भेस दिगंबर छांटे। का भा आपु उलटि गए काँटे।
जो मेरवहि तजि लौन तू गहा। ना बग रहैं भगति बे चहा।
बर पीपर सिर जटा न थोरे। अइस भेस की पावसि भोरे।
जब लगि विरह न होइ तन, हिए न उपजइ पेम।
तब लगि हाथ न आव तप करम धरम सत नेम ।।'[3]

अभी तक विद्वानों का विचार है कि तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में हिन्दी में सूफी साहित्य का निर्माण हुआ होगा।[4] अब शोधों में अनेक सूफीग्रंथ भी मिलते जा रहे हैं। जैसे १३७९ ई० में लिखित मुल्ला दाऊद कृत चन्दायन की एक सचित्र और ३०५ पृष्ठों की सुलिखित फारसी प्रति 'रीलैण्ड लाइब्रेरी, मैंचेस्टर से प्राप्त हुई है। १५वीं शताब्दी से तो हिन्दी सूफी साहित्य हमें मिलता ही है। इस साहित्य ने काव्य और आध्यात्म दोनों क्षेत्रों में हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। मुख्यत: अवधी भाषा में ही यह सूफी साहित्य है। अवधी भाषा को हिन्दी में काव्य-सिंहासन पर आसीन कराने और उसे दोहा-चौपाई के गंजा-जमुनी संगम में अभिषिक्त कराने का परम पवित्र कार्य इन्हीं सूफी सन्तों ने ही किया। तुलसीदास

१—वही, पृ० १०३।
२—डा० विमलकुमार जैन, सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० २२२।
३—चित्ररेखा।
४—डा० विमल कुमार जैन, सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० २२२।

को यह शैली प्रधानतः इन्हीं से विरासत में मिली। हां, यह अवश्य है कि जायसी और तुलसीदास इस शैली के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

जायसी और मीरांबाई

सूफियों के प्रेमप्रवाह में अनेक कृष्णभक्त कवि भी प्रवाहित-प्रभावित हुए हैं। मीरांबाई में तो सूफी प्रणयवाद स्पष्ट रूप में दर्शनीय है। उनके प्रियतम कृष्ण के वियोग के गीतों में प्रायः सूफी रंग दिखाई देता है। यह सत्य है कि उनके प्रियतम गिरिधर लाल हैं। ये मात्र ब्रजबासी नहीं हैं, बल्कि अध्यात्म सत्ता भी हैं। मीरां का मंदिरों में नाचना-गाना, कभी कभी उन्माद की अवस्था को पहुँच जाना आदि में सूफियों के 'हाल' की भी दशा स्पष्ट है। वे केवल साकार कृष्ण की प्रिया नहीं है, बल्कि उनके प्रियतम निर्गुणी-निराकार कृष्ण भी हैं। मीरां के प्रेम की पीर में सूफियों की प्रेम-पीर भी है। कृष्ण के बिना उनका जीवन असम्भव है, उनके नेत्र कृष्ण के दर्शन को तरस रहे हैं, वे हृदय की तपन बुझाना चाहती हैं, वे प्रेम-पीर में घायल तड़पती हैं। सूनी सेज उन्हें विष प्रतीत होती है, विरह-बाण उनके हृदय को साल रहा है। प्रिय के पंथ को वो सतत निहारती रहती हैं 'पीव-पीव' रटती रहती हैं, वे कृष्ण के साथ (रहस्यात्मक) होली भी खेलने के लिए आतुर हैं, यहां कतिपय उदाहरण अपेक्षित हैं—

'नैनन बनज बयाऊं रे जो मैं साहब पाऊं।'[१]
'हेली कहासूं हरि बिनि रह्यो न जाय।'[२]
'प्रेम-भगति को पैंड़ों है न्यारो, हमकूं गैल बता जा।'[३]
'तुम देखे बिन कलि न परति है, तलफि-तलफि जिय जासी।'[४]
'हेरी मैं तो दरद दिवाणी होइ, दरद न जाणै मेरो कोइ।
घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होइ।
सूली ऊपरि सेज पिया की, सोवण किस बिध होइ।'[५]
'पीया बिनि रह्योइ न जाइ॥'[६]
"मैं बिरहणि बैठी जागूं गत सब सोवै री आली"[७]

१—मीराबाई की पदावली (संमेलन प्रयाग), पृ० ९९ (पद १२)।
२—वही, पृ० ११३।
३—वही, पृ० ११६ (पद ४६)।
४—वही, (पद ४९)।
५—वही, पृ० १२१ (पद ७१)।
६—वही, पृ० १२२ (पद ७३)।
७—वही, पृ० १२७ (पद ८६)।

पिय को पंथ निहारत सिगरी रैंण बिहानी हो ।[1]
'तलफत तलफत कल न परत है, बिरह बाण उर जारी री।
निस दिन पंथ निहारूं पीव को पलकन पर भरि लागी रे।
पीव पीव मैं रटूं रात दिन दूजी सुधि-बुधि भागी रे ।[2]
प्यारे दरसण दीज्यो आय, तुम बिन रह्यों न जाय ।[3]
प्रेमनी, प्रेमनी प्रेमनी रे, मने लागी कटारी प्रेमनी रे ।[4]
आली सांवरो की दृष्टि मानो प्रेम की कटारी है ।[5]

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल[6] और पं० विश्वनाथप्रसाद[7] मिश्र मीराबाई पर कबीर के ज्ञान और सूफियों के प्रेम दोनों का प्रभाव मानते हैं। सखी भाव की उपासना का कारण सूफियों की प्रेमलक्षणा भक्ति ही है। विद्वानों का विचार है कि मीरांबाई पर सूफियों का प्रभाव अवश्य पड़ा है।

जायसी की रचनाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते समय हमारे सामने मीरा बाई का भी नाम आ जाता है। 'जायसी अवस्था में मीरांबाई से कदाचित् कुछ बड़े थे और इनकी मृत्यु के अनन्तर बहुत दिनों तक वे जीवित भी रहे थे। जायसी ने कई छोटी बड़ी प्रेमगाथायें लिखी हैं। उनका पदमावत एक श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य है, उसकी भाषा अवधी है, किन्तु मीरांबाई ने अपने फुटकर पदों की रचना अधिकतर ब्रजभाषा एवं राजस्थानी में की है। जायसी और मीरा दोनों द्वारा प्रदर्शित प्रेम आरम्भ से ही विरहगर्भित एवं अलौकिक है और दोनों ने ही उसके कारण-स्वरूप किसी पूर्व सम्बन्ध की ओर संकेत किया है। जायसी ने पदमावती का 'सपन बिचारू' बतलाती हुई सखी द्वारा उसका पच्छिउं खण्डकर राजा के साथ विवाह होना निश्चित कहलाया है और उस बात को 'मेटि न जाइ लिखा पुरबिला' द्वारा अधिक दृढ़ भी करा दिया है और प्रायः इसी प्रकार मीरा ने भी अपने 'सुपने में परण' जाने का विवरण देकर उनका समर्थन पूर्व जनम के भाव द्वारा ही किया है तथा बार-बार अपने और गिरधर की 'प्रीति पुराणी' का उल्लेख भी किया है। जायसी के प्रेम का रूप अधिक व्यापक एवं सर्वांगीण है, मीरा का प्रेम व्यक्तिगत-सा दीख पड़ने से जैसे किसी माधुर्य भाव से भक्त के लिए ही आदर्श बनकर रह गया है। जायसी उत्कृष्ट विरह वर्णन, उत्तम प्रबन्धत्व, भाषा की व्यंज-

---

१—मीराबाई की पदावली (सम्मेलन प्रयाग), पृ० १२७ (पद ८६)।
२—वही, पृ० १२८, (पद ६१)। ३—वही, पृ० १३१, (पद १०१)।
४—वही, पृ० १५४ (पद १७५)। ५—वही, पृ० १५४ (पद १७६)।
६—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १८५।
७—वाङ्मय विमर्श, पृ० २८२।

कता-आलंकारिकता और प्रेम की उदात्तता के कारण हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ कवियों में हैं। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि मीराबाई के पदों में जहाँ निराकार की ओर संकेत किया गया है वहाँ उनकी उपासना को हम प्रेमोपासना ही मानते हैं। निराकार में प्रेमोपासना सूफी पद्धति है। कबीर की प्रेम भक्ति पर भी सूफियों का प्रभाव है। अतः मीरा पर सूफियों का प्रभाव स्पष्ट है। डा० विमलकुमार जैन ने आधुनिक युग के 'छायावादी और रहस्यवादी काव्य में स्पष्ट रूप से सूफी भावना को देखा है। उन्होंने सिद्ध किया है कि प्रसाद की वेदना-अभिव्यक्ति में, बच्चन के हालावाद में और महादेवी वर्मा के विरहवाद में भी सूफियों का व्यापक प्रभाव है।[1] यह एक विवादास्पद विषय है किन्तु यह अवश्य सत्य है कि सूफियों का आधुनिक हिन्दी काव्य पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा है।

समन्वय

हिन्दी के सूफी कवियों में भारतीय ईरानी सूफी दार्शनिक तत्वों का सुन्दर समन्वय हुआ है। जायसी के यहाँ भी अद्वैतवाद का स्वर प्रमुख है —

ना ओहि ठाउं न ओहि बिन ठाऊं।
रूपरेख बिनु निरमल नाऊं ।।'
ना वह मिला न बेहरा ऐस रहा भरपूर।
दी ठिवन्त कहं नीयर अंधमुख कहं दूर ।।'

इस्लाम में एकेश्वरवाद की मान्यता है और सूफी मत में अद्वैतवाद की। इस्लाम में ईश्वर, जीव एवं जगत की पृथक्-पृथक् सत्ता को माना ही गया है। अद्वैतवाद में ब्रह्म को ही वास्तविक सत्ता के रूप में माना जाता है। शेष सम्पूर्ण जगत उसी से जन्मा है और उसी में विलीन हो जाता है। ब्रह्म से जगत् का अभेद है। अद्वैत वाद में नाना रूपात्मक दृश्य जगत् की व्याख्या के लिए प्रतिबिम्बवाद, वितर्कवाद, आदि का सहारा लिया जाता है। ब्रह्म बिम्ब है और जगत् उसका प्रतिबिम्ब। यद्यपि सूफियों के उपास्यदेव निराकार हैं, तथापि वे प्रेम प्रभु हैं। इस निराकार प्रेम-प्रभु की अभिव्यंजना के लिए सूफियों ने साकार का अवलम्बन लिया है। साकार तो माध्यम है निराकार की अभिव्यक्ति का। भक्ति मार्ग को सूफीमत की यह एक देन है। ईश्वर एक है, अद्वितीय है, उसका कोई स्थान नहीं है और न कोई स्थान उससे रिक्त है —

'है नहिं कोई ताकर रूपा। ना ओहि सब कोहू आहि अनूपा ।।

१—डा० विमलकुमार जैन, सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० २२९।

उसने ही संसार और दृश्यमान जगत् की सर्जना की है।[1] वह अहम् और इदम् सबमें व्याप्त है।

'मैं जानेउ तुम मोंही माहा। देखों ताकि तौ हौ सब पाहां ॥'

उसके जीव नहीं है, फिर भी जीता है, हाथ नहीं हैं पर रचना करता है, जिह्वा नहीं हैं, फिर भी सब कुछ बोलता है, शरीर नहीं है, पर सर्वत्र डोलता है, कान बिना भी वह सब कुछ सुनता है, हृदय बिना भी वह सब कुछ गुनता है, नयन बिना भी सर्वदर्शी है।[2]

सूफियों ने परमात्मा को अमित सौंदर्य तत्व के रूप में माना है —

'सरवर रूप बिमोहा, हिये हिलोरहिं लेइ।'

जो कोई उस अनन्त दिव्य सौंदर्य की बात सुनता है, सुधि-बुधि भूल जाता है —

'जौ राघव धनि बरनि सुनाई। सुना साह, गइ मुरछा आई ॥'

वह अनन्त दिव्य सौंदर्य सम्पन्न है। चाँद, तारे, सूर्य सभी तत्व उसी से प्रकाशित हैं। संसार अस्थिर है, यदि कोई नित्य तत्व यहां है, तो परमात्मा –

'सबै नास्ति वह अहथिर, ऐस साज जेहि केर ॥
एक साजै औ भांजै, चहै संवारे फेर ॥'

यद्यपि ईश्वर प्रेमरूप है, तथापि उसका शासन बड़ा कठोर भी है। सूर्य चांद, तारे उसी के डर से दिन-रात चला करते हैं —

'चांद सुरुज और नखतन्ह पांती। तेरे डर धावहिं दिन राती।'
साजइ भांजइ नित नव लाखा। अस्थिर आपु और नहिं राखा ॥
साजइ सब जग साज चलावा। औ अस पाछै ताजन लावा।
तिन्ह ताजन डर जाइ न बोला। सरग फिरइ औ धरती डोला ॥
चांद सुरुज कहं गहन गरासा। औ मेघन कहं बीजु तरासा।
नाथे डोर काठ जस नाचा। खेल खेलाइ फेरि गहि खांचा ॥[3]

फारस के सूफियों ने ईश्वर की चार विशेषतायें बतलाई हैं —

(१) जात (एकता, नित्यता, सत्यता, सार्वभौमिकता)।
(२) जमाल (उदारता, मधुरता, क्षमा)।
(३) कमाल (शक्ति, शासन)।
(४) जलाल (विरोधी गुणों का समाहार, अलौकिकता)।

१–जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (स्तुतिखंड) पृ० १–२।
२–जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ३।
३–चित्ररेखा, पृ० ६६।

जायसी के ईश्वर-सम्बन्धी वर्णनों में ये चारों तत्व मिलते हैं। जायसी ने 'एकेश्वरवादी दर्शन के अनुसार भक्तिपूर्वक परमात्मा का स्मरण किया है —

'सुमिरों आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ॥'[1]

प्राय: सूफी ईश्वर को संसार का सर्जनहार मानते हैं।[2] जायसी ने भी पदमावत, अखरावट, चित्ररेखा आदि ग्रंथों के प्रारम्भ में ईश्वर को संसार का बनाने वाला माना है।

सृष्टि —

सूफियों ने 'रूह' को सृष्टि का उपादान कारण माना है। रूह के माध्यम से ही हमें अल्लाह की अलौकिक भक्ति की झलक मिलती है। अल्लाह ही सत्य है, सृष्टि उसकी छाया (प्रतिबिम्ब) है। जायसी ने पदमावत, अखरावट और चित्र-रेखा में सृष्टि के विषय में बहुत कुछ लिखा है।

'गगन हुता नहिं महि हुती, हुते चंद नहि सूर।
ऐसइ अन्धकूप महं, रचा मुहम्मद नूर ॥'
(अखरावट)

अखरावट का विवेचन करते हुए जायसी के सृष्टि-तत्व का वर्णन किया जा चुका है। ईश्वर ने मुहम्मद साहब के प्रीत्यर्थ सृष्टि की सर्जना की है —

'प्रथम जोति विधि ताकर साजी। औ तेहि प्रीति सिहिटि उपराजी।'
(पदमावत)

'पेम पिरीति पुरुख एक किया। नाउं मुहम्मद दुहुं जग दिया ॥
अंधकूप भा अहा निरासा। ओनकै प्रीति जोति परकासा ॥'
(चित्ररेखा, पृ० ७१)

सम्पूर्ण संसार एक दर्पण है। इसमें ही वह परमार्थ सत्ता प्रतिबिम्बित है। वही कर्त्ता है, कार्य है और कारण भी है —

'सबै जगत दरप कै लेखा। आपुहिं दरपन आपुहि देखा ॥
(अखरावट)

'आपु आपु चाहेसि जो देखा। जगत साजि दरपन कै लेखा ॥
'घट घट जस दरपनु परछाईं। नान्हें मिला दूर पुनि नाहीं ॥
(चित्ररेखा, पृ० ६९)

जीव —

जीव के विषय में सूफियों ने वेदान्तियों की तरह 'अनल हक्' (अहं ब्रह्मा-स्मि) का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार अल्लाह और बन्दे में कोई अन्तर नहीं

१—जायसी ग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पदमावत, पृ० १।
२—डिक्शनरी आफ इस्लाम, पृ० ६०९ (१८८५ ई०)।

है । जीव अल्लाह का ही प्रतिरूप है । अल्लाह ने अपने नूर से अपने अनुरूप ही 'आदम' की रचना की । मूलतः इन्सान वह दर्पण है, जिसमें अल्लाह अपना रूप देखता है । (देखिए 'सृष्टि के सिलसिले में दिए गए उदाहरण) जीव के विषय में रूमी का कथन है कि 'प्रेमी और पिय देखने में भिन्न हैं, पर तथ्यतः उसके युगल शरीर में, मिथुन रूप में, एक सी आत्मा का निवास है । फारिज ने भी कहा है कि प्रेमी सदैव प्रिय है और प्रिय प्रेमी है । इस विवेचन के प्रकाश में यह कहना कठिन है कि सूफियों का अद्वैतवाद किस श्रेणी का है । हां, साधना पक्ष में वह वेदान्त के केवलाद्वैत के निकट है—

'रहा जो एक जल गुपुत समुन्दा । बरसा सहस अठारहबुन्दा ।
सोई अंश घटै घट मेला । औ सोइ बरन बरन होइ खेला ।।
(अखरावट)

उसने ही जीवों को बनाया है और निवास भी दिया है ।

'जीया जोनि लाख चौरासी । जल थल मांह कीन्ह सब बासी ।'
(चित्ररेखा, पृ० ६५)

जायसी ने जीव को परमार्थतः ब्रह्म का ही अंश कहा है । जीव को चाहिए कि अपनी पृथक सत्ता या अहंभाव को दूर करे और ब्रह्म से एक हो जाए—

'एकहिं ते दुइ होइ, दुइ सों राजन चलि सकै ।
बीचु ते आपुहि खोइ, मुहमद एकै होइ रहु ।'
(अखरावट)

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य की चिन्त्य आलोचना और उसका उत्तर

डा० कमलकुल श्रेष्ठ ने हिंन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों के विषय में लिखा है कि पदमावती, हंस जवाहिर आदि को मुस्लिम प्रचार के दृष्टिकोण से देखा जा सकता है । इस आरोप को लगाते हुए उन्होंने कहा है कि 'ये कवि इस्लाम का प्रचार करने वाली संस्था से संबन्धित अवश्य थे । इस कारण इनकी नियत पर उसका प्रभाव संभव है । उस संस्था के कर्णधारों के प्रति इन कवियों की अटूट श्रद्धा थी, जो कि प्रत्येक कवि ने अपने-अपने काव्य के प्रारम्भ में दिखाई हैं ।' प्रस्तुत लेखक (डा० कमलकुल श्रेष्ठ) इस मौलिक दृष्टिकोण का उद्घाटन करते हुए भी इसके पक्ष में अति प्रबल प्रमाण देने में असमर्थ हैं और इस कारण इसे पूर्णरूप से सही नहीं कह सकता ।"[1] डा० श्रेष्ठ ने और भी लिखा है कि

१—डा० कमलकुल श्रेष्ठ, हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० १६३ ।

"यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि इन मुसलमान कवियों की अत्यन्त दृढ़ आस्था इस्लाम पर थी। हिन्दू धर्म को ये न तो इस्लाम के समकक्ष रखने को तैयार थे और न उसे कोई महत्वपूर्ण धर्म ही मानते थे।"

डा० श्रेष्ठ के इस 'मौलिक और नए दृष्टिकोण' के विषय में यह कथन पर्याप्त है कि अपने मत के लिए उन्होंने 'प्रबल प्रमाण देने में असमर्थता' प्रकट की है। प्रबल की कौन कहे, उन्होंने निर्बल प्रमाण भी नहीं दिये हैं।

यह सच है कि प्रारम्भ में भारत में आने वाले कुछ संतों में इस्लाम प्रचार का उद्देश्य स्पष्ट था, पर बाद के सूफी सन्त मूलतः समन्वयवादी थे। हिन्दी के प्रायः सभी सूफी कवियों के दृष्टिकोण में धार्मिक सहिष्णुता और उदारता की भावना दृष्टिगोचर होती है। जायसी ने तो हिन्दू और मुस्लिम ऐक्य का प्रबल समर्थन भी किया है—

'तिन्ह संतति उपराजा, भांतिहिं भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरक दुवौ भये, अपने अपने दीन।[1]

इतने पर भी यदि डा० श्रेष्ठ जायसी की "नियत पर संदेह" करते हैं, तो और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं –

'मातु के रकत पिता के बिन्दू। अपने दुवौ तुरुक औ हिन्दू।[2]

जायसी के काव्य का मंथन करने पर इस प्रकार के हिन्दू-मुस्लिम-समन्वय की अनेक अभिव्यक्तियां मिलती हैं।

जायसी मुसलमान होने के साथ ही महान सूफी भी थे। वे इस्लाम प्रचार का जामा पहन कर प्रचार के लिए बद्धपरिकर नहीं थे। क्या हुआ यदि वे अपनी पीर–परम्परा और गुरु–परम्परा के प्रति श्रद्धावनत हैं? हिन्दू देवी-देवता, ईश्वर और अल्लाह, कुरान और पुरान, बिहिश्त और कैलास, योगमत और सूफीमत, भारतीय साधना मार्ग और प्रेम-साधना-मार्ग, लौकिक प्रेम और अलौकिक प्रेम, हिन्दू और मुसलमान आदि में एक महत् समन्वय-साधना ही जायसी के काव्य का प्रतिपाद्य है। योगतम और सूफी प्रेम-पंथ का तो पदमावत आकर ग्रन्थ है। वस्तुतः जायसी की समन्वय-सामंजस्य भावना बड़ी सराहनीय है।

इस विषय में कुछ विद्वानों का मत उल्लेखनीय हैं। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि 'ये मुसलमान कवि हिन्दू–मुस्लिम ऐक्य चाहते थे।[3]

पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि 'ये कवि सूफीमत (प्रेमपन्थ का 'इस्लाम

१—जा० ग्रं० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ३०८।
२—वही पृ० ३१३।
३—डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक, इतिहास।

का नहीं) का प्रचार चाहते थे। इन्होंने लौकिक आख्यानों के माध्यम से अलौकिक सत्ता (एवम् रहस्यवादी प्रेम) की व्यंजना इन आख्यानों में की है। 'जायसी' से सौ वर्ष पहले कबीरदास हिन्दू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। 'साधारण जनता राम और रहीम की एकता मान चुकी थी। साधु और फकीरों को दोनों दीन के लोग आदर की दृष्टि से देखते थे। साधु या फकीर भी सर्वप्रिय वे ही हो सकते थे जो भेदभाव से परे दिखाई पड़ते थे। बहुत दिनों से एक साथ रहते रहे। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के सामने अपना हृदय खोलने लग गये थे, जिससे मनुष्यता के सामान्य भावों के प्रवाह में मग्न होने और गठन करने का समय आ गया था। जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली थी। ईश्वर पहुँचाने वाला मार्ग ढूंढ़ने की सलाह भी कभी-कभी दोनों साथ बैठकर करने लगे थे। इधर भक्ति-मार्ग के साधु और महात्मा भगवत्प्रेम को सर्वोपरि ठहरा चुके थे और उधर सूफी महात्मा इश्क हकीकी का शबक पढ़ाते आ रहे थे। ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान 'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे। ये कहानियां हिन्दुओं के घर की ही थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके कवियों ने यह दिखला दिया कि एक ही गुप्त तारा मनुष्य मात्र के हृदयों में से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य बाहरी रूप-रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है। कबीर की अट-पटी बानी से भी दोनों के दिल साफ न हुए। मनुष्य-मनुष्य के बीच जो भावात्मक एवं रागात्मक संबन्ध है वह उसके धारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के व्यवहार में जिस हृदय-साम्य का अनुभव मनुष्य कभी-कभी किया करता है, उसकी अभि-व्यंजना उससे न हुई जिस प्रकार दूसरी जाति या मतवाले के हृदय हैं उसी प्रकार हमारे भी हैं, जिस प्रकार दूसरे के हृदय में प्रेम की तरंगें उठती हैं उसी प्रकार हमारे हृदय में भी, प्रिय का वियोग जैसे दूसरे को व्याकुल करता है वैसे ही हमें भी। इस बात का प्रत्यक्षीकरण कुतबन, जायसी आदि प्रेम कहानी के कवियों द्वारा हुआ। अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा जिसका मनुष्य-मात्र के हृदय पर एक प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय को आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्ही का नाम लेना पड़ेगा। उन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्म-स्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। वह

जायसी द्वारा पूरी हुई।[१]

'जायसी के लिए जैसा तीर्थ व्रत था वैसा ही नमाज और रोजा। वे प्रत्येक धर्म के लिए सहिष्णु थे। उन्होंने कभी किसी मत का खंडन नहीं किया।''[२]

उपर्युक्त बातों के प्रकाश में डा० कमलकुल श्रेष्ठ का यह कथन कि हिन्दी सूफी कवि प्रच्छन्न मुसलमान प्रचारक थे, उनकी नियत में इस्लाम का प्रचार था, वे हिन्दू धर्म को कोई महत्वपूर्ण धर्म ही नहीं मानते थे, निराधार प्रमाणित होता है।

वास्तव में हिन्दी सूफी कवि अत्यन्त उदार और सब धर्मों के प्रति सहिष्णु थे। उनके यहां कुरान का अल्लाह ही ईश्वर बन गया है जिसकी प्राप्ति में पौराणिक देवताओं का भी हाथ है। सूफी रचनाओं के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक सन्त किसी लक्ष्य की ओर बढ़ता अवश्य है, परन्तु उसे जब चतुर्दिक भिन्न किन्तु ग्राह्य वातावरण दृष्टिगोचर होता है तो उसे भी अपनाने आगे बढ़ता है। मुस्लिम और हिन्दू भावना का यह बड़ा सुन्दर और विचित्र चित्रण है।[३]

भारतीय सूफी कवियों की प्रारम्भ में भाषा फारसी थी। पर चौदहवीं शताब्दी से ही उन्होंने अवधी भाषा में रचनाएं शुरू कर दीं। अवधी का सूफी साहित्य काव्य की दृष्टि से उच्चकोटि का है। इस साहित्य में प्रेम-गाथाएं लिखी गई हैं—इन प्रेमगाथाओं में मसनवी और भारतीय महाकाव्यों की शैली का सुन्दर समन्वय हुआ है। इन कवियों ने साधना-मार्ग में प्रेम की पीर को महत्व दिया है। उनकी ईश्वर के प्रति रतिभाव की अभिव्यक्ति अत्यन्त हृदयग्राही है। वस्तुतः सूफियों की प्रेमगाथाएं ईश्वरीय प्रेम की कहानियाँ हैं। इन कवियों ने कथाओं में अनेक स्थलों पर आध्यात्मिक संकेत भी किए हैं। ये संकेत लौकिकता में अलौकिकता की दिव्य अनुभूति कराने में सहायक हैं। इन कथाओं को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि ये कवि मुसलमान होकर भी कितने उदार कलापेक्षी ओर समन्वयवादी थे। कथाओं में हिन्दू देवताओं को पर्याप्त समान दिया गया है।[४] हिन्दू मुस्लिम समन्वय की आधारशिला पर हिन्दी का सूफी प्रेम साहित्य अत्यन्त मनमोहक और सर्व-ग्राह्य हो गया है।

नारी

जायसी, मंझन आदि के प्रेमाख्यानों की एक बहुत बड़ी विशेषता इस बात

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली भूमिका पृ० १—२।

२—डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, ।

३—डा० विमलकुमार जैन, सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ९०।

४—वही, पृ० १११।

में भी देखी जा सकती है कि इन प्रेम–कहानियों के कवियों ने प्रेम–पात्र का स्थान प्रधानत: नारी को ही दिलवाया है और उसी के द्वारा भरसक उस परमात्म तत्व का प्रतिनिधित्व कराने की भी चेष्टा की है जो उनके ईश्वरीय प्रेम का लक्ष्य है। नारी ही यहां उस नूर का प्रतीक है जो समस्त विश्व का मूल स्रोत है और वही यहां वस्तुत: उस पूरक का काम करती है जिसके अभाव में सारा मानव जीवन ही सूना है। नारियों के प्रति पुरुषों के प्रेमाकर्षण के अनेक उदाहरण हमें असूफी प्रेमाख्यानों में भी मिलते हैं और यहां भी ऐसी प्रेम कथाओं का भी अभाव नहीं जहां पर एक प्रेमी नायक अपने प्रेम–पात्री के लिए अपने सर्वस्व का त्याग करके विविध प्रेम-व्यापारो में प्रवृत होता हैं। इसके सिवाय सूफी प्रेमाख्यानों में ही हमें इस बात के भी उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं, जहाँ स्वयं नारियों ने ही पुरुषों के प्रति प्रेमासक्ति का भाव सर्वप्रथम प्रदर्शित किया हो। इनमें तो कभी-कभी वैसी पत्नियां मिल जाती हैं, जो अपने पति के विरह में विभिन्न प्रकार की यातनाएं भोगा करती हैं। अतएव इन दोनों प्रकार के प्रेमाख्यानों की उक्त दृष्टि के अनुसार तुलना करते समय सारा ध्यान केवल ऐसे उदाहरणों की संख्या मात्र पर ही नहीं जाया करता। इस सम्बन्ध में हम इन सूफी कवियों के विशिष्ट आदर्श को महत्व देते हैं जिससे अनुप्राणित होकर उन्होंने इस प्रकार का वर्णन अधिक पसन्द किया है। सूफी कवियों ने नारी को अपनी प्रेम–साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है, जिस कारण वह इनके यहां किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की नारी भोग्य–वस्तु मात्र नहीं रह जाती। वह उस प्रकार की साधन–सामग्री भी नहीं कहला सकती, जिस रूप में उसे बौद्ध-सहज-यानियों ने मुद्रा नाम देकर सहज साधना के लिए अपनाया था। वह उन साधकों की दृष्टि में स्वयं एक सिद्धि बनकर आती है और इसी कारण इन प्रेमाख्यानों में उसे प्राय: अलौकिक गुणों से युक्त भी बतलाया जाता है'।[1] प्रेमकथा–शैली और अन्यापदेशमूलक समासोक्ति शैली — दोनों रूपों में प्रेमाख्यानों में नारी को महत्व-पूर्ण स्थान दिया गया है। 'कहां हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रेम में पागल राज-कुमारों का समस्त साँसारिक वैभवों का परित्याग कर योगी के वेश में निकल पड़ना और कहां चारण साहित्य में तलवार के बल से स्त्री को छीनना। प्रेमाख्यानक काव्य में नारीत्व की शोभा है, नारीत्व का माधुर्य है, नारीत्व के प्रति आदर है, परन्तु चारण साहित्य में नारी का वह स्थान नहीं है, प्रेम के प्रति श्रद्धा का वह भाव नहीं है। प्रारम्भ काल में विद्यापति ने भी प्रेम के गीत गाए परन्तु उनके प्रेम में स्फूर्ति के दर्शन दुर्लभ हैं, जो कि हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य में हैं। प्रेम की

१—श्री परशुराम चतुर्वेदी (हिन्दी साहित्य) सूफी प्रेमाख्यानक परम्परा, पृ० २९२।
२—डा० कमलकुल श्रेष्ठ, हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० ४१२।

वह उच्चता जिसकी अन्तिम सीमा प्रेमपंथ है, विद्यापति में नहीं मिलती[१]। सचमुच विद्यापति की राधा और लखिमादेई के प्रेम में वह उदारता नहीं है जो पद्मावती-नागमती के प्रेम में है।

सूफी प्रेमाख्यानों में नायक एवं नायिका का विवाह–सम्बन्ध अवश्य करा दिया जाता है, सम्भवत: इसका कारण यह भी है कि वे प्राय: हिन्दू होते हैं। इसी के माध्यम से उनके पास मिलन व संयोग को एक वैध–रूप प्रदान कर दिया जाता है, जो उनका अंतिम ध्येय रहा है। जायसी की नागमती एक आदर्श पतिव्रता भारतीय नारी है और पदमावती एक आदर्श प्रेयसी। इन दोनों के माध्यम से कवि ने भारतीय नारी के अपने प्रियतम के प्रति अनन्य प्रेम की भावना को अभिव्यक्ति दी है।

जायसी के काव्यों में ठेठ लौकिक जीवन के प्रसंगों को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान मिला है। असूफी प्रेम–गाथाओं में प्राय: ऐसे नायक–नायिकाओं की चर्चा की गई मिलती है या तो पौराणिक परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं अथवा जिन्हें अवतारी व्यक्तियों में भी गिना जाता है। इस कारण उनके प्रेम–व्यापारों पर कथारम्भ से ही एक विचित्र प्रकार की अलौकिकता का रंग चढ़ा हुआ प्रतीत होता है। उनमें जो कुछ अपूर्वता दीख पड़ती है उसका कारण प्रेमभक्ति का विशिष्ट प्रभाव नहीं समझा जाता। प्रत्युत वहां इसके लिए प्राय: उनके व्यक्तित्व को ही श्रेय दे दिया जाता है। परन्तु सूफी प्रेमाख्यानों के अन्तर्गत सर्वत्र केवल इसी बात पर विशेष बल दिया जाता दीख पड़ेगा, कि ऐसी सारी विचित्रता की जड़ प्रेम की अपार शक्ति अथवा प्रेम की महिमा को ही समझना चाहिए। जिसके सामने बड़े से बड़े नरेशों तक को झुककर अपना सर्वस्व अर्पित कर देना पड़ता है। प्रेम के प्रभाव में पूर्णरूप से आ जाने पर सामाजिक स्तर–भेद की भवना भूल जाया करती है। यहां तक कि प्रेमी नायक–नायिकाओं के लिए मानवेतर प्राणियों तथा कभी-कभी प्राकृतिक पदार्थों तक का महत्व उतना ही बड़ा हो जाता है जितना कि अपने समाज के समरूप व समशील सदस्यों का। ये सभी एक समान ही, किसी एक सामान्य धरातल पर खींच कर एकत्र कर दिए जाते हैं और फिर प्रसंगवश प्रेमशक्ति के प्रदर्शन की पृष्ठभूमि भी बन जाते हैं। प्रेमाभिनय के रंगमंच पर इन सभी को अपने--अपने गुणों के अनुसार भाग लेना पड़ता है। जिसके प्रधान पात्रों का प्रेमव्यापार क्रमश: अग्रसर होता चला जाता है और इन सभी के सामूहिक प्रयत्नों का अन्तिम परिणाम उनकी कार्यसिद्धि के रूप में प्रकट होता है[१]। रत्नसेन--पदमावती के प्रेम प्रसंग में यही बात चरितार्थ होती है। प्रेमाभिभूत रत्नसेन राजपाट आदि को त्याग कर जोगी वेश में

१--पं० परशुराम चतुर्वेदी, सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य, हिन्दी साहित्य, पृ० २९३।

सिंहल के लिए प्रस्थान कर देता है। रत्नसेन, पदमावती और नागमती के चरित्रों में सामान्य वर्गीय भावनाएँ प्रधान हैं। उनके व्यवहारों और क्रिया-कलापों में राजन्य--वर्गीय भावनाएँ हैं। वे सामान्य वर्ग के सदस्य बनकर प्रायः सामान्य जनों की ही तरह व्यवहार करते दीख पड़ते हैं। जोगी बनना, वन, पर्वत, नदी, सागर आदि को पार करना, सेंध देना, युद्ध के लिए भी प्रस्तुत होना, युद्ध करना, थोड़ी सी भी आशा पर प्राणों को संकट में डाल देना आदि बातें प्रेमी रत्नसेन के व्यक्तित्व में द्रष्टव्य हैं। यह अवश्य है कि रत्नसेन के हृदय में प्रेमजन्य एक अदम्य उत्साह सर्वत्र उमंडित है। उसे प्रेमजन्य दृढ़ निष्ठा का सम्बल प्राप्त है। अन्त में कवि ने उसकी सफलता के लिए ऐसे संयोगों की स्वाभाविक उपस्थापना कर दी है कि आश्चर्य-सा होने लगता है। प्रेम मार्ग में दैवी सहायता--स्वरूप देवी--देवता, शंकर-पार्वती और लक्ष्मी-समुद्र भी सहायक बनकर उपस्थित होते हैं। रत्नसेन प्रेम की आंच में तप-कर द्वादश वर्णी सोना--सा अत्यन्त खरा उतरता है।

कुतबन, जायसी आदि के प्रेमाख्यानों की एक विशेषता उनके द्वारा लोक पक्ष का सजीव चित्रण किया जाना भी है। लोक-गाथाएँ, लोक-प्रचलित मुहावरे, सूक्तियां--लोकोक्तियां, लोक जीवन के मार्मिक चित्र, लौकिक वातावरण, लोकोत्सव, अंधविश्वास, लोक--प्रचलित कथानक रूढ़ियां, लोकगीतियों की पद्धतियां आदि इनके काव्यों में बड़े ही सहज में भव्य रूप में चित्रित किए गए हैं। यह सत्य है कि अपभ्रंश के परवर्ती काव्यों और जैन चरितकाव्यों में इस प्रकार की रूढ़ियों, परम्प-राओं आदि के स्वाभाविक प्रयोग हुए हैं, संस्कृत के कथा-साहित्य में भी इस प्रकार के तत्व दर्शनीय हैं।

कलात्मक रूढ़ियों के प्रयोग से सम्बलित लोक गाथात्मक शैली वाली परम्परा का जन्म 'ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में ही हो चुका था। यह शैली बौद्ध जातकों के रचना-काल तक पर्याप्त विकसित एवं प्रौढ़ हो चुकी थी। पीछे की संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं में भी इस शैली का विकास होता रहा है। धीरे-धीरे लोक-कथाओं की कथानक रूढ़ियों की यह परम्परा लोकप्रिय हो गई। सूफी कवियों की इस क्षेत्र में विशेष देन यह है कि उन्होंने काल्पनिक कथानकों के बल पर इस परम्परागत शैली के उत्कर्ष और सुन्दर निर्वाह में कुछ अधिक दक्षता दिखलाई है।

सूफी प्रेमाख्यानों का महत्व एवम् उनका हिन्दी साहित्य में स्थान

'सूफी प्रेमाख्यानों' की रचना का आरम्भ उस समय हुआ जब हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदिकाल प्रायः बीत चुका था और वीरगाथा के नाम से

अविहित किए जाने वाले रासो साहित्य का आदर्श बहुत कुछ फीका पड़ने लग गया था। उस काल की रचनाओं में जिस प्रेम--पद्धति का वर्णन अधिक विस्तार के साथ मिलता था वह उन राजाओं का वासनात्मक प्रेम था जो किसी सुन्दरी को अपने लिए केवल एक भोग्य वस्तु समझा करते थे और जो उसे उसके माता-पिता के यहाँ से अपहरण करके अथवा युद्ध में जीतकर लाने का प्रयत्न करते थे। उनके यहां अपनी पत्नियां भी रहा करती थीं जिनसे उनके दाम्पत्य प्रेम का निर्वाह भली भांति हो सकता था किन्तु अधिक सुन्दरियों की उपलब्धि उनके लिए एक गौरव की बात भी थी।[1] सुन्दरियों के लिए युद्ध होते थे। कन्याहरण भी राजाओं के लिए सामान्य बात थी और ऐसे अवसरों पर वे राजा या सामन्त अपने शौर्य का भी परिचय देते थे। उन रानियों की प्राप्ति से उनकी कीर्ति-कौमुदी दिगंतव्यापिनी तो होती ही थी, उनके महलों की भी शोभा वर्द्धित होती थी।

डिंगल साहित्य के बाद हिन्दी कविता का जो प्रवाह मध्य देश में हुआ, उसमें ब्रजभाषा और अवधी का विशेष हाथ रहा। यों तो अमीर खुसरो ने खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी और फारसी चारो पर अपनी प्रतिभा का प्रकाश डाला था, पर वह रचना प्रयोगात्मक थी। मलिक मुहम्मद जायसी ने अवधी को साहित्य क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान दिलाने का सफल प्रयत्न किया। जायसी के बाद तुलसीदास ने तो अवधी को मानस के कोमल कान्त कलेवर में अमर कर दिया। भाषा की स्वाभाविकता, सरसता, मनोगत भावों की प्रकाशन सामग्री के रूप में जायसी ने अवधी को साहित्य-क्षेत्र में मान्य बना दिया। इस अवधी प्रयोग के साथ जायसी ने हिन्दी छन्दों का भी रस प्रयोग किया।[2]

१३वीं शताब्दी ईसवी के पूर्ववर्ती अपभ्रंश के चरित्र काव्यों में भी एक विशिष्ट प्रकार की प्रेम-पद्धति के दर्शन होते हैं। इसके अन्तर्गत नायिकाओं की दर्पोक्तियाँ और वीरों की वीरोक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं। नायिकाओं का राजकुमारी न होना और प्रेमीनायक की सर्वसाधारणता इस साहित्य की विशेषता है। 'लोक-गाथाओं में तो प्रेमी और प्रेमिका उच्च सामाजिक स्तरों के होते हुए भी सर्वसाधारण की स्थिति में आ जाते दिखलाए जाते थे। प्रारम्भिक सूफी प्रेमाख्यानों पर कदाचित् इन सभी बातों का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा होगा और उनके रचयिताओं ने उस समय की उपलब्ध पृष्ठभूमि पर ही उनका निर्माण-कार्य संपन्न कर उसके दारा अपने उद्देश्य की पूर्ति का भरसक प्रयत्न भी किया होगा।[3] अभी तक प्राप्त हुए प्रेमा-

---

१–पं० परशुराम चतुर्वेदी, सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य, पृ० २६६-६८।

२–डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३१६।

३–पं० परशुराम चतुर्वेदी, सूफी प्रेमाख्यानक काव्य, हिन्दी साहित्य, पृ० २६४-६५।

ख्यानों में प्रथम 'चन्दायन' में लोरिक के व्यक्तित्व में प्रेमाभिभूत साधारण व्यक्तित्व एवं शौर्य-पराक्रम से मण्डित गरिमामय व्यक्तित्व–दोनों का सुन्दर समावेश है। पूर्ववर्ती काव्यों के समान ही इसमें प्रेम और शौर्य वर्ण्य-विषय हैं, किन्तु वर्णन-शैली का पार्थक्य भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है ।

मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्ति-धारा का प्रवाह सर्वप्रमुख है। इस युग की प्राय: सभी रचनायें भक्ति-रस से आप्लावित हैं। भक्ति का भाव वस्तुत: प्रेम के ही व्यापक रूप का एक अंग मात्र है और वह इसके साथ केवल श्रद्धा का संयोग हो जाने पर किसी हृदय में उदय होता है। सूफीमत का प्रेम भी मूलत: परमात्मा के प्रति उद्दिष्ट समझा जाता था, जिस कारण उसे भक्ति-भाव से भिन्न नहीं ठहराया जा सकता। मुख्य अन्तर केवल तभी लक्षित होता है जब हम देखते हैं कि एक श्रद्धालु भक्त अपने दैन्य के प्रभाव में आकर अपने इष्टदेव में अखिल ऐश्वर्य का आरोप करता है तथा उसे अपने से एक एकान्त भिन्न स्तर पर समझने लग जाता है, किन्तु सूफी उसे केवल अपनी आत्मीयता के बल पर उपलब्ध करना चाहता है। 'सूफी अपने ऊपर ईश्वरीय स्नेहभाव की सतत कामना किया करता है। रामकाव्य में प्रदर्शित प्रेम-भाव सीमित एवं मर्यादित है। सीता और राम का पूर्वराग भी एक ऐसे अपूर्व नियन्त्रण में चित्रित है जो सूफी कवियों की दृष्टि से उतना महत्व नहीं रखता। निर्गुणिया संतों का प्रेम-भाव किसी अन्य प्रेमी-प्रेमिकाओं के माध्यम से उदाहृत किये जाने की अपेक्षा स्वयं उन कवियों की ही बानियों में प्रस्फुटित हुआ। उसमें विरह की पीर और उन्माद की भी कमी नहीं थी और इस पीर और उन्माद में सूफी-प्रभाव की भी कमी नहीं थी, किन्तु उनके यहाँ इसे सिद्धि के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। सूफियों के यहाँ प्रेम और प्रेम-पीर को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है, यही उनका साध्य भी है। निर्गुणिया संतों का ईश्वरीय प्रेम उनके आध्यात्मिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग मात्र था, किन्तु सूफियों के लिए उसके अतिरिक्त और कुछ भी किसी काम का न था। जायसी के जीवन और काव्य में सर्वत्र प्रणय-भावना का ही साम्राज्य है। कवि ने इसके लौकिक और अलौकिक दोनों पक्षों का सुन्दर सामञ्जस्य प्रस्तुत किया है।

'मानुस प्रेम भएउ बैकुंठी। नाहित काह छारि भरि मूठी।'

सत, तप, कर्म, धर्म, नेम आदि के मूल में प्रेम ही है। इसलिए विरह और प्रेम की साधना ही सूफी कवि की चरम साधना है—

'जब लगि बिरह न होइ तन, हिये न उपजइ प्रेम।
तब लगि हाथ न आव तप, करम, धरम, सत नेम॥

(चित्ररेखा, पृ० ७०)

मध्ययुगीन हिन्दी काव्यों में श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम-भाव के प्रदर्शन का भी विषय लाया गया है। इस प्रेम का माध्यम उन गोपियों को ही बनाया गया है, जो उनके साथ क्रीड़ाओं में भाग लेने वाली उनकी प्रेमिकाएँ थीं। उन्हें भक्तों के रूप में भी स्वीकार कर लेना उतना स्वाभाविक न था। इसके सिवाय उस प्रेमी की एक यह विशेषता थी कि उसकी जितनी घनिष्ठता उन स्त्रियों से दिखलाई गई थी उतनी श्रीकृष्ण में नहीं और इसी कारण उसे सूफियों की उन प्रेम-पद्धतियों से कुछ पृथक् भी रखा जा सकता है, जिसके अनुसार इसके लिए स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को ही अधिक प्रयत्नशील होना चाहिए।

सूफियों ने नायक-नायिकाओं के प्रेम का वर्णन करते समय उनके सभी वैसे व्यापारों को केवल दृष्टान्तों का-सा ही महत्व दिया था और उन्होंने ऐसी चेष्टा भी की थी कि उनके प्रत्यक्षत: लौकिक रूप को किसी अलौकिक ईश्वरीय प्रेम के रूप में घटा दिया जाय। परन्तु इस युग के कवियों ने अपने नायक-नायिकाओं को क्रमश: श्रीकृष्ण एवं राधा के नाम देते हुए भी उन्हें उल्टे लौकिक प्रेम का ही माध्यम बना डाला[1] और कहा भी कि 'आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई, नतु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।' सूफी और असूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की रचनाएं भी इस युग में हुई हैं। रीतिकालीन प्रेमाख्यानक कवियों पर मुख्यत: दो प्रकार के प्रभाव पड़े हैं। एक तो वे पदमावत के वर्णनों के प्रभावों से अभिभूत हैं और दूसरे उन्होंने नायिका-भेद, नख-शिख, ऋतु वर्णन आदि विषयक रीतिकालीन प्रचलित शैलियों का ही अनुकरण किया है। रीतिकालीन सूफी प्रेमाख्यानों का आरम्भ और विकास मूलत: जायसीकृत 'पदमावत' जैसा ही है।

भारत की अनेक समृद्ध भाषाओं में सूफी प्रेमाख्यानों की रचना हुई है। फारसी की मसनवियों से प्रेरणा ग्रहण कर तथा कभी-कभी उनके एवं हिन्दी प्रेमाख्यानों के अनुवाद-रूप में भी बंगला के सूफी कवियों ने १६वीं शताब्दी ईस्वी से ही अपनी सुन्दर 'पांचाली' रचनाओं का आरम्भ कर दिया था। दौलत काजी की 'लोर चन्द्राणी', अलालोल की 'पदमावती', अमीर हमजा की 'मनोहर मालती' तथा मुहम्मद खान की 'मृगावती' एवं लयला-मजनू' आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण सूफी प्रेमाख्यानक काव्य हैं। इन कवियों ने भी अपनी रचनाओं के अन्तर्गत लगभग उसी प्रकार प्रेम-साधना की व्याख्या की है, जैसे अन्य सूफियों ने की थी और इन्होंने भी उनके कथानकों के घटना-विकास तथा प्रसंगों के विविध चित्रणों में प्राय: परम्परागत रचना शैली का ही अनुकरण किया है।

पंजाबी साहित्य में भी सूफी प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए हैं। 'ससिपून्'

१-वही, पृ० २६६

'हीररांझा', 'सोहिनी महिवाल' जैसी प्रेम–कहानियों के आधार पर पंजाबी मुस्लिम कवियों ने अत्यन्त रोचक रचनाओं की सृष्टि की है तथा उन्हें कभी-कभी काव्य–रूपकों का भी रूप दे दिया है। इनकी 'लैला-मजनू' एवं 'शीरीं-फरहाद' की प्रेम कहानियों में उक्त शैली के उदाहरण और भी अधिक स्पष्ट बनकर दीख पड़ते हैं।

उर्दू साहित्य में भी प्रेमाख्यानक काव्य प्रचुर परिमाण में लिखे गये हैं। 'उर्दू साहित्य का इतिहास' के अध्ययन से स्पष्ट है कि उर्दू के प्रारम्भिक कवि कुली 'कुतुब शाह' अली मुहम्मद जीव, एवं काजी मुहम्मद बहरी मूलतः सूफी थे। उन्होंने फारसी की मसनवियों का ही अनुकरण किया है। उर्दू के मान्य कवि 'वली' भी एक कट्टर सूफी थे। उनके गुरु थे फारस के प्रसिद्ध सूफी सन्त 'शाह सादुल्ला गुलशन'। 'आरजू' और 'आबरू' दोनों मुहम्मद गौस के और कवि मजमून और फरीदुद्दीन शकरगंज के वंशज थे। मजहर भी सूफी थे। 'दर्द' नक्शबंदी सम्प्रदाय के सूफी कवि थे। सौदा और मीर की रचनाओं में सूफी रंग स्पष्ट द्रष्टव्य है–

हर एक शै में समझ तू जहूर किसका है ?
शरर में रोशनी, शोला में नूर किसका है ? (सौदा)

और इसका उत्तर भी उन्होंने ही दिया है–

'जलवा हर एक जर्रह में है आफताब का।'

'दर्द' ने भी संसार के 'जर्रे-जर्रे' में उसी का नूर देखा था–

'जग में आकर इधर–उधर देखा।
तू ही आया नजर जिधर देखा।'

दर्द, सौदा और मीर सूफी मत के पण्डित थे। उनकी रचनाओं में आध्यात्मिक गांभीर्य और ईश्वरीय प्रेम स्पष्ट दिखाई देते हैं। सोज, जौक, गालिब, 'नजीर, अकबराबादी, अमीर मीनाई, अकबर आदि की कविताओं में सूफी-प्रेम की झलक मिलती है। प्रायः इन कवियों ने ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति सूफी तर्ज पर की है। ये ईश्वर का ही प्रकाश-वैभव सर्वत्र व्याप्त देखते हैं। वे मनुष्य को उसका ही प्रतिरूप मानते हैं—

'जलवा तो हर इक तरह का हर शान में देखा।
जो कुछ कि सुना तुझमें वो इंसान में देखा॥ (मीरदर्द)
ऐ दर्द कर टिक दिल को आइनाए साफ तू।
फ़िर हर तरफ नज़ारा हुस्ने-जमाल कर॥' (")

उर्दू साहित्य के प्रेमाख्यानों की संख्या भी कम नहीं है। बीजापुर एवं गोलकुण्डा की ओर दक्षिण में लिखी गई गवासी, वजही, तवई, हाशिमी आदि की 'हिदवी' की मसनवियाँ भी सूफी साहित्य में महत्व रखती हैं। 'हिंदवी' प्रेमाख्यानों

पर फारसी सूफी प्रेमाख्यानों की कथा और शैली दोनों का बड़ा प्रभाव बड़ा है। कवियों ने वर्ण्य-विषय और रचना शैली दोनों दृष्टियों से फारसी मसनवियों का अनुकरण करते हुए ऐसा प्रयत्न किया है कि मूल प्रकृति की भी सुरक्षा की जा सके। उर्दू साहित्य में इसलिये भी इन प्रेमाख्यानों को महत्व दिया जा सकता है कि इनके कारण प्रेमतत्व का विषय सारे वाङ्मय के लिए सामान्य बन गया। दक्षिण की हिंदवी नें सर्वप्रथम इसे सूफी मत के प्रचारार्थ रची गई कहानियों से ही देखा जाता था, किन्तु पीछे इसे उत्तर भारत में निर्मित होते जाने वाले विशाल उर्दू साहित्य में प्रमुख स्थान मिल गया और इसके कारण उसके शृंगारिक रंग में पूरी अभिवृद्धि हो गई। वास्तव में उर्दू कविता वहाँ विशेष सुन्दर बन पड़ी है जहां सूफी मत ने अपना रंग चढ़ा दिया है।

पं० परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि 'हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत हम इन सूफी प्रेमाख्यानों को उतना अधिक महत्व नहीं दे सकते। इन रचनाओं का आरम्भ केवल एक प्रवृत्ति विशेष के परिचायक रूप में हुआ और ये पीछे भी यहां दूसरे प्रकार की रचनाओं के समानान्तर बीसवीं शताब्दी तक लगभग एक ही शैली के अनुसार निर्मित होती चली गई। इनका विषय फारसी साहित्य की मसनवियों के आदर्शानुसार चुना गया और इनकी रचनाओं का उद्देश्य भी वही रखा गया जो ईरान में रची गई प्रेम-कहानियों का रह चुका था। हिन्दी के सूफी कवियों की पृथकता इन कवियों से यह है कि उन्होंने इन सभी कुछ के होते हुए भी, इन्हें एक पूर्व परम्परागत भारतीय सांचे में ही ढालना अधिक पसन्द किया। उन्होंने इनकी रचना के लिए अवधी बोली का प्रयोग किया जो सर्वसाधारण के समाज में लोक-प्रिय बन चुकी थी, दोहा-चौपाई के एक निश्चित क्रम को अपनाया, जिसका आदर्श जैन-चरित काव्यों के लिए बहुत पहले से ही स्वीकृत हो चुका था, उन कथानक रूढ़ियों को स्थान दिया, जो प्रचलित लोक-कथाओं के भीतर न जाने किस काल से प्रवेश कर चुकी थी और सबसे बढ़कर उस भारतीय वातावरण को भी सुरक्षित रखने की चेष्टा की जो सबके लिये परिचित था। इन रचनाओं के समानान्तर यहां भक्तिकाव्य का निर्माण होता रहा, शृंगार रस एवं वीर रस की कविताएं लिखी जाती रही तथा बहुत से ऐसे प्रेमाख्यान भी निर्मित होते रहे जिन्हें अन्य उपयुक्त नाम के कारण 'असूफी' प्रेमाख्यान की संज्ञा दी जा सकती है। सूफी प्रेमाख्यानों की यह विशेषता थी कि इनके द्वारा हमें प्रेमतत्व के व्यापक रूप को समझ पाने में अधिक सहायता मिली और इनके कारण धर्म, संप्रदाय अथवा वर्गगत भेद-भावों को दूर कर एक सर्वमान्य समाज की स्थापना के लिए प्रेरणा भी प्राप्त हुई। अत-एव हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानों को इसलिये भी विशिष्ट स्थान दे सकते हैं कि इनकी रचना द्वारा लोकरंजन के साथ लोक-मंगल की भी

सिद्धि हुई है ।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि क्या प्रेम की पावन धारा और क्या अवधी भाषा का जीवंत रूप क्या दोहा-चौपाई की शैली क्या कथानक रूढ़ियों के सुष्ठु प्रयोग, क्या लोक-रंजन और क्या लोकमंगल आदि सभी दृष्टियों से जायसी कुतबन आदि के हिन्दी प्रेमाख्यान अत्यन्त महत्वपूर्ण काव्य-ग्रंथ हैं। जायसी प्रेमाख्यानक परंपरा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और इनकी रचनाओं में उपर्युक्त गुण पूर्णमात्रा में अत्यन्त सुन्दर रूप में विकास को प्राप्त हुए हैं।

१-पं० परशुराम चतुर्वेदी, सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य, पृ० २९६-९८।

परिशिष्ट

(क) जायसीकृत मसला (मसलानामा)*

यह तन अलह मियाँसों लाई । जिहि की षाई तिहि की गाई ॥
बात बहु तं जो कहै बनाई । छूछ पछोरै उड़ि-उड़ि जाई ॥
जीवन थोर बहुत उपहाँसू । अधरी ठकुरी पीठ बतासू ॥
तोरा अभ्याउ हौसि का क्रोधी । बैल न कूदत गोनै कूदी ॥
पुन्य पाप ते कोउ न (तरा) । भूखी डाइन तामस भरा ॥
अब साँई सो नेह करु, फेरि न यह संजोग ।
कोल्हू ते षरि ऊतरी, भई बैल ही जोग ॥
निश्चय तोर रूप मैं हेरा । आवै अंब कि जाइय वेरा ॥
बिन साँई नहि और सोहाई । घर घिउ होइ सो रूषा षाई ॥
सकहु कछू नेकी लै साथा । खावा भात उड़ावा पाता ॥
आपु देखि औरे सो सीषा । देस चानि परदेसहिं भीषा ॥
करिले आजु अहै जो करना । धंधा छाँडि आखिर है मरना ॥
रूप-निरंजन छाँड़ि कै, मांया देखि लोभाइ।
कुत्ता चौक चढ़ाइये, चाकी चाटन जाइ ॥

---

* द्रष्टव्य-चित्ररेखा 'प्राक्कथन' मुझे मसला की प्रस्तुत प्रति १९५८ में ना प्र० सभा में मिली थी ।

जासो प्रेम सो धंधै[1] परै । राज छाँड़ि घुरबिनियां करै[2] ।।
पढ़ै बहुत पै नेह न जाना । सौ गुलाम सूना षरिहाना ।।
बिना प्रेम जौ जीव निबाहा । सूने गाउ न आवै काहा ।।
प्रीतम-प्रेम कोइ कहे आना । धान का षेत पयारहि जाना ।।
पांच भूत कोइ सुमति न करै । सहजे राज जरावै खरै ।।
बुधि-विद्या के कटक मों, हौं मैं का विस्तार ।।
जेहि घर सासु तरुणि है, बहुबन कौन सिंगार ।।
अंतन समुझु करसि का बैठ । काल्हिहिं बनिया आजुहि सेठ ।।
करनी करहु रहहु का वैस । जिसकी लाठी तिसका भैंस ।।
पुन्य पापु एक रूप न जानी । दूध क दूध पानी क पानी ।।
मांगि लेहु चाहहु कछु माँगा । राजन घर मोतिन कर खांगा ।।
बिनु सुदिष्ट पाइय नहिं बाट । अंधरेन कै लूटा है हाट ।।
धंध जगत कौ छांड़ि कै, राम नाम होइ लूटि ।
भला भवा गुर माखनि खावा, मैं भिन किन ते छूटि ।।
प्रेम डगर का आपु ते जाई । भूले बाभन गाई षाई ।।
लाज धरम वह राखै जाकुर । पांचै मीत पचासै ठाकुर ।।
पाथर काटि कै देवत साजा । अंधरन का जस कनवै राजा ।।
करै पाप जो पोथी सोचै । नाक कटाइ पटोरै पोछै ।।
जो न होत असवरिया पीऊ । सूधी अंगुरि न निकसत घीऊ ।।
खाहु खवावहु देहु कछु, नैकु न करहु विचार ।
आगि लगै ते झोपरा, जो निकसैसो सार ।।
डरति रहहु मनही मन–माहीं । संगी ते कछु चोरी नाहीं ।।
और करै जो और बतावै । धाई आगे पेट छिपावै ।।
तेहि राखै जो ओहि सोहाई । सो गुर नाहिं जो माखी षाई ।।
कहे जाहु जो किछु मन माहीं । जीभ के आगे बांधक नाहीं ।।
झीवन गरब न भूलसि, नेह नाह को राख ।
चारि दिना की चांदनी, फेरि अंधियारा पाख ।।
जो किछु गाँठि होइ तौ लेई । मांगे बनियां गुरु नहिं देई ।।
काम परै नहिं आवै बुद्धि । तीरथ गए भुड़ाए सिद्धि ।।

१—धैधै (पाठान्तर अमरेश जी की दोनों प्रतियों का ?) ।
२—"नाज छाँड़ि घुन बिनियाँ करै" । (२ अमर बहादुरसिंह अमरेश की दोनों प्रतियों का पाठ ना० प्र० सभा प्रति का पाठान्तर) ।

मिलि चलि जब लगि हँसि एहि गाऊं । निकसा सहना मर्द क नाऊं ॥
साजु संवारु जोइ कछु बनै । दुवरे क ताना कोउ न सुनै ॥
बिन दरस जो पूजै भीत । आंधर मोल न फूट मसीत ॥
बहुरि न बनि है कहत किछु जब लागिहि सिर चोट ॥
अब यह सब एक ठौर है, दूध कटोरा वोट ॥
जो अब आस निधरक रहु सोई । आए धार सो बबुरी बोई ॥
धंध पोथ जाइ नहिं साथ । बगुला मारे पखना हाथ ॥
जनि भूलहु काहू के पुन्य । जाको चुन्य ताही को धुन्य ॥
समुझि चलौ तुम ऐसी राह । घर के भेदिया लंका डाह ॥
नेक-नेक का पूछसि अरे । कुवाँ परे कहुँ पाथर सरे ?॥
देवस गंवायो बैठि सब, सांझ भए उठि बाट ।
जैसे कुत्ता धोबि कौ, भयो न घर को धाट ॥
टोइ-टोइ भुइं राखहु पांऊ । चींटी का मूतै पैराऊं ॥
सत्त–धर्म जनि छांडहु भाई । नाहक चोट जोलाहा खाई ॥
उत्तर कहा देव जो सूझा । खेत गए खेतवाही बूझा ॥
प्रेम-नेम ते माथ न वाई । संभल बसै अलोना षाई ।
सारा प्रेम ज्ञान नहिं वाहा । गाँव दिगम्बर पावै काहा ॥

जो बोलै सो मारै, बात बनावै सोइ ।
सहना छपा पयार तर, को कहि वैरी होइ ॥

जो हम कंत पियारा पाई । तौ हम सुमिरब ढोल बजाई ॥
जौ नहिं आजु सजन घर आवैं । बिनु गुन फाग देवारी गावैं ।
दुख सुख महं जो पिउ सग हसै । थोरा षाइ बनारस बसै ॥
जो जेहि राता सोइ सुहात । भूखा बंगाली भातै भात ॥
ज्ञान धरो मन चित सों गाढ़ । छूटा बरध भुसौलै ठाढ़ ॥
चित धरो रहिमान सों, छाँड़ि देहु चौआब ।
फेरि न होब लरिकवा- फेरि न खेलन जाब ॥
औ गुन बिना दोस देइ साजन । नाच न जानै टेढ़ै आंगन ॥
निकटहिं गाँव सजन कै वार । मोइठै ठाड़ै भिजै गंवार ॥
तिरना लोभ मेटि न मरै । वूढ़े फल के भरोसे तरै ॥
पूंजी थोर बहुत मन धाऊ । गए पूत जिन्ह जोबन लाऊ ॥
आपु मांह औरेन सो पेख । कंगन हाथ आरसी देख ॥

जन्म अकारथ खोइकै, कहा करै जिय साल ।
औसर चूकी डेविनी गावै ताल बेताल ॥

जेहि तन प्रेम नीद तेहि साजा । सूने गांउ आंधरेन राजा ।।
दूर नाहिं यहु देखु बिचारी । राधे मुंहें परोसे धारी ।।
कीन्हे क्रोध न आवै हाथे । छूछा घाड निहाई के माथे ।।
जो कोइ नेम धर्म ते साधे । आधे माधे कामरि कांधे ।।
सेत केस भे, जोबन गवा । नाचे गांउ सिर की कवा ।

होनहार सो होइहै, बहुत किहे अभ्यास ।
जोरा चाहै ताग दस, टूटहिं ताग पचास ।।

(ख) कतिपय सूक्तियाँ : लोकोक्तियाँ

		पृष्ठ[1]
मेटि न जाइ लिखी जस होनी	—	१७
विधिकर लिखा मेटि नहिं जाई	—	१६
मोतिहिं मलिन जो होइ गई करा पुनि सो पानि कहाँ निरमरा	—	२१
सत्रु अहै जो करिया, कबहु सो बोरै नाव।	—	२२
तिल फूलहि के संग ज्यों, होइ फुलायल तेल	—	२५
कौन पानि जेहि पौन मिला	—	२५
यह मन कठिन मरै नहिं मारा	—	२७
बिखदाना कत होत अंगूरा	—	२७
गांठि गांठि सुठि थोर	—	३०
पढ़े के आगे जो पढ़ै, दून लाभ तेहि होइ।	—	३१
लोनी सोइ कंत जेहि चहै	—	३४
दोष ताहि जेहि सूझ न आगू	—	३५
मारि न जाइ चहैं जेहि स्वामी	—	३५
मुख महं आन पेट बस आना	—	३५
तुरय–रोग हरि–माथे जाए	—	३५
उलू न जान दिवस कर भाऊ	—	३५

१–पृष्ठ—जायसी–ग्रंथावली, ना० प्र० सभा, काशी।

असी बड़ बोल जीभ मुख छोटे — ३५
जहर चुवै जो जो कह बाता — ३५
कान टुटैं जेहिं पहिरे,
का लेइ करब सो सोन — ३६
बिनु सतजन सेंवर कर भूआ — ३८
जहाँ सत्य तहं धरम संघाता — ३८
को लेइ आव सजीवन मूरी — ४६
निकसे घिउ न बिना दधि मथे — ५१
तब किछु हाथ न लागिहिं,
मूसि जाहिं जब चोर — ५१
जहवां राम तहां संग सीता — ५५
मूरुख सो जो मतै घर नारी — ५५
अब कापर हम करब सिंगारा — ५६
आगे देखि धरए भुइं पाऊं — ५७
फूल सोइ जो महेसुर चढ़ै — ५६
मुए केर मीचु का करई — ५६
भंवरा जान कंवल के प्रीती — ६०
किछु न कोइ होइ जाइहिं,
दिया जाय पै साथ — ६१
साहस जहां सिद्धि तहं होई — ६२
जो है नेह क बा डर
तिन कहं धूप न छांह — ६४
भावै पानी सिर परै,
भावै परै अंगार। — ६५
दिन दिन ऊंच होइ सो,
जेहि ऊंचे पर चाउ। — ६६
सदा ऊंच पर सेइय बारा — ६६
ऊंचे सो कीजिय व्यवहारा — ६६
ऊंचे पास ऊंच मति बूझा — ६६
ऊंचे काज जीव पुनि दीजे — ६६
जस हींछा मन जेहि के,
सो तैसे फल पाव — ७०
माटी भयउ अन्त जो माटी — ७१

जानहु परा अगिनि महं धीऊ — ७४
जौसन हिये, तौ शीतल आगी — ७५
नग कर मरम सो जड़िया जाना — ७७
को अब हाथ सिंघ मुख घालै — ७७
बसै मीन जल धरती, अंबा बसै अकास
जो पिरीत पै दुवौ भएं अन्त होहिं एक पास ७६
मेटि न जाहि लिखा पुर विला
रोगिया की को चालै, बेदहि जहां उपास ८८
जेहि न पीर तेहिं काकर चिंता — ६७
जहाँ गाढ़ ठाकुर कहं होई,
संग न छाड़ै सेवक सोई। — १०४
जोगी होइ नाद सो सुना — १२५
कथा जो परम तंत मन लावा — १२५
वन बन बिरिछ न चन्दन होई — १३६
जल जल सीप न उपनहिं मोती — १३६
जिन्ह घर कन्ता रितु भली,
आव बसंत जो नित्त — १४८
तपनि मृगसिरा जो सहहिं,
ते अद्रा पलु हंत — १५२।३
तासों दुख कहिए हो बीरा
जेहि सुन कै लागै पर पीरा ॥ — १५६
घर के भेद लंक अस टूटी — १६६
विरवा लाइ न सूखनि दीजै — १६६
जहां लोभ तहं पाप संघाती
संचि भै भरै आनि कै थाती ॥ — १७१
दख रहै भुंइ दिपै लिलारा — १७२
अदिन आइ जो पहुँचे काऊ,
पाह उड़ै वहै सो घाऊ — १७३
तुरत जो दानि पानि हंस दीजै,
थोरे दाम बहुत पुन लीजै — १७४
फूल मुआ पै मुई न बासा
(लेजुरि जरी ऐंठि ना गई) — १७६
गोरख धंधे लागि — १८०

सही न जाइ सवति कैझारा — १८८
विफल न जाइ काट कर सेवा — १९१
सोने फूल फूलि पुलवारी — १९१
दिस्टि सो धरम पंथ जेहि सूझा — १९९
ज्ञान सो जो परमारथ बूझा — १९९
सोइ सिंगार कंत जो चाहा — १९९
(प्रियेषु सौभाग्यफलाहि चारुता—कालिदास)
कबि के जीभ खड्ग हरद्वानी
एक दिसि आग दूसर दिसि पानी। — २०१
बाउर सीस पै धुना,
आपनि कहै पराइ न सुना। — २०२
जियत सिंघ के गह को मोछा — २१९
आगि जो जरै आगि पै सूझा,
जरत रहै, न बुझाए बूझा — २२०
जहं बीरा तहं चून है,
पान सोपारी काथ — २२३
गगन धरति जेहि टेका,
तेहि का गरू पहार। — २२४
पाहन कर रिपु पाहन हीरा। — २३०
भोर होइ जो लागै, उठहि रोर कै काग,
मसि छूटै सब रैनि कै, कागहि केर अभाग। २४०
चन्द जो बसै चकोर चित,
नैनहिं आव न सुर। — २५०
जो छल करै ओहि छल बाजा
जैसे सिंह मंजूसा साजा। — २५२
बैठि सिंहासन भूंजे सिंह चरै नहिं घास,
जो लगि मिरिग न पावै, भोजन करै उपास। २५४
लीक पखान पुरुष कर बोला। — २५५
छोह ते पलुहहिं उकठे रूखा — २५७
छर कीजै वर जहां न आटा
लीजै फूल टारि कै कांटा। — २६०
सोइ पाव जो लिखा लिलाटा — २६८
सुभर सरोवर जौ लहि नीरा,

बहुत आदर पंखी बहु वीरा। — २७१

लोभ पाप कै नदी अंकोरा

सत्त न रहै हाथ जो बोरा। — २८०

जहां फूल तहं फूल है,

जहाँ काट तहं काँट। — २८८

का पछिताउ आउ जोपुजी। — २८८

जस मैभंत सूड़ बिनु हाथी — २८७

अंगद सरिस पांव भुंइ रोपा

सिंघ कै मोछ हाथ को मेला। — २९१

सिंघ जियत नहिं आपु धरावा

मुए पाछ कोई घिसियावा। — २९१

दादुर कतहुँ कंवल कहं पंखा

गादुर मुख न सूर कर देखा। — २९७

मेटि न जाइ काल कै घरी। — २९७

रही जीभ जम गही को बोला। — २९७

छोड़ी राम अयोध्या जो भावै सो लेउं — २९८

दीपक प्रीति पतंग जेउ,

जनम निवाह् करेउं। — २९९

जो रे उवा सो अथवा,

रहा न कोइ संसार — ३००

लोकोक्तियां

जहवैं दुख है तहवैं पीरा — ३११

बौवै बबुर लवै कितन धाना — ३१७

जेहिंकर ठाकुर पहरे जागै

सो सेवक कस सोवै लागै। — ३१७

आपु मरे बिनु सरग न छूआ

आंधर कहहिं चांद कहं ऊआ — ३२७

नीम जो जामै चन्दन पासा,

चन्दन बेधि होइ तेहिं बासा। — ३२८

कथा न अहै अकथ भा रहई,

बिना विचार समुझि का परई। — ३३८

मरम नैन कर अंधरहि बूझा,

परम श्रवनि कर बहिरै जाना ।	—	३३९
चन्दन जहाँ नाग तहाँ बदि कै जहाँ फूल तहं कांटा रे		
मधु जहवां किन माखी तहाँ, गुर जहंवा तहं चाँटा रे ।		७२१

(जा० ग्रं०, डा० माताप्रसाद गुप्त)

सुख-दुख पाप पून बेवहारू ।		पृष्ठ[1]
होइ दोइ चलैं चले संसारू ॥	—	६८
सेत स्याम रचना औ रंगा ।		
जहां पेड़ छाँह तिन्ह संगा ॥	—	६८
आदि अंत जस होनां, धरइ माल लख पूर ।		
बढ़ै न काहू बढ़ाए, चोर जाइ न चूर ।		६८
अगिन-काठ घिव-खीर सो कथा ।		
भंवर भएउ जम केतकि कांटा ।	—	६९
नाउं बड़ेरा दरसन थोरा ।	—	७५
जेवं जेव बूढ़ा तेवं-तेव नवा ।	—	७५
मोर-मोर कइ रहा न कोई ।		
जो रे उवा जग अथवा सोई ।	—	७६
जो जग नीक होत अवतारा ।		
होतइं जनम न रोवत बारा ॥	—	७६
बदन जइस जग चन्द सपूरन ।		
सूक जइस नैनान ॥	—	७७
कब नैहर फिर आइब कत ससुरैं यह खेल ।		
आपु-आपु कहं होइहैं ज्यों पंखिन्ह महं डेल ॥		८४
मन इच्छा कइ लाख दस, जियत मरउ जनि कोइ ।		
जो लिख धरा बिसंभर सो पुनि आन न होइ ॥		८५
जहाँ राज तहाँ बर नाहीं ।	—	८६
सिंघदेव का कुबरा वेटा ।		
चाँद लिखा कलंक को मेटा ॥	—	८६
व्याह भए होइ सो होना	—	८६
पढ़ि-गुनि पंडित को न भुलाना ।		
पढ़ा बेद लइ भेद न जाना ॥	—	८६
कहहिं आइ भा चांदहि राहू ।		
मीन मेख होई न बियाहू ॥	—	८८

१–चित्ररेखा–पं० शिबसहायक पाठक ।

एक भांति थिर रहा न कोई ।। — ८८
राजपाट धन काहूँ जग महं पूत वियार ।
जो दीपक घर नाहीं, जानउं जग अंधियार ।। ८९
उत्तम घरी जनम लिया बेटा ।
पै जो दई लिखा को मेटा ।। — ९०
कहां धनन्तरि पावहीं, बरि पलुहावै भोर ।
प्रीतम कुंवर चलत है राखी बाग मरोर ।। ९१
अथएउ सुरुज होइ अब साझा ।
को अब भोर देइ जग मांझा ।। — ९२
भरी नाउ को लावइ घाटा ।। — ९४
जो विधि लिखा सो जाइन धोएं ।। — ९५
पुरकहु सोइ जो धर्मंहि धरै ।
मरती बार सत छाउं न मरै ।। — ९५
जस दसरथ श्रीराम बिछोहे ।
अंधा अंधी सरवन मोहे ।। — ९७
जरे मीन जल धरती, पिष्टि न दिष्टि करेइ ।
तब जानै जब पंछी, तरफि-तरफि जिउ देइ ।। ९८
कहां चलई मरन कौं, पीछहिं पकरी पेठ ।
परनारी के नायक, बनज पराए सेठ ।। १०१
जाको चाहै देइन साईं ।
जोनहि लेइ देइ बरमाई ।। — १०२
व्याहे साथ भली गति मोरी । — १०६
जौ तुम पिउ हौं अइस बिसारी ।
आपुहि आरि मिलौं तो नारी ।। — १०७
दई आन अपराजा सोग मांहु सुख भोग ।।
अवस ते मिलैं बिछोही, जिन्ह हिय होइ वियोग ।। १११
भावै पियहिं सिंगार सलोना । — ११२
सेवा पिउ कै टोना होइ ।
सेवा बिनु टोना बिख होई ।। — ११२
सेवा मइं जाकर मन लागू ।
दिन दिन बाढ़ै अधिक सोहागू ।। — ११२
सेवा और आयसु महं दसएं दसा चढ़ि जाहिं ।
रहहिं जो करत खेलारी, ते पाछें पछिताहि ।। ११२

लिखा तो बरसन्‌ह रहै जो लिखि जानै कोइ ।
लेखन हारा बापुरा गलि-गलि माटी होइ ॥ ११३

कोटिक पोथी पढ़ि मरे पण्डित भा नहि कोइ ।
एकै अच्छर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होइ ॥ ११३

मुहावरे

प्रचलित रूप	पदमावत में प्रचलित रूप	पृष्ठ
बराबरी न कर सकना	दूसर नाहिं जो सरवरि पावा	३
राई से पर्वत या	वज्रहिं तिनकहं मारि उड़ाई	
तिनके से वज्र बनाना	तिनहिं वज्र करि देहि बड़ाई	३
पर्वत का धूल होना	परवत टूटि उड़हिं होइ धूरी	५
चींटी को भी कष्ट न देना	चांटा चलत न दुखवै कोई	६
रखी न छूना	परी नाथ भुइं छुवै न पारा	६
मार्ग मे सोना उछालना	मारग मानुष सोन उछारा	६
गऊसिंह का एक घाट	गऊ सिंघ रेंगहिं एक बाटा	
पानी पीना ।	दूनौ पानि पियहिं एक घाटा ।	६
दूध का दूध, पानी का पानी ।	नीर खीर छाने दरबारा	
	दूध पानि सब करै निरारा	
डंके की चोट पर कहना	किछु कहि चला तबल देइ डगा	९
पाठान्तर	किछु कहि चलत बोल देइ डगा – शिरेफ	
सदा वसंत रहना	निसि दिन रहै बसंत तहं	
	छवौ ऋतु बारह मास ।	१७
आंख न लगना	पिता हमार न आंख लगावहिं	२१
प्राण पक्षी होना या	हीरामन तू प्राण परेवा	२२
आंखों का तारा ।		
नाव डुवाना : लुटिया डुबाना	सत्रु अहै जो करिया, कवहु सो बोरै नाव	२२
प्राण लेकर भागना	जिउ लै उड़ा ताकि बन ढ़ाँखा	२६
रास्ता लेना	भा चितउर के पन्थ	३१
बात चलाना	आइ बात तेहि आगे चली	३१
सोने सोंधी रूपै भाग,	गढ़ी सो सोने सौंधे, भरी सों रूपै भाग,	
रुष्ट होना और नमक लगना	सुनत राख भइ रानी हिये लोन असलाग	३४
अंकुर जमना आदि	बिख राखिय नहिं, होइ अंकुरु	
	सबद न देइ भोर तमचूरू ।	३४

मुख में आन पेट में आन	मुह कह आन, पैट बस आना ।	
प्रचलित-मुख में राम बगल में छुरी ।		३५
बाजार में बिकाना	तेहि औगुन दस हाट बिकाना	३५
छोटे मुंह बड़ी बात	अस बड़ बोल जीभ मुख छोटे ।	
जहर चूना	जहर चुकै जो जो कह बाता ।	
सुर्खरू होना और	होइ मुख रात सत्य के बाता ।	
जहां सत्य है वहां धर्म है ।	जहां सत्य तहं धर्म संघाता ।	३६
हृदय फटना	दारिउं सरि जो न कै सका, फौटउ हिया दरक्कि	४४
तिल तिल जलना	जेइ तिल देखि सो तिल तिल जरा	४४
काला पड़ जाना	जनु घुंघुंची ओहि तिल कर मुही ।	४५
धोबी का पार न पावै तो गदहे का सिर पीटै ।	सिंघ व जीत लंक सरि हारि लीन्ह बनबासु तेहि रिस मानुष रकत पिय खायि मारि कै मांसु	४७
पकी पकाई खाना	तुम राजा जेई घर पोई	५०
दिन घरी का विचार न करना	प्रेम पंथ दिन घरी न देखा	५३
आग पानी न देखना	देखे कछु न आग नहिं पानी	६०
बीड़ा देना	राजै दीन्ह कटक कहं बीरा	६६
सोच विचार का काम करना या आगे देखकर पैर रखना	आगे देखि पां धरू नाथा ।	९५
सच्चे को आंच नहीं	जौ सत हिउ तौ सीतल आगी	९५
प्राणों की बाजी लगाना	तस ए दुऔ जीउ पर खेलहिं	१०३
हर्ष के मारे फूल जाना	हुलसि हिया कंचुकि न समाई । हुलसे कुछ कसनी बंद टूटे । हुलसी भुजा बलय कर फूटे । अंग अंग सब हुलसे कोई कतहूं न समाय ।	१२३
प्राण पर खेलना	तस ए हुऔ जीउ पर खेलहि	१०३
महाभारत मचाना	आज करहिं रन भारत ।	१०४
बिजली मार जाना	राघव बिजुरी मारा ।	२०१
अँगूठी का नगीना	सो नग लेउं जो कनक अंगूठी	२१७
जल उठना	सुनि अस लिखा उठा जरि राजा	२१८
आकाश पर चढ़ना	चढ़ै सरग खसि परै पतारा	२१८

पाताल में गिरना		
अपने को जनाना	बोलु न राजा आपु जनाई	२१८
जब तक दम में दम	जौ लगि जीउ काया महं।	२२४
आकाश छेदना	घुसि कै सरग सुरंग तिन्ह दीन्हा	२३४
हृदय अघाना	हियरा जात सेरात	२४४
नमक की तरह गलना	लोन दिए होइ लोन बिलाई	२५२
कौड़ी हो जाना	पिय बिनु भइ कौड़ी बखारी	२६४
हाथ मसल कर रह जाना	काहू छुवै न पाए, गए मरोरत हाथ	२४६
बराबरी न कर सकना	दारिउं सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि।	२४४
सिर देना	जौ सिर सेंती खेल	३०६
अपना दोष दूसरे के सिर देना	आपन दोष आन सिर दीन्हा	३०८
रो रोकर आंसू की नदी बहाना	रोइ रोइ आंसू नदी बहाइ	३०८
थाह न पाना	बूड़ै जगत न पावै थाहा	३१२
पिंजरे से पंछी का उड़ना	गा सो प्रान पेखा, कै पींजर तन छूंछ	३१३
कांटों में फूलना	कांटन्ह मांह फूल जनु फूलै	३१४
हाथ झाड़कर चलना	चलब झारि दोउ हाथ मुहम्मद वह छोड़ि कै	३१७
आंख मूंद लेना	मूंदै नैन जगत महं अवना	३१७
हाथ मीजना	रो रोइ मीजै हाथ	३१६
निगाह फेरकर न देखना	दीठि न देखै फेरि मुहम्मद राता प्रेम जो	३१८
रस का विष होना	जो एहि रस के बाएं भएऊ	३१८
बाएं होना	तेहिं महं रस विष भर होइ गएऊ	३१८
तेली का बैल	तेली बैल निसि दिन फिरई	३२०
दीन का सहारा	ना नमाज है दीन क थूनी	३२१
हाथ पकड़ना	कर गहि तीर खेइ लइ आवा	३२२
रंग में रंगना	रा रातबु अब तेहि के रंगा	३२६
सोया सो खोया	चीन्हि लेहु सो जागि, मुहम्मद सोइ न खोइए।	३२८
एक म्यान दो खांड़े	खांड़ा दुए न समाहि, मुहमद एक मियान महं।	३३५
इच्छा पूजना	जो अस पुरुषहिं मनचित लावै,	

	इच्छा पूजै आस तु लावै।	३४२
झगड़ा लगाना	भाइ बन्धु महं लाई लावै,	
	बाप पूत महं कहै कहावै	३४३
वारपार न सूझना	वार पार किछु सूझत नाहीं।	
	दूसर नाहि को टेकै बाहीं॥	३४६
बाल से भी पतला और तलवार से	बारहु ते पतरा अस झीना।	
भी पैना	खड्ग धार से अधिकौ पैना॥	३४६
मर मर कर पांव उठाना	बहु तक मरि मरि पांव उठइहैं	३४६
दूध का दूध और पानी का पानी	नीर खीर हुत काढ़ब छानी।	
	करब निवार दूध और पानी॥	३४६
पंथ न सूझना	निरखि नयन मैं देखौं कतहुं परै नहिं सूझि	
	रहौं लजाइ मुहम्मद बात करौं का बूझि॥	
		३५२
अपने सिर लेना	सो सब मैं अपने सिर लीन्हा	३५२
छार करना	तेहिं कहं छार करौं धरि जारी	३५२
अपना अपना ध्यान रखना	आपहि आप आइकै परी।	
	कोउ न कोउ क धर हरि करी॥	३५४
आंखों देखी कानो सुनी	नैन क देखा स्रवन क सुना	३५५
और भाना	तोहि छांड़ि मोहिं और न भावा	३५७

कहरानामा

ठोइ टोइ पांव उठाना	टोइ टोइ भुंइ पांव उतरहु	विहारवली प्रतिपद्य १
खाले पड़ना	नाहीं तो परिहहु खाले रे	,,
हाथ झार कर पछताना	कोइ टकटोरि छूंछि होइ बहुरा	,,
	हाथ झारि पछतानेउ रे	,,
जाल में पड़ना	काहौं फांद नरक नहिं देखा,	
	परा जाल उरझानेउ रे	,,
गांठ पूर कर आना	जो अस सूझि बूझि मारग के	
	गाठि पूरि करि आवे रे	,, २
अकेले झूरना	दरब हुतैं मन झुरै अकेला,	
	कोई नहि निरबाहे रे	,,
मझधार में डूबना	सोइ चलहु पारजेहि उतरहु,	

	मत बूड़हु मझधारा रे	''

मुहावरे

प्रचलित रूप	पदमावत में प्रयुक्त रूप	पृष्ठ
श्री गणेश	पहिले ताकर नाव लै, कथा करौं अवगाहि	
देर न लगना	निमिष न लाग करत ओहि	
	सबै कीन्ह पल एक	२
एक पल में करना	''	
राज भोगना	कीन्हेसि राजा भूजहिं राजू	२
धूल में मिलाना	पुनि कीन्हेसि सब छार	२
बराबरी न कर सकना	दूसर नाहि जो सरवरि पावा	३
चींटी को हाथी के समान बनना	चांटहि करै हस्ति सरि जोगू	३
राई तें पर्वत या तिनके से वज्र बनना	बज्रहि तिर्कहि मारि उड़ाई ।	
	तिनहिं बज्रकरि देहि बड़ाई ।।	३
मर्म न जानना	ताकर मरम न जानै भोला	४
प्रचलित रूप	**चित्ररेखा में प्रयुक्त रूप**	
राज भोगना	सहस अठारह भूंजइ राजू	६५
कठपुतली जैसा नाचना	नाथे डोर काठ जस नाचा	६६
छूछें हाथ लौटना	चलिहौ छूंछे हाथ	६६
काया पखारना	का भा परगट क्या पखारें	७०
भूमि पर सिरमारना	का भा भगति भूएं रि मारें	''
भभूत चढ़ाना	का भा जटा भभूत चढ़ाए	''
भेष बदलना	का भा गेरू का परि लाएं ।।	''
कांटे पर उलटना	का भा भेष दिगम्बर छांटे	
	का भा आपु उलटि गए कांहे	''
मौनी होना	जो मेखहि तजि मौन तू गहा ।	''
बकुलाभगत बनना	ना बग रहैं बलु भगत बेचहा ।	''
बाहों का सहारा देना	दीन्ह बांह जिन समुंद गँभीरू ।।	७३
छार होना	भुए जो छार होइ यह देहा ।	७४
पाप धोना	धोवा पाप पानि सिर मेला ।	७४
पानी का बुल्ला होना	पानी जइस बुल बुला होई ।	७६
सयानापन दिखाना	तहां सयानप कौन करीजै	७६
बोल से जी लेना	सासु ननद बोलत जिव लेई	८४

मुंह अगोरना : मुंह जोहना	सासु ननद के मुहहिं अगोरे	८४
हाथ जोड़े रहना	रहब सुखी दोऊ कर जोरे ।।	८४
पंछियों में डेल पड़ना	आपु आपु कहं होइहैं, ज्यों पांखिन महं डेल ।	८४
सूर्यास्त होना	अथएउ सुरुज होई अब सांझा	९२
भोर पलुहाना	कहां धनंतरि पावहीं, जो पलुहावै भोर ।	९२
तन में सांस रहना	जब लगि हईं सांस तन मोरे ।	९३
हाथ जोड़ कर सेवा करना	सेवा करौं ठाढ़ कर जोरे ।	९३
श्रवणकुमार होना	तुम से उब सखन औ तरे ।	९४
मुंख का रंग उड़ जाना या मुख श्वेत होना	राता बदन गएउ होइ सेता	९५
पलक ओट होना और सपना-सा बीतना	पलक ओट फुन होतएं, गा सपना सा बीति ।	९६
स्वर्गवासी होना या शिवलोक में जाना	जबहिं कुंवर भा चाह बटाऊ ।	१००
छार होना	कंतन पूंछइ जोइहां, छार होउं जरि अंग ।	१०७
सुधि आना	नारि चित्ररेखा चित आई	११०
पीछे पछताना	रहहिं जो करत खेलारी, तें पाछें पछताहिं	११२
एक जक्षर पढ़कर पंडित होना	एकै अक्षर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होइ ।।	११३

(ग) अलाउद्दीन संबन्धी प्रबन्ध और फुटकल काव्यों की सूची

जायसी	१	पदमावत रचनाकाल सं० १५९७ ।
नारायणदास और रतनरंग	२	छिताई वार्ता, र०का० अज्ञात, प्रति० का० सं० १६४७ और १६८२ ।
जान कवि	३	कथा छीता की, र० का० सं० १६६३, प्र० का० सं० १७८४
जान कवि	४	कथा खिरखाँ शाहजादे व देवल देव की
लालचन्द लब्धोदय या लक्षोदये	५	पद्मिनी—चरित, र० का० सं० १७०२, प्र० लि० काल सं० १७५१ ।
हेमरतन	६	गोरा बादल पद्मिनी चौपाई सं० १७६० ।
जटमल	७	गोरा बादल की बात
जोधराज	७	हम्मीर रासो, र०का०सं० १७८५ ।
ग्वाल कवि	९	हम्मीर हठ
चन्द्रशेखर	१०	हम्मीर हठ
वीरेन्द्र	११	पद्मिनी, र०का०सं० १९९९
प्रसादजी	१२	प्रलय की छाया
राजस्थानीगद्य में	१३	बात सायणी चारिणी री
श्यामनारायण-पांडेय	१४	जौहर

अलाउद्दीन जैसे क्रूर और निरंकुश नरेश के संबन्ध में इतनी अधिक रचनाएं मुख्यत: चार उद्देश्यों से लिखी गई हैं-

१-अलाउद्दीन की प्रतिभा क्रूरता और निरंकुशता का चित्रण,

२-क्षत्राणियों की सतीत्व-निष्ठा का प्रदर्शन,

३-राजपूती वीरता का दिग्दर्शन, और

४-राजस्थानी नरेशों द्वारा मुगल सम्राटों को कन्यादान की प्रथा के समर्थनाथ पुरानी नजीर का प्रस्तुतीकरण[1] ।

१-छिताई वार्ता : भूमिका, डा० मादाप्रसाद गुप्त, पृ० २२-२३ ।

(घ) सहायक ग्रंथ-सूची

हिन्दी ग्रंथ

अर्द्ध कथानक सं० पं० नाथूराम प्रेमी, १९५७।

अनुराग बांसुरी, नूर मुहम्मद, १९०६।

अपभ्रंश-साहित्य–डा० हरिवंश कोछड़।

आधुनिक साहित्य–आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, २००७।

आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ (रहस्यवाद–श्री प्रभाकर माचवे।

इंद्रावती-नूर मुहम्मद।

इतिहास–प्रवेश–श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, १९३८।

ईरान के सूफी कवि—बांकेबिहारी तथा कन्हैयालाल।

उदयपुर राज्य का इतिहास—श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।

एकोत्तरशती–रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

कवितावली–तुलसीदास (सं० डा० माताप्रसाद गुप्त)।

कविवर जायसी–डा० सुधीन्द्र।

कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

कबीर और जायसी के रहस्यवाद का तुलनात्मक विवेचन डा० गोविंद त्रिगुणायत।

कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा, १९४४।

कबीर ग्रंथावली–सं० डा० श्यामसुन्दरदास, पं० सं०, ना० प्र० सभा काशी।

कबीर साहित्य की परख–पं० परशुराम चतुर्वेदी।

काव्यकला तथा अन्य निबन्ध–जयशंकर प्रसाद।

कीर्तिलता–सं० डा० बाबूराम सक्सेना।

कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा–सं० श्री शिवप्रसाद सिंह।

गीतावली—तुलसीदास ।
गोरखबानी, १९९६ वि० ।
चंदबरदायी और उनका काव्य—डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी ।
चंदायन—डा० परमेश्वरीलाल गुप्त, हि० ग्रं० रत्नाकर, बम्बई—४ ।
चिन्तामणि, भाग २, पं० रामचन्द्र शुक्ल, १९४५ ।
चित्ररेखा—सं० शिवसहाय पाठक ।
चित्रावली—उसमान (प्र० सं० १९१२ ई०) ।
छिताईवार्ता—सं० डा० माताप्रसाद गुप्त ।
जातक कथा (द्विवेदी) हि० सा० रू० प्रयाग
जायसी—डा०रामरतन भटनागर ।
जायसी और उनका पदमावत—प्रो० दानबहादुर पाठक और
प्रो० जीवनप्रकाश जोशी
जायसी की काव्य-साधना—प्रो०दानबहादुर पाठक ।
जायसी के परवर्ती सूफी कवि और काव्य—डा० सरला शुक्ल, सं० २०१३ ।
जायसी ग्रन्थावली—सं० डा० मनमोहन गौतम ।
जायसी ग्रंथावली—सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, १९५१ (प्र०सं०)
जायसी ग्रन्थावली—सं० पं० रामचन्द्र शुक्ल (प्र० सं०, द्वि०सं०, पं०सं०)
जायसी साहित्य सिद्धांत और अध्ययन—श्री यज्ञदत्त शर्मा ।
जिन रतनकोश—वेकलंकर(१९४४) ।
जैन साहित्य और इतिहास—पं० नाथूरामप्रेमी ।
ढोलामारू रा दूहा—सं० पारीक आदि, ना० प्र० सभा, काशी प्रथमावृत्ति ।
तुगलककालीन भारत (भाग २)
तसव्वुफ अथवा सूफीमत—पं० चंद्रबली पांडेय (प्र०सं) ।
द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ (डा० बड़थ्वाल का लेख) ।
पद्मिनी का पद्य और गद्य—सं०श्रीराम शर्मा ।
नल दमन—सूरदास लखनवी ।
नाथ-संप्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
पद्माकार पंचामृत—सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ।
पदमाव—सं० भगवतीप्रसाद
पदमावत—लाला भगवानदीन, १९२५ ।
पदमावत (सटीक) मुन्शीराम शर्मा ।
पदमावत (मूल और संजीवनी व्याख्या) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
१९५६ ।

पदुमावति–श्री ग्रियर्सन–सुधाकर द्विवेदी, १९११-१२ ।
पदुमावती–श्री सूर्यकान्तशास्त्री, १९३४ ।
पदमावत का काव्य—सौंदर्य-शिव सहाय पाठक ।
पद्मावत का ऐतिहासिक आधार–इन्द्रचंद्र नारंग ।
पदमावत-सार—इन्द्रचंद्र नारंग ।
पदुमावती—दुखहरनदास ।
पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ (ब्रज साहित्य मंडल) ।
पुरातत्व निबन्धावली—महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ।
पूर्व मध्यकालीन भारत—डॉ० रघुवीर ।
प्रकृति और हिन्दी काव्य–डा० रघुवंश, प्र०सं० ।
प्रकृत साहित्य का इतिहास–डा० ज० चन्द्र जैन ।
प्रिया–प्रकाश केशवदास ।
पृथ्वीराज चरित–बाबू रामनारायण, सं० १८८९ ।
पृथ्वीराज रासो (संक्षिप्त) सं०पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा० नामवर सिंह
पृथ्वीराज रासो (पदमावती–समय) सं० हरिहरनाथ टंडन ।
भक्ति का विकास–डा०मुन्शीराम शर्मा ।
भारतीय प्रेमाख्यानक परम्परा–पं० परशुराम चतुर्वेदी १९५६ ।
भारतीय प्रेमाख्यान काव्य (सं०–१०००-१९१२), १९५५ ।
मध्यकालीन धर्म-साधना– डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—म०म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, १९२७–२८ ।
मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन डा० सत्येन्द्र, १९६९ ।
मध्ययुगीन प्रेमाख्यान—श्याममनोहर पांडेय ।
मधुमालती-मंझन—सं० डा० शिवगोपाल मिश्र ।
मलिक मुहम्मद जायसी—भा० १–डा० कमलकुल श्रेष्ठ, १९४७ ।
महायान–भदन्त शान्ति मिश्र ।
मिश्रबन्धु विनोद–भाग १ (खंडवा-प्रयाग) ।
मीराबाई की पदावली–(सं० पं० परशुराम चतुर्वेदी)।
मेघनाद-बध (हिन्दी अनुवाद की भूमिका) ।
मैनासत (साधन कृत) सं० हरिहरनिवास द्विवेदी, १९५९ ।
मौलाना रूमी–जगदीशचन्द्र बाचस्पति ।
रहस्यवाद और हिन्दी कविता–श्री गुलाब राय और श्री शम्भूनाथ पांडेय सं० २०१३ ।

रहिमन-विलास ।
राजपूताने का इतिहास (द्वि० खं०) म०म० गौरीशंकर हीराचंद्र ओझा ।
रामचरितमानस–तुलसीदास-सं० श्यामसुन्दरदास ।
रास और रासान्वयी काव्य–डा० दशरथ ओझा-डा० दशरथ शर्मा ।
रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना : डा० बच्चनसिंह (ना० प्र० सभा)
रूपक-रहस्य–डा० श्यामसुन्दरदास ।
वाङ्मय-विमर्श–पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, सं० १९९९ ।
विक्रमोर्वशीय (हिन्दी अनुवाद) अनु० शिवसहाय पाठक, १९६० ई०
विद्यापति-पदावली, सं० श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ।
बीसलदेव रास–सं० डा० माताप्रसाद गुप्त–श्री जिन विजयमुनि ।
बीसलदेव रासो–ना० प्र० सभा, काशी ।
बेलिकिसन रुकमिणी ।
संत बानी भाग १ ।
संत बानी संग्रह भाग २ ।
संदेश-रासक (अद्दहमाण कृत) सं० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ।
सबरस–सं० श्रीराम शर्मा ।
संक्षिप्त पदमावत–श्री श्यामसुन्दरदास–सत्यजीवन वर्मा, १९२६ ई० ।
सुकवि–समीक्षा–रामकृष्ण शिलीमुख ।
सूफी काव्य-संग्रह–पं० परशुराम चतुर्वेदी, १९५० ई०
सूफी मत और हिन्दी साहित्य–डा० विमलकुमार जैन, १९५५ ई० ।
सूफी मत साधना और साहित्य–श्री रामपूजन तिवारी ।
सूफी महाकवि जायसी–डा० जयदेव, १९५७ ।
सूरसुधा ।
सूरसागर–सं० नन्ददुलारे वाजपेयी (प्र०सं०), ना० प्र० सभा, काशी ।
शकुन्तला नाटक–अनु० राजा लक्ष्मण सिंह ।
शिवसिंह सरोज–शिवसिंह सेंगर, सं० १९४० ।
हंस जवाहिर–कासिम शाह ।
हकायके हिन्दी–डा० अतहर अब्बास रिजवी ।
हमारा राजस्थान–श्री पृथ्वीसिंह महता, १९४०, प्रे० सं० ।
हिन्दी कवि-चर्चा–पं० चन्द्रबली पांडेय ।
हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य–डा० गोविन्दराम शर्मा ।
हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण–डा० किरणकुमारी गुप्ता प्र०सं० ।

हिन्दी के कवि और काव्य—पं० गणेशप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं० ।
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—श्री नामवर सिंह, प्र० एवं द्वि० संस्करण ।
हिन्दी पर फारसी का प्रभाव—श्री अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी ।
हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य—डा० कमलकुल श्रेष्ठ, १९५३ ई० प्र० सं० ।
हिन्दी प्रेम गाथा—संग्रह, पं० गणेशप्रसाद द्विवेदी ।
हिन्दी भाषा और लिपि—डा० धीरेन्द्र वर्मा ।
हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास-पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
हिन्दी भाषा का इतिहास, डा० धीरेन्द्र वर्मा ।
हिन्दी भाषा और साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास, १९३० ई०।
हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास—डा० शम्भूनाथसिंह, प्र० सं० ।
हिन्दी साहित्य (द्वि० खं०) भारतीय-हिन्दी परिषद, प्रयाग १९५९ ई०
हिन्दी साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास ।
हिन्दी साहित्य—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्र० सं०, सं० २००९ ।
हिंदी साहित्य का अतीत (आदिकाल—भक्तिकाल)—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, सं २०१५, प्र० सं० ।
हिंदी साहित्य का आदिकाल—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं० ।
हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, द्वितीय एवं तृतीय संस्करण ।
हिंदी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (सं० २००८) ।
हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास (ग्रियर्सन कृत) —डा० किशोरीलाल गुप्त, १९५७, प्र० सं० ।
हिंदी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
हिंदुई साहित्य का इतिहास—(तासीकृत)—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, १९५३, ई० प्र० सं० ।
हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—श्री वेणीप्रसाद ।
हिंदुस्तानी इंग्लिश—डिक्शनरी ।

संस्कृत : प्राकृत : अपभ्रंश

अर्द्धकथा – सं० नाथूराम प्रेमी ।
अमरुक शतक—अमरुक—श्री ऋषीश्वरनाथ भट्ट, सं० १९७१ ई० ।
अग्निपुराण (बी० आ—ई० एडीशन) ।
आत्मानन्द जैन ग्रंथमाला—१९७४, निर्णय सागर, प्रेस बम्बई

उक्ति व्यक्ति प्रकरण—दामोदर पंडित
करकंडु चरिउ (कनकामर कृत) सं० प्रो० हीरालाल जैन, १९३४।
कर्पूर मंजरी (राजशेखर कृत)।
काम सूत्रम—अनु०-माधवाचार्य।
काव्यानुशासन—हेमचन्द्र।
काव्यानुशासन—वाग्भट।
काव्यालंकार—भामह।
काव्यादर्श—दण्डी,
काव्यालंकार—रुद्रट।
काव्यालंकार—कुमार
सूत्र—सं० डा० नगेंद्र
काव्यादर्श—दंडिन (शास्त्री रंगाचार्य रेड्डी तथा बेलवल, कर पूना)।
काव्यप्रकाश—मम्मट-सं० डा० सत्यव्रत १९५५।
कालिदास ग्रंथावली—सं० पं० सीताराम चतुर्वेदी, प्र० सं०।
कुमार संभवम्-कालिदास।
ध्वन्यालोक—आनन्दवर्द्धन,—सं डा० नगेन्द्र।
गीतगोविन्द्—विनयमोहन शर्मा।
चौर पचाशिका : विल्हण, ओरियंटल बुक एजेंसी, पूना।
परमात्म प्रकाश-डा० ए० एन० उपाध्ये।
भविसयत्त कहा-दलाल गुणे ; बड़ौदा।
मूल माध्यमिक कारिका-नागार्जुन- पंचम संस्करण।
लीलावइ कहा (की अंग्रेजी भूमिका) कौतूहल कृत-सं० डा० ए० एन० उपाध्ये।

ब्रह्मपुराण
ब्रह्मणोपनिषद् (गीता प्रेस गोरखपुर)।
माधवान लकाम कंदला आख्यान-गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़, बड़ौदा।
वर्ण रत्नाकर।
बाल्मीकीय रामायणम्।
विक्रमोर्वशीयम् (कालिदास ग्रन्थावली) विक्रम परिषद काशी।
,, ,, सं० एस० पी० पंडित (भूमिका भाग)।
विष्णु पुराण और विष्णुधर्मोत्तर पुराण
संदेश रासक-भयाणी-जिन विजय मुनि। (आ० ह० प्र० द्विवेदी वि० त्रिपाठी)।

साहित्य दर्पण (विश्वनाथ कृत) म०म० काणे द्वारा संपादित ।
,, सं० डा० सत्यव्रत ।
श्री मद्भगवद्गीता, सं० बालगंगाधर तिलक ।
श्री मद्भागवत्

उर्दू-फारसी

कश्फुल महजूब–हुज्वेरी (उर्दू अनुवाद) पंजाब में ३८
आइने अकबरी ।
उर्दू मसनवी का इर्तका–अब्दुल बनदिर साखरी ।
कशफुल महजूब (ऊर्दू) लाहौर ।
उर्दू साहित्य का इतिहास—एजाजहुसेन ।
खजीनतुल असीफिया–गुलाब सखर ।
खुसरो शीरी–निजामी नवल किशोर प्रेस, लखनऊ ।
तारीख-ए-फिरिश्ता (लखनऊ से प्रकाशित) ।
नलदमन-फैजी–नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ ।
नूरुललुगात, भाग ४ ।
मलिक मुहम्मद जायसी--सैयद कल्बे मुस्तफा (१९४१ ई०) ।
मिसकातुल अनवार--(अरबी) ।
रिमुजुल आरिज मीर हसन देहलवी (१७७४) हैदराबाद कुतुबखाना ।
शीरी--खुशरो (खुसरो) मु० युनीवर्सिटी अलीगढ़ ।
लैला मजनू–निजामी (न० कि० प्रेस, लखनऊ) ।

तूतीनामा

सं० मीर सआदत अलीरिजवी हि० १९५७ ।
कुरान शरीफ
चन्दरबदन व माहयार--मुकीमी, अकबरुद्दीन सादिकी ।
पंजाब में में उर्दू–हाफिज मुहम्मद शीरानी ।
दकन में उर्दू–नसीरुद्दीन हाशिमी ।
रूहे तसव्वुफ–देहली ।
मुकदमा शेरो-शायरी ख्वाजा अलताफ हुसेन अली ।
फारसी साहित्य का इतिहास--असगर हिकमत ।

अंग्रेजी

ए हिस्ट्री आफ ओटोमन–पोइट्री—वा० १
अलबरूनीज् इंडिया—भाग १ सचाऊ, १९१०

ए हिस्ट्री आफ बंगाली लैंग्वेज—दिनेशचन्द्र सेन, १९११ ई० ।
ए हिस्ट्री आफ परिशियन लिटरेचर इन मार्डन टाइम्स ।
ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर–ए० बी० कीथ, १९२८ ।
ए हिस्ट्री आफ राइज आफ मुहमडन पावर—ब्रिग्स
ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया–डा० ईश्वरीप्रसाद ।
ऐनल्स एण्ड एण्डिक्स आफ राजस्थान, वा० १, कर्नल जेम्स टाट ।
ऐन एम्पायर बिल्डर आफ सिक्स्टीन्थ सेंचुरी–विलियम रशब्रुक ।
ऐन एक्जामिनेशन आफ दी मिस्टिक टैंडेन्सीज इन इस्लाम, १९३२ ई०
बाबर नामा–इलियट ।   जहीरुद्दीन अहमद ।
इन्ट्रोडक्सन टू दी हिस्ट्री आफ सूफीज्म—आर्थर जे० आरबरी ।
अलगज्जाली—दी मिस्टक–मार्गरेट स्मिथ ।
अरिस्टाटिल्स पोइट्री—डोमेट्रियस ।
आइने अकबरी–बलाचमैन
आउट लाइ०
क्रानोलाजी आफ इण्डिया–डफ ।
क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर–A. B. Keith
डिक्शनरी आफ इस्लाम (१८८५ ई०)–टी० पी० ह्यूग्स
डिक्सनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर–शिप्ले ।
इंग्लिस एपिक एण्ड हिरोइक पोइट्री–एम० डिक्शन ।
इण्साइक्लोपीडिया आफ इस्लाम, वा० ३,८ ।
इण्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, जेम्स हेस्टिंग्स वा० १३, १९२१ ई० ।
इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर-ताराचन्द
इवल्यूशन आफ अवधी–डा० बाबूराम सक्सेना ।
एलिमेंट्स आफ ज्यूइश एण्ड मोहमडन कैलैंडर्स
इस्त्वार दी ला लितरैत्यूर ऐंदुइ एँ ऐन्दुस्तानी, तासी, (फ्रेन्च) १८७०ई०, परिवर्द्धित संस्करण ३ वाल्यूम में १८७०—७१ ई० ।
इण्डियन कल्चर—वाल्यूम १ ।
इन ऐन ईस्टर्न रोज गार्डेन ।
जलालुद्दीन रूमी—निकल्सन ।
ग्लौसरी आफ पंजाब ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, १९१९ ई० ।
गजेटियर आफ प्राविंस आफ अवध वा० १, २, १८५८ ।
हिस्ट्री आफ इण्डिया वा० ३,—इलियट ।

कथा सरित्सागर—टानी कृत अनुवाद।
लिटरेरी हिस्ट्री आफ परशिया—इ० जी० बाउन, १९०९ ई०।
,, ,, दी अरब्स।
मिस्टिसिज्म—अंडरहिल
मोटिफ इन्डैक्स आफ फोक लिटरेचर,—टामसन।
मोहमडनिज्म—गिब्ब एच० ए० आर०।
मुगल एम्पायर इन इंडिया—एस० आर० शर्मा।
मेडिवल इंडिया—लेनपूल
मुंतखबुत्तवारीख, भाग ३,—अल्बदायूनी—अनु० रैंकिंग, १८९७।
परशियन इन्फ्लुएन्स आन हिंदी—डा० हरदेव बाहरी।
आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स—डा० शशिभूषणदास।
आउट लाइंस आफ इस्लामिक कल्चर (वा० २) ए० एम० ए० शुस्तरी, १९३८।
आवारिफुल मारिफ—एच० बिल्डर फोर्स, क्लार्क
ओशन आफ दी स्टोरी—पार्ट ६, पेंजर।
पद्मावति—सूर्यकान्त शास्त्री, १९३४, लाहौर।
पदुमावति – दि लिंग्विस्टिक स्टडी आफ दी सिक्टींथ सेंचुरी हिंदी (अवधी) १९४९ ई०—लंदन।
पदुमावति—ए० जी० शिरेफ,१९४४।
राबिया दी मिस्टक—मारगैरेट स्मिथ
रूमी पोएट एण्ड मिस्टिक—निकल्सन
स्टडीज इन इस्लाम।
स्टडीज इन दी इस्लामिक मिस्टीसिज्म—निकल्सन
स्टडीज इन दी अरली मिस्टीसिज्म इन दी नीयर एण्ड मिडिल इस्ट मारगैरेट स्मिथ।
स्टडीज इन तामिल लिटरेचर।
स्टडीज इन दी तंत्र (भाग १)—डा० प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता, १९३९ ई०।
सूफीज्म इट्स सेंटस एंड स्राइन्स--जान० ए० सुभान।
दी ऐडमिनिस्ट्रैशन आफ दी सुल्तानेट आफ देहली—इशितयाक हुसेन कुरेशी।
दी एपिक--एल० एबरक्रोम्बी।
दी दरविशेस—रोज।
दी कश्फ--अल-महजूब (हुज्जीरी) अनु० निकल्सन, १९११।

दी मुगल एम्पायर फ्राम बाबर टू औरंगजेब, एस० एम० जफर।
दी माडर्न बर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान--जार्ज ग्रियर्सन।
दी मिस्टक्स आफ इस्लाम (इन्ट्रोडक्शन) निकल्सन।
इस्टडीज इन इस्लामिक—मिस्टीसिज्म—निकल्सन।
दी मुगल एम्पायर फ्राम बाबर टू औरंगजेब—एस० एम० जफर।
दी प्रीचिंग आफ इस्लाम, १९३५ टी० डब्ल्यु आर्नल्ड।
दी स्पिरिट आफ इस्लाम—सैयद अमीर अली।
थ्योरी एंड आर्ट आफ मिस्टीसिज्म—राधाकमल मुखर्जी १९३७।

कुछ अन्य अंग्रेजी पुस्तकें

लिटरेरी हिस्ट्री आफ अरब्स—निकल्सन।
मेडिवल मिटिसिज्म इन इंडिया—डा० क्षितिमोहन सेन्स।
यूसुफ एंड जुलेखा—टी० एच ग्रिफिथ।
लाइफ एंड वर्क्स आफ अमीर खुसरो—वाहिद मिर्जा।
वेदान्त एंड सूफीज्म—रमा चौधुरी।
शर्की आर्किटेक्चर आफ जौनपुर—स्मिथ।
ग्लिम्पसेस आफ मेडिवेल इंडियन कल्चर—यूसुफ हुसेन।
पंजाबी सूफी पोएट्स—लाजवन्ती रामकृष्ण।
लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया—वा० १।
लाइफ एंड टाइम आफ शेखफरीरुद्दीन गंजशेखर खालिक अहमद निजामी।

हस्तलिखित प्रतियाँ

अखरावट (अखरौती ना० प्र० सभा, काशी)।
अखरावट (मनेरशरीफ खानकाश वाली प्रति की फोटो कापी)
इंद्रावती—नूर मुहम्मद।
कहरानामा—रामपुर स्टेट की प्रति।
कहरानामा या महरीनामा—मनेरशरीफ की प्रति।
कहरानामा—कामनवेल्थ रिलेशन्स आफिस, लन्दन वाली प्रति की माइक्रो-फिल्म कापी।
चन्दायन—मनेरशरीफ और रीलैंड लाइब्रेरी, मैंचेस्टर की प्रति परमेश्वरी लाल गुप्त।
चित्ररेखा—सालारे-जंग, संग्रहालय और अहमदाबाद वाली प्रति।
नलदमन—सूरदास लखनवी।

पदमावत की अनेक प्रतियाँ विशेष रूप से — { का० हि० वि० वि०की प्रति । भारत कला भवन की कैथी प्रति । रामपुर स्टेट वाली प्रति की माइक्रोफिल्म । मनेर शरीफ वाली प्रति की कापी ।

मधुमालती—(निगम कायस्थकृत) दो प्रतियां भारतीय विद्याभवन,बम्बई ।

मसला या मसलानामा—ना०प्र० सभा की प्रति ।

मैनासत–मनेर शरीफ ।

मृगावती–(हस्तलिखित प्रति) ।

शिलालेख—राउलबेल

रोड़ाकृत (Prince of Wells Museum Bombay)

बंगला–इस्लामी बांगला साहित्य–सुकुमार सेन

पत्र-पत्रिकाएं—खोजविवरण

अमृत बाजार पत्रिका, पूजा अंक–१९५७ ।

करेन्ट स्टडीज, पटना कालेज पटना, १९५३, १९५५ ई०

जर्नल आफ दी अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी, वा० ३९, ४०, ४१ ।

जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ।

जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसाइटी, वर्ष ३९ अंक १- २, १९५३ ।

ना० प्र० पत्रिका भाग १२, सं० १९८८,

,, १३, सं० १९८९,

,, १४ सं० १९९०

,, अंक १, वर्ष ४५ सं० १९९७ (पृ० १६५—१६७) ।

,, अंक ४ वर्ष ५–७ सं० २००९ ।

,, अंक ४ वर्ष ५८, सं० २०१० ।

ना० प्र० प० (हीरक जयंती अंक) ३ वर्ष ५८, सं० २०१० ।

अंक ३–४ वर्ष ६४ सं० २०१६ ।

अंक १ वर्ष ६५, २०१७ ।

ना० प्र० सभा खोज रिपोर्ट, १९००–१९०२ (नोटिस १०२) ।

ना० प्र० सभा खोज रिपोर्ट सं० १९५७—८८ । १९४७ ई० ।

ना० प्र० सभा त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण, १९२६–२८ ई० ।

पुरुषार्थ, जून १९४२ ई० ।

प्रसाद जुलाई, १९५९ ।
माडर्न–रिव्यू–नवं० १९५६ ।
राजस्थानी, जनवरी, १९४० पृ० २२ ।
विश्वभारती, खं० ५, अंक २, १९४६ ई० ।
संमेलन पत्रिका, १९९४ पौष–माघ । १८८१ शक, भाग ४६ संख्या १ ।
सरस्वती, प्रयाग १९३० ई० ।
साहित्य—संदेश, भाग १३, अंक ६ (आदि पद्मावती) ।
सुल्तानपुर गजेटियर भाग ३६, १९०३ ई० ।
हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ११ अंक ३, १९५८ ई०। वर्ष १३ अंक १-२ १९६० ई० ।
हिन्दुस्तानी भाग ४ अंक ३ जुलाई,१९३४, अप्रैल १९३८ ई० ।
भारतीय विद्या (भा० वि० भवन, बम्बई–७) वा० १५ ।
ज्ञानशिखा लखनऊ, अक्टूबर १९५१ ।